

पेट की गड़बड़ी से शरीर रुग्ण होता है और असंतुलन से मस्तिष्क। आवश्यकता इस बात की है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार-विहार का सही तरीका सीखा जाय और मन को स्वस्थ रखने के लिए परिस्थितियों का निर्माण करने, उनके साथ ताल-मेल बिठाने अथवा बदल डालने का साहस उत्पन्न किया जाय। विकसित मनोबल उत्पन्न किया जाना उतना ही आवश्यक है जितना कि शरीर को नीरोग रखना, हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से इन दोनों ही दशाओं में सुधार के आवश्यक प्रयत्न करने चाहिए।

मनोविकारों का अवरोध

हमें अपंग बना देता है

मस्तिष्क की आन्तरिक स्थिति में थोड़ा-सा भी अवरोध अड़ जाने का परिणाम शरीर को तात्कालिक और भयंकर रूप से भुगतना पड़ता है। हृदय रोगों के कष्ट और दुष्परिणामों का परिचय हमें प्राप्त है क्योंकि वह अधिक स्पष्ट और अधिक प्रत्यक्ष होता है। मस्तिष्क का सम्बन्ध एवं नियन्त्रण शरीर के प्रत्येक अवयव के साथ इतना अधिक है कि उसे हृदय से भी अधिक महत्व दिया जा सकता है। हृदय में अवरोध उत्पन्न हो जाने पर सामयिक कष्ट तो बहुत होता है और पूर्ण विश्राम से लेकर सतर्क उपचार की आवश्यकता पड़ती है। मस्तिष्क सम्बन्धी गड़बड़ी का प्रतिफल इससे अधिक है, उसके कारण लकवा सरीखे ऐसे रोगों हो सकते हैं, जो जीवन को अपंग एवं निरर्थक ही बनाकर रख दें।

लकवा पक्षाघात का अर्थ है, मस्तिष्क के किसी भाग का काम करने में असमर्थ हो जाना। शरीर के अन्य भागों की तरह मस्तिष्क भी आवश्यक मात्रा में रक्त एवं ऑक्सीजन की समुचित मात्रा मिलते रहने से जीवित रहता है। यह खुराक किसी बजह से बन्द हो जाय तो वह भूखा अंग सूखने लगेगा। मस्तिष्क के किसी हिस्से में रक्तवाहिनी शिराएँ ताजा रक्त पहुँचाना बन्द कर दें तो वह भाग सूख जायेगा और उस भाग के द्वारा शरीर के जितने हिस्से का नियन्त्रण संचालन होता था, वहाँ की गतिविधियाँ ठप्प हो जायेंगी। यही है लकवा का निरूपण।

आहार-विहार के असंयम से रक्तवाहिनी शिरायें शिथिल और मल-विकारों से अवरुद्ध होने लगती हैं, उनका पोलापन घट जाता है। रक्त-संचार का क्रम तेजी से न होने से उसमें गाढ़पन के साथ-साथ छोटे-छोटे थक्के बढ़ जाते हैं। यही थक्के सिकुड़ी नाड़ियों में अड़ जायें तो रक्त-प्रवाह रुकेगा ही और मस्तिष्क का जो अंग भूखा मरेगा उसका प्रभाव क्षेत्र लकवा ग्रसित हो जायेगा।

दिल की बीमारियाँ भी धमनियों की स्थिति गड़बड़ा देती हैं और उनसे भी लकवे की आशंका बढ़ जाती है। कई बार दुबली और कमजोर पड़ी धमनियाँ थोड़ा-सा ही दबाव बढ़ जाने से फट जाती हैं और रक्त मस्तिष्क में बिखर जाता है। इससे नियत स्थान पर रक्त का न पहुँचना और सिर फटने से फैले हुए रक्त में अन्य अवयवों का डूब जाना यह दोनों ही स्थिति खतरनाक हैं। इससे प्रायः पूरे मस्तिष्क पर न्यूनाधिक मात्रा में बुरा प्रभाव पड़ता है और बढ़ती हुई मूर्छा यदि काबू में न आई तो मृत्यु का कारण बन जाती है। रक्त चाप का अत्यधिक बढ़ जाना भी कई बार मस्तिष्क की किसी नस के फट जाने का कारण होता है।

मस्तिष्क के जिस हिस्से में रक्ताभिषरण रुका होगा, उसी से सम्बन्धित अंगों पर लकवे का प्रभाव देखा जा सकेगा। मोटे तौर से मस्तिष्क को तीन हिस्सों में विभक्त कर सकते हैं, दो गोलार्ध एक वृत्त। गोलार्धों में स्वेच्छिक क्रियाओं के संचालन केन्द्र हैं। बायें गोलार्ध से शरीर का दाहिना हिस्सा और दायें गोलार्ध से शरीर का बायाँ हिस्सा सम्बन्धित है। मस्तिष्क के जिस भाग में गड़बड़ी हुई होगी उससे विपरीत भाग का शरीर लकवाग्रस्त दिखाई पड़ेगा। बहुत करके एक ही गोलार्ध रुग्ण होता है, इसलिए शरीर का एक अंग ही अधिक पीड़ित होता है। चूँकि दोनों भाग परस्पर जुड़े हुये हैं इसलिये एक का प्रभाव दूसरे पर कुछ तो पड़ना ही चाहिए, इसलिये रोगी तो दोनों ही हिस्से होते हैं पर एक पर अधिक और एक पर कम असर होता है। दोनों हिस्सों पर समान रूप से लकवे का असर हो, ऐसा भी हो तो सकता है पर होता कम ही है। दोनों वृत्तों पर समान रूप से प्रभाव पड़ने की घटनाएँ होती हैं पर होती हैं कम ही।

तीसरे भाग 'वृत्त' में मध्य मस्तिष्क, सेतु सिकेवल्य और मेरुशीर्ष होते हैं। शरीर का सन्तुलन बनाये रहना विभिन्न अवयवों से उनके क्रियाकलाप का विधिवत् संचालन कराना, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालना जैसे महत्वपूर्ण कार्य इस 'वृत्त' भाग से ही सम्बन्धित है।

मस्तिष्क के भीतरी विभागों की संरचना और क्रिया-प्रक्रिया समझ लेने पर यह जानना आसान हो जाता है कि लकवे के मरीज में जो कष्ट चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं, उनका उद्गम मस्तिष्क के किस स्थान पर होना चाहिए। यों उपरोक्त तीन भागों वाला विभाजन बहुत ही स्थूल है और उनमें से प्रत्येक के भीतर अगणित केन्द्र-उपकेन्द्रों की जटिल शृंखला जुड़ी हुई है। उन्हीं में जब, जहाँ, जितनी विकृति आती है, तब रोगियों में

लकवे के विभिन्न स्तरीय लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। हाथ-पैरों का हिलना, गरदन का न मुड़ना, शरीर में सुन्नता या झुनझुनी, निगलने में कठिनाई, जीभ का लड़खड़ाना, कुछ का कुछ दीखना, स्मरण शक्ति खो जाना, सोचने-समझने की क्षमता का लड़खड़ा जाना जैसे अनेक अवरोध लकवा के रोगियों पर सवार रहते हैं। मल-मूत्र त्याग और प्यास तक की आवश्यकताओं को वे अनुभव नहीं कर पाते। नींद का उड़ जाना या झपकी-सी ही लगी रहना भी किन्हीं-किन्हीं रोगियों को होता है। किसी धमनी के फट जाने से मस्तिष्क के भीतरी भाग में यदि रक्त भरकर जम गया तो फिर उस कारण उत्पन्न हुई मूर्छा को जगाना कठिन हो जाता है, हाँ कोई छोटा थक्का जम गया हो तो उसका प्रभाव सीमित रहेगा और स्थानीय गर्मी उसे पिघलाकर इधर-उधर भी बखेर देगी।

अधिकतर लकवा मस्तिष्क में रक्त फेंकने वाली धमनी में रक्त का थक्का अड़ जाने के कारण उत्पन्न होता है। रक्त में यदि फुटकी पड़ने वाला गाढ़ापन आये और धमनियों की नाली सिकुड़ती न चली जाय, कठोर न हो जाय तो लकवे की फिर कोई आशंका न रहेगी। यह विकृतियाँ धीरे-धीरे पनपती रहती हैं और आरोग्य की जड़ खोखली करती रहती हैं। लकवा तो उस विकार संग्रह का अन्तिम विस्फोट है। दिल के रोगियों के इस खतरे में फँस जाने की सम्भावना प्रायः बनी रहती है।

कुछ हलके प्रकार के लकवे स्थानीय होते हैं, जैसे बोलने में तुतलाने लगना, हाथों का काँपना, दुहरा देखना, सिर में चक्कर आते रहना आदि।

पक्षाघात की भयंकरता से हर कोई परिचित है। उसका मामूली-सा झोंका मनुष्य को अपंग एवं पराधीन बना देता है, स्थिति अधिक बिगड़ी हुई हो तो मरण की ही कामना, प्रार्थना ही की जाती है। यह स्थिति क्यों उत्पन्न हुई, इसकी गहराई में जाया जाय तो यही तथ्य सामने आता है कि मस्तिष्क की किन्हीं कोशिकाओं में अवरोध उत्पन्न होकर उन्हें उचित पोषण न मिला, फलस्वरूप सम्बद्ध अवयव को लकवा मार गया।

मस्तिष्क का पोषण मात्र रक्त से ही नहीं होता, जहाँ तक उसके चिन्तन पक्ष का सम्बन्ध है, उच्चस्तरीय विचारणाओं का संसार भी मस्तिष्कीय कोशिकाओं में होने वाले रक्त-संचार की तरह ही आवश्यक है। चिन्तन का उपयुक्त प्रकाश न मिलने पर ऐसा अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वांगीण विकास के किन्हीं महत्वपूर्ण आधारों को लकवा ही मार जाय और व्यक्ति को

गई-गुजरी,* हेय, घृणित तथा दयनीय परिस्थिति में पड़े रहने के लिए विवश होना पड़े।

मनः क्षेत्र में स्वस्थ प्रवाह संचार के लिए उदात्त दृष्टिकोण का समावेश नितान्त आवश्यक है। यदि उसमें घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, निराशा, चिन्ता, क्रोध, आवेश, जैसे अवरोध अड़ेंगे तो ठीक वही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जो शिराओं में रक्त के थक्के अड़ जाने पर लकवा मार जाने की विभीषिका के समय उत्पन्न होती है। दुर्भावनाओं से ग्रसित मनःस्थिति रखकर हम प्रतिपक्षी का उतना नुकसान नहीं कर सकते, जितना कि अपना कर लेते हैं। जिन कारणों से मनःसंताप उत्पन्न हुआ है यदि उनका निवारण अभीष्ट हो तो पहला कदम यही उठाना होता है कि अपना मानसिक संतुलन सही करें ताकि समाधान का उपयुक्त आधार खोज निकाला जा सके। उद्विग्नता की स्थिति में अवरोधों से निपटने का रास्ता ढूँढ़ पाना तो एक प्रकार से अशक्य ही हो जाता है, उलटे दुहरी विपत्ति यह आ जाती है, उद्वेगों का आवेश रक्त के थक्के बनकर सम्वेदनशील शिराओं में ही अवरोध कर दें तो हमारी दूरदर्शिता हाथ से चली जायेगी और ऐसा संकट सामने आ खड़ा होगा, जिसके कारण लकवे जैसी दयनीय अपंग स्थिति में ग्रसित हो जाना पड़े।

मन को कुसंस्कारी न रहने दिया जाय

गुरुकुलों के अध्यापक प्राचार्य अपने छात्रों को पढ़ाकर सुयोग्य बना देते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क में भी ऐसा ही होता है। अरस्तू ने सिकन्दर को पढ़ाकर महान् पुरुषार्थी बनाया था। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, समर्थ ने शिवा को, परमहंस ने विवेकानन्द को, विरजानन्द ने दयानन्द को, गाँधी ने विनोबा को इस प्रकार का ही शिष्य बनाया था कि गुरु और शिष्य दोनों ही धन्य हो गये। वसुदेव ने वासुदेव नाम के अपने पुत्र को प्रख्यात कर दिया। जनक की बेटी जानकी ने अपने पिता के गौरव में चार चाँद लगा दिये। पिता के नाम से पुत्र भी यशस्वी होते हैं और कई बार कई पुत्र भी पिता को निहाल कर देते हैं। श्रवण कुमार के कारण उनके माता-पिता सर्वत्र जाने जाते हैं भले ही उनका नाम बहुते को मालूम न हो। भागीरथी गंगा को इसलिए कहा जाता है कि स्वर्ग से भूमि पर उन्हें उतारने का उत्कृष्ट प्रयत्न भागीरथ ने ही किया। अर्जुन को कौन्तेय इसी कारण कहा जाता है कि उनकी असाधारण प्रतिभा उनकी माता ने भरी थी।

हममें से प्रत्येक को एक विद्यार्थी पढ़ाने, एक शिष्य गढ़ने का प्रतिभा, बनाने का काम अपने जिम्मे लेना चाहिए। यों प्रतिभावान व्यक्ति एक साथ कई-कई काम हाथ में लेते और पूरा कर दिखाते हैं। व्यस्त लोग भी कड़वों की जिम्मेदारी अपने ऊपर उठा लेते हैं। पी० एच० डी०, वकालत, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट आदि पढ़ने वालों को अपने मार्गदर्शक के साथ सम्पर्क में रहना और समाधान करना, अनुभव बढ़ाना आदि में तत्पर रहना पड़ता है। यों वे पढ़ाने वाले भी अपने कामों में व्यस्त रहते हैं फिर भी किसी न किसी प्रकार समय निकालकर उन्हें सिखाते समझाते रहते हैं जिन्हें सुयोग्य बनाने का जिम्मा उनसे अपने कंधों पर लिया है।

हम एक छात्र को, शिष्य या पुत्र को सुयोग्य बनाने का जिम्मा लें। उसे स्वयं पढ़ाये, कितना, किस प्रकार उस पढ़ाई को हृदयंगम किया इसका भी ध्यान रखें। राजा लोग प्रत्येक राजकुमार के लिए एक ट्यूटर गार्जियन नियुक्त करते थे। विष्णु शर्मा ने एक राजा के उद्दण्ड बालकों को कथा कहानियाँ सुनाकर सुयोग्य बना दिया था। हम एक ऐसे बालक की जिम्मेदारी अपने कंधों पर उठाएँ जो अपना सगा है। साथ रहता है और बफादार सेवक तक है।

इस विद्यार्थी का नाम है 'अपना मन'। बाहर के कितनों को ही सलाह, सहायता दी गई पर खेद है कि इसकी ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा। यदि उसकी दुर्दशा का पर्यवेक्षण भर किया होता तो प्रतीत होता है कि वह कैसी आबारागर्दी में फँस गया है। किस कुसंग में निरत रहने लगा और कैसी अनगढ़ गतिविधियाँ अपना चुका है, जो उसे नहीं अपनानी चाहिए। उसके पिछड़ेपन की, कुमार्गगामिता की जिम्मेदारी आपकी है। जब फेल होने वाले विद्यार्थी, स्कूल की अध्यापक वर्ग की बदनामी भी कराते हैं। जब कपूत बेटा बाप को जलील करता है, तो कोई कारण नहीं कि आपके साथ गुंथे हुए मन की अपनाई हुई अवांछनीयता, उद्दण्डता, मूर्खता आपको बदनाम न करे। इस स्थिति में मात्र बदनामी ही नहीं प्रत्यक्ष हानि भी है। ऐसी हानि जिसकी क्षति पूर्ति और कोई नहीं कर सकता।

मन को सुसंस्कृत बनाया जाना चाहिए। उसे हित-अनहित में, औचित्य-अनौचित्य में अन्तर करना सिखाया जाना चाहिए। अब तक जो ढर्रा चलता रहा है उसमें यह विवेचन, विश्लेषण करना उसे सिखाया ही नहीं गया, फिर बेचारा करता क्या ? जो समीपवर्ती लोगों से देखता सुनता रहा उसकी बन्दर की तरह नकल और तोते की तरह रटन्त हो जाती है। सुप्रचलन का स्वरूप कभी

देखा ही नहीं, सुसंस्कारियों, विचारशीलों के साथ रहा ही नहीं तो उस मार्ग पर चलना कैसे सीखें ?

सिखाने वाले मदारी साँप, बन्दर रीछ को नाचना सिखा लेते हैं। सरकस वाले शेर, हाथी, वनमानुष तक को ऐसा सधा लेते हैं कि दर्शकों का भरपूर मनोरंजन और कम्पनी वाले को पर्याप्त मुनाफा होता रहे। सिखाने वाले के कौशल की सर्वत्र प्रशंसा होती रहे। फिर कोई कारण नहीं कि मन को सुसंस्कारी न बनाया जा सके। उसे गलाकर स्वर्ण आभूषणों की भाँति मनोरम न बनाया जा सके।

मन की शक्ति अपार है। उसकी सत्ता शरीर और आत्मा को मिलाकर ऐसी बनी है जैसी सीप और स्वाँति कण का समन्वय होने से मोती बनता है। जीवन सम्पदा का वही व्यवस्थापक और कोषाध्यक्ष है। साथ ही उसे इतना अधिकार भी प्राप्त है कि वह अपने मित्र का, अपने साधनों का पूरी तरह भला या बुरा उपयोग कर सके। इतने सत्तावान का अनगढ़ होना सचमुच ही एक सिर धुनने लायक दुर्भाग्य है।

इस विडम्बना का और कोई कारण नहीं, हमारी उपेक्षा ही असमंजस जैसी परिस्थितियों का निमित्त है। महावत के बिना हाथी चाहे जिस दिशा में चाहे जब चल सकता है और चाहे जिसका चाहे जितना अनर्थ कर सकता है। हाथी वह है जो अपनी और सवार की प्रतिष्ठा बढ़ाता है पर छुट्टल और बिगड़ल होने पर तो वह आतंकवादी यमदूत जैसा डरावना बन जाता है।

हमारी सत्ता आत्मा है। हमारा साथी सहकारी विवेक है। दोनों मिलकर मन को सही कल्पना, सही इच्छा करने की शिक्षा दे सकते हैं और सन्मार्ग पर चलना सिखा सकते हैं। मन अनाड़ी भर है। अवज्ञाकारी नहीं। अभ्यस्त दुर्गुणों को छोड़ने और नये सिरे से सिखाये गये सदगुणों को अपनाने में अभ्यासवश आना-कानी अवश्य करता है पर उसे कड़ा निर्देशन दिया जाय और जो करने योग्य है उसे करने के लिए बाधित किया जाय तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि सर्वथा इन्कार करे और अपने को बदलने के लिए सहमत न हो।

मन को कुसंस्कारों से विरत करने के लिए चार पाठ पढ़ाये जाने चाहिए— (१) विचार संयम, (२) समय संयम, (३) अर्थ संयम और (४) इन्द्रिय संयम। मस्तिष्क में जो भी विचार उठें उनका तत्काल परीक्षण किया जाना चाहिए कि वे नीतियुक्त, उपयोगी और रचनात्मक हैं या नहीं। बेतुकी कल्पना ऐसी इच्छाएँ उठती हैं तो उनकी जड़ आरम्भ से ही काट देनी चाहिए। गाड़ी एक कदम आगे नहीं बढ़ने देनी चाहिए।

उसके स्थान पर सामयिक समाधान एवं अभ्युत्थान की बात सोचने में उसे जुटा दिया जाना चाहिए। दूसरी बात सुनियोजित दिनचर्या बनाने की है। समय को हीरे-मोतियों के समान मानकर उसका एक क्षण भी बर्बाद नहीं होना चाहिए। उठने से लेकर सोने तक की समयचर्या ऐसी बनानी चाहिए जिससे व्यक्तित्व का स्तर निखरता हो और योग्यता का, प्रगति का विस्तार होता हो। पैसे के सम्बन्ध में प्रदर्शन और कौतुक, कौतूहल में एक पाई भी व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। खर्च करने से पहले अनेक बार विचार जाय कि यह नितान्त आवश्यक है या नहीं। पैसा और श्रम एक ही बात है। श्रम को निरर्थक प्रयासों में लगाना जिस प्रकार दुःखद परिणाम प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार धन का अपव्यय भी बदले में विपत्ति लेकर वापस लौटता है। चौथा निर्देशन है, इन्द्रिय निग्रह। इन्द्रिय निग्रह का अर्थ ही जीभ का चटोरपन और यौनाचार के प्रति अनावश्यक आकर्षण। चटोरपन शरीर को विपत्ति में फँसाता है और कामुकता मस्तिष्क को खोखला करती है।

इन सभी असंयमों से बचते हुए 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धान्त मन को इस प्रकार प्रदान चाहिए कि वह उसे भुला देने की गलती न करे।

मानसिक रोग कितने विचित्र, कितने भयावह

आमतौर से ऐसा समझा जाता है कि इच्छित परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर सुख होता है। पर वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत है। परिष्कृत दृष्टिकोण से सोचने का तरीका इतना सरल और सुन्दर होता है कि सामान्य वस्तुएँ भी सुन्दर लगती हैं। अँधेरे में जो वस्तुएँ अदृश्य रहती हैं अथवा काली लगती हैं वे ही प्रकाश की किरणों पड़ने पर अपना पूरा स्वरूप दिखाती हैं और चमकने लगती हैं। यही बात परिष्कृत मनःस्थिति के सम्बन्ध में है। सोचने की प्रकाशवान प्रक्रिया को ऐसा दिव्य आलोक कहा समझा जा सकता है, जिसके प्रकाश में सारा समीपवर्ती क्षेत्र अन्धकार की कालिमा में से निकलकर मनोरम आभा लिये हुए दिखाई देने लगे।

जर्मन पत्रिका 'मेडिजिनिशे क्लीनिक' में छपे एक विस्तृत लेख में कई शरीर विज्ञानियों के अनुभवों का सारांश छपा है जिसमें बताया गया है कि दर्द में जितना अंश शारीरिक कारणों का होता है उसमें कहीं अधिक मानसिक तथ्य जुड़े होते हैं। ऐसे प्रयोग किये जा चुके हैं जिनमें मात्र पानी की सुई लगाकर रोगी को यह बताया गया है कि 'यह गहरी नींद की दवा है', उसी से दर्द पीड़ितों का दर्द बन्द हो गया और वे सो गये। इसके

विपरीत सर्माफिया के इन्जेक्शन देकर यह कहा गया कि "यह हल्की दवा है शायद इससे थोड़ा-बहुत दर्द हल्का पड़े और सम्भव है कुछ नींद आये।" यह सन्देह उत्पन्न कर देने पर रोगी दर्द की शिकायत करते रहे और अधूरी निद्रा में झपकी लेते रहे। इस प्रयोग के बाद उन्हीं इन्जेक्शनों को जब विपरीत व्याख्या करते हुए भिन्न दवा बनाकर रोगियों को दिया गया तो उसकी पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रतिक्रिया हुई। पहले दिन पानी का इन्जेक्शन जब मामूली दवा बताकर लगाया गया तो उसने दर्द कम नहीं किया और सर्माफिया को बड़ी शक्ति का बताकर निश्चित रूप से नींद आने का आश्वासन देकर लगाया गया तो रोगियों को गहरी नींद आई। इन प्रयोगों से डाक्टर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दवाएँ जितना परिणाम प्रस्तुत करती हैं उससे अधिक प्रभाव मान्यताओं का होता है।

एक ही स्तर के दर्द को भिन्न-भिन्न मनःस्थिति के लोग अलग-अलग तरह अनुभव करते हैं। डरपोक रोगी इतने से ही दर्द से बेतरह चीखते-चिल्लाते हैं। मध्यम मनःस्थिति वाले मात्र हल्के-हल्के कराहते रहते हैं। युद्ध मोर्चे के घायल अपनी बहादुरी की मान्यता के आवेश में कम कष्ट अनुभव करते हैं और कम चीखते-चिल्लाते हैं, जबकि उतने ही कष्ट में सामान्य लोग तीन गुना अधिक दर्द अनुभव करते हैं।

भावनात्मक स्थिति भी कई बार दर्द में परिणत हो जाती है। सिर दर्द, पेट का दर्द, जोड़ों का दर्द, छाती का दर्द, कमर का दर्द बहुत करके मनोवैज्ञानिक कारणों से होते हैं। इनके मूल में कोई चिन्ता, आशंका भय की भावी कल्पना अथवा भूतकाल की कोई दुःखद स्मृति काम करती रहती है। मन की वह विपन्न अवस्था शरीर के किन्हीं अंगों पर आच्छादित होकर उन्हें पीड़ा अनुभव कराती है, जबकि शारीरिक दृष्टि से उन अवयवों में उस तरह के कष्ट का कोई कारण नहीं होता।

कई बार ऐसी स्थिति भी देखी गई कि डाक्टर अपने समस्त निदान परीक्षण करने के उपरान्त भी रोगी में कोई अस्वस्थता का कारण नहीं देखता और रोग का कारण जानने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। किन्तु रोगी बराबर कष्ट से पीड़ित रहता है। दिन-दिन दुबला होता जाता है और साधारण काम-काज कर सकने में भी समर्थ नहीं रहता, उसका पीड़ाजन्य कष्ट स्पष्ट दिखता है। ढोंग बनाने का कोई कारण नहीं होता क्योंकि दूसरों पर नहीं उस रुग्णता का पूरा भार अपने ही कंधों पर आता है।

इस विचित्र स्थिति में मनोवैज्ञानिक कारण ही काम कर रहे होते हैं। कोई पुरानी आघात करने वाली अनुभूति मस्तिष्क के किसी भाग पर आक्रमण करती है और उसे अकचका देती है। चूँकि मस्तिष्क की प्रत्येक कोशिका अपने मूल तन्तुओं के सहारे अन्य कोशिकाओं के साथ जुड़ी होती है और उनसे कई तरह के आदान-प्रदान करती रहती है। इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत लगे हुआ आघात अपने सम्बद्ध केन्द्र को प्रभावित करने तक सीमित न रहकर जब शरीर के किसी अन्य अवयव से सम्बद्ध केन्द्र से जा टकराते हैं, तो इस वह अंग ही रुग्णता अनुभव करने लगता है। वह अंग शारीरिक दृष्टि से निरोग होता है, पर मस्तिष्क विद्युत प्रवाह उस स्थान पर ठीक तरह नहीं पहुँच पाता क्योंकि संप्रेषण वाले मस्तिष्कीय कोष रुग्णावस्था में पड़े हैं। प्रेषण की गड़बड़ी उस अंग को पूरी खुराक और सही निर्देश नहीं दे पाती इस विचित्र स्थिति की अनुभूति मस्तिष्क के अन्य तन्तुओं को अमुक रोग जैसी होती है। रोगी वस्तुतः उन्हीं कष्टों से पीड़ित होता है जैसा कि वह बताता है। पर डाक्टर क्या करे, उसकी परीक्षा पद्धति तो अंगों के रक्त-मांस आदि से सम्बन्धित स्थिति के आधार पर बनी है। मानसिक भूल-भुलैयाँ की उसे जानकारी नहीं होती। अस्तु ऐसे रोगियों को किसी मानसोपचारक के पास जाने की सलाह देकर वह अपना पीछा छुड़ा लेता है। अनिश्चित स्थिति में वह उपचार करे भी तो क्या करे ?

मानसिक आघात लगना किस कारण से होता है इसका भी एक जैसा विवेचन नहीं होता। कई व्यक्ति आये दिन अपमान सहते हैं और उसके अभ्यस्त हो जाते हैं उन पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता, पर कोई ऐसे भी होते हैं जो उतनी सी बात को अत्यधिक महत्त्व देकर तड़प उठते हैं। द्रौपदी ने दुर्योधन से एक निर्दोष मजाक करते हुए ही यह कहा था कि 'अन्धों के अन्धे होते हैं।' उल्टी व्याख्या करके उसे असभ्य अपराध मान लिया गया और प्रतिशोध की चरम सीमा का दण्ड उसे दिया गया। अपनी दृष्टि में दुर्योधन भी सही हो सकते हैं। उनके मस्तिष्क ने उन शब्दों को तिलमिला देने वाला अपमान समझा हो और उस आघात को गहराई के समतुल्य प्रतिशोध ढूँढ़कर अपने आघात को हल्का करने का उपाय निकाला हो। ऐसे ही हर व्यक्ति की अपनी-अपनी व्याख्या और अनुभूति होती है कौन किस घटना को किस दृष्टि से देखेगा और उसकी क्या प्रतिक्रिया ग्रहण करेगा इसका कोई निश्चित मापदण्ड नहीं हो सकता। सामाजिक और शासकीय मापदण्ड निर्धारित है कि इस सीमा का असामाजिक आचरण करने पर उसे दण्डनीय माना जायेगा पर उसमें भी अपराधी की नीयत,

परिस्थिति, प्रतिक्रिया आदि का ध्यान रखा जाता है। संभव है अपराध गलती, गफलत या भ्रान्त स्थिति में बन पड़ा हो, ऐसी दशा में दण्ड हल्का दिया जाता है। मन के लिए ऐसी आचार संहिता निर्धारित नहीं कि वह किस घटना को किस रूप में ग्रहण करे। यदि कोई घटना अग्रिय या अवांछनीय स्तर की सामने आई है तो उसका आघात किस पर कितना पड़ेगा यह उसकी भावुकता एवं विचार शक्ति के समन्वय पर निर्भर है।

कितने ही व्यक्तियों के सामने हत्या, मारकाट, उत्पीड़न के दृश्य आते ही रहते हैं उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु किसी अनप्यस्त और भावुक व्यक्ति पर उन्हीं घटनाओं का इतना प्रभाव पड़ सकता है कि वह किसी भयंकर अवसाद में डूब जाय अथवा विक्षिप्त हो उठे। अपमान, असफलता, हानि, बिछोह जैसी अग्रिय घटना, यों मनुष्य जीवन का एक पक्ष है और वह भी घटित होता ही रहता है। सम्मान, सफलता, लाभ, मिलन जैसे प्रसन्नतादायक प्रसंग आते हैं तो उससे भिन्न प्रकार की घटनाएँ नयीं घटित न होंगी। रात और दिन के विपरीत प्रसंगों की तरह जीवन की संरचना प्रिय और अग्रिय घटनाओं के लाने वाले से हुई है। सदा एक जैसी स्थिति में विशेषतया प्रिय स्थिति में सदा-सर्वदा के लिए बने रहना किसी के लिए सम्भव नहीं। उतार-चढ़ावों का आना स्वाभाविक है। धनवान, विद्वान, बलवान, व्यक्ति को भी प्रियजनों का बिछोह बढ़ी-चढ़ी महत्वाकांक्षाओं में असफलता, शारीरिक रुग्णता, मित्रों का छल-कपट दुःख का कारण बन सकता है। सबसे बड़ी बात है अपने रचे हुए कल्पना लोक में अवांछनीय चिन्तन का चल पड़ना। आशंकाएँ प्रायः इसी स्तर की होती हैं। दूसरे व्यक्तियों का व्यवहार, परिस्थितियों का प्रवाह निकट भविष्य में हमारे प्रतिकूल चलेगा और उससे भयंकर विपत्ति आवेगी, ऐसा चिन्तन कितने ही व्यक्ति करते और अत्यधिक उद्विग्न रहते हैं। जबकि वैसा व्यवहार एवं घटनाक्रम कदाचित ही सामने आता है। अधिकांश आशंकाएँ निर्मूल होती हैं। वे कल्पना लोक की काली घटाएँ बरसती नहीं केवल गर्जन-तर्जन करके चली जाती हैं। पर इससे क्या, जिसने आशंकाओं की भयभीत करने वाली कल्पनाओं का जाल बुना था उसके लिए तो वही असह्य पीड़ा देने के लिए बहुत बड़ा कारण बन गया।

मानसिक आघात विपरीत परिस्थितियों के वास्तविक एवं काल्पनिक घटनाक्रमों के सहारे लगते हैं। अब यह व्यक्ति की भावुकता या संवेदना शक्ति पर निर्भर है कि वह उन्हें ऐसे ही मजाक में टाल देता है, साहस समेट कर निपटने का फैसला करता है या

भयभीत होकर असन्तुलित हो बैठता है। यदि व्यक्ति डरपोक प्रकृति का और अति भावुक है तो उसके लिए छोटी घटना भी बहुत बड़ी हो सकती है और नन्हीं-सी अशुभ कल्पना से तिलमिला कर उद्विग्न हो सकता है। जो भी हो आघातों का पूरे मानसिक संस्थान पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इसकी प्रतिक्रिया शरीर पर भी भयंकर होती है। ज्वर, सिर दर्द आदि की स्थिति में शरीर असहाय बन जाता है। उसे कुछ करते-धरते नहीं बनता, बेचैनी सताती है। मानसिक असन्तुलन इससे भी बुरी स्थिति पैदा कर देता है। पूरे शरीर पर मन का नियन्त्रण है। रक्त-मॉस से नहीं मानसिक निर्देशों से ही देह अपनी गाड़ी चलाती है। मन के विकृत होने पर शरीर का स्वस्थ बने रहना असम्भव है। चिकित्साशास्त्र द्वारा निर्धारित निदान व्यवस्था का व्यतिक्रम करके मनुष्य ऐसे रोगों में ग्रसित हो सकता है जो शरीर शास्त्रियों की पकड़ से बाहर हैं।

मानसिक रोग उत्पन्न करने वाले आघात अमुक घटनाओं या परिस्थितियों के कारण लगेंगे ऐसा कुछ निश्चित नहीं। यह व्यक्ति के अपने निजी स्तर पर निर्भर है कि वह किस प्रकार की घटनाओं को किस दृष्टि से देखता है और उनकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। एक ही घटना की अनेक व्यक्तियों पर परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। घटनाओं को रोका नहीं जा सकता है। समाज का पुनर्निर्माण हो, व्यक्तियों के स्वभाव, व्यवहार बदलें, यह दोनों ही बातें संसार से मानसिक रोगों को दूर कर सकती हैं, पर वैसी स्थिति बनना आज की स्थिति में कठिन है। तत्काल तो यही हो सकता है कि मनुष्यों को सोचने का सही तरीका सिखाया जाय ताकि वे परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठा सकें और अपनी चिन्तनात्मक दुर्बलता के कारण ऐसे मानसिक रोगों से अपना बचाव कर सकें जो उनके जीवन क्रम को एक प्रकार से अस्त-व्यस्त और निरर्थक बनाकर रख देते हैं।

भूत-प्रेत और देवी-देवता, जादू टोना से होने वाली हानि असंख्यों को पीड़ित करती है। अवास्तविकता की ऐसी प्रतिक्रिया जो वास्तविकता से किसी भी प्रकार कम नहीं होती, आश्चर्यजनक है। अवास्तविक भूत-प्रेतों से आक्रान्त व्यक्ति वस्तुतः उतना ही कष्ट उठाता है जितना कि वास्तविक भूत होते तो अपने आक्रमण से हानि पहुँचाते। दूसरों से मारण, उच्चाटन, वशीकरण करके हमें सताया जा रहा है। यह मानकर कितने ही व्यक्ति वस्तुतः उद्विग्न, विक्षिप्त एवं परमासन होते देखे गये हैं। कितनी ही जानें इस कुचक्र में चली जाती हैं। अधोरी, तान्त्रिक, कापलिक, डायनें कितने ही लोगों के लिए आतंक का कारण बनते हैं, कितने ही राहु, शनिश्चर

आदि की अशुभ ग्रह दशा की कल्पना से हर घड़ी चिन्ताग्रस्त रहते हैं, कईयों को स्वप्न की डरावनी घटना, अपशकुनों की सूचना बहुत कष्टदायक होती है। यह आशंकाएँ प्रायः सर्वथा निर्मूल होती हैं, इनके पीछे तथ्य राई रत्ती भी नहीं होता, पर जिस पर उनका आतंक छा गया है, उनकी दयनीय मनोदशा देखकर तरस आता है। यह लोग एक संवेदन के शिकार होते हैं। किसी ओंघे-सीधे आधार के सहारे उनकी आशंका इस स्तर की विभीषिका बन जाती है कि मनुष्य को प्राण संकट जैसी भयभीत स्थिति में होकर गुजरना पड़ता है। झाड़-फूँक, मंत्र से कई मनुष्यों को बहुत राहत मिलती है और संतोषजनक लाभ होता है। यह सब क्या है ? निश्चित रूप से यह उस व्यक्ति की स्वसंवेदना ही है, जो विधेयक बनकर सामने आई और उत्साह प्रदान करके सरल स्वाभाविक अच्छी स्थिति को जादू का परिणाम बताकर अपना वरदान दे गई है। पिछड़े हुए लोगों में अभी भी भूत-पलीतों और जादू-टोनों का पूरा जोर है। उससे वे वस्तुतः हानि उठाते और लाभान्वित होते हैं। यह चमत्कार अपनी कल्पना शक्ति एवं मान्यताओं का है जो अवास्तविक को भी प्रत्यक्ष वास्तविकता से भी बढ़कर तथ्यमय बना देती है।

मानसोपचारकर्ता डॉ. फ्लीडर्ड ने अपनी अनुभव पुस्तक में ऐसे अनेक रोगियों का उल्लेख किया है, जो चिकित्सा पर बहुत खर्च करा चुके हैं और पीड़ा से छुटकारा नहीं पा रहे थे। डाक्टर असहाय थे उन्हें सूझता ही न था कि उपचार किस रोग और किस आधार पर किया जाय, रोगी के बताये लक्षणों से जिस रोग का आभास होता था। उसकी चिकित्सा करने पर भी कोई लाभ न हुआ। ऐसी दशा में उन्हें मानसोपचार का ही आश्रय लेना पड़ा और वहीं जाकर उनकी गुत्थी सुलझी। एक दूसरे मनोविज्ञानी डॉ० डर्नवार ने ऐसे रोगियों के विवरण प्रकाशित कराये हैं, जो मानसिक विक्षोभ से पीड़ित थे किन्तु उपचार शरीर चिकित्सकों से कराते-कराते थक गये थे। जब उनके अन्तर्मन में लगे हुए घाव कुरेदे गये और उनकी मरहम पट्टी की गई तो वे सामान्य स्वास्थ्य की स्थिति में लौट आये।

खीज से मुक्ति पाने, दिलाने के लिए दूसरे लोग किसी की बहुत कम सहायता दे सकते हैं। असली उपचार तो रोगी को स्वयं ही करना पड़ता है। उसे यह मानकर चलना चाहिए कि यह दवा-दारू से अच्छी हो सकने वाली बीमारी नहीं वरन् अपने आप से पैदा की गई और अपने प्रयत्न से हट सकने वाली एक छोटी-सी आदत भर है। यह मान लेने पर आदत से आदत को

काट करने वाले प्रयत्न उत्साहपूर्वक आरम्भ किये जा सकते हैं और वे भली प्रकार भी हो सकते हैं।

अपने आस-पास अनुकूलताएँ तलाश करनी चाहिए। प्रिय पात्र, प्रिय पदार्थ, प्रिय दृश्य अवश्य दिखाई पड़ेंगे उनकी उपस्थिति को तनिक अधिक गहराई से देखा समझा जाय और जो उपलब्ध है, उसका मुस्कान के साथ स्वागत किया जाय। पेड़, पौधे, फूल, खिलौने, चित्र किसी कदर हमारा मन हल्का कर सकते हैं। पक्षियों की चहचहाहट आसानी से सुनी जा सकती है। छोटे बच्चे घर में ही उछलते कूदते, तोतली बोली बोलते और भोलेपन भरी अटपटी हरकतें करते हुए आसानी से देखे जा सकते हैं। उन्हें दिलचस्पी के साथ देखा जाय तो मुस्कान भरी प्रसन्नता की एक लहर चेहरे पर दौड़ सकती है।

खीज यदि प्रकट न हो तो वह घुटन के रूप में बदल जाती है और मन ही मन आदमी न जाने क्या-क्या वे सिर-पैर की बातें सोचता चला जाता है। कड़ी से कड़ी मिलती जाती है और चिन्तन की धारा शैतान की आँख की तरह कहीं से कहीं जा पहुँचती है। प्रिय स्वप्नदर्शी भी कई होते हैं और सुखद कल्पनाओं एवं संभावनाओं के लोग बिना पर लगाये ही उड़ते रहते हैं, उसके ठीक विपरीत खीज ग्रस्त लोगों की मनःस्थिति होती है। छिन्दान्वेषण, दोषारोपण, अशुभ भविष्य, अनिष्ट संभाव्य के कुरूप कई बार तो भयावह तक चित्र सामने आते हैं और आतंक करके आस-पास ही लुके-छिपे आँख मिचौनी करते रहते हैं।

इस जंजाल से निकलने का एक सुगम तरीका यह है कि किसी सहानुभूति युक्त, उदार हृदय एवं संतुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति के सामने अपने मन की घुटन प्रकट कर दी जाय अथवा कोई ऐसा प्रसंग छेड़ दिया जाय जिससे उत्साहवर्धक एवं आशा की झलक दिखाने वाले प्रकाश, परामर्श मिल सके। तनाव के रोगी यदि ऐसे सलाहकार परामर्शदाता, सद्भाव सम्पन्न स्नेही प्राप्त कर सकें तो समझना चाहिए कि उन्हें बिना फ़ीस का आधा डाक्टर मिल गया।

जिस समय खीज चढ़ रही हो उस समय मनोदशा पलट देना एक उत्तम उपचार है। उठकर चल दें और किसी मनोरंजक वातावरण को ढूँढ़ लें। रेडियो सुनने लगे, घूमने चले जायँ, पुस्तक पढ़ने लगे। जिस प्रसंग को लेकर मन उद्विग्न हो रहा था, उसे जहाँ का तहाँ अधूरा छोड़ दिया जाय। उस स्थिति में जितना अधिक सोचा जायेगा उतनी ही गुत्थी और उलझेंगी। उतेजित मस्तिष्क कभी कोई सही निष्कर्ष नहीं निकाल सकता, सही निर्णय नहीं कर

सकता। खीज भरी मनःस्थिति में प्रस्तुत प्रसंग पर अधिक सोचना अपने लिए गलत निर्णय से उत्पन्न और अधिक भारी विपत्ति को आमन्त्रित करना है।

कई समस्याएँ एक साथ मन पर चढ़ जाती हैं और सभी जल्दी-जल्दी अपने सम्बन्ध में विचार किये जाने की माँग करती हैं। इस घमा चौकड़ी में अधूरी एकाकी उथली समझ ही काम करती है और कुछ निष्कर्ष निकलना तो दूर उल्टे सिर चकराने लगता है। प्रतीत होता है जाने उलझनों के घटाटोप चढ़ आये हैं। इन विचारों के हुड़दंग को रोकना चाहिए और एक समय में एक विचार को अपनाकर बारी-बारी शान्त चित्त से प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करना चाहिए। इस तरह अधिक आसानी से दिमाग का बोझ हल्का होता चलेगा और क्या करना है क्या नहीं इसका समाधान मिलता रहेगा।

कुछ लोग इसलिए भी खीजते पाये जाते हैं कि वे अपनी इच्छा को ऊँचे स्तर पर पूर्ण हुआ देखना चाहते हैं। मनोकामनाओं में विलम्ब या व्यतिरेक उन्हें असह्य होता है। प्रत्येक सम्बन्धी कहना माने, हर परिस्थिति अनुकूल रहे, हर साधन अपनी मर्जी का जुटता रहे, हर घटना अपनी कल्पना के अनुरूप घटे, इस तरह सोचने वाले पाते तो कुछ नहीं खोते बहुत हैं। वे भूल जाते हैं यह दुनिया उन्हीं के लिए नहीं बनी है। वे भी अनेकों में से एक हैं। व्यक्ति अपनी मिट्टी को गठे हैं और घटना प्रवाह अपने क्रम से घटित होता है, इस सब के साथ तालमेल मिलाकर चलने में ही ठिकाना है। जो उपलब्ध है उस पर खुशी मनाई जाय और जो नहीं मिला है उसके लिए आशा रखी जाय। प्रयत्न और पुरुषार्थ को अपने प्रयास की सफलता मानकर चला जाय तो आदमी सन्तोषजनक जीवन बिता सकता है। खीज से बचने के लिए मनःस्थिति को इसी पृष्ठभूमि पर परिपक्व करना चाहिए। वर्चस्व नहीं सहयोग हमारी नीति होनी चाहिए। अपने ऊपर बड़प्पन नहीं लादना चाहिए वरन् चल रहे प्रवाह की एक हल्की-सी लहर जितनी ही अपनी स्थिति सोचनी चाहिए। इस प्रकार मन पर लदा हुआ वह भारी पत्थर हट जाता है, जिसे मालिकी, बड़प्पन एवं अधिकारी के रूप में अपने ऊपर लाद लिया था। तनाव भारीपन का ही दूसरा नाम है। हम हल्के रहें, हल्की-फुल्की, संतोष और मस्ती की जिन्दगी जियें तो आज का गरदन तोड़ तनाव कल तेज हवा में उड़ जाने वाले बादल की तरह तिरोहित हुआ प्रतीत होगा। अवांछनीय चिन्तन से उत्पन्न तनाव को सहज सरलता की जादुई छड़ी से देखते-देखते गायब किया जा सकता है।

किन्हीं अप्रिय एवं अवांछनीय घटनाओं से अथवा शारीरिक मानसिक विकृतियों से हल्की उद्विग्नता चढ़ आती है। इस स्थिति को खीज या परेशानी भी कहा जा सकता है। डाक्टरों की भाषा में इसे 'तनाव' कहते हैं। नर्वस् सिस्टम की कमजोरी वाले व्यक्ति इस स्थिति के जल्दी शिकार होते हैं। वे जो भी सामने आवे उसी पर अकारण झल्लाते हैं। चूँकि खीज भीतर भरी होती है और वह किसी न किसी को निमित्त बनाकर बाहर निकलना चाहती है। इसके लिए जो भी सामने आ जाय उसी पर कुछ न कुछ दोषारोपण करके उल्टी-सीधी कहने लग जाता है। न कहा जाय तो भी क्रोध या नाराजगी नहीं तो उपेक्षा अवज्ञा का व्यवहार तो बन ही पड़ता है। कई बार इस स्थिति में लोग खिन्नता, लाचारी एवं निराशा व्यक्त करते हुए दुःखित बने, मुँह लटकाकर बैठे भी देखे जाते हैं।

मानसिक रोग चिकित्सा की एक पद्धति है, 'विहेवियर एण्ड थिरेपी' जिसमें रोगी के साथ सद्व्यवहार और सहानुभूति की समुचित मात्रा रखी जाती है और उसे स्नेह, दुलार, एवं सहयोग का अनुभव करने दिया जाता है। इस उपचार से रोगी क्रमशः 'डिसेसिटाइज' होता चलता है साथ ही मनोव्यथाओं से राहत भी अनुभव करता है।

मानसिक रोगियों के साथ मारपीट, भर्त्सना, तिरस्कार जैसे निर्भय व्यवहार उसे और भी अधिक दुःखी करते हैं और रोग की स्थिति बिगड़ती जाती है। शारीरिक रोगियों की तरह मानसिक रोगी भी दया के पात्र हैं, उनके उपचार में स्नेह-सौजन्य और सुविधाओं का यदि समावेश किया जा सके, विश्वोभों को शान्त करने वाले वातावरण में उन्हें रखा जा सके तो औषधि उपचार की अपेक्षा उन्हें कहीं अधिक और जल्दी ही लाभ हो सकता है।

उपचार जड़ों का हो पत्तियों का नहीं

इन दिनों बढ़ती हुई सम्पन्नता और प्रचलनों की विकृति के कारण मनुष्य का समूचा व्यक्तित्व एवं चिन्तन ही गड़बड़ हो गया है। अनीतिपूर्ण जीवन जीने और अचिन्त्य चिन्तन करने वालों की मनोदशा सदा विक्षुब्ध रहती है। जिसे सही ढंग से सोचना नहीं आता, वह उल्टा चलता और औंधे मुँह गिरता है। बढ़ती हुई शारीरिक व्यथाओं के कारण और निवारण में हमें इसी तथ्य को ध्यान में रखना और संकट उपजाने वाले केन्द्र का सुधार-परिष्कार करना होगा।

“साइकोसोमैटिक मेडिसिन” नामक अपनी कृति में चिकित्सा मनोविज्ञानी डॉ. ओ. एस. इजलिस ने कहा है कि शारीरिक रुग्णता के पीछे प्रायः मानसिक विक्षुब्धता ही कार्यरत देखी जाती है। मानसिक उद्विग्नता का दबाव क्षय एवं कैसर जैसी घातक बीमारियों के रूप में फूलता है। जर्मन मनोचिकित्सकों ने इस संदर्भ में गहन खोजें की हैं और पाया है कि भीतरी अन्तर्द्वन्द्व के कारण कितने ही लोग असह्य मानसिक उत्तेजनाओं के दबावों को झेलते रहते हैं और यह दबाव अनेकानेक रोगों का रूप धारण कर बाहर निकलने का प्रयास करता है।

अनैतिक आचरण अपनाने एवं पाप कर्म करने के कारण लोग अतिशय मानसिक त्रास सहते और परिणामस्वरूप घातक रोगों के शिकार बनते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इसे लक्षण परिवर्तन-“सिम्प्टम कन्वर्शन” कहते हैं। इसका सविस्तार वर्णन मूर्धन्य मनःचिकित्सक डैनियल ट्यूक ने अपनी पुस्तक “इन्फ्लुएन्स ऑफ दि माइण्ड अपॉन दि बॉडी” में किया है। उनके अनुसार छद्म पाप कर्मों को करने और उन्हें छिपाने से अथवा दूषित भावनाओं की गहराई से जड़ जमा लेने पर सिर दर्द, माइग्रेन, एक्जिमा जैसे कई लाक्षणिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह भी देखा गया है कि किन्हीं-किन्हीं रोगियों के शरीर में कभी एक जगह दर्द होता है, तो कुछ ही क्षणों पश्चात् उस स्थान पर गायब हो जाता है और वैसे ही लक्षण अन्य जगहों पर प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार की व्याधियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैर से हाथ में और हाथ से अन्य अंग-अवयवों पर उछलकर प्रकट होती रहती हैं। विचारणाओं-भावनाओं का परिष्कार किये बिना यह व्यथा विभिन्न बीमारियों के रूप में तब तक फूटती और जीवनी शक्ति को निचोड़ती रहती है, जब तक पापों का, दुष्कर्मों का प्रकटीकरण नहीं कर दिया जाता और प्रायश्चित्त करके मन पर लदे उस बोझ को उतार कर फेंक नहीं दिया जाता।

विशेषज्ञों के अनुसार अधिकांश बीमारियों की जड़ साइकोसोमैटिक है। सर्दी-जुकाम, त्वचारोग, खुजली, एक्जिमा, एलर्जी आदि का कारण मन में छिपे दबाव आदि को ही माना गया है। त्वचा को उनके मानसिक एवं भावनात्मक अभिव्यक्ति का अंग माना और कहा है कि उनमें उपजी विकृति के कारण जीवनी-शक्ति का क्षरण जिस तीव्रता के साथ होता है, उसकी प्रतिक्रियास्वरूप त्वचा की बाह्य सतह पर चार प्रमुख लक्षण तुरन्त उभर आते हैं। ये हैं रूबर-लाल पड़ जाना, ट्यूमर-सूजन आना, केलोर-ताप बढ़ जाना और डोलोर-दर्द होना। कामुकता, विद्वेष, अप्रसन्नता, कुढ़न आदि की विकृत मनोदशा सिर दर्द, आघाशीशी जैसी व्यथाओं को जन्म देती है, तो

अतिसार, कब्ज, कोलाइटिस, अल्सर जैसी पाचन सम्बन्धी गड़बड़ियाँ, चिन्ता, विषुब्धता एवं दबावयुक्त मनःस्थिति की देन है। श्वसन सम्बन्धी रोग तनाव, भय, असुरक्षा आदि भावनाओं के कारण पनपते हैं, तो दमा मानसिक उद्विग्नता से उपजा हुआ रोग माना जाता है। क्षय एवं कैंसर को मनोकायिक रोगों की श्रेणी में रखा जाना सुनिश्चित तथ्यों पर आधारित है। डा. किसेन एवं डा. बेटलहीम ने इस सम्बन्ध में हजारों रोगियों का लम्बे समय तक गम्भीरतापूर्वक परीक्षण और अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए बताया है कि मनोविकृतियों एवं भावोद्वेगों का शरीर की प्रतिरोधी क्षमता पर आश्चर्यजनक रूप से प्रभाव पड़ता है और वे उसे विमृंखलित करके रख देते हैं। फलस्वरूप बीमारियों के विषाणु शरीर में संक्रमण कर जाते हैं।

अतः देखा यह जाना चाहिए कि रोग जिस कारण से उत्पन्न हुआ हो उसका ही निराकरण किया जाय पते तोड़ने से नहीं, जड़ उखाड़ने से संकट समाधान होता है, इस तथ्य को समझ लेने पर उपचार का मार्ग सरल हो सकता है।

अनीति का अन्तर्द्वन्द्व

उचित वस्तु का उचित मूल्य मिलना, संसार का प्रचलित नियम है। काँच का नग कुछ पैसों में बिकता है और असली हीरे को परखने वाले उसका मूल्य हजारों में चुकाते हैं। हीरे को काँच बताकर ठगने वालों का धन्धा भी कभी-कभी अँधे के हाथ बटेर लगने की तरह चल जाता है। पर जब व्यक्ति की कलई खुल जाती है और धूर्तता प्रकट होकर रहती है तो फिर स्थिति सर्वथा बदल जाती है। कलई हटने पर धातु का असली रूप प्रगट हो जाता है। काठ की हाँडी दूसरी बार कहाँ चढ़ती है।

संसार में अनेक सफलताएँ भरी पड़ी हैं। स्नेह और सहयोग करने वाले भी कम नहीं हैं किन्तु वे देखते हैं कि निर्देश के पीछे औचित्य भी है या नहीं। वास्तविकता में अपनी विशेषता है वह प्रकट होकर रहती है। देर तक उसे छिपाया नहीं जा सकता है। हींग की गंध कपड़ा लपेट देने पर भी रुकती नहीं, उछलकर ऊपर आ जाती है। अनुरोध या आग्रह किस निमित्त किया जा रहा है। इसका कारण छिपता नहीं। यदि स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ समझाया-बुझाया जा रहा है तो उस फुसलाने की पृष्ठभूमि प्रकट होकर रहती है। तुरन्त कोई बहकाने में आ भी जाय तो कुछ ही समय में समझ लौट आती है और बहकावे में पड़ने वाला असलियत समझकर सावधान हो जाता है। फिर यदि उसने कभी कोई वचन भी दिया हो,

सहमति भी प्रकट की हो तो उसे वापिस लौटा लेता है। भविष्य में उसका कोई और परामर्श, निर्देश मिलने पर वह पहले से ही सतर्क रहता है और जाल में फँसने से इन्कार कर देता है।

ठगी की 'कला' का सार संक्षेप में यह है कि किसी से अपना स्वार्थ इस प्रकार सिद्ध किया जाय कि उसे इसमें अपना लाभ प्रतीत होता हो। जादूगरी की भाषा में 'दृष्टि बंध' इसी को कहते हैं। मोटी भाषा में इसे बहकावा-फुसलावा कहते हैं। चूँकि जो प्राप्त किया जा रहा है उसका समुचित प्रतिफल देने का तो कोई इरादा नहीं है। इसलिए जिससे लाभ उठाया गया है, उसे भविष्य में कोई प्रतिफल देने की तो योजना है नहीं। इसलिए भावुक लोगों को धूर्तों का विश्वास कर लेने, उनके आदेशों का अनुकरण करने में सीधे विश्वासघात की ही शिकायत रहती है।

लोग अपने मन की बात कहीं न कहीं कहे बिना रहते नहीं। दुराव और कुचक्र की गोपनीय चर्चाएँ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से फैलती हैं, जिनमें सच्चाई और स्वाभाविकता है। नेकी और भलाई की चर्चा किसी से करने पर यह सम्भव है कि उसे साधारण समझा या उपेक्षा में डाल दिया जाय किन्तु बेईमानी बदमाशी के बारे में यह बात नहीं। उसमें कौतुक कौतूहल होता है। इसलिए लोग कुरेद-कुरेदकर पूछते और खोद-खोदकर तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। स्वार्थी और चालाक की करतूतें मात्र इसी तक सीमित नहीं रहती जिसे कि ठगा गया है। वरन् बुराई हवा के साथ फैलती है और व्यक्ति की प्रामाणिकता को संदिग्ध बनाकर रख देते हैं।

मनुष्य के पास सबसे बड़ी पूँजी उसकी प्रामाणिकता है। जिसे ईमान का सच्चा और वचन का धनी माना जाता है, उसके निमित्त लोग जान भी लड़ा देते हैं पर धूर्त के साथ तभी तक वास्ता रखते हैं जब तक उससे कुछ मतलब निकलता है या निकलने की आशा रहती है। जब प्रतीत होता है कि वहाँ बातों को ही मीठे बताशे बटते हैं और यथार्थता के नाम पर कुछ ठोस आधार नहीं है तो आपके घनिष्ठ कल उपेक्षा करते हैं, परसों निन्दक होते हैं और तरसों शत्रु बन जाते हैं। परिणाम प्रकट होने में देर लग सकती है किन्तु 'सज्जनता और कुटिलता के अपने-अपने रास्ते हैं। उनके परिणाम भी पृथक्-पृथक्। जो किस रास्ते कदम बढ़ाता है, वह वहाँ जा पहुँचता है जहाँ उसकी अन्तिम नियति है।

कितने ही व्यक्तियों का व्यवसाय यह होता है कि सद्भाव दिखाकर ठगी अथवा जो काबू में आने से आना-कानी करे उसे डरा धमका कर शिकंजे में कसो,

दुर्बलता या विवशता में कोई इस प्रकार के चक्र-व्यूह में फँस कर घाटा भी उठा सकता है किन्तु उसकी परिणति समयानुसार वैसी ही प्रतिकूलता समेटकर सामने आती है जैसी कि आनी चाहिए।

सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसे व्यक्तित्व के अन्तराल में दुहरा व्यक्तित्व उग आता है। एक फुसलाने वाला दबाव डालने वाला और दूसरा वह जो कुचक्र रचता और शोषण करता है। दोनों ही प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ हैं। सज्जनता का साहसिकता का आवरण और वस्तुतः रंगे सियार जैसा पाखंड। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। दोनों की दिशा धारा अलग-अलग है इसलिए उनके बीच संघर्ष होता है। अन्तर्द्वन्द्व उभरता है और इस महाभारत में मारकाट के भयावह दृश्य ही विनिर्मित होते रहते हैं। कपटी की आत्मा एक ओर तो धिक्कारती है दूसरे वह दिखाने के लिए सफेद पोश बनाता है। इस दुहरी भूमिका के निभाने में काफी कठिनाई पड़ती है और अन्तःक्षेत्र में भारी असमंजस उपजता है। बाहर की लड़ाई के प्रत्यक्ष दुर्घटना स्तर के आघात सहने पड़ते हैं। पर भीतर जिनके आत्मधिक्कार के घुन लगे रहते हैं वे अच्छे खासे शहतीर को खोखला करके कुछ ही दिन में गिरा देते हैं।

खंडित व्यक्तित्व एक विचित्र प्रकार का असमंजस है इसमें चेतना के दो परत आपस में रस्साकशी करते हैं। अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। हारता कोई नहीं। देवासुर संग्राम में संधि नहीं होती न किसी के हारने, किसी के जीतने की स्थिति बनती है। इस बीच मल्लयुद्ध में इतनी टूट-फूट हो लेती है कि उसकी क्षतिपूर्ति सहज नहीं होती।

साँप-छूँदर की स्थिति में न शिकार को उगलते बनाता है न निगलते। पूरी तरह असुरता पर उतारू होने पर मनुष्य समाज में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता। अपने जैसे दुष्ट-दुर्जनों का गिरोह बनाकर उन्हीं के सहारे दिन गुजारता है। इसे मित्र मंडली से भी सदा सतर्क रहना पड़ता है क्योंकि अनीति पर आधारित मित्रता कितने दिन टिकेगी इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। कपटी मित्र अवसर आने पर शत्रु से भी मँहगे पड़ते हैं। अनाचारियों की विवशता यह है कि वे सर्वथा एकाकी रहकर शक्तिहीन हो जाते हैं और दुष्टों का जमघट इकट्ठा करके वे समर्थता का क्षणिक अनुभव तो करते हैं और उससे कभी-कभी लाभ भी लेते हैं। पर उनमें आपसी अविश्वास और तिरस्कार तो बना ही रहता है। इसके उबल पड़ने पर कुछ भी अनर्थ हो सकता है। आततायियों के गिरोह इसी प्रकार टूटते बिखरते रहते हैं।

प्रकृति ने यह व्यवस्था बनाकर उचित ही किया अन्यथा 'अली बाबा चालीस चोर' की कहानी हर जगह चरितार्थ हुई होती।

प्रश्न अन्तःक्षेत्र का है। नीति कर नहीं सकती। पोषित अनीति अपना चस्का छोड़ नहीं सकती। फलतः दोनों के बीच निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। इसका परिणाम शारीरिक, मानसिक विषमता उत्पन्न होना ही नहीं व्यक्तित्व का चौपट होना भी होता है।

आत्महीनता की ग्रंथि से मुक्ति पाइए

ज्वार-भाटे की तरह मानव मन पर दो तरह के चढ़ाव-उतार आते हैं। एक स्थिति में रोष, क्रोध, प्रतिरोध, आक्रमण जैसी उत्तेजना छाई रहती है। दूसरी में उदासीनता का दौर रहता है। उदासीनता वाली स्थिति में मन पर अवसाद-सा छाया रहता है। उत्साह ठण्डा पड़ने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आशा का दीपक अब बुझा तब बुझा। शरीर में आलस्य और मन में हीनता हर समय छाई रहती है। व्यक्ति दूसरे के सामने स्वयं को नगण्य मानने लगता है। सोचता है कि अमुक कार्य वह कर ही नहीं सकता, इतनी क्षमता-योग्यता उसमें है ही नहीं। ऐसी हीनता की स्थिति में उसे चिन्ता घेर लेती है, जिससे तरह-तरह की मनो शारीरिक व्यथा सताने लगती है। दिल की धड़कन में अनियमितता आ जाती है और रक्तचाप घट जाता है। सहसा धैर्य घट जाने से यह स्थिति उत्पन्न होती है अथवा मन को गिराते रहने के कारण होती है यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, पर आत्महीनता की स्थिति में भी बहुतों को प्रायः ऐसा हुआ करता है।

व्यक्ति पर आत्महीनता आकाश से नहीं टपकती, वरन् इसका उत्पादक व्यक्ति का अपना मन ही होता है। वही हीनता को न केवल उपजाता है, वरन् खाद पानी देकर परिपुष्ट भी बनाता रहता है। एक गणित अध्यापक इतने उग्र थे कि बच्चों को मूर्ख, गधा कहा करते थे। प्रायः विद्यार्थियों की ग्रहणशीलता उनकी आशा के अनुरूप न हो पाती थी। उनकी झिड़कियों को विद्यार्थी गम्भीरता से नहीं लेते थे, किन्तु एक विद्यार्थी को झिड़का ही नहीं, उसके अभिभावक को बुलाकर उनसे स्पष्ट कह दिया कि उस विद्यार्थी से बहुत कुछ उम्मीद न रखें। अग्रिम गृह परीक्षा में जब विद्यार्थी की प्रगति गणित में दिखी तो उसके मन में वह मूल्यांकन घर करने लगा, जो उसके अध्यापक तथा अभिभावक ने उसके बारे में जमा रखी थी। वह सोचने लगा कि इन लोगों की धारणा सही है।

वह एक प्रकार से अध्यापक के विचारों के प्रति सम्मोहित-सा हो उठा।

कक्षा में एक दिन जब अध्यापक ने एक प्रश्न श्यामपट्ट पर ऐसा रखा जिसे अन्य साथी नहीं कर पाये, किन्तु इस विद्यार्थी को इस प्रश्न का हल उस समस्या से सम्बन्धित प्रतीत हुआ जिसे वह पिछले साल पढ़ चुका था। ज्यों ही उसने कहा कि 'मैं हल करने का प्रयास करूँगा'। अध्यापक समेत सभी हँस पड़े। उसे क्रोध तो हुआ किन्तु उसे दबा दिया। जिस क्षण से उसने श्यामपट्ट पर सही उत्तर निकाला तभी से उसे यह आभास होने लगा कि वह गणित के प्रश्नों को समझता है और उसे बखूबी कर सकता है। आत्मविश्वास के जाग्रत हो उठने पर वह एक अच्छा विद्यार्थी बनकर रहा।

उक्त उदाहरण में विद्यार्थी अध्यापक की टिप्पणी द्वारा अपने को हीन मानने लगा था। इसी भाँति प्रायः अधिकांश लोग अपने संगी-साथी, शुभचिन्तक, माँ-बाप अथवा दृश्य श्रव्य विज्ञापनों के माध्यम से पतित करने वाले हीन विचारों को पा जाया करते हैं। उनके मन-मस्तिष्क ने जितनी गहराई से उन्हें सही मान लिया, उतनी ही गहराई से वे व्यक्ति हीनता की शिकार बन जाते हैं। ये हीन विचार उतने ही प्रभावी होते हैं, जितनी प्रगाढ़ व्यक्ति की इनके प्रति अपनी मान्यता।

किसी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि प्रायः लोगों की जिन्दगी कुछ-न-कुछ सीमा तक हीनता के कारण थोड़ी-बहुत प्रभावित होती रही है। कुछ लोग तो इसे बुरी तरह प्रभावित होकर निरुत्साहित हो उठते हैं, जबकि अन्य अनेक आत्मघात की बात सोचते और कतिपय लोग उसे क्रियान्वित भी कर डालते हैं।

व्यक्ति प्रायः सर्वथा पूर्ण नहीं होता। उसमें कुछ गुण हैं, तो दूसरे क्षेत्र में दोष भी हो सकते हैं। किसी क्षेत्र में वह दूसरों से श्रेष्ठ है, तो सम्भव है, अन्य किसी में वह दूसरों से हल्का पड़े। यदि वह हर क्षेत्र के मूर्खियों से अपनी तुलना करने लगे, तो वह हर कदम पर अपने को गया-गुजरा अनुभव करने लगेगा। उदाहरण के लिए कुशल चिकित्सक एक अच्छा गायक हो सकता है और नहीं भी यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसने संगीत का अभ्यास किया या नहीं ? यदि किया तो कितना ? इतने पर ही यदि वह अपनी तुलना एक अच्छे संगीतज्ञ से करके स्वयं को तुच्छ मानने लगे, तो यह चिन्तन उसकी परेशानी वृथा ही बढ़ायेगा क्योंकि अभ्यास के अभाव में भले ही वह एक अच्छा संगीतकार

न बन सका हो, किन्तु वह एक तुच्छ डाक्टर, तुच्छ व्यक्ति नहीं हो सकता।

दूसरों से तुलना करते समय "किससे" और "किसकी" तुलना का ध्यान प्रायः लोग भूल जाते हैं। गामा और गाँधी की, जवाहर लाल नेहरू और जगदीश चन्द्र बोस की तुलना नहीं हो सकती और न उन लोगों ने कभी ऐसी तुलना करने की भूल ही की। ऐसी त्रुटि को अपनाने के कारण प्रायः हीनता की शुरुआत होने लगती है और व्यक्ति अनेक प्रकार की ग्रन्थियों से घिरने लगता है।

जहाँ व्यक्ति में महत्वाकांक्षा विकसित हुई, समझा जाना चाहिए कि निराशा भी साथ-साथ चल रही है। यह सोचते समय कि मुझे उसके जैसा बनना ही है, व्यक्ति को अपनी औकात का भी ध्यान रखना चाहिए। चिन्तन और प्रयास उसी के अनुरूप होने चाहिए। दूसरों जैसी योग्यता-क्षमता प्राप्त करना अच्छी बात है, पर यदि उतनी अपनी औकात ही न हो अथवा औकात के बावजूद अधिक प्रयास से भी सफलता न मिले, तो इसमें निराशा, उदास होने जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि निराशा से न तो कोई बात बनती है और न कभी बनी है। अतः ऐसे समय यह मानकर सन्तोष करना चाहिए कि इस विश्व उद्यान के निर्माण में सृष्टा ने व्यापक विविधता अपनाई है। उसने लम्बे आदमी भी बनाये और ठिगने भी, गोरे और काले भी, दुबले-पतले और हट्टे-कट्टे भी। उसने किसी एक रंग, रूप, आकार को प्राथमिकता कहाँ दी है ? अतः यदि कोई अपने भीतर वांछित योग्यता न विकसित कर सके, तो दुःखी रहकर अन्य क्षमताओं को कुण्ठित बनाना, किसी भी प्रकार बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसके साथ समझौता कर लेने में ही अपनी भलाई मानी जानी चाहिए।

किसी दूसरे को अपने सामने रखकर अपने को हीन मानने वाला मापदण्ड अपने ही मन का होता है। कभी-कभी इस मापन में वह भीषण गल्ती भी उसी प्रकार कर बैठता है, जैसे खेत की क्यारी को तिनके से नापना, लम्बी सड़क को वालिशत से नापना। क्या ही अच्छा हो हम दूसरों से अपनी तुलना गलत मापदण्ड से न करें। जब हम अद्वितीय बनाये गये हैं, तो दूसरों में हूबहू कैसे मिलेंगे ? जब एक ही पेड़ में दो फूल, दो काँटे, दो पत्तियाँ एक समान नहीं मिलती, तो मनुष्य के साथ यह कैसे सम्भव हो सकता है कि दो व्यक्ति बिल्कुल ही एक जैसे हों ? क्षमता-योग्यता में बिल्कुल ही समान हों ? जब दो जुड़वाँ भाई सर्वथा एक से नहीं होते, तो दो व्यक्ति एक-दूसरे के सदृश्य कैसे हो सकते हैं ?

स्वाभाविक है कि एक क्षमता में कुछ उच्च होगा, तो दूसरा उससे कुछ निम्न। इस सच्चाई को स्वीकारते हुए अपने चिन्तन में तदनु रूप परिवर्तन लाने से ही आत्महीनता की व्यथा से बचा जा सकता है। इससे बचे रहने में ही भलाई भी है। शरीर-मन स्वस्थ तभी बना रह सकता है और काम करने में अभिरुचि भी तभी जागती है, इस तथ्य को समझते हुए इस विकृति से दूर हो रहना चाहिए।

मानसिक विकृतियाँ जीवन को नरक बनाती हैं

किसी को रोगी तब समझा जाता है जब वह चारपाई पकड़ ले, रोने-कराहने लगे और हड्डियों का ढाँचा रह जाय। इससे कम की बीमारियाँ तो यो ही चलती रहती हैं। उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता, जबकि उनकी भयंकरता किसी प्रकार कम नहीं है। जिन्दगी के ढर्रे के साथ चलती रहने वाली बीमारियाँ प्रायः आधी शक्ति नष्ट कर देती हैं, सफलताओं की आधी सम्भावना समाप्त हो जाती है और जितने दिन आसानी से जिया जा सकता था उसमें एक तिहाई की कमी हो जाती है। इतनी बड़ी हानि के रहते हुए भी अपच, थकान, अर्धनिद्रा, जकड़न जैसे रोगों को ऐसा ही साधारण समझकर सहन कर लिया जाता है।

शरीर की तरह मस्तिष्कीय रोगों की बात भी है। स्पष्टतः शरीर की तुलना में मस्तिष्क का महत्व अनेक गुना अधिक है। शारीरिक उपलब्धियों की तुलना में मानसिक क्षमताओं के लाभ अत्यधिक हैं। अस्तु, शारीरिक रोगों की तुलना में मानसिक रोगों की क्षति भी कहीं अधिक है। किन्तु इस क्षेत्र में भी हमारी उपेक्षावृत्ति वैसी ही है। कपड़े फाड़ने लगे, पत्थर फेंकने लगे या घर छोड़कर कहीं चल दे, तभी किसी को मानसिक रोगी गिना जाता है। इससे कम की रुग्णता पता भी नहीं चलता, उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता, जबकि अहमन्यता, आत्महीनता, वस्तुस्थिति को घटा-बढ़ाकर देखना आशंका, अस्त-व्यस्तता, अतिभावुकता, निराशा, असामाजिकता, निष्ठुरता जैसे रोग भी कम भयंकर नहीं होते। उनके कारण जीवन की सरसता और सफलता का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। जो बच जाता है वह टूटा-फूटा, आधा-अधूरा और कुबड़ा, कुरूप ही पल्ले बँधा रहता है।

शरीर की स्वसंचालित क्रियाओं में हृदय-स्पन्दन, रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, माँस-पेशियों का आकुंचन-प्रकुंचन, पलक झपकना, सोना-जागना, पाचन,

पसीना, तापमान आदि मुख्य हैं। यह सब बिना हमारी इच्छा शक्ति का प्रयोग किये अपने आप होती रहती है। इन पर नियन्त्रण स्थापित कर सकना कठिन है। किन्तु देखा गया है कि भावनात्मक उभारों का इन पर भी प्रभाव पड़ता है और सामान्य शरीर संचालन प्रक्रिया उत्तेजना के समय तक असामान्य बन जाती है।

क्रोध में चेहरा तमतमा जाता है, साँस तेज चलने लगती है, मुट्टियाँ बँध जाती हैं और दाँत भिच जाते हैं। भय का अवसर आने पर गला सूख जाता है, शरीर काँपने लगता है, रोएँ खड़े हो जाते हैं, धिन्धी बँध जाती है और पैर पर लगाकर दौड़ने लगते हैं। अन्यान्य मनोविकारों में भी ऐसे ही विलक्षण चिह्न उभरते हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु का सन्देश मिलने पर, दुर्घटना अथवा भयंकर क्षति का समाचार पाकर बुरा हाल हो जाता है। इन भावोद्रेकों के कारण उत्पन्न हुई असाधारण स्थिति से निपटने के लिए शरीर स्वयं अपनी शक्ति भर व्यवस्था जुटाता और सन्तुलन मिलाता है। भय से बचने या शत्रु से निपटने के लिए भागने अथवा लड़ने का असाधारण पराक्रम करना पड़ता है। इसके लिए अभीष्ट ऊर्जा जुटाने के लिए ही क्रोध अथवा भय के अवसर पर विलक्षण दीखने वाली क्रियाएँ स्वयंमेव होने लगती हैं, इस नई व्यवस्था में रक्त का प्रवाह संलग्न रहता है और उसकी पेट की अभीष्ट सप्लाई रुक जाती है अस्तु पाचन-क्रिया अपने आप शिथिल हो जाती है और भूख न जाने कहीं गायब हो जाती है ? उस स्थिति में अन्य कितने सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं यह वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल से सहज ही पता चल जाता है।

न्यूरोटिक डिप्रेशन, साइकोटिक डिप्रेशन, मेनिक डिप्रेशन, एण्डोजेनिक डिप्रेशन आदि मानसिक गिरावटें प्रायः मिलती-जुलती हैं। उनके लक्षण भिन्न-भिन्न होने से नाम कई दिये गये हैं और उनकी व्याख्याएँ लक्षणों के हिसाब से की गई हैं। यह लक्षण रोगी की प्रकृति आघात के कारण तथा वर्तमान परिस्थिति के साथ गुंथकर उभरते हैं। इसलिए प्रायः एक रोगी से दूसरे की स्थिति सर्वथा नहीं मिलती। शारीरिक रोगों की बात दूसरी है। शरीर रचना सभी की लगभग एक जैसी है इसलिए बुखार, खाँसी, दस्त, सिर दर्द आदि के लक्षणों में कोई बहुत अन्तर नहीं होता किन्तु सोचने का तरीका और स्वभाव हर आदमी का बहुत अंशों में भिन्न ही होता है। पेट के दर्द का एक ही कारण है कि जरूरत से ज्यादा अथवा अपक्ष आहार करना किन्तु मानसिक आघातों का यदि घटनाक्रम और उसके भिन्न व्यक्तियों पर पड़ने वाले भिन्न प्रभावों का लेखा-जोखा रखा जाय तो हर मानसिक रोगी का एक ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है, जो

२.५४ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

उसी स्तर के अन्य रोगियों से सर्वथा भिन्न होगा। इसी विलक्षण भिन्नता को ध्यान में रखकर मानसिक रोगों के स्वरूप, लक्षणों के आधार पर उनका नामकरण अलग-अलग निर्धारित किया गया है।

हताश होना अपने आप में एक भयंकर व्यथा है। इससे मनोगत उत्साह नष्ट हो जाता है। शरीर का तापमान नीचे गिर जाय तो स्वभावतः अवयव शिथिल पड़ जायेंगे और निर्धारित कार्य पूरा न कर सकेंगे। ठीक इसी प्रकार मानसिक शिथिलता की प्रतिक्रिया होती है। निराशाजन्य मानसिक शिथिलता मन, बुद्धि, चित्त और अहं की विविध-विधि गतिविधियों के उद्गम केन्द्र को ठण्डा कर देती है इससे रोगी को न कुछ सोचते बनता है और न करते वह एक प्रकार से ठप्प जैसा होता जाता है। पर बात इतने से ही समाप्त नहीं होती। चुपचाप बैठे रहने को भी गनीमत समझा जा सकता है किन्तु शून्य स्थिति भी सम्भव नहीं होती उस स्थान पर विकृतियाँ जड़ जमा लेती हैं और सन्देह, आशंका, भय की नयी-नयी अनगढ़ तस्वीरें सामने आने लगती हैं। अमुक व्यक्ति अमुक प्रकार की हानियाँ पहुँचा रहा है या पहुँचावेगा, ऐसी मान्यता उनके मन में जड़ जमा लेती है और किसी भी निर्दोष व्यक्ति को निमित्त बनाकर उस पर तरह-तरह के दोषारोपण करते रहते हैं और अपनी मान्यता के पक्ष में कुछ उपहासास्पद तर्क भी प्रस्तुत करते रहते हैं।

दूसरे व्यक्ति हमें नुकसान पहुँचा रहे हैं इसी से अपनी स्थिति अस्त-व्यस्त हो गई है, ऐसा सोचने वाले रोगी मनःशास्त्र के अनुसार 'सिजोफ्रेनिया' से ग्रसित समझे जाते हैं। उन्हें अपनी स्थिति में विकृति आने का तो भान होता है, पर उसका कारण अपने चिन्तन की विकृति के तथ्य को स्वीकार नहीं करते। कोई उनसे द्वेष करता है और नुकसान पहुँचाता है। यह दोषारोपण करके ही वे थोड़ा चैन पाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि दोष किस पर लगाया जाय। इसका सहज तरीका भूत-प्रेत, देवी-देवता पर इल्जाम लगा देना है। यह सबसे सरल रास्ता है। इसमें प्रतिवाद या झंझट का खतरा नहीं है। कई बार तो लाल-बुझक्कों की भीड़ अपने-अपने अनुभव सुनाकर उसी मान्यता की पुष्टि करती है इतना ही नहीं वैसे ही झाड़-फूँक के उपचार बताती है। जादू-टोना करने वालों को घर आई शिकार पकड़ने का अवसर मिल जाता है और वे उस बात को पूरी तरह तिल से ताड़ बना देते हैं। बेचारा रोगी अपना बहम बढ़ाता रहता है और पैसे उगाता रहता है। अपने पिछड़े देश में भूतवाद की बीमारी अन्य किसी रोग से कम नहीं वरन् ज्यादा ही है। अशिक्षा के अभिशाप के साथ-साथ जुड़े हुए

अन्धविश्वास ने भूतवाद का एक अच्छा खासा कागजी महल बनाकर खड़ा कर दिया है।

भूतों-देवताओं के बाद तांत्रिकों का नम्बर आता है। किसी जादूगर ने अपनी मर्जी से अथवा किसी की प्रेरणा से कुछ जादू-टोना करके उसे रोगी बना दिया है। ऐसा वे मानते रहते हैं। यह भूत या तांत्रिक कौन हो सकता है यह मान्यता भी क्रमबद्ध रूप से गढ़ लेते हैं।

शत्रु मित्रों में से कोई उनकी समझ पर चढ़ जाय तो फिर दोषारोपण का केन्द्र वही बन जाता है। कई बार तो अपने ही सगे-सम्बन्धी इस चपेट में जकड़ लिये जाते हैं। अपना ही बेटा, भाई, साला, जामाता, पिता अथवा कोई सम्बन्धी महिला इसका कारण बना ली जाती है।

यहाँ तक कि माता, पुत्री, बहिन या पत्नी को भी जादूगरनी अथवा इस व्यथा की उत्तरदायी ठहारा दिया जाता है। उन्हीं ने किसी से जादू कराया है अथवा स्वयं किया है। ऐसी उधेड़बुन आरम्भ में तो कल्पना और सम्भावना के रूप में ही दिमाग में आती है, पर कुछ ही समय में वह परिपक्व होकर सुस्थिर मान्यता बन जाती है। उन्हें कोई काटना या हटाना चाहे तो वे सुनने तक को तैयार नहीं होते और अपनी बात का समर्थन करते हैं मानो इसके अतिरिक्त और कोई बात हो ही नहीं सकती।

मस्तिष्कीय रोगों में सबसे अधिक व्यापक है 'सिजोफ्रेनिया' जिसके अन्तर्गत मनुष्य तरह-तरह की आशंकाएँ करता रहता है। सम्बन्धित व्यक्तियों में से प्रायः सभी उसे अपने विरुद्ध प्रतीत होते हैं और हर एक से उसे हानि, आक्रमण एवं छल की आशंका बनी रहती है। अस्तु जो उपलब्ध है वह हानिकारक और घटिया दीखती है। अपने को जो मिला है वह अपर्याप्त ही नहीं, निकम्मा और निरर्थक भी है और उतने भर से उसका सन्तोष समाधान नहीं हो सकता। अगले दिन भय और संकट लेकर आ रहे हैं। कोई दुर्घटना होने वाली है अथवा विपत्ति का पहाड़ टूटने वाला है। बुरा समय तरह-तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा और दुःख देगा। ऐसे व्यक्ति सदा शंकाशील, भयभीत रहते हैं। हाँपते-काँपते रहते हैं। डरा हुआ आदमी आत्म-रक्षा के लिए आक्रमणकारी बन जाता है। भय की एक प्रतिक्रिया आक्रमण के रूप में भी आती है। यदि दूसरों पर हमला न बन पड़े तो अपने ऊपर ही बरस पड़ते हैं और तरह-तरह की आत्म, प्रताड़नाएँ गढ़कर, आत्म-हत्या अथवा उसी से मिलती-जुलती कोई दूसरी विपत्ति खड़ी कर लेते हैं।

आधुनिक मनःशास्त्रवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानसिक बीमारियाँ ही अधिकतर शारीरिक रोगों के रूप में परिणित होती हैं। इन दिनों शरीरगत रोगों की बाढ़ आ रही है और उन्हें अच्छा करने में औषधियों के नित नये आविष्कार भी कुछ कारगर नहीं हो रहे हैं। इस तथ्य से विचारकों को इस निष्कर्ष पर और भी अधिक विश्वास होता जा रहा है कि मानसिक विकृतियाँ ही बीमारियाँ उत्पन्न करती हैं। उन्हें अच्छा करना हो तो जड़ को काटना चाहिए। मन का शरीर पर पूर्ण अधिकार होने का तथ्य सर्वविदित है, ऐसी दशा में यह भी मानना ही पड़ेगा कि विकृत मस्तिष्क लेकर कोई शारीरिक दृष्टि से नीरोग नहीं रह सकेगा।

ब्रिटेन में अपने समय के प्रधानमंत्री ग्लैडस्टन को समय-समय पर सिर का दौरा पड़ता था। संयोग की बात यह थी जब कभी राजनैतिक दबाव उन पर पड़ता था और किन्हीं जटिल समस्याओं के सम्बन्ध में पार्लियामेंट के सामने उन्हें स्पष्टीकरण देना पड़ता था तो वे घबराहट में पड़ जाते थे और सिरदर्द खड़ा हो जाता था। बीमारी का कारण बताकर बात आगे को टाल दी जाती थी। पार्लियामेंट के एक सदस्य टिमोथी माइकेल हिली ने इस सम्बन्ध में देर तक बारीकी से निरीक्षण किया और अन्त में एक लम्बी लिस्ट भी प्रस्तुत कर दी जिसमें ग्लैडस्टन के सिरदर्द और प्रस्तुत जटिल प्रश्नों के समाधान को टालने की संगति मिलाई थी। हर बार का सिरदर्द तभी हुआ जब उन्हें किसी राजनैतिक परेशानी में उलझना पड़ा। उन्हें कभी जुकाम होता था, कभी सिरदर्द। इसलिए उनकी बीमारी का एक नया नामकरण करना पड़ा डिप्लोमैटिक हैडेक, डिप्लोमैटिक कोल्ड यह बीमारी डाक्टरों किताबों में नहीं पाई जाती, पर उसके साथियों ने अपने अनुमान के आधार पर इस रोग का आविष्कार किया था।

मानसिक उलझनें अक्सर सिरदर्द की शिकायतें खड़ी कर देती हैं। घृणा, ईर्ष्या, रोष, क्रोध, खीज, प्रतिशोध जैसे उग्र एवं आक्रामक, मनोविकार अक्सर सिरदर्द की बीमारी बुला लाते हैं और विकारों के तीव्र एवं मन्द होने की गति से अक्सर दर्द का ज्वार-भाटा भी नीचा-ऊँचा होता रहता है।

मनःशक्ति की विकृति और विनाश एक ही है

‘ए टेक्स्ट बुक ऑफ फिजियोलॉजिकल साइकोलाजी’ के लेखक एस. पी. ग्रासमैन ने एक ऐसे उदर शूल रोगी का वर्णन किया है जिसे प्रतिदिन अपराह्न दो बजे ही भयंकर कष्ट होता। उस स्थिति में उसका

सारा शरीर पीला पड़ जाता, आँखों के कोर काले पड़ जाते, अपान वायु रुक जाती और जीवन-मरण जैसा संकट उत्पन्न हो जाता। उसने अनेकों डाक्टरों से उपचार कराया किन्तु रत्ती भर आराम न मिला। अन्त में उसने मनोचिकित्सक से भेंट की और उन्हें अपनी कष्ट कहानी सुनाई।

विन्सेण्ट थाम्सन नामक उक्त व्यक्ति अमेरिका के अत्यन्त धनाढ्य उद्योगपति हैं। डॉ. ग्रासमैन ने कई प्रकार से उसका जीवन वृत्तान्त जानने का प्रयत्न किया किन्तु वे किसी ठोस कारण की खोज न कर सके अन्त में उन्होंने उनकी धर्मपत्नी से पूछताछ की। उससे इस बात का पता चला कि थाम्सन महोदय दिन भर प्रसन्न रहते हैं किन्तु बारह बजे से एक बजे तक वे किसी विचार में खोये से प्रतीत होते हैं।

मनोवैज्ञानिक को सूत्र हाथ लग गया। उन्होंने थाम्सन से पूछा—वे ऐसा क्यों करते हैं ? इस पर उसने वर्षों पुरानी अपनी गाँठ खोली। उसने बताया कि ठीक बारह बजे रैमिंजे कम्पनी के मालिक वानथेड्सी उधर से निकलते हैं। हम दोनों किसी समय सहपाठी थे। जिस लड़की से मैं प्यार करता था ज्ञात हुआ कि श्री थेक्सी भी उसमें रुचि रखते थे अन्त में उन्हीं के कारण उस लड़की ने उन्हें अपमानित किया तभी से उनके मन में थेक्सी के प्रति कटुता बढ़ती गई। उन्हीं के कारण एक बार मुझे अपने रोजगार में भी घाटा उठाना पड़ा, इसी द्वेष के कारण जब भी वे सामने से गुजरते हैं मेरी क्रोधाग्नि भभक उठती है और मैं उन्हें मार डालने तक की बात सोचने लगता हूँ।

इस घटना की जानकारी के बाद डॉ. ग्रासमैन ने फिजीशियन डॉ. ब्लेयर्ड के साथ जाँच करने के बाद पाया कि ठीक उसी समय स्वेच्छिक नाड़ी मण्डल से एक प्रकार का स्त्राव आमाशय और आँतों में विष के समान फैल जाता है, उस समय मानसिक शरीर दूषित हो उठता है और तभी पीड़ा उसे एकाएक दबोच लेती है। सारा दोष उनकी क्रोध और उत्तेजना मिश्रित ईर्ष्या का था, उसी कारण उन्हें इस भयंकर व्याधि का सामना करना पड़ रहा था जबकि डाक्टर और दूसरे लोग बीमारी पेट में ढूँढ़ रहे थे।

डॉ. ग्रासमैन ने उन सज्जन को समझाया आप (१) जुडिशस सप्रेशन्—अर्थात् मन में जो भी भली-बुरी बात उठा करे उसका विवेचन किया करें दूसरों को बताया करें, अपनी विवेक बुद्धि इतनी तीव्र रखें कि अपनी छोटी से छोटी भूल पकड़ में आ जाये और तब पूर्वाग्रह रहित केवल सत्य को, न्याय को, व्यावहारिकता को

ही उचित मानने का अभ्यास किया करें। (२) जुडिशस सप्रेगेशन—अर्थात् उस स्थिति में निषेधपूर्ण चिन्तन के स्थान पर सद्भावपूर्ण आचरण यथा क्षमायाचना, मित्रता, उपहार आदि का आचरण करें। (३) जुडिशस फारगेटफुलनेश—अर्थात् बार-बार उन बातों को मन में लाने की अपेक्षा, उस समय कोई अच्छी पुस्तक पढ़ने, धर्म पत्नी के साथ मनोविनोद करने, संगीत सुनने जैसे किसी अन्य कार्य में मन को घुलाकर उस बात को भूल जाया करें। (४) इमैजिनेशन अर्थात् अपनी आत्मा के सम्मुख अपने आप को खड़ा करके संवेदनपूर्ण चिन्तन किया करें। उस समय अपने आपको अबोध शिशु और अन्तःकरण को माँ मानकर उस तरह की भावनाएँ जगाया करें जैसी माँ बेटे के मध्य होती है।

उपरोक्त चार आधार आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं। उनका आधार यह है कि मनुष्य की जो भी कुछ शारीरिक व्याधियाँ होती हैं वह आज या कल के दुर्भाग्यपूर्ण चिन्तन और पाप का ही अभिशाप होती हैं। मनुष्य का दृश्य शरीर तो यह हाथ-पाँव वाला शरीर है, पर यह वास्तव में उस कठपुतली की तरह है, जिससे मन में बँधे विचारों के धागे सूक्ष्म नाड़ी मण्डल के द्वारा नचाते रहते हैं। यदि मन बीमार है तो शरीर अवश्य बीमार होगा। मन की गाँठ जितनी कठिन होगी, व्याधि उतनी ही स्थायी और कष्टप्रद। अब बीमारियों का दोष किसी विषाणु को देने की अपेक्षा, शारीरिक मल को देने की अपेक्षा पूरी तरह मानसिक विक्षेप को मान लिया गया है और यह निष्कर्ष पूरी तरह सामने आ गया है कि मनुष्य सद्विचारों, सद्भावनाओं में निमग्न रहकर ८० प्रतिशत बीमारियों से तो तत्काल ही छूट सकता है। २० प्रतिशत के जो आधार पहले से बन चुके हैं, उन्हें भी अपनी दुर्भावनाओं, पापों, कुविचारों को खोलकर, उनका प्रायश्चित्त कर साफ किया जा सकता है, जो अटल प्रारब्ध बन गये हों, मन को संवेदनाओं यथा असीम करुणा, परोपकार की भावना, प्रगाढ़ श्रद्धा, ईश्वर भक्ति की भावनाओं में डुबाकर होने वाले अटल कष्टों को भी भाले के स्थान पर मात्र काँटे चुभने जैसे हल्के रूप में निबटा जा सकता है।

थाम्सन महोदय ने बात को गम्भीरता से अनुभव किया उन्होंने माना अपने पर अधिकार हो सकता है दूसरों को अपना मानने और उससे अपने अनुकूल आचरण की आशा रखना मूर्खता ही तो है उन्होंने थैक्सी से जाकर क्षमा याचना की और अपने अब तक के विद्वेष के विष को विसर्जित कर दिया। अपने घर में वे अधिक रुचि लेने लगे। यह परिवर्तन उनकी पत्नी उनके

बच्चों को बहुत अच्छा लगा, वे सब उन्हें स्नेह और प्यार की दृष्टि से देखने लगे। विचारों की दिशा बदली तो उनका सारा जीवन ही आनन्द विभोर हो गया। उदर शूल तो मानो ब्याज में ही ठीक हो गया हो।

मनोभावों की उथल-पुथल शारीरिक क्रिया-कलाप को किस तरह प्रभावित करती है। सामान्यतः यह बात अक्सर दृष्टि में आती रहती है अत्यन्त भय की अवस्था में लोग एकाएक पीले पड़ जाते हैं, क्रोध की अवस्था में आँखें लाल हो उठती हैं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि ऐसा चमड़ों के नीचे रक्ताणुओं के एकाएक विस्तारण से होता है। जो हमेशा चिन्ता, तनाव और ईर्ष्या से घिरे रहते हैं, उनकी खोपड़ी में गंजापन और चिकनापन आ जाने का भी यही कारण है यदि तनाव में किसी के प्रति प्रतिशोध की भावना हो तो गिल्टियाँ तक उभर आती हैं। चिन्ताग्रस्त स्थिति में अधिकांश दबाव आमाशय और जननेन्द्रिय पर पड़ता है। पेट का कड़ा होना, गाँठें पड़ना, भूख न लगना, अति कामुकता, बार-बार पेशाब जाना यह बीमारियाँ इस बात की प्रतीक हैं कि मस्तिष्क में चिन्ता और तनाव की आँधियाँ चल रही हैं। पश्चिमी देशों में “ध्यान-साधना” से लोगों को अत्यन्त शान्ति मिलने की आम मान्यता बन गई है। इसी कारण ध्यान और योग साधनाओं के प्रति वहाँ व्यापक आकर्षण बढ़ रहा है उसका अर्थ यही है कि मन को विकृत चिन्तन की परिधि से निकाल कर उसे भावभरी संवेदनाओं में गहरा उतारा जाये। हाल की कुछ बिल्कुल नई शोधों से यह तथ्य और भी स्पष्ट हुये हैं।

अभी हाल ही में अमरीका के कार्नेल विश्वविद्यालय में एक प्रयोग किया गया। विश्वविद्यालय के अस्पताल में एक रोगी आया। आकस्मिक चोट के कारण उसकी ग्रास नली बन्द हो गई थी। इसलिए उसे एक छिद्र द्वारा आमाशय में खाना पहुँचाया जाता था। इस प्रकार उस व्यक्ति का आमाशय वैज्ञानिक प्रेक्षणों के लिए उपलब्ध हो गया। उस समय देखा गया कि उस व्यक्ति को डॉटने पर जब उसमें तथा असन्तोष तथा विरोध का भाव आया तो उसका आमाशय लाल हो गया, उसमें से अधिक रक्त प्रवाहित होने लगा और आमाशय की परतें फूलकर मोटी हो गईं।

लन्दन के डॉ. वानडेन ब्रॉक और कैलिफोर्निया के डॉ. आर्थर ए. वेल ने मृत्यु के कारणों पर प्रकाश डालते हुए अपने-अपने ग्रन्थों में लगभग एक से विचार व्यक्त किये हैं वे कहते हैं मानवी काया की संरचना ऐसी है कि यदि उसे सही साज-सम्भालकर रखा जा सके तो

सामान्य आयुष्य सैकड़ों वर्ष की हो सकती है। विनाश तो मनःशक्ति के विकृत होने से आरम्भ होता है यदि अस्त-व्यस्तता रोकने और जीवट बनाये रहने का प्रयत्न किया जाये तो आरोग्य और दीर्घ जीवन के मार्ग में आने वाली अन्य सभी बाधाएँ सरलतापूर्वक हटाई जा सकती हैं।

शांति मन की एक स्थिति का नाम

मन के पूरी तरह स्वस्थ एवं संतुष्ट रहने की स्थिति को ही शान्ति कहा जाता है। इसी स्थिति को अध्यात्म-मनोविज्ञान में मन की निरुद्ध अवस्था कहा गया है। वर्तमान मनोविज्ञान इसी को “इण्टीग्रेटेड स्टेट ऑफ माइंड” के नाम से बताता है। जो भी हो हर कोई मानसिक रूप से स्वस्थ व संतुष्ट रहना चाहता है। संभवतः एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसे अस्वस्थता और असंतुष्टि भली लगती हो।

सभी के द्वारा इसे पाने की इच्छा करने पर भी न पा सकना एक ही बात को सिद्ध करता है कि पाने का जो रास्ता अपनाया गया है, उसमें कहीं न कहीं भूल जरूर है, अन्यथा इसकी प्राप्ति अवश्य हो गई होती। डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी रचना “प्रिन्सिपल उपनिषद्स” में सारे प्रयासों व क्रियाकलापों को दो वर्गों में विभाजित किया है। पहला है—बाहर की वस्तुओं, स्थानों में इसकी ढूँढ़-खोज। दूसरा है—अपने अंदर ही कहीं ऐसी स्थिति की तलाश। उन्होंने एक चीज और बताई है, वह यह कि इस ढूँढ़ खोज में लगे लोगों में कुछ तो बिना जाने समझे इसे खोज रहे हैं, कुछ ऐसे हैं जो जागरूक होकर प्रयास कर रहे हैं। जागरूक होकर प्रयास करने वालों में भी अधिकतर ऐसे हैं, जो भूल-भुलैया में भटक गये हैं। वनवासी समझते हैं कि शहर में शांति है, जबकि शहर वाले वन में शांति की कल्पना में खोये रहते हैं। यह विडम्बना ही है कि गृहस्थ समझता है कि पत्नी, बच्चे, घर-परिवार की जिम्मेदारियाँ न होने कारण साधु शान्ति से होगा, जबकि साधु समझता है आराम से बने-बनाए पक्वान-मिष्ठान खाने वाला सदीं, गर्मी बरसात से सुरक्षित रहता हुआ गृहस्थ निश्चित ही शान्ति में होगा। इसी तरह काम करने वाला किशोर में आनन्द की कल्पना करता है। बैठे-ठाले रहने वालों की अपनी स्थिति उबाऊ लगती है और इससे छुटकारा पाकर काम करना उन्हें भला लगता है।

वस्तुतः शांति की खोज इधर-उधर भटकने, वस्तु, स्थान और परिस्थितियों के बदलने से मिले यह असम्भव है। जो चीज जहाँ है ही नहीं, वहाँ मिलेगी कैसे ? इसे न तो एकांत में पाया जा सकता है, न समाज के सुविधा साधनों में। यह तो मन की एक अवस्था है। इसका पाना तभी सम्भव है जब मन उस अवस्था में पहुँचे।

वर्तमान मनोविज्ञान मन की मुख्यतः दो दशाएँ बतलाता है—पहली अस्त-व्यस्त और खंडित दूसरी इन्टीग्रेटेड। पहली में दुःख, परेशानियाँ, मनोरोगों आदि का अनुभव होता दूसरी में शांति, सुख, प्रसन्नता का। अध्यात्म-मनोविज्ञान में इसे और बढ़िया तरह से समझाया गया है। इसके अनुसार मन की पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध।

पहली में मन खूब चंचल रहता है, पर ज्यादा परेशानी नहीं होती है। यह अवस्था बच्चों के मन की है, जो थोड़ी देर में सुखी थोड़ी देर में दुःखी प्रतीत होती है। आज का मनोविज्ञान इसे ‘आसिलेशन ऑफ अटेंशन’ कहता है। दूसरी में जड़ता रहती है, न कुछ करने का मन करता है, न सोचने का। तीसरी स्थिति औसत आदमी की है, जो कभी तो अपने को शान्त और अच्छा महसूस करता है, फिर कभी परेशान और दुःखी अनुभव करता है। चौथी अवस्था वह है जिसमें वैज्ञानिक दार्शनिक मनीषी जीते हैं। यह मन की स्थिरता की दशा है। इसमें पूरी तरह से शांति का अनुभव तो नहीं होता, पर उद्विग्नता-हताशा का भी एहसास नहीं होता। मन सीधी पटरी पर चलने लगता है, बाहरी परिस्थितियों से बिना परेशान हुए काम करने की योग्यता आ जाती है। पाँचवीं अवस्था ऐसी है, जिसे पूर्ण शांति की अवस्था प्रमाणित किया गया है। इसमें मन की स्थिरता के साथ अन्तःकरण के भाव भी जुड़ जाते हैं। एकाग्र अवस्था में उद्विग्नता परेशानी तो नहीं रहती, पर कोई आनन्द भी नहीं मिलता। बस ऐसा ही कुछ अनुभव होता है, जैसे कोई सही स्थिति में मशीन चल रही हो। उसमें कोई खराबी न हो। एकाग्रता की दशा में जहाँ मन की बागडोर बुद्धि के हाथों रहती है, वहीं शांति की दशा में अन्तःकरण के उच्च भावों के हाथ में। इसी कारण ऐसी स्थिति में आनन्द का अनुभव होता है।

सही मायने में यदि हम इसे पाना चाहे तो हमें अपने अंदर व्यापक फेर-बदल करना होगा। हमें अपनी दुराशाओं, इन्द्रिय-लिप्साओं, मन की वासनाओं, संकीर्णताओं से ऊपर उठना होगा। इसके लिए जरूरी है जागरूक होना। सही कहा जाय तो हमारा अधिकांश समय

बेहोशी में कटता है। ऐसी बेहोशी, जिसमें कुछ करने को जी नहीं करता, बस जिस किसी तरह दिन काटे जाते हैं।

शांति पाने के लिए जो फेर-बदल जरूरी है, उसमें वासनाओं और कामनाओं को भावनाओं में बदलना होगा। इसका मतलब है कि अपने काम का दायरा शरीर और कुटुम्बियों से बड़ा करना होगा इससे हृदय की क्षुद्रता विशालता में बदलेगी। शांति के बंद दरवाजे खुलेंगे, जिससे उसका अजस्र प्रवाह सहज ही आ सकेगा।

आस्कर ब्राउन “इण्टीग्रेशन ऑफ माइंड” में कहते हैं किसी भी काम में उच्च और व्यापक भावनाओं तथा पूर्ण मनोयोग घोल देने पर मन के सारे द्वन्द्व समाप्त होते हैं और वह शांत होता चला जाता है। इस प्रक्रिया में मन विक्षिप्तता से उठकर एकाग्र होता है और एकाग्रता से बढ़कर निरुद्ध होता है। छोटा दीखते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से यह एक बड़ा प्रयोग है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति काम करते हुए उसी तरह शांत और स्थिर बना रहता है, जैसे तेजी से घूमता हुआ लट्टू। गीताकार के शब्दों में जिस प्रकार सारी नदियों में जल को अपने अंदर लेता हुआ समुद्र चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार ऐसा पुरुष कर्तव्य कर्मों को करता हुआ परम शांति को प्राप्त होता है। यही है यथार्थ शांति।

मानसिक रोगों का प्रेमोपचार

विश्व विख्यात मनःशास्त्री टमस मैलोन ने पागलपन के कारण ढूँढ़ने वाले अनेकों शोध-संस्थानों का मार्गदर्शन किया है और उन्हें परीक्षणों के आधार पर किसी उपयुक्त निष्कर्षों तक पहुँचाने में सहायता की है। उनके अनुसन्धानों के निष्कर्षों में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह पाया है कि ‘मनुष्य दूसरों का प्यार पाना चाहता है पर वह उसे मिल नहीं पाता।’ इस अभाव से उसके अन्तःक्षेत्र की गहरी परतों में निराशाजन्य उदासी छा जाती है। फलतः उसका चिन्तन-प्रवाह अपना सीधा रास्ता छोड़कर भटकावों में फँस जाता है। प्यार पाने की असफलता का कारण सम्भव है उस व्यक्ति के अपने ही दोष-दुर्गुणों में रहा हो, पर इससे क्या उसकी आकांक्षा तो अतृप्त ही रह गई। वह यह समीक्षा कहाँ कर पाता है कि दोष अपना है या पराया। भोजन किसी भी कारण मिले, पेट का विक्षोभ तो हर हालत में रहेगा ही। इसी प्रकार प्यार के अभाव में मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन धीरे-धीरे खोता चला जाता है और एक दिन स्थिति वह आ जाती है जिसमें उसे विक्षिप्त एवं अर्ध विक्षिप्त के रूप में पाया जाता है।

जो पूर्ण विक्षिप्त हो चुके हैं उनकी बात दूसरी है, पर जो दूसरों के मन और व्यवहार का अन्तर समझने में किसी सीमा तक समर्थ हैं, उनके रोग को साध्य माना जा सकता है। अधिक से अधिक यह समझा जा सकता है कि उपचार कष्टसाध्य है, पर असाध्य तो नहीं ही कहना चाहिए। ऐसे रोगियों का उपयुक्त उपचार यह है कि उन्हें उपेक्षा के वातावरण से निकालकर स्नेह-सद्भाव का अनुभव करने दिया जाय। जिनसे उसका वास्ता पड़ता है वे सभी उसे प्यार और सम्मान प्रदान करें। वैसा न करें जैसे कि आमतौर से पागलों के साथ किया जाता है। अटपटेपन पर खीज स्वाभाविक है, पर हितैषियों को यह मानकर चलना चाहिए कि रोगी आखिर रोगी है और उसके अटपटे व्यवहार जान-बूझकर की गई उदंडता नहीं वरन् चिन्तन तन्त्र के गड़बड़ा जाने की विवशता भर है। ऐसी दशा में वह तिरस्कार एवं प्रताड़ना का नहीं, दया और दुलार का अधिकारी है।

प्यार की प्यास मानवी चेतना के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। पदार्थों के संग्रह इन्द्रियों की रसानुभूति के उपरान्त तीसरी भूख स्नेह की है जो व्यवहार में सम्मान के रूप में देखी जाती है। यश कामना उसी का रूप है। प्रतिष्ठा प्राप्त करते समय मनुष्य सोचता है कि यह सम्मानकर्ताओं द्वारा दिया गया स्नेह सद्भाव है। यों होता यह भ्रम ही है किन्तु असली न मिलने पर नकली से भी बहुत करके काम चलाते रहा जाता है। स्नेह के साथ सम्मान रहेगा किन्तु सम्मान का प्रदर्शन सदा स्नेह युक्त ही हो यह आवश्यक नहीं। उसमें छद्म भी घुला रह सकता है। सम्मान और यश के लिए लालायित प्रातः सभी पाये जाते हैं और उसके लिए समय, श्रम एवं धन भी खर्च करते हैं। यश लालसा के पीछे वस्तुतः प्यार को उपलब्ध करने की आकांक्षा ही काम करती है। लोग बड़प्पन के प्रदर्शन में उसे खरीदने की विडम्बना रचते रहते हैं।

पानी की प्यास से गला सूखता है और भूख से पेट उठता है। प्यार के अभाव में आदमी थकता ही नहीं टूटता भी है। एकाकीपन यों अन्य प्राणियों को भी सहन नहीं, पर मनुष्य के लिए तो वह न ढोया जा सकने वाला भार है। वह साथ रहना ही नहीं चाहता ऐसे साथी भी चाहता है जो उसके अन्तस् को छूने, गुदगुदाने, खड़ा रखने और उठाने में सहायता कर सके। प्यार का अभाव अखरता तो धैर्यवानों को भी है, पर हल्कपन तो उसके कारण उखड़ ही जाता है। प्रायः आन्तरिक उखड़ापन ही पगलाने की व्यथा बन कर सामने आता है। यों पागलपन के इसके अतिरिक्त भी और कितने ही कारण होते हैं।

इस प्रकार पगलाने वालों का सबसे बड़ा दोष यह होता है कि वे प्यार की प्रकृति को नहीं जानते और यह नहीं समझ पाते कि यह अपने भीतर से निकलने वाली आभा भर है, जो जहाँ भी पड़ती है वहाँ दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक चमक उत्पन्न करती और आकर्षक लगती है। अपना प्यार ही दूसरों में प्रतिबिम्बित होता है। यदि उसमें कमी हो तो दूसरों का वास्तविक सद्भाव भी ठीक तरह समझ सकना सम्भव न हो सकेगा। इसके विपरीत अपनी प्रगाढ़ आत्मीयता होने पर साथियों का सामान्य शिष्टाचार भी गहरे दुलार की अनुभूति करता रहता है। बल्व स्वयं जलता है और अपने क्षेत्र को प्रकाशवान करता है। व्यक्ति का अपना प्यार ही है, जो विकसित होने पर दूसरों में प्रेम प्रतिदान मिलने के रूप में विदित होता रहता है।

जो इस तथ्य को समझते हैं वे पगलाने से बचे रहते हैं। चपेट में आते हैं तो अपना उपचार आप कर लेते हैं। दूसरों की प्रतीक्षा न करके अपनी ओर से सद्भाव बढ़ाते हैं और उसे साथियों में, सम्पर्क क्षेत्र में उसका प्रतिबिम्ब देखते हैं। मानसिक अवसाद का यह अति सरल किन्तु अत्यन्त कारगर स्वसंचालित उपचार है, पर दुर्भाग्य यह है कि इस तथ्य को कोई-कोई ही समझ पाते हैं और अपनी ओर न देखकर स्नेह, सद्व्यवहार एवं सम्मान के लिए दूसरों का मुख ताकते रहते हैं। न मिलने पर खीजते और दूसरों पर ही कृपणता, कृतघ्नता आदि का दोष लगाते हैं। सहयोग के अभाव में सांसारिक कामों में हानि पड़ने की बात सर्वविदित है। आन्तरिक सद्भावों की उपलब्धि भी उससे भी बड़ी आवश्यकता है। इतने बड़े उपार्जन का यही सरल उपाय है कि अपनी ओर से प्यार का प्रकाश फेंककर दूसरों को प्रिय पात्र बना लिया जाय और अपने ही प्रेम प्रकाश का आलोक समीपवर्ती क्षेत्र में छाया देखा जाय।

मानसोपचार की कठिनाई यह होती है कि वह पगलाये हुए रोगियों को यह दार्शनिक तथ्य समझा सकने में सफल नहीं हो पाते, समझने में तथाकथित समझदार भी असफल रहते हैं। मानसिक रोगी पहले तो अपनी विपन्नता ही स्वीकार नहीं करता, करता भी है तो उसे दूसरों की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई मानता है। जब तथ्य को स्वीकार ही नहीं किया गया तो उसके परिवर्तन के लिए बताया गया उपाय भी किसी तरह गले उतरेगा। कदाचित ही कोई मनोरोग चिकित्सक अपने रोगियों को यह समझा सकने में सफल हो पाते होंगे कि उन्हें अपने भीतर आशा का, उल्लास का, प्रेम का स्रोत उभारना चाहिए और अपने सूखे मनःक्षेत्र को हरा-भरा कर लेना चाहिए। कितना दुर्भाग्य है कि दो वयस्क मस्तिष्क

लाख प्रयत्न करने पर भी उस तथ्य को समझने और समझाने में सफल नहीं होते, जिन पर कि उनकी प्रगल्भता और सफलता निर्भर है।

जो हो, उपचार तो करना ही ठहरा। ऐसी दशा में एक ही उपाय शेष रह जाता है कि विक्षिप्तता एवं अर्ध विक्षिप्तता के रोगी से सहानुभूति रखने वाले सभी लोग अपना व्यवहार बदल लें। स्नेह, सहयोग और सम्मान का प्रदर्शन करें। आत्मीयजन होने के नाते यदि ऐसा सहज स्वाभाविक रूप से बन पड़े तो उसका अधिक प्रभाव पड़ेगा, पर यदि भीतर से वैसी उमंग न उठती हो तो भी प्रेम प्रदर्शन को कारगर उपचार मानकर उसके लिए आवश्यक प्रयास किया जाना चाहिए।

मानसोपचार में औषधियों का, विद्युत प्रयोगों का तथा अन्यान्य क्रिया-प्रतिक्रियाओं का भी महत्त्व है, पर उन सबके संयुक्त परिणाम में भी अधिक लाभदायक यह होता है कि पगलाये रोगी को स्नेह दुलार के वातावरण में रहने का अनुभव होने लगे। उद्धत मनोरोगियों की आक्रामक गतिविधियों पर नियन्त्रण करने एवं सामान्य शिष्टाचार खो बैठने पर प्रतिबन्धित भी किया जाता है और वैसा करने से उसे क्या हानि उठानी पड़ेगी इसका अनुभव भी कराना चाहिए। अन्यथा उद्धा आचरण बढ़ता ही जायेगा। इतने पर भी यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि मानसिक रोगों के रूप में जीवन की नाव में जो पानी घुसता है उसके प्रवेश द्वार को प्यार के अभाव की अनुभूति ही कहा जा सकता है। अवसाद को उत्साह में बदल देना ही मानसिक रोगों की कारगर चिकित्सा है। इसमें प्रेमोचार को जितनी सफलता मिलती है उतनी और किसी प्रयोग को नहीं।

मानसोपचार की कुंजी अपने ही हाथ में

मानवी सत्ता का ध्रुव केन्द्र मस्तिष्क को माना गया है। सामान्यतः मस्तिष्क के दो भाग होते हैं एक मन और दूसरा अन्तर्मन। मनोविज्ञान की भाषा में इन्हीं को चेतन और अवचेतन के नाम से जाना जाता है। अवचेतन मन ही है जो चेतन मन से शरीर के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का नियन्त्रण और संचालन करने का कार्य सम्पन्न कराता रहता है। चूँकि इसका मूल स्रोत मनुष्य की अंतरात्मा है इसलिए स्व-संकेत या सुझाव एवं आत्म-सुधार की प्रक्रिया इस प्रयोजन की पूर्ति में सक्रिय भूमिका निभाती है।

सुझाव शब्द का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मनोभावों से होता है जो उसके आचरण की मर्यादाओं को निर्धारित करते और उपयुक्त मार्गदर्शन की व्यवस्था जुटाते हैं। इन मनोभावों को अन्तःकरण में उमड़ने वाली इच्छाओं और उमंगों का प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है। मनुष्य के विचारों और कार्य पद्धति का निर्धारण इन्हीं के अनुरूप होता रहता है। आत्म सुझाव की प्रेरणाएँ भी यहीं से उभरती हैं।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध मनोविज्ञानी ऐमिले कोव ने आत्म-सुझाव की स्व-संकेत की प्रक्रिया पर गहन अनुसन्धान किया है। उनके कथनानुसार सांसारिक एवं बाह्य परिस्थितियाँ हर क्षण बदलती रहती हैं और तदनु रूप मनुष्य की मनःस्थिति प्रभावित होती है। कई घटनाएँ जीवन में आशा और प्रसन्नता की किरणें फैलाती हैं तो कई अप्रसन्नता, खीज और निराशा की स्थिति उत्पन्न करती देखी गई हैं। दैनिक जीवन की नब्बे प्रतिशत घटनाओं में मनुष्य अपने मनोभावों को ही प्राथमिकता देता और अभिरुचियों के अनुरूप अपनी कार्यशैली का निर्धारण करता है। सुझाव और सुधार के निर्देशन भी उसी स्तर के मानने को तैयार होता है।

विज्ञापनों में प्रायः जनसाधारण के अन्तर्मन को प्रभावित करने की तकनीक ही अपनाई जाती है। बौद्धिक एवं चेतन मन स्तर तक सीमित रहने वाली प्रचार-प्रसार सामग्री प्रभावशील सिद्ध नहीं हो सकती। अवचेतन मन में प्रदर्शित वस्तुओं के प्रति आकर्षण उभरने पर ही व्यक्ति उसे खरीदने के लिए तत्परता दिखायेगा। वस्तु की माँग भी तभी होती है। अन्यथा चेतन मन में तो इच्छाओं की ललक उठती ही रहेगी। लेकिन इच्छाओं की आपूर्ति हेतु साधन और साहस जुटाने की व्यवस्था अन्तर्मन ही जुटा पाता है। युद्धकालीन संकटग्रस्त परिस्थितियों में हर राष्ट्र प्रचार-प्रसार के माध्यम से नागरिकों की अन्तःचेतना को जगाता और विरोधी ताकतों से जूझने के लिए प्रेरणा उभारता है, फलतः उस देश के लोग राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु मर मिटने तक को तैयार हो जाते हैं। वस्तुतः इसे अन्तर्मन की शक्ति का उभार ही कहना चाहिए।

शारीरिक एवं मानसिक गतिविधियों के संचालन की शक्ति अन्तर्मन यानी अवचेतन मस्तिष्क से ही आती है। एक मोटरचालक के लिए सड़क का मानचित्र उसका बौद्धिक मार्गदर्शक हो सकता है, जिससे वह यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयों के समाधान का लाभ उठाता है। मार्ग का सही ज्ञान चालक को है तो ही चेतन मन काम करने में सफल हो सकता है। यदि वह दिग्भ्रान्त है तो मार्गावरोध खड़ा होता है। इन भ्रमित कर देने वाली

परिस्थितियों में अवचेतन मन ही गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है। यह स्व-संकेत के सहारे ही पूरा होता है।

अवचेतन मन की परत को थोड़ा-सा कुरेदा जाय तो पता चलता है कि आत्म-विश्वास की जाग्रति का केन्द्र बिन्दु यहीं है। माना कि कोई व्यक्ति धूम्रपान की आदत से ग्रसित है और उससे छुटकारा पाना चाहता है तो उसे अन्तर्मन की सद्प्रेरणाओं के स्रोत को उभारना पड़ेगा। ‘मैं धूम्रपान छोड़ सकता हूँ’ की प्रबल धारणा यदि उस क्षेत्र में समाविष्ट हो जाय तो कुछ ही दिनों में उस दुर्व्यसन से आसानी से पीछा छुड़ाया जा सकता है। ‘द पावर ऑफ ऑटो-सजेसन’ नामक अपनी कृति में प्रख्यात मनोविज्ञानी पीटर फ्लैचर ने अपने प्रयोग-परीक्षणों के निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि अन्तर्मन की गहरी परतों में जब इस तरह का दृढ़ निश्चय जमने लगे तो समझना चाहिए कि दुर्व्यसनों की लत का परित्याग कर सकना अब सम्भव है।

फ्लैचर का कहना है कि आत्म-सम्मान की जिज्ञासा सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है, जो उसकी मूल सत्ता का आभास कराती है। लेकिन स्मृतियों के धुँधलेपन के कारण वह उसे भूल बैठता है और तरह-तरह के दुर्व्यसनों का शिकार होता चला जाता है। इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करने अपने मित्र के उदाहरण के माध्यम से किया है। उनका वह मित्र एक सरकारी अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के पद पर कार्यरत था जो अपनी धूम्रपान की आदत से परेशान था। प्रयत्न करने के बाद भी लत नहीं छूट रही थी। संयोगवश उन्हें उसी अस्पताल का अधीक्षक नियुक्त कर दिया गया। अस्पताल की नियमावली के अनुसार कार्य के समय धूम्रपान वर्जित होता है। यद्यपि अधीक्षक महोदय को अपने धूम्रपान के इस दुर्व्यसन का परित्याग करने में काफी कष्ट का अनुभव हुआ फिर भी आत्म-सम्मान की अभिलाषा ने उनकी यह लत छुड़ाकर ही रखी। नेतृत्व की क्षमता पर आँच न आने देने के लिए उनसे इस तरह का दृढ़ निश्चय अपने अन्तर्मन में जगाया। इस प्रकार की स्व-शिक्षण की स्व-सुझाव की प्रक्रिया ने एक सप्ताह के भीतर ही उनको दुष्प्रवृत्ति छोड़ने और नयी प्रेरणाएँ ग्रहण करने को विवश कर दिया।

शरीर और मन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। मानसिक संवेगों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। जम्हाई मन को अनुभव होती है किन्तु इसका प्रभाव मानवी काया पर पड़ता है। रक्त शिराओं में जलन जैसी अनुभूति होने लगती है। कुछ लोग तो ऐसी स्थिति में उल्टी-मिचली

का शिकार बनते हैं। बेहोशी और मूर्छा आने पर हृदय फेफड़े, पाचन-संस्थान और ग्रन्थियों के स्राव में व्यतिरेक उत्पन्न होते देखा गया है। वैज्ञानिकों द्वारा किये गये परीक्षणों से यह तथ्य उभरकर आया है कि शरीर के किसी भी भीतरी अंग-अवयव पर यदि ध्यान केन्द्रित किया जाय तो उनकी क्रियाशीलता स्वतः अवरुद्ध होने लगती है, हृदय की गति पर भी यदि निरन्तर चिन्तन करते रहा जाय तो उसकी धड़कनों में व्यतिक्रम उत्पन्न होता है। चिन्तातुर व्यक्ति को 'नर्वस डिस्पेप्सिया' यानी अपच की शिकायत प्रायः बनी ही रहती है। मस्तिष्क के चेतना-प्रवाह अवचेतन मन की गरिमा पर जब विचार किया जाता है तो प्रतीत होता है कि जीवन का अस्तित्व, स्वरूप और भविष्य भी उसी केन्द्र के साथ जुड़ा हुआ है। स्व-संकेत, आत्म-सुझाव एवं आत्म सुधार की क्षमताओं का प्रयोग इसी क्षेत्र में बन पड़ता है। विचार-प्रवाह में क्रमबद्धता का उपक्रम बिठाकर इस पर नियन्त्रण साधा जा सकता है। कुछ विचार तो स्वभावगत होते हैं जो जन्म-जन्मान्तों से चले आते हैं और कुछ वंशानुगत। स्व-संकेत एवं स्व-सम्मोहन प्रक्रिया को अपनाकर चिन्तन की विकृति को आसानी से दूर करके सद्विचारों का बीजारोपण कर सकना सम्भव है।

कल्पनाओं की शक्ति संकेत प्रक्रिया पर ही निर्भर करती है। शर्मीलापन, दम्बूपन, संकोची तथा शीघ्र उत्तेजित हो उठने का मानसिक रोग कल्पनाओं में ही घुला रहता है। आत्म-सुझाव से, स्व-संकेत से चिरकालीन कुसंस्कारों का क्षय तो होता ही है। साथ ही दोषपूर्ण चिन्तन पद्धति में भी सुधार दिखाई देने लगता है। अवचेतन अर्थात् अन्तर्मन की क्षमता को विकसित किया जा सके तो समस्त बुराइयों, दुष्प्रवृत्तियों पर सरलतापूर्वक विजय पाई जा सकती है। प्रगति के प्रतिभा-उन्नयन के नवीन द्वार खुल सकते हैं।

उपयुक्त रंग चुनिये, मनोविकारों से बचिये

प्रकृति का सौन्दर्य रंगों की विविधता के कारण ही है। रंगों का सम्पुट लगाने पर साधारण वस्तुएँ भी आकर्षक, सुन्दर लगने लगती हैं। मनुष्य ने सम्भवतः इसी कारण कृत्रिम शृंगार साधनों के निमित्त प्रकृति से रंगों की निधि उधार में ली और सज्जा के निमित्त उसे प्रयुक्त किया। किन्तु यह पक्ष अभी भी बहुत व्यक्तियों को ज्ञात नहीं कि रंगों का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर असाधारण प्रभाव पड़ता है। यदि यह जानकारी उपलब्ध हो सके कि कौन-सी ऋतु में, किस स्वभाव के व्यक्ति

के लिए कौन-सा रंग उचित रहेगा तो उससे सर्वसाधारण को वांछित वर्ण चुनकर लाभान्वित होने का अवसर भी मिलेगा एवं अवांछनीयता से होने वाली हानि से बच भी सकेगा।

सबसे पहले इस जिज्ञासा का समाधान कि रंग वस्तुतः हैं क्या ? भौतिकी दृष्टि से देखा जाय तो उन्हें हम कैसे निरूपित करेंगे ? आधुनिक भौतिकी के अनुसार रंगों का यह सारा खेल इलेक्ट्रॉनों और विकिरणों की तरंगों की न्यूनाधिक लम्बाई के कारण उपजता है। प्रत्येक परमाणु को नाभिक के बाहर चक्कर लगाते इलेक्ट्रॉन विशिष्ट लम्बाई की रेडियो तरंगों को सोखने की क्षमता रखते हैं। ये बाहरी इलेक्ट्रॉन स्थिति विशेष में उत्तेजित हो उठते हैं एवं बाहरी कक्षाओं में कूद जाते हैं। ये स्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं जब वे पराबैंगनी प्रकाश किरणों को अवशोषित करते हैं। यह उत्तेजना की स्थिति थोड़ी देर बनी रहती है, वापस सामान्य स्थिति होती रहती है। इस मध्यावधि में परिवर्तन प्रक्रिया से एक निश्चित तरंग लम्बाई के फोटोन कण उत्सर्जित होते हैं। इस प्रकार के उत्सर्जित विकिरण की तरंग लम्बाई ही सात रंगों में से किसी एक रंग का निर्धारण करती है, जिन्हें मस्तिष्क का विजुअल कॉर्टेक्स पहचानता व मस्तिष्क को यह बताता है कि यह कौन-सा रंग है।

सूर्य की किरणें सात रंगों की बनी होती हैं। सफेद रंग इन सबका सम्मिश्रित रूप है। प्रकृति जगत रंगों की विविधता से भरा-पूरा है, इतनी विविध कि मानवी कल्पना उसकी थाह नहीं पा सकती। इन रंगों को संश्लेषित करना भी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। होली में प्रयुक्त गुलाल भी वस्तुतः पौधों से ही निकला है।

सौर किरणों एवं प्रकृति में विद्यमान रंगों पर शोध करने वाले वैज्ञानिकों का मत है कि भिन्न-भिन्न रंग व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति के आधार पर अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। रंगों को अवसर विशेष के अनुरूप किस प्रकार चुना जाय इसका आधार उनसे उत्पन्न सम्बेदन प्रतिक्रिया ही है। प्रकृति के अनुरूप रंगों के प्रति आकर्षण-विकर्षण होता है। किसी को लाल रंग के कपड़े पहनने से चक्कर आने लगता है तो किसी को काले कपड़े पहनते ही मानसिक अवसाद आ घेरता है। मनःचिकित्सक इस प्रतिक्रिया के आधार पर उन्हें उपयुक्त सुझाव देते हैं। यू. सी. एल. ए. के डॉ. हॉस का कथन है कि प्रयोगों से पता चला है कि प्रमादी, अल्प मन्दता ग्रस्त विद्यार्थियों के कमरों में लाल रंग पुतवा देने व उसी रंग के पर्दे लगा देने से उनकी कार्यक्षमता भी बढ़ी व उनमें स्फूर्ति-उत्साह के साथ-साथ

उनका आई० क्यू० भी बढ़ता देखा गया। चपल, आतुर प्रकृति के विद्यार्थियों पर इसी प्रकार उन्होंने नीले रंग का प्रयोग किया। इससे शामक प्रतिक्रिया हुई व उनकी चंचलता, तनाव में कमी आयी। सामान्य प्रकृति के, मनोविकार ग्रन्थि रहित व्यक्तियों में हल्का पीला-बासन्ती रंग प्रयुक्त करने पर उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया पायी गयी।

वैज्ञानिक डॉ. अलबर्ट कोहन (स्टैन फोर्ड रिसर्च सेण्टर) का मत है कि कई मनोविकारग्रस्त, तनाव पीड़ित बेचैन व्यक्तियों का उपचार मात्र उनके आस-पास के रंगों को बदलकर किया जा सकता है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि भली-भाँति मनोविश्लेषण कर यदि सही रंग सबको पहले से ही सुझा दिये जायँ तो अनेकों मनोरोगों को टाला जा सकता है।

रंगों के आधार पर मनोविज्ञानपरक विश्लेषण कैसे सम्भव है? इसे लक्ष्य बनाते हुए पश्चिमी जर्मनी के मनःचिकित्सक डॉ. मैक्सल्यूशर ने व्यक्तित्व विश्लेषण की एक पद्धति विकसित की है, जिसमें कुल आठ रंगों में से व्यक्ति को अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी के अनुसार रंग चुनने होते हैं। ये आठ रंग हैं—जामुनी, नीला, हरा, लाल, पीला, कथई, भूरा और काला। डॉ. ल्यूशर के अनुसार नीला रंग शान्तिपूर्ण सात्विक प्रभाव डालने के कारण शान्त, सौम्य, सतोगुणी व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। हरा रंग सक्रियता, काम के प्रति गहरी आसक्ति और गतिशीलता का द्योतक है। ऐसे व्यक्ति जो हरा रंग पसन्द करते हैं, जीवन में खतरा मोल लेकर कार्य करते हैं व कर्मठता के बलबूते ऊँचे उठते चले जाते हैं। इसी प्रकार लाल रंग स्फूर्ति और आवेश का प्रतीक है। ऐसे व्यक्ति उत्साही तो होते हैं, किन्तु बहुत शीघ्र आवेशग्रस्त हो जाते हैं। पीला रंग प्रफुल्लता, हल्की-फुल्की मस्ती भरी जिन्दगी का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे व्यक्ति अल्हड़ काम में रस लेने वाले किन्तु कभी चिन्तित न होने वाली प्रकृति के होते हैं।

जामुनी रंग मानसिक अपरिपक्वता, कच्चेपन एवं बचकानेपन का द्योतक है, जबकि कथई रंग इन्द्रिय लिप्सा, भोगों में रुचि व असंयम का प्रतीक है। भूरा रंग तटस्थता और निरपेक्ष भाव का परिचायक है, जबकि काले रंग को पसन्द करने वाले अधिकांश व्यक्ति निषेधात्मक चिन्तन के होते हैं। जैसे ही उनकी बाह्य परिस्थितियों से इस रंग के प्रभाव को हटा दिया जाता है, उनमें विधेयात्मक वृत्ति उभरने लगती है।

डॉ. ल्यूशर सामान्य व्यक्तियों एवं असामान्य मनोविकारग्रस्त रोगियों से अपनी पसन्द के रंग चुनने को कहते हैं। प्राथमिक चुनाव के आधार पर उस रंग के प्रति

सम्बेदनशीलता का परिचय मिलता है। उसके साथ चुना गया द्वितीय वरीयता का रंग उसकी पसन्दगी-मनोवृत्ति को स्पष्ट कर देता है। नापसन्दगी अर्थात् इस क्रम में रखे गये अन्तिम वर्ण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि उस व्यक्ति को किन-किन वृत्तियों से परहेज है।

पाश्चात्य जगत में विज्ञान के मनोवैज्ञानिक पक्ष के प्रति रुचि जागी तो है, पर है वह मूलतः मनुष्य की अन्तःवृत्ति पर आधारित। जुंग, एडलर एवं मैस्लो जैसे मनोवैज्ञानिकों ने उपरोक्त परीक्षण के प्रति सन्देह व्यक्त किया था क्योंकि यह निर्णय मस्तिष्क की उथली परतों द्वारा लिया गया होता है। विशेषकर जुंग इस विषय में पूर्ववर्ती मनोविज्ञान के प्रति संकेत करते हुए कहते हैं कि देवी-देवताओं, पंच तत्त्वों के प्रतीक एवं सूर्योपासना, अग्नि, आराधना के पीछे मूलतः वर्ण विज्ञान के सिद्धान्त हैं। मानव मूलतः श्रेष्ठ वृत्तियों वाला है तथा वह उन्हीं को उत्तेजना देने वाले आयामों को बहिरंग में ढूँढ़ता है। आधुनिक तड़क-भड़क में श्रेष्ठता को बढ़ावा देने वाले पक्ष तो गुम हो गये हैं एवं “बीजुअल पॉल्यूशन” को जन्म देने वाले चटकीले उत्तेजक तत्त्व बहिरंग में प्रचुरता में हैं। इन्हीं के कारण चिन्तन को निषेधात्मक फटकार मिलती रहती है। सतत् ऐसे पोषण से तनाव, बेचैनी का होना स्वाभाविक है।

वर्णों के आधार पर चिकित्सा की पद्धति भारत में प्राचीनकाल से ही प्रचलित रही है। योग साधना में भी सूर्योपासना एवं रंग चिकित्सा की अनेकों विधाओं का उपयोग साधक की मनःस्थिति को दृष्टिगत रख समर्थ मार्गदर्शकों द्वारा किया जाता रहा है। यह प्रभाव उथली सम्बेदनात्मक प्रतिक्रिया तक सीमित न रहकर आध्यात्मिक विकास में उत्प्रेरक की भूमिका निभाने लगता है।

ध्यान साधना में भारतीय दर्शन के प्रवक्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न रंग संवेदनाओं का प्रयोग किया जाता रहा है। इन प्रभावों को आज भी भलीभाँति समझकर उनका लाभ उठाया जा सकना सम्भव है। रंगों के प्रभाव से स्वयं रंग जाने के स्थान पर उसका इच्छानुकूल और मनःस्थिति के अनुरूप प्रयोग करना ही औचित्यपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। क्यों न हम उचित वर्ण चुनकर उनसे समुचित लाभ उठाएँ एवं न केवल दैनन्दिन जीवन में, अपितु आत्मिक जीवन में भी प्रगति-पथ पर बढ़ने हेतु उनका सदुपयोग करें।

बढ़ते हुए मनोरोग-कारण और निवारण

शारीरिक रोगों के लक्षण प्रकट दीखते हैं और रोगी अपनी स्थिति का स्वयं वर्णन भी कर देता है तदनुसार चिकित्सकों के लिए उनका उपचार करना बहुत कठिन नहीं रहता।

कठिनाई उन मानसिक रोगों की है जो विशेषतया शिक्षित और सम्पन्न देशों में आँधी-तूफान की तरह बढ़ रहे हैं। कठिनाई यह है कि व्यथाग्रस्त अपने को रोगी नहीं मानता और जिस विपन्नता से घिरा होता है, उसका पता पारिवारिक तथा सम्बद्ध लोगों द्वारा बताये हुए लक्षणों से चलता है। जो लोग उन्मादी या विक्षिप्त होते हैं, उनकी अस्त-व्यस्त हरकतें तो प्रकट होती हैं। उससे सम्बद्ध लोग परेशान रहते हैं और वह स्वयं दूसरों से नहीं अपने आप से भी परेशान रहता है। इस स्थिति में आवेश छाया रहता है और दोषारोपण से लेकर अपशब्द कहने, सन्देहग्रस्त एवं आशंकाओं से घिरा रहता है। वस्तुस्थिति की अपेक्षा ऐसी कल्पनाएँ गढ़ लेता है, जो उसे इस प्रकार हैरान करती हैं मानो उसे सचमुच ही किसी शत्रु ने या विपत्ति ने घेर रखा हो। ऐसे व्यक्ति अपने सामान्य काम-काज ठीक तरह नहीं कर पाते फलतः आर्थिक कठिनाई भी घेर लेती है। साथी सहचर उसे विक्षिप्त समझकर आरम्भ में कुछ उपाय भी सोचते हैं पर पीछे कुछ परिणाम न निकलते देखकर उपेक्षा करने लगते हैं। ऐसी दशा में वह अपने को तिरस्कृत भी अनुभव करता है और दोष अपना न देखकर दूसरों के ही सिर मढ़ता है। इस स्थिति में विग्रह का एक नया सिलसिला चल पड़ता है।

जिनमें उन्माद के लक्षण प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं उन्हें मनोरोग चिकित्सालयों में या तो स्वयं जाना पड़ता है या उन्हें वहाँ अपनों द्वारा ही धकेला खदेड़ा जाता है। जो अपने को सर्वथा एकाकी अनुभव करते हैं और अपने तथा समाज के लिए अभिशाप बन जाते हैं, उन्हें सरकारी नियन्त्रण में लेकर कोई दुर्घटना खड़ी न कर देने से रोका जाता है।

नवीनतम सर्वेक्षण के अनुसार संसार के समृद्ध देशों में पगलाने की यह व्यथा तेजी से बढ़ रही है। उदाहरण के लिए, अमेरिका का एक पर्यवेक्षण सामने है। मनोरोग चिकित्सालयों के आधार पर उस देश के वयस्कों में २० प्रतिशत व्यक्ति विभिन्न जाति के मनोरोगों से ग्रसित हैं। इनमें से १५ प्रकार के रोगों का बाहुल्य है। ऐसे रोगियों की संख्या ४ करोड़ तक जा पहुँची है। इसके अतिरिक्त

१ करोड़ ३१ लाख वे हैं जिन्हें विक्षिप्त तो नहीं कहा जा सकता पर सनकी अवश्य है। सनकी का तात्पर्य है जन-साधारण की रीति-नीति छोड़कर चिन्तन एवं स्वभाव व्यवहार की ऐसी लकीर पकड़ लेना जो अटपटी मालूम होती है और उनसे सम्पर्क रखने में कोई भी कतराने लगता है। वे कर्मचारी हैं तो बॉस और बॉस हैं तो कर्मचारी भीतर ही भीतर कुढ़ते रहते हैं और पारस्परिक व्यवहार में कई बार खीज प्रकट करने लगते हैं, अवज्ञा भी।

इससे भी आगे बढ़कर स्त्री-बच्चों के साथ भी पटरी न खाने की बात है। घर को छोड़कर कहीं जंगल में तो नहीं बस सकते पर जिनके साथ रहते उन्हें निरन्तर शिकायतें करते, उलाहना देते या चें-चें करते देखा जाता है। जहाँ प्रेम और सहयोग न हो, एक-दूसरे का सम्मान न करें, कृतज्ञता प्रकट न करें एवं उपयोगिता अनुभव न करें वहाँ साथ रहते हुए भी सराय, प्लेटफार्म या जेल जैसा वातावरण रहता है। ज्यों-त्यों करके मजबूरी में गाड़ी धकेली जाती रहती है। एक खण्डित व्यक्तित्व समूचे परिवार की ही नहीं, साथियों एवं पड़ोसियों की भी नाक में दम कर देता है। ऐसे सनकी समुदाय की गणना तो ठीक तरह नहीं हो सकी है, पर समझा जाता है कि वे अस्पतालों में भर्ती होने वालों की तुलना में कम नहीं अधिक ही होंगे।

इसके बाद नशेबाजों का नम्बर आता है। ऐसे नशेबाज खुमारी में ढेरों समय तथा पैसा बर्बाद करते हैं। हल्के नशेबाज वे हैं जो वीयर, सिगरेट जैसे बहुप्रचलित नशे के आदी हैं। पर जो होश-हवास खो बैठते हैं और खुमारी की स्थिति में कुछ भी करने लगते हैं। असल में उन्हीं को आपे से बाहर नशेबाज कहा जाता है। उनकी सूझ-बूझ एवं क्रिया शक्ति कुंठित हो जाती है। खुमारी उतरने के बाद ये अपने को बेहद थके एवं निराश, असहाय अनुभव करते हैं। तब उन्हें नया और बड़ा डोज लेने की आवश्यकता पड़ती है। इन सभी वर्ग के अस्त-व्यस्त लोगों की क्षमता एवं उपयोगिता बेतरह कम हो जाती है यों गुजारे भर की काम चलाऊ स्थिति में तो वे किसी प्रकार बने रहते हैं। बड़ी बात यह है कि एक खण्डित व्यक्तित्व का मनुष्य अनेक अन्यो को भी अपनी चपेट में ले लेता है और भले-चंगों को अपने से मिलता-जुलता बना लेता है। यह स्थिति अमेरिका की ही नहीं फ्रांस, ब्रिटेन, इटली आदि की भी है। एशिया और अफ्रीका के देशों में भी अनेक लोग ऐसे हैं, पर उन्हें गरीबी, बेकारी आदि प्रत्यक्ष कारणों का शिकार कहकर क्षम्य भी ठहरा सकते हैं।

बढ़ते हुए मस्तिष्कीय विकृतियों के सम्बन्ध में कामुकता और सामाजिक वर्जनाओं का व्यतिरेक प्रमुख कारण है। मनोरंजनों की अनेक धाराएँ सिमटकर कामुकता के इर्द-गिर्द एकत्रित होती जाती हैं। मर्यादाएँ तोड़ने वाला एक व्यक्ति अनेकों को अपनी छूत लगा देता है। चरित्रवान लोग अपने जैसे चरित्रवान कितने बना सकते हैं यह कहना कठिन है, पर यह निश्चय है कि उच्छृंखलता के आदी लोग वैसा ही चस्का अपने सम्पर्क में आने वाले अनेकों को लगा देते हैं।

पारस्परिक सद्भाव के स्थान पर छल कपट की परिपाटी जब अपनाई जाती है तो दुहरे व्यक्तित्व का सृजन होता है। कहना कुछ करना कुछ जैसे स्वभाव वाले दूसरों के लिए जितने हानिकारक होते हैं, उससे कहीं अधिक अपना नुकसान करते हैं। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में मनुष्य सही सोचने और सही नतीजे पर पहुँचने की स्थिति में नहीं रहता।

अपराधी स्तर के कुकृत्य करने में कुछ समय पूर्व आत्मा-परमात्मा से डरते थे। अपयश एवं सामाजिक भर्त्सना का भय खाते और इस कारण जो तिरस्कार, असहयोग उपलब्ध होता था उससे डरते थे। पर अब उच्छृंखलता साहसिकता का पर्यावाचक बनती जा रही है। इस मार्ग पर चल पाने वाले आरम्भ में मानसिक स्वास्थ्य गँवाते हैं और फिर शारीरिक दुर्बलता, रुग्णता के शिकार भी बनते जाते हैं। अपराधी एकाकी रह जाता है। उसका सच्चा मित्र सहयोगी कोई नहीं रहता। अवसर पड़ने पर तथाकथित अपनों का आँखें फेर लेना, अक्सर ऐसे ही लोगों के सामने आता रहता है। जिसका अपने ऊपर से विश्वास उठ जाता है उसे अपना कोई सगा नहीं दीखता। हर घड़ी धोखा होने की आशंका बनी रहती है। इन्हीं सब बातों को मिलाकर वह स्थिति बनती है जिसे तनाव कहते हैं। यह ऐसा कुचक्र है जिसमें फँस जाने पर निकलना कठिन होता है। आन्तरिक दृष्टि से अशान्त व्यक्ति के व्यवहार में ऐसी अवांछनीयताएँ घुस पड़ती हैं, जिनके कारण निरन्तर खीज रहने लगती है और वह प्रकारान्तर से विक्षिप्तता के रूप में प्रकट होती है।

इस स्थिति में मनोरोग चिकित्सक कोई कारगर सहायता नहीं कर सकते। कारण एक ही है, मानव मर्यादाओं का उल्लंघन। इसलिए उपचार भी एक ही हो सकता है-सज्जनता, शिष्टता एवं आदर्शवादिता का समुचित मात्रा में अवलम्बन।

हास्य चिकित्सा को भी

अपनाकर देखें

रोग का सम्बन्ध शरीर से कम और मन से अधिक होता है। कितना ही सुख-सुविधा सम्पन्न जीवन क्यों न जीते रहा जाय, पर मन में अप्रसन्नता बनी रहने पर तो व्यक्ति विभिन्न प्रकार की आधि-व्याधियों का शिकार ही बनता और स्वास्थ्य को चौपट करके रख देता है। यही कारण है कि चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में रोगी की खिन्न, उदास एवं तनावग्रस्त मनःस्थिति को प्रसन्नता-प्रफुल्लता में बदलकर आरोग्य प्रदान करने की नवीनतम विधियाँ सुविकसित होती जा रही हैं। हास्य से उपचार की एक ऐसी विद्या अब स्वास्थ्य विज्ञानियों के हाथ लगी है।

स्वीडन के मूर्धन्य चिकित्सा शास्त्री डॉ. लार्स ने कुछ इसी स्तर के प्रयोग छः रोगियों पर पिछले दिनों किये, जो तनाव और हड्डियों के दर्द से पीड़ित थे। हास्य चिकित्सा द्वारा उपचार होने से वे आज स्वस्थ-सानन्द जीवन का अनुभव कर रहे हैं। डॉ. लार्स ने इस चिकित्सा-पद्धति की सफलता का रहस्य सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित जीवनक्रम को ही बताया है। उनसे इस प्रयोजन की पूर्ति हेतु एक 'हास्य-दल' को संगठित किया है जिसमें चिकित्सकों एवं नर्सों को ही चुना गया है। इस दल का मूलभूत प्रयोजन हँसने-हँसाने की पुस्तकें और ऑडियो-वीडियो रिकार्ड तैयार करना है, जिनके माध्यम से रोगी की जीवनचर्या में मनोविनोद, हास-परिहास और हर्ष-उल्लास का समावेश किया जा सके। रोगी के जीवन को सरल, सरस और सुगम बनाने का यह एक बड़ा ही प्रभावोत्पादक तरीका है। उनकी शोध-निष्कर्षों का यही सार-संक्षेप है कि मन को प्रसन्नचित्त बनाया जा सके तो तनाव मुक्ति का उपक्रम आसानी से बिठाया जा सकता है। चिकित्सा से पूर्व और बाद में रोगियों की शारीरिक और मानसिक स्थिति का परीक्षण करने से ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हँसती-मुस्कराती आकृति-प्रकृति के लोग ही अधिक स्वस्थ-सानन्द जीवन जीते हैं।

गाँधी जी ने हास-परिहास को अत्यधिक महत्त्व दिया था। वे प्रायः यही कहा करते थे कि मेरे जीवनक्रम में से हँसी और मुस्कराहट यदि निकल जायें तो आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं सूझेगा। ब्रिटिश लेखक लार्ड लिनिथियोगो ने 'सेंस ऑफ ह्यूमर' नामक अपनी कृति में हर्षोल्लास की मनःस्थिति को जीवन निर्माण की आधारशिला बताया है। वे अपने

व्यंग चित्रों और कार्टूनों पर स्वयं हँसते व सतत तनाव मुक्त बने रहते थे।

संसार भर के चिकित्सा विज्ञानी अब इस तथ्य को पूर्णरूपेण अंगीकार करने लगे हैं कि हँसती-मुस्कुराती जीवनचर्या स्वस्थ जीवन का मूलभूत आधार है। शरीर के भीतरी अंग-अवयवों की संरचना कुछ इस ढंग से की है कि वे हास-परिहास के वातावरण में ही सही रूप से सुसंचालित होते और मानवी स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

मुक्त कण्ठ से हँसने से आमाशय आनन्द की लहरों से झंकृत हो उठता है, जिसके फलस्वरूप पाचन क्रिया की क्रियाशीलता स्वतः ही बढ़ने लगती है। हृदय-स्पन्दन में वृद्धि होती है और रक्त प्रवाह बढ़ने लगता है। कहने का अभिप्राय है हँसी-मुस्कान बिखेरना, रक्त संचार केन्द्रों को अनुप्राणित करना और श्वास-प्रश्वास क्रिया में तेजी लाना है। समूची क्रिया में ऊष्मा का प्रवाह बढ़ने से व्यक्ति में ओजस्विता छलकने लगती है।

हँसना मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है। सृष्टि का कोई और दूसरा प्राणी हँसता हुआ नहीं देखा जाता। इसी विशेषता के आधार पर विचारकों ने इसे हँसने वाला प्राणी कहकर परिभाषित भी किया है, पर बढ़ती हुई तनावपूर्ण जीवन शैली ने मनुष्य का हँसना-गुनगुनाना भी भुला दिया है। इस भूल के कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ता है। व्यक्ति अनेक व्यथाओं से घिर जाता है।

गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश के चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिंची हुई है। अवसाद से मन भरा हुआ है। जीविका कमाने का संघर्ष एवं भौतिकता को ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने की होड़ ने मानो उनसे प्रसन्नता को छीन लिया है। मनुष्य यह भूल गया है कि सफल जीवन के लिए हँसती-हँसाती, हल्की मनःस्थिति ही आवश्यक है। अक्रूरण चिन्तित एवं गम्भीर बने रहने से कुछ प्राप्त नहीं होता है, उल्टे हानि ही उठानी पड़ती है।

दस वर्षों से अमेरिका के कारपोरेशन एवं अस्पतालों में उत्साह का संदेश देने वाले मूर्धन्य मनोचिकित्सा विज्ञानी जोयल गुडमैन का कहना है कि व्यक्ति को जीवन में एकरसता नहीं आने देनी चाहिए। जीवन में चाहे जितना भी संघर्ष करना पड़ता हो, शारीरिक-मानसिक जटिलताओं का सामना करना होता हो, लेकिन इससे जीवन में शुष्कता को प्रवेश नहीं पाने देना चाहिए। हँसी का फब्बारा ही वह स्रोत है जो शरीर में

रोग मुक्त करने वाली जीवनी शक्ति को बढ़ावा देता है और मन में नया उत्साह पैदा करता है।

पुराने जमाने में राजदरबार में विदूषक होते थे। ये राजा के तनाव को दूर करने के लिए हल्के-फुल्के चुटकलों और कहानी-किस्सों को सुनाया करते थे। इन दिनों अमेरिका में इस कार्य के लिए डॉक्टरों की मदद ली जा रही है। हँसी-मजाक के ये डॉक्टर जगह-जगह उभर रहे हैं। कैलीफोर्निया स्थित प्लेफेयर इन कारपोरेट के संस्थापक अध्यक्ष श्री मेरवीस्टीन का कहना है कि वे स्वयं किसी कार्य भार को विनोदपूर्वक हल्के-फुल्के ढंग से लेते हैं और मनोयोगपूर्वक इसे पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। लोगों को वे सलाह देते हैं कि अपने काम को गम्भीरता से तो लें किन्तु हल्की-फुल्की मनःस्थिति को बनाये रखें। व्यवस्था की प्रवीणता का यह एक आवश्यक गुण है। व्यक्ति में स्वयं अपने प्रति विनोद की भावना होनी चाहिए। यहाँ काम को गम्भीरता से न लेने का अभिप्राय गैर जिम्मेदारी नहीं है। बल्कि एक ऐसी मनःस्थिति है जो कार्याधिक्य से प्रभावित नहीं होती है। हँसी प्रदान करने वाले चिकित्सकों ने यह भी निर्धारित कर दिया है कि एक मजदूर को दिन में कितनी बार हँसना चाहिए। तरह-तरह के मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से ये हस्य चिकित्सक मनुष्य को फिर से हँसना सिखा रहे हैं।

हँसना स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा टॉनिक है। शरीर में पेट और छाती के बीच एक 'डायफ्राम' होता है, जो हँसते समय कम्पित होता है। जिससे सारे आन्तरिक अवयवों में गतिशीलता आती है। नियमित रूप से हँसना शरीर के सभी अवयवों को ताकतवर और पुष्ट बनाता है। खुलकर हँसने से रक्त संचार की गति बढ़ जाती है तथा पाचन तंत्र अधिक कुशलता से कार्य करता है। हँसी श्वसन क्रिया को तेज करती है और फेफड़े में रुकी हुई दूषित वायु को बाहर निकालने में सहायक होती है। हँसने के कारण फेफड़े के रोग नहीं होते हैं।

हँसने का लाभ यह भी है कि यह जीवन की नीरसता, एकाकीपन, दुष्कृत भावना, थकान, मानसिक तनाव एवं शारीरिक दर्द से राहत दिलाता है। अनुसन्धानकर्ता वैज्ञानिक प्लेफेयर इनकोरपोरेट बकली के डॉ. फ्रेंच का कथन है कि अपने बच्चों को हमेशा प्रसन्न रहने की शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें प्रतिदिन हँसाने का प्रयत्न करना चाहिए। कभी-कभी माता-पिता अपने बच्चों को जोर से हँसने पर मना करते हैं, किन्तु इससे बच्चों का स्वाभाविक उत्साह नष्ट हो जाता है। यदि बच्चों में हँसी का विकास नहीं हुआ तो आगे जाकर वह अपने

२.६६ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

आस-पास हँसी-खुशी का स्वच्छन्द वातावरण नहीं बना पायेगे। हास्य चेतना का विकास मनुष्य को अपनी खामियाँ दूर करने में काफी सहायक सिद्ध होता है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से अब यह भी स्पष्ट हुआ है कि अधिक हँसने वाले बच्चे अधिक कुशाग्र बुद्धि के होते हैं। हँसना उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जापान में लोग अपने बच्चों को प्रारम्भ से ही हँसते रहने का शिक्षण देते हैं। वे इस सिद्धान्त को मानते हैं कि असफलता और सफलता दोनों जीवन में धूप-छाँव की भाँति आते हैं। यदि मनुष्य दोनों परिस्थितियों में हँसमुख रहता है तो उसका मन सदैव काबू में रहता है।

स्टैनफोर्ड मेडिकल स्कूल के मनोवैज्ञानिक डा. विलियम फ्रायड का तो यहाँ तक कहना है कि हँसी के बिना जीवन नहीं है। यदि रोगी व्यक्ति हँसता नहीं है, तो प्रायः वह अधिक रोगग्रस्त हो जाता है। उनका निष्कर्ष है कि हास्य शरीर को झकझोर देता है। जिससे शरीर में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली अंतःस्त्रावी प्रणाली सुचारु रूप से कार्य करने लगती है। दिन में एक बार खुलकर हँसने को दस मिनट नाव के चपू चलाने जितना लाभकारी माना गया है। रोग से दूर रहने का अचूक उपाय हास्य है वास्तव में जब खुलकर कहकहा लगाया जाता है तो उदर, फेफड़े और यकृत सभी का 'मसाज' होता है। प्रत्येक मनुष्य हँसने का प्राकृतिक रहस्य समझ ले तो वह बीमारी से बच सकता है। हँसने को संक्रामक रोग की तरह फैलने दिया जाय तो शेष रोगों पर बहुत हद तक नियन्त्रण पाया जा सकता है।

प्रख्यात सामाजिक चिंतक और लेखक डेल कारनेगी का कथन है कि हमें हँसी या मुस्कराहट पर कुछ नहीं खर्च करना पड़ता है, परन्तु यह बहुत कुछ पैदा कर सकती है। पाने वाला भी तृप्त हो जाता है और देने वाला कभी गरीब नहीं होता।

आज लोग अपनी गम्भीरता तथा उदासी का कारण उत्तरदायित्व एवं चिन्ता बतलाते हैं। कहते हैं—ढेर की ढेर चिन्तायें सिर पर सवार हैं, जिम्मेदारियाँ पीसे डाल रही हैं। ऐसे में कैसे हँसें ? किन्तु वे यह नहीं सोचते कि उदास रहने से चिन्तायें और प्रबल और उत्तरदायित्व और बोझिल हो जाता है। जबकि हँसने और प्रसन्न रहने से उसका बोझ हल्का मालूम होता है, उन्हें वहन करने की शक्ति में वृद्धि होती है। एक बार किसी विदेशी ने महात्मा गाँधी की विनोदप्रियता के विषय में प्रश्न किया तो बापू ने बताया कि—“यदि मुझमें विनोदप्रियता की

वृत्ति न होती तो मैं चिन्ताओं के भार से दबकर कभी का मर गया होता। यह मेरी विनोदप्रियता ही है जो मुझे चिन्ताओं में घुलने से बचाये रखती है।”

जिसकी हास्य-विनोद में रुचि नहीं, हर समय रोनी सूरत बनाये रहता है, उसका साथ देना लोग कम पसन्द करते हैं। एक विचारक ने कहा है कि “अगर तुम हँसोगे तो दुनियाँ तुम्हारे साथ हँसेगी और अगर तुम रोओगे तो कोई तुम्हारा साथ न देगा। जीवन को सामाजिक बनाने के लिए भी हास्य की आवश्यकता है।”

भौरे उसी फूल पर बैठते हैं, जो खिला दिखाई देता है। मुरझाये फूल पर न कभी भ्रमर जाते हैं न तितलियाँ। हँसता-मुस्कराता चेहरा व्यक्तित्व के आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। हम इसका महत्व नहीं समझते इसीलिये मनहूस बने रहना पसन्द करते हैं। मनहूसियत मिटाने और दैनन्दिन जीवन के तनाव से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम उपाय है कि जीवन एक खेल की तरह लिया जाय, खिलाड़ी की मनःस्थिति रखी जाय। अपनी बेवकूफियों पर स्वयं हँसा जाय व दूसरों को प्रफुल्ल खा जाय। भौड़ा हास्य नहीं, अपितु स्वभाव में सहज सौजन्य से भरे विनोद का समावेश व्यक्तित्व को कितनी विभूतियों से भर देता है, यह तब समझ में आयेगा जब हम समाज सम्पर्क में इसका प्रयोग करके देखेंगे। आइये खुशियाँ बाँटे-बाँटायें। हँसी-खुशी का वातावरण चारों ओर बनायें। यही मनुष्य जीवन की स्वाभाविक स्थिति है।

यमलोक का चित्रगुप्त हमारा

अचेतन मन ही है

जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हमें संकटों और अपावों के वास्तविक कारणों को समझने में सुविधा मिल रही है। मोटी बुद्धि सदा संकटों का कारण बाहर ढूँढ़ती है। व्यक्तियों, परिस्थितियों पर ही प्रस्तुत विपन्नताओं का दोष थोपकर चित्त हल्का करने की विडम्बना चलती रहती है। समझदारी बढ़ने पर ही यह पता चलता है कि घटिया व्यक्तित्व ही पिछड़ेपन से लेकर समस्त संकटों के घाट हैं। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थिति बनती है उसे विचारशील ही स्वीकार करते हैं। अन्यथा आमतौर से कठिनाइयों के कारण बाहर ही ढूँढ़े जाते हैं। गहराई में प्रवेश किये बिना न तो वास्तविकता जानी जा सकती है और न उनके निवारण का कारगर उपाय ही बन पड़ता है। व्यक्तित्व का घटियापन सूझ ही न पड़े, उसके सुधार की कोई योजना बने ही नहीं तो परिस्थितियों की

विपन्नता का समाधान हो नहीं सकता। वे एक से दूसरा रूप भर बदलती रहेंगी।

बहुत समय पहले शारीरिक रोगों को बाहरी भूत-पत्नीतों का आक्रमण माना जाता था, पीछे वात, पित्त, कफ का, ऋतु प्रभाव का कारण उन्हें माना गया। उसके बाद रोग कीटाणुओं के आक्रमण की बात समझी गयी। रोगों की शोषों का अगला चरण यह बना कि आहार-विवृति से पेट में सड़न पैदा होती है और उस विष से रोग उत्पन्न होते हैं। यह क्रम अधिकाधिक गहराई में प्रवेश करने का, अधिक बुद्धिमत्ता का स्थूल से सूक्ष्म में उतरने का है। इस प्रगतिक्रम में उतरते-उतरते इन दिनों आरोग्यशास्त्र के क्षेत्र में इस तथ्य को खोज निकाला गया है कि शारीरिक रोगों के सन्दर्भ में आहार-विहार, विषाणु आक्रमण आदि को तो बहुत ही स्वल्प मात्रा में दोषी ठहराया जा सकता है। रुग्णता का असली कारण व्यक्ति की मनःस्थिति है। मनोविकारों की विषाक्तता यदि मस्तिष्क पर छाई रहे तो उसका अनुपयुक्त प्रभाव नाड़ी संस्थान के माध्यम से समूचे शरीर पर पड़ेगा। फलतः दुर्बलता और रुग्णता का कुचक्र बढ़ते-बढ़ते अकाल मृत्यु तक का संकट खड़ा कर देगा। नये अनुसन्धान जीवनी-शक्ति का केन्द्र हृदय को नहीं मस्तिष्क को मानते हैं। रक्त की न्यूनाधिकता या विषाक्तता को रुग्णता का उतना बड़ा कारण नहीं माना जाता जितना कि मानसिक अवसाद एवं आवेश को। ‘साइकोन्यूरोइम्यूनोलॉजी’ की पूरी अवधारणा इसी पर आधारित है।

सुविख्यात मनःशास्त्री एच. एलेनवर्गर के शोधग्रन्थ ‘ए हिस्ट्री ऑफ डायनमिक साइकियाट्री’ के अनुसार शरीर की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्रियाओं पर पूरी तरह मानसिक अनुशासन ही काम करता है। अचेतन मन की छत्र-छाया में रक्ताभिसरण, आकुंचन-प्रकुंचन, श्वॉस-प्रश्वॉस, निमेष-उन्मेष, ग्रहण-विसर्जन, निद्रा-जाग्रति आदि की अनैच्छिक कहलाने वाली क्रियाएँ चलती रहती हैं। चेतन मन के द्वारा बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले क्रियाकलापों और लोक व्यवहारों का ताना-बाना बुना जाता है। शरीर की परोक्ष और प्रत्यक्ष क्षमता पूरी तरह अचेतन और चेतन कहे जाने वाले मनःसंस्थान के नियन्त्रण में रहती है। उसी के आदेशों का पालन करती है। शरीर का पूरा-पूरा आधिपत्य मन-मस्तिष्क के ही हाथों में रहता है। उस क्षेत्र की जैसी भी कुछ स्थिति होती है उसका प्रभाव शरीर पर पड़ता है। यदि मस्तिष्क आवेशग्रस्त होगा तो शरीर के अवयवों में उत्तेजना और बेचैनी छाई रहेगी। इस

स्थिति में ऐसे रोग उत्पन्न होंगे जिनसे शरीर के उत्तेजित होने, गरम होने, फटने-फूटने जैसे अनुभव होने लगें। यदि मस्तिष्क उदास, हताश, शिथिल हो जायेगा तो उस अवसाद का प्रभाव अंग-अवयवों की दुर्बलता के रूप में देखा जा सकेगा।

यह मोटा निष्कर्ष हुआ। बारीकी में उतरने पर पता चलता है कि अमुक शारीरिक रोग अमुक मनोविकार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और वे तब तक बने ही रहते हैं जब तक कि मानसिक स्थिति में कारगर परिवर्तन न हो। मनीषी एस. पी. ग्रासमैन के शोध पत्र ‘न्यू होरिजॉन्स ऑव साइकोलॉजी’ में प्रकाशित इस अनुसन्धान ने उस असमंजस को दूर कर दिया है, जिसके अनुसार रोगियों को चिकित्सकों के दरवाजे-ठोकें खानी पड़ती हैं। नित नई दवाएँ बदलनी पड़ती हैं किन्तु आशा-निराशा के झूले में झूलते हुए समय भर बीतता रहता है। रोग हटने का नाम नहीं लेते। तेज औषधियाँ अधिक से अधिक इतना कर पाती हैं कि बीमारी के स्वरूप और लक्षण में थोड़ा बहुत फेर-बदल प्रस्तुत कर दें। जीर्ण रोगियों में से अधिकांश का इतिहास यही है। जिससे औषधि उपचार की निरर्थकता ही सिद्ध होती रहती है।

आहार-विहारजन्य साधारण रोग तो शरीर की निरोधक जीवनी शक्ति ही अच्छी करती रहती है। उसी का श्रेय चिकित्सकों को मिल जाता है। सच्चाई तो यह है कि एक भी छोटे या बड़े रोग का शर्तिया इलाज अभी तक संसार के किसी भी कोने में, किसी भी चिकित्सक के हाथ नहीं लगा है। कोई भी औषधि अपने आश्वासन को पूरा कर सकने में सफल नहीं हुई है। अंधेरे में ढेले फेंकने जैसे प्रयास ही चिकित्सा क्षेत्र में चलते रहते हैं। उसी भगदड़ में कभी-कभी किसी अंधे के हाथ बटेर लग जाती है। यदि ऐसा न होता तो कम से कम चिकित्सकों को खुद तो रुग्ण रहना ही न पड़ता। उनके घरवाले सम्बन्धी तो बीमारियों से ग्रसित नहीं ही रहते। देखा यह गया है कि दवाओं की भरमार बीमारियों को घटाती नहीं वरन् उस नई विषाक्तता के शरीर में घुस पड़ने से नये-नये उपद्रव और खड़े होते हैं। सच तो यह है कि चिकित्सकों के शरणागत रहने वाले की अपेक्षा वे कहीं अधिक नफे में रहते हैं जिन्हें चिकित्सा का सौभाग्य या अभिशाप प्राप्त कर सकने का अवसर ही नहीं मिल सका।

शरीर शास्त्री भी अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आरोग्य और रुग्णता की कुंजी मनःक्षेत्र में सुरक्षित है। मानसिक असंतुलन और प्रदूषण का निराकरण किये बिना किसी को भी स्वस्थ शरीर का आनन्द नहीं मिल सकता। जीवनी-शक्ति का पिछले दिनों बहुत गुणगान होता रहा है। उसे प्राप्त करने के लिए आकाश-पाताल के कुलावे भी मिलाये जाते रहे हैं। टॉनिकों हारमोनों और ग्रन्थि आरोपणों जैसे प्रयोग परीक्षणों की भरमार रही है। किन्तु गरीबों की बात तो दूर करोड़पतियों, शासनाध्यक्षों एवं स्वयं चिकित्सकों तक को उस प्रयास में कुछ पल्ले न पड़ा। अब यह निर्णय निकला है कि जीवनी-शक्ति कोई शरीरगत स्वतन्त्र क्षमता नहीं है वरन् जिजीविषा की मानसिक प्रखरता ही अपना परिचय जीवनी-शक्ति के रूप में देती रहती है। मानसिक स्थिति के उतार-चढ़ावों के अनुरूप यह जीवनी-शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है। शरीर की बलिष्ठता, सक्रियता, स्फूर्ति ही नहीं कोमलता, सुन्दरता और कांति तक मानसिक स्थिति पर अवलंबित हैं। विपन्नता की मनःस्थिति में भय, शोक, क्रोध आदि के अवसर आने पर तो तत्काल आवृत्ति से लेकर शरीर की सामान्य स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ते प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि मनोविकार जड़ जमा लें तो समझना चाहिए कि शरीर एक प्रकार से विपन्नता में फँस ही गया और उस दलदल से निकल सकना चिकित्सा उपचार के बलबूते की बात नहीं रह गई है।

अब आरोग्य की दशा और रोग निवृत्ति की दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनःसंस्थान की खोजबीन करना आवश्यक हो गया है और समझा जाने लगा है कि यदि मनुष्य के चिंतन क्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, वहाँ जमी हुई वितृष्णाओं और विपन्नताओं का समाधान न किया गया तो आहार-विहार का संतुलन बनाये रखने पर भी रुग्णता से पीछा छूट नहीं सकेगा। चिकित्सा उपचार से भी मन बहलाने के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन सिद्ध हो नहीं सकेगा। अब क्रमशः औषधि उपचार का महत्व घटता जा रहा है और मानसोपचार को प्रमुखता दी जा रही है। मानसिक बीमारियों की पिछले दिनों अलग से गणना होती रही है और उनका क्षेत्र अलग रहा है। अब नये शोध प्रयोजनों ने कुछ दुर्घटना जैसे आकस्मिक कारणों से उत्पन्न होने वाले रोगों को ही शारीरिक माना है और लगभग समस्त बीमारियों को मनःक्षेत्र की प्रतिक्रिया घोषित किया गया है। गहरी खोजों के फलस्वरूप आरोग्य जैसे मानवी जीवन के अतिमहत्वपूर्ण प्रयोजन पर नये सिरे से विचार करना होगा और आहार-विहार के ही गीत न गाते रहकर यह देखना होगा

कि मनस्विता बनाये रहने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है ?

मानव मन के विशेषज्ञ एरिके फ्रम के ग्रंथ 'मैन फार हिमसेल्फ' के अनुसार मानसिक विकृतियों में से सामयिक उलझनों के कारण तो बहुत थोड़े से होते हैं। अधिकतर उनका कारण नैतिक होता है। छल, दुराव एवं ढोंग, पाखण्ड के कारण मनुष्य के भीतर दो व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाते हैं। एक वास्तविक, दूसरा पाखण्ड। दोनों के बीच भयंकर अंतर्द्वन्द्व खड़ा रहता है। दोनों एक-दूसरे के साथ शत्रुता बनाये रहते हैं और विरोधी को कुचलकर अपना वर्चस्व बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह अंतर्कलह सारे मनःक्षेत्र को अशांत बनाये रखती है। इस विग्रह के फलस्वरूप अनेकों रोग उठ खड़े होते हैं और वे वैसी ही मानसिक स्थिति बने रहने तक हटने का नाम नहीं लेते।

शारीरिक रोग प्रत्यक्ष होते हैं। इसलिए उनकी जानकारी भी सहज मिल जाती है और दवादारू से इनका इलाज होने के भी साधन मौजूद रहते हैं। मानसिक रोगों के विक्षिप्त, अर्धविक्षिप्त स्तर के ऐसे लोग गिने जाते हैं जो अपना सामान्य काम-काज चला सकने में असमर्थ हो गये हों। जिनका शरीर निर्वाह और लोक व्यवहार लड़खड़ाने और लटपटाने लगा हो। जो अपने लिए और साथी-सम्बन्धियों के लिए भार बन गये हों। ऐसे रोगियों की संख्या भी लाखों से आगे बढ़कर करोड़ों की संख्या में अपने ही देश में छूने लगी है। ऐसों की संख्या का तो कोई ठिकाना ही नहीं जो रोजी-रोटी तो कमा लेते हैं और खाते-सोते समय भी साधारण लगते हैं, पर उनका चिंतन विचित्र और विलक्षण होता है। कितने ही दुष्टता की भाषा में सोचते हैं और हर किसी पर दोषारोपण करते हुए शत्रुता की परिधि में लपेटते हैं। कितने ही आशंकाओं, संदेहों, आश्लेषों के इतने अभ्यस्त होते हैं कि उन्हें अपनी पत्नी, बेटी, बहिन तक के चरित्र पर अकारण संदेह बना रहता है। सम्बन्धियों और पड़ोसियों को अपने विरुद्ध कुचक्र रचते हुए देखते हैं। दुर्भाग्य और ग्रह-नक्षत्रों के प्रकोप से कितने ही हर घड़ी काँपते रहते हैं और विपत्ति का पहाड़ अपने ऊपर टूटता अनुभव करते रहते हैं। शेखचिल्लियों के मनसूबे बाँधते रहने वाले, संभव-असंभव का विचार किये बिना अपने सपनों की एक अनौखी दुनिया बनाये बैठे रहते हैं। न अपनी पटरी दूसरों के साथ बिठा पाते हैं न किसी और को अपना घनिष्ठ बनने का अवसर देते हैं।

परिस्थिति का मूल्यांकन कर सकना दूसरों की मनःस्थिति और परिस्थिति समझ सकना उनके लिए संभव

नहीं होता। अटपटे अनुमान लगाते और बेतुके निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। विचार जो भी उठें वे एक पक्षीय सनक की तरह बिना किसी तर्क-वितर्क का आप्रय लिए वेलगाम घोड़े पर चढ़कर दौड़ते चले जाते हैं। जो सोचा जा रहा है उसका आधार क्या है और उस सनक पर चढ़े रहने का अन्ततः परिणाम क्या निकलेगा, इतना समझ पाना उनके क्षत-विक्षत मस्तिष्क के लिए संभव नहीं होता। यह सनक कभी-कभी आक्रामक हो उठती है तो जो भी उनकी चपेट में आता है उसे सताने में कसर नहीं छोड़ते। मित्र को शत्रु, शत्रु को मित्र समझने में उनकी अदूरदर्शिता पग-पग पर झलकती है। आयु बड़ी हो जाने पर भी सोचने का तरीका बालकों जैसा ही बना रहता है। अपनी कार्य पद्धति को किसी उद्देश्य के साथ जोड़ सकना उनसे बन नहीं पड़ता। जैसे-तैसे समय गुजारते हुए ज्यों-ज्यों करके ही मौत के दिन पूरे कर लेते हैं। इन्हें पागल तो नहीं कह सकते, पर व्यक्तित्व की परख की दृष्टि से उनसे कुछ अच्छी स्थिति में भी उन्हें नहीं समझा जा सकता।

मनीषी एल. के फ्रैंक के ग्रंथ 'सोशल एनालिसिस' के अनुसार विक्षिप्त, अर्ध-विक्षिप्त और विक्षिप्तता के सन्निकट सनकी लोगों से प्रायः आधा समाज भरा पड़ा है। मूढ़, मान्यताओं-कुरीतियों, अन्धविश्वासों से जकड़े हुए लोगों में तर्क शक्ति एवं विवेक बुद्धि का अभाव रहता है। उनके लिए अभ्यस्त दर्प ही सब कुछ होता है। उस लक्ष्मण रेखा से बाहर जाने में उन्हें भय लगता है। स्वतन्त्र चिंतन के प्रकाश से उनकी आँखें चौंधियाँ जाती हैं और औचित्य को समझने, स्वीकारने जैसा साहस उनके जुटाए जुट ही नहीं पाता। इस वर्ग के लोगों को मानसिक दृष्टि से अविकसित नर पशुओं की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

शरीर से असमर्थों, दुर्बलों और रुग्णों की तरह मानसिक पिछड़ेपन और विकारग्रस्तता के दल-दल में घँसे हुए लोगों का ही बाहुल्य अपने समाज में दृष्टिगोचर होता है। यह विक्षिप्तता भी एक प्रकार की बीमारी ही है। जिसमें प्राणियों को तिरस्कार, असंतोष, अभाव एवं चित्र-विचित्र प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं।

विचारणीय है कि यह सब होता क्यों है ? मनुष्य का प्रत्यक्ष कोई दोष दिखाई नहीं पड़ता। जान-बूझकर ऐसा कुछ किया हो तो जिससे उन शारीरिक व्याधियों और मानसिक आधियों का दुःख सहना पड़े ऐसा कुछ सूझ नहीं पड़ता। फिर ईश्वर ने ऐसी विचित्र संरचना क्यों की ? किसी को ऐसा, किसी को वैसा क्यों बनाया ? इसका भी कोई उत्तर नहीं हो सकता ? ईश्वर न तो

अन्यायी है न उसकी सृष्टि में अंधैरगदी, अव्यवस्था। दूसरी ओर इन व्याधिग्रस्त लोगों का ऐसा कोई प्रत्यक्ष कसूर भी नहीं दीख पड़ता, जिसका दण्ड भुगतने जैसी बात कही जा सके।

इस असमंजस का समाधान मनःशास्त्र के आचार्य कोरनहानी के शब्दों में कहें तो अनैतिक एवं असामाजिक चिंतन और कर्तव्य से उत्पन्न होने वाला अंतर्द्वन्द्व दुहरा व्यक्तित्व रच देता है और उससे निरन्तर उठने वाली आंतरिक कलह सारी मनोभूमि को क्षत-विक्षत करके रख देती है। संचालक के आहत-धायल, उद्विग्न होने पर उसके आधीन काम करने वाले तंत्र की दुर्दशा होना स्वाभाविक है। शरीर के अनाचार और मस्तिष्क के मनोविकार ही वे कारण हैं जिनके कारण आत्मसत्ता का संचालित तंत्र अनेकानेक प्रकार के आत्म दंडों की व्यवस्था अपने आप कर लेता है।

ये आत्मदंड ही शारीरिक रोग, मानसिक उद्वेग और असफलताओं के रूप में प्रकट होते हैं यह त्रिविध समन्वय कितना कष्टकर और संतापदायक होता है, उसे भुक्तभोगी ही जानता है। जिन्हें इन संकटों का त्रास सहना पड़ता है, उनके लिए इस विपन्नता का प्रत्यक्ष नरक के रूप में ही अनुभव होता है। यमलोक के अधिपति चित्रगुप्त को अचेतन मन ही समझा जाना चाहिए। उनका कार्यक्षेत्र यमलोक वह मनःसंस्थान है जिसमें प्रतिफल को परिणत कर सकने की ईश्वर प्रदत्त क्षमता मौजूद है। यम नियमन, व्यवस्था एवं अनुशासन को कहते हैं। मस्तिष्क को यमलोक और उसकी मूलभूत सत्ता को, चित्त को, चित्रगुप्त की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने स्थिति का सर्वथा सही चित्रण किया है। ईश्वर ने सर्वत्र स्व संचालित पद्धति रखी है। ताकि न्याय व्यवस्था का अलग अतिरिक्त झंझट न उठना पड़े। अपनी ही सत्ता का एक पक्ष कर्म करता है और दूसरा उसका प्रतिफल गढ़कर तैयार कर लेता है। बाहर के न्यायाधीश को तो भ्रम में भी डाला जा सकता है। पर अंततः में बैठे हुए हर द्रष्टा की निष्पक्ष, न्यायशीलता को झुठलाना तो किसी के लिए भी संभव नहीं हो सकता।

इतना सब जान लेने के उपरान्त हमें एक ही निश्चय-निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चेतन की मूलसत्ता अंतःकरण को प्रभावित करने वाले नैतिक और अनैतिक विचार एवं कर्म ही हमारी भली और बुरी परिस्थितियों के लिए पूर्णतया उत्तरदायी हैं। इसी उद्गम से हमारे उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा होता है और यहीं से विपत्तियों के जाल गिराने वाली दुःखद सम्भावनाएँ विनिर्मित होती हैं। इस मूल केन्द्र का परिशोधन करना ही

२.७० चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

एक प्रकार से आंतरिक कायाकल्प जैसा प्रयास है। प्रस्तुत संकटों से छुटकारा पाने और निकट भविष्य में फलित होने वाले संचित प्रारब्धों का निराकरण करने के लिए आंतरिक परिशोधन का प्रयास इतना अधिक आवश्यक है कि उसे अनिवार्य की संज्ञा दी जा सकती है और कहा जा सकता है कि विष वृक्ष की जड़ें काटने से ही काम चलेगा। टहनियाँ तोड़ने और पत्तियाँ गिराने से स्थायी समाधान बन नहीं पड़ेगा।

अपने मन को साधिये, सुसंस्कारी

बनाइए

शरीर पर नियंत्रण मन का है। मन की प्रेरणा से ही शरीर के विभिन्न अंग, अवयव काम करते हैं। प्रयत्न जिस भी दिशा में चल पड़ते हैं, प्रगति उसी दिशा में होती है। जिन्हें भौतिक समृद्धि चाहिए वे मन की दिशाधारा का सुनियोजन उस दिशा में करते हैं। उद्योग, व्यवसाय, कला-कौशल, शिल्प आदि के माध्यम से उपार्जन करते और सुसम्पन्न बनते हैं।

जिन्हें आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ना है वे अपने चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में घुसी हुई त्रुटियों का निराकरण करते हैं और उस स्थान पर शालीन, सुसंस्कारिता का समावेश करते हैं। इतना कर पाने के लिए ईश्वर से शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करने की याचना करते हैं। पूजा प्रक्रिया, उपासना, साधना का मूलभूत प्रयोजन यही है। काँटों में भटकने और सस्ते दामों में बहुमूल्य उपलब्धियाँ भटकने की फिराक में रहने वालों को ही असफलताजन्य निराशा का सामना करना पड़ता है।

दोनों क्षेत्रों में कोई एक अथवा दोनों के समिन्ध्रण का लक्ष्य लेकर चलने वालों को सर्वप्रथम मन की चंचलता पर अंकुश लगाना पड़ता है, अन्यथा मन अनगढ़ कल्पनाएँ करने और बन्दर की तरह अस्थिर उछलकूद में ही अपना समय गँवा देता है। अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि में उसका योगदान नहीं के बराबर ही लग पाता है। ऐसी दशा में लक्ष्य तक पहुँचना कैसे बन पड़े ?

इसलिए प्रगति का ककहरा आरम्भ करते हुए सर्व-प्रथम मनोनिग्रह की वर्णमाला को अपनाना पड़ता है। तत्परता और तन्मयता इसके बिना नहीं सधती और इन आधारों को अपनाये बिना प्रगति की गाड़ी आगे नहीं बढ़ती। जिस गाड़ी के घोड़े मनमर्जी से दौड़ते हैं, उनका नियत स्थान पर नियत समय में पहुँच जाना कठिन है।

मनोनिग्रह भी ठीक वैसा ही है, जैसा मदारियों द्वारा रीछ, वानरों को इच्छित खेल तमाशा दिखाने के लिए अभ्यस्त करना। इसके लिए उन्हें दुहरा काम करना पड़ता है। एक अभ्यस्त मनमानी को छुड़ाने का, दूसरा उन क्रियाओं का अभ्यास जो इच्छित कौतूहल दिखाने के लिए आवश्यक है।

अनगढ़, बेतुकी, अस्त-व्यस्त कल्पनाएँ, शेख-चिल्ली स्तर की होती हैं। जिनका अवसर नहीं, क्षमता नहीं, साधन नहीं सहयोग नहीं, सम्भावना नहीं उनका कल्पनाएँ बेतुकी उड़ानें कहलाती हैं। बच्चों को परिलोक की कथाएँ बहुत सुहाती हैं। बड़ों में से भी कितने ही ऐसे होते हैं जो आधाररहित कल्पनाएँ करने के आदी होते हैं। उनमें उलझे रहने से निरर्थक समय व्यतीत होता है और विचारों की बहुमूल्य सम्पदा को निरर्थक खर्च करने की आदत पड़ती है।

इस कुटेब को छुड़ाने के लिए रचनात्मक क्रिया-कलापों में खाली मन को लगाने का अभ्यास डालना चाहिए। अपने या दूसरों के सामने उपस्थित समस्याओं का कारण, स्वरूप, समाधान सोचने में मस्तिष्क को रचनात्मक, व्यावहारिक मार्ग अपनाना पड़ता है, उसके लिए जिन साधनों की जरूरत पड़ने वाली है, उन्हें जुटाने का सोच-विचार करना होता है। आर्चीटेक्ट, इंजीनियर, वकील आदि योजनाएँ बनाने वाले पहले मस्तिष्कीय ढाँचा खड़ा करते हैं। वह कल्पना जितनी यथार्थवादी, अनुभवजन्य एवं सार्थक होती है, उसी अनुपात में उसका क्रियान्वयन सरल पड़ता है और सफलता की सम्भावना भी बढ़ती है। कल्पना की बेतुकी उड़ान वाले मन को अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र की समस्याओं का समाधान करने प्रगति का तारतम्य बिठाने में जुटना चाहिए। इस प्रकार निरर्थकता को सार्थकता की ओर मोड़ सकना सम्भव बन पड़ता है। यह अभ्यास मन की रचनात्मक क्षमता को जगाता है।

मन का दूसरा दोष है, निषेधात्मक चिन्तन। इस प्रवृत्ति से छोटी-छोटी बात को बढ़ा-चढ़ाकर तिल का ताड़ बना लिया जाता है। संभावनाओं में आशंका, निराशा, अविश्वास, हानि, चिन्ता वाला पक्ष ही मस्तिष्क में घूमता रहता है। शत्रुओं के आक्रमण का, अशुभ, अनिष्ट दैवी दुर्विपाक का भय बना रहता है। अपनों द्वारा विश्वासघात किये जाने की कुशंका आती रहती है। कभी-कभी यह प्रवृत्ति आक्रामक रूप धारण करते भी देखी जाती है। तब ईर्ष्या, द्वेष, आक्रमण, अपराध, व्यभिचार, बलात्कार अपहरण, षड्यन्त्र जैसे विचार उठते हैं। उद्देश्य होता है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दूसरों को हानि पहुँचाना।

डरपोक और दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति ऐसे ही चिन्तन से घिरे रहते हैं। कुछ कर तो नहीं पाते पर मन को उद्धिग्न रखकर अपने शारीरिक, मानसिक क्षेत्र को असीम हानि पहुँचाते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कीय वह कोमलता भी नष्ट होती है, जो प्रगति के पथ पर बढ़ चलने का मार्ग सुझाती है। ऐसे व्यक्ति एक प्रकार के मानसिक रोगी हो जाते हैं। उन्हें बौद्ध या सनकी समझा जाने लगता है। लोग उनका उपहास उड़ाने और अविश्वास करने लगते हैं। कल्पनाएँ मस्तिष्क की तीक्ष्णता नष्ट करती हैं और सम्पर्क क्षेत्र में व्यक्तित्व को गया-गुजरा समझे जाने का माहौल बनाती हैं।

इस प्रवृत्ति की काट यह है कि विधेयक विचारों का जखीरा मन में जमा किया जाय। असफलता को निश्चित मानने की अपेक्षा सफलता की सम्भावनाओं का ढाँचा खड़ा करना चाहिए। निराशा के स्थान पर आशा को प्रश्रय देना चाहिए। अविश्वास के स्थान पर विश्वास करने की आदत डालनी चाहिए। मनस्वी और तेजस्वी व्यक्तियों द्वारा किये गये पुरुषार्थों की कथा ज्यादा पढ़नी, सुननी या स्मरण करनी चाहिए। उत्साहवर्धक अभिवचन या कथानक स्मृति पटल पर खुली हवा की तरह आने देना चाहिए। अपना भविष्य सूर्य किरणों या चन्द्रमा की चाँदनी की तरह चमकता हुआ देखना चाहिए।

अपने निज के जीवन से घटित हुई उत्साहवर्धक घटनाओं, सफलताओं का समय-समय पर स्मरण करते रहा जाय। इसके अतिरिक्त परिचित-अपरिचित क्षेत्र में भी ऐसा ही कुछ हुआ हो तो उसे नोट रखना चाहिए। इतिहास, पुराणों में कथा-गाथाओं में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जिनमें शौर्य पराक्रम की झाँकी होती है और साहस-पुरुषार्थ के उदाहरण मिलते हैं। ऐसी घटनाओं को अपने स्मृति भण्डार में भरना चाहिए और उनका संग्रह पूँजी की तरह जमा रखना चाहिए।

इन स्मृतियों को यदि बार-बार स्मरण करते रहा जाय तो उसके प्रभाव से अपना भी मनोबल बढ़ता है और कठिनाइयों से निपटने का शौर्य उभरता है। अनुपयुक्त विचारों को सद्विचारों से टक्कर कराते रहा जाय तो मस्तिष्क पर चढ़ा हुआ हेय चिन्तन सहज ही निरस्त होता रह सकता है।

हमें उज्ज्वल भविष्य के सपने देखने चाहिए। भविष्य निश्चित नहीं है और बुरा-भला कैसा भी हो सकता है। इस अनिश्चितता का यदि निषेधात्मक पक्ष लिया जाय तो प्रतीत होगा कि अगले दिनों संकट की घटाएँ टूटने वाली हैं। किन्तु यदि विधेयात्मक पक्ष अपनाया जाय तो समझा जा सकता है कि हर कठिनाई

का हल निकल सकता है और हर प्रतिकूलता से जूझा या उसे सहा जा सकता है। आत्म-गौरव और आत्म-बल पर विश्वास रखने से मनुष्य अपनी हीनता से, दीनता से पीछा छुड़ा सकता है। सोचा यही जाना चाहिए कि जब उजाले से भरा दिन नहीं रहता तो अँधेरे भरी रात सदा सर्वदा बनी रहेगी ऐसा क्यों मानना चाहिए ? अपने बल और पराक्रम को घटाकर क्यों आँकना चाहिए ? कुकल्पनाओं के जंजाल में क्यों उलझकर अपने मनोबल को गिराना चाहिए।

अचेतन को प्रभावित-परिष्कृत करने का विज्ञान का प्रयास

उत्थान और पतन का सम्बन्ध आमतौर से सम्बन्धित व्यक्तियों और प्रस्तुत परिस्थितियों के साथ जोड़ा जाता है, पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। मनुष्य की अपनी मनोवृत्ति, आस्था, आदत, रुचि और रीति ही वह धुरी है जिसके इर्द-गिर्द परिस्थितियाँ घूमती हैं और भावी सम्भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। अब परिस्थितियों को सुधारने के लिए यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि व्यक्तित्व को सुधारने और सम्भालने वाली मनःस्थिति उत्पन्न की जाय।

मनःशास्त्री इस दिशा में अपने ढंग से प्रयत्नशील हैं। वे स्वाध्याय, सत्सङ्ग, चिन्तन, मनन के क्रियाकलाप को दार्शनिकों और लोक शिक्षकों के लिए छोड़ देते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि विद्युतीय अथवा रासायनिक प्रक्रिया के सहारे मस्तिष्क को प्रभावित करके उसे बलात् वशवर्ती बनाया जाय और जिस दिशा में भी किसी को चलाया जाना हो उसी के अनुरूप उसकी मस्तिष्कीय स्थिति में हेर-फेर कर दिया जाय। ऐसा करने से किसी को समझाने-बुझाने या बताने-मानने की आवश्यकता न रहेगी वरन् एक सामान्य यन्त्र की तरह मस्तिष्क का उपयोग करके अमुक रीति से सोचने के लिए बाध्य किया जा सकेगा। फिर मनःक्षेत्र का आधिपत्य इन मानसोपचारकों के हाथ चला जायगा। फिर विचारात्मक पृष्ठभूमि बनाने के लिए लेखनी, वाणी जैसे साधनों की उपयोगिता नगण्य जितनी रह जायेगी।

कनाडा के मनःतत्त्व विशेषज्ञ डॉ. डब्ल्यू. जी. पेन फील्ड ऐसे विद्युतदृग् इलेक्ट्रोड खोजने में समर्थ हो गये हैं जिनका अमुक स्थान के अमुक कोशिकाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ देने पर मनुष्य भूतकाल की घटनाओं को आँखों के आगे मूर्तिमान होने की पुनरावृत्ति देख सकता है। इसी प्रकार भूतकाल के किन्हीं सम्वाद-परिसम्वादों की अभी-अभी के घटनाक्रम की तरह अनुभव कर सकता है।

२.७२ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म के आधार पर अतीन्द्रिय या अतिमानस के स्तर पर अनुभव किये जाते रहे हैं और प्रयोक्ता अपनी मनमर्जी का चिन्तन एवं दृश्य प्रयोगी के मस्तिष्क को अनुभव करता रहा है। वह प्रयोग अब पुराने पड़ गये। क्योंकि उसके लिए प्रयोक्ता को स्वयं कई तरह के अभ्यास करने पड़ते थे। प्रयोगी को सम्बेदनशीलों में से चुनना पड़ता है फिर भी तकनीकी गलतियों से कई बार पूरी या आधी सफलता ही मिलती थी। अब यह कार्य इलेक्ट्रोड की सहायता से यान्त्रिक उपकरण सुनिश्चित रूप से कर दिया, एक सीमित मात्रा में विद्युत तरंगें मस्तिष्क में प्रवेश कराके मनुष्य को शकान एवं अनिद्रा की पीड़ा से मुक्त कराया जा सकेगा। इतना ही नहीं उसे इतना मूर्छित भी किया जा सकेगा कि आपरेशन का कार्य भी आसानी से हो सके।

जीवशास्त्री जेम्स ओल्डस ने मस्तिष्क पर आंशिक नियन्त्रण करके चूहों को, बिल्ली से डरने की भावना से मुक्त कर दिया वे बिल्लियों को अपनी सजातीय मानने लगे और बिना डरे उसकी पीठ पर चढ़ने लगे।

फ्रांसीसी वैज्ञानिक प्रो. देल्गादो का कथन है आदतों और अभ्यासों की उसी तरह काट-छांट की जा सकती है जैसे फोड़े-फुन्सियों की। किसी की नसों में रक्त चढ़ाने की तरह उसके मस्तिष्क में अच्छी आदतों का भी बाहर से प्रवेश करा सकना भी अगले दिनों सम्भव हो जायगा।

मस्तिष्कीय चेतना को उल्टा अथवा बदला जा सकता है इस सम्बन्ध में पिछले कफ़ी दिनों से खोजबीन चल रही है। मस्तिष्क में किस स्थान पर किस प्रकार की क्षमता का निवास है यह बहुत कुछ जान लिया गया है और यह प्रयोग सफलतापूर्वक सम्पन्न किया गया है कि मस्तिष्क के किसी गर्त में पड़ी हुई किन्हीं विकृतियों को बिजली का झटका देकर जगाया जाय और मनुष्य वह अनुभव करे मानो वह घटना अतीत की नहीं अभी-अभी की है।

स्नायु विज्ञानी कार्ल लैसलेने ने यह पता लगाया है कि मस्तिष्कीय कणों के किस पर्त पर कितना विद्युत प्रवाह जारी करने से किस स्तर की कितनी पुरानी स्मृति जागृत हो सकती है। मैकगिल विश्वविद्यालय माण्ट्रील (कनाडा) के डॉ. विल्डर पेन फील्ड ने दृश्य, ध्वनि और विचार का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह सम्भावना व्यक्त की है कि लोगों के मस्तिष्कों को इच्छानुसार चिन्तन करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। कैलीफ़ोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी के डॉ. रोगरस्मेरी ने चिर संचित आदतों को भुला देने और अनायास ही नये अभ्यास के आदी बना देने में सफलता प्राप्त की है।

डॉ० जे० वी० ल्यूको की खोजों ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि मस्तिष्कीय स्वेच्छाचारी नहीं है और उस पर मनुष्य का अपना अधिकार ही सीमित नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा मस्तिष्कों की दिशा उल्टी जा सकती है और आज एक तरह सोचने वाला व्यक्ति कल दूसरी तरह सोचने के लिए विवश किया जा सकता है। न्यूरोस की सिनेप्टिक हलचलों में हेर-फेर करके मानसिक स्तर का हेर-फेर किया जा सकता है। इसके लिए नियत स्थान पर उपयुक्त मात्रा में विद्युत प्रवाह पहुँचा देने का कौशल हाथ में आ जाने से बहुत काम चल सकता है। डॉ. जे. वी. ल्यूको ने तिलचट्टे जीवों में ऐसी नई आदतें डाली, जो उनके पूर्वजों में भी नहीं थीं। बिल्ली और चूहे की दुश्मनी पुरानी है पर मस्तिष्कीय परिवर्तन से यह सम्भव हो गया है कि वह परम्परागत शत्रुता समाप्त हो जाय और वे दोनों हिलमिल कर रहने लगे।

राइबोन्यूक्लिक एसिड (आर० एन० ए०) नामक रसायन मस्तिष्कीय चेतना का आधार स्तम्भ ठहराया गया है। स्वीडन के डॉ. हाल्गर हाइडन के प्रयोगों में इस रसायन की मात्रा विभिन्न चेतना परतों में घटा-बढ़ाकर प्राणियों के सोचने के तरीके को बदलने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

टैक्सास विश्वविद्यालय के डॉ. जेम्स मैक्कोनल और डॉ. राबर्ट थाम्पसन ने मस्तिष्कीय संरचना की दृष्टि से पानी में पाये जाने वाले आध इन्व के चपटी किस्म के प्लेरियन कीड़े को अधिक उपयुक्त पाया है और उसे इन प्रयोगों के लिए चुना गया है। इस कीड़े की मस्तिष्कीय कोशिकाओं की उखाड़-पछाड़ करके वे यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उसकी आदतें नये ढाँचे में ढल जायँ और फिर उसी नई रीति-नीति की अभ्यस्त उसकी भावी पीढ़ियाँ बन जायँ। डॉ. डी. एलवर्ट ने चूहों की एक ऐसी जाति पैदा की है जिसकी शक्ल अपने पूर्वजों की ही तरह है पर उनका सोचना और करना बिल्कुल नये ढंग का है।

मस्तिष्कीय संरचना का जितना गहरा अध्ययन किया गया है उसके आधार पर यह पता चलता जा रहा है कि कपाल के भीतर भरी मज्जा के अन्तर्गत सूक्ष्म घटक, जितने सूक्ष्म, जितने अधिक और जितने सूक्ष्म होते हैं उसी अनुपात से बुद्धिमत्ता का विकास होता है। यह घटक अगणित वर्गों के हैं और उन्हीं के वर्ग विकास पर मानसिक गतिविधियों का निर्माण निर्धारण होता है।

यह समझा जाता रहा है कि विकसित प्राणियों का मस्तिष्क बड़ा होता है। पर बात ऐसी नहीं है। मस्तिष्क का भार भी शरीर के वजन अनुपात पर निर्भर है। हेल

का मस्तिष्क ७००० ग्राम, हाथी का ५२००, डाल्फिन का १८००, आदमी का १३५०, घोड़े का ६५०, गेंडे का ६००, गोरिल्ला का ५००, कुत्ते का १३०, बिल्ली का ३० ग्राम होता है। इस आधार पर इन प्राणियों की समझदारी का लेखा-जोखा नहीं लिया जा सकता।

प्रागैतिहासिक काल का विशालकाय दैत्य डाइनासोर १० से लेकर १५ टन तक भारी होता था, किन्तु उसके मस्तिष्क का भार मात्र ३० ग्राम था। यानी घरेलू बिल्ली के बराबर। फिर भी वह अपनी बिल्ली की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ और नासमझ था।

समझदारी का मस्तिष्क के वजन से सीधा सम्बन्ध नहीं, वरन् इस बात से है कि उनमें 'न्यूरॉन' कितने हैं और वे परस्पर कितनी सघनतापूर्वक सम्बद्ध होकर एक-दूसरे के पूरक बनते हैं। मानव मस्तिष्क में प्रायः १४० अरब न्यूरॉन होते हैं और उनकी संरचना ऐसी है जिसके अनुसार हर न्यूरॉन अपना निर्धारित कार्य ही नहीं निपटाता वरन् दूसरे न्यूरॉनों के क्रियाकलाप में भी भारी योगदान करता है। मानवी बुद्धिमत्ता का रहस्य इसी में है।

मनुष्य की बुद्धिमत्ता पिछले दस हजार वर्षों में प्रायः सौ गुनी अधिक विकसित हुई है। यदि भार और विस्तार से समझदारी का सम्बन्ध होता तो उसका सिर उसी अनुपात से बड़ा होता और आदमी का सिर ही शेष समस्त शरीर की तुलना में कई गुना अधिक बड़ा दिखाई देता।

डॉ० कैमरान के अनुसार मस्तिष्कीय कणों का मध्यवर्ती न्यूक्लिक एसिड इस विद्युत संवेग का उत्पादन एवं नियन्त्रणकर्ता है। रसायनिक बैटरी की तरह यह एसिड ही मस्तिष्क में विभिन्न स्तर के संवेदन-संवेग उत्पन्न करता है। इस अम्ल की स्थिति पर मानसिक स्तर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है इसके लिए कुछ ही दिन पूर्व एक मैग्नेशियम पेन्सिलीन आविष्कृत हुई है। केन्सास विश्वविद्यालय के रसायनवेत्ताओं ने इसी प्रयोजन के लिए कुछ प्रोटीन ऐटम्स ढूँढ़ निकाले हैं और उनका उपयोग मस्तिष्कीय क्षमता को सन्तुलित एवं विकसित करने के लिए किया है।

समझाने-बुझाने के झंझट में पड़ने की अपेक्षा किसी को अभीष्ट चिन्तन के लिए बाध्य करना और मन्द बुद्धि समझे जाने वाले मस्तिष्कों को प्रतिभा-सम्पन्न बनाना उपचार पद्धति के सहारे भी सम्भव हो सकता है। अब विज्ञानवेत्ताओं का यह विश्वास दिन-दिन प्रबल होता जा रहा है।

मस्तिष्कीय कोशिकाओं का परस्पर एक-दूसरे के साथ सघन सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध सूत्र को जोड़ने का काम एक विद्युत प्रवाह करता है। यह प्रभाव मनःचेतना की इच्छानुसार विभिन्न परतों में घूम जाता है और अरबों कोशिकाओं में बिखरी हुई क्षमताओं एवं स्मृतियों में से अपनी अभीष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप तथ्यों को ढूँढ़ लाता है। यह कोशिकाओं के मध्य सम्बन्ध सूत्र जोड़ने वाला विद्युत प्रवाह यदि मन्द हो, अवरुद्ध होकर चले तो मनुष्य मन्द बुद्धि, दीर्घ सूत्री अथवा भुलक्कड़ स्तर का बन जायेगा। यह प्रवाह जितना द्रुतगामी, सुव्यवस्थित एवं संवेदनशील होगा, उसी अनुपात से मनुष्य की बुद्धिमत्ता एवं कुशलता बढ़ेगी।

मस्तिष्क को रीढ़ की हड्डी से जोड़ने वाले रेक्टिक्युलर फार्मेशन की हरकतों को समझना और उसे प्रभावित करना जब जितनी मात्रा में सम्भव होता जायेगा, उसी अनुपात से मनुष्य को कृत्रिम रीति से हर्ष, शोक की अनुभूतियों से आच्छादित किया जा सकेगा, तब घटनाओं या उपलब्धियों के इन्तजार में किसी को प्रसन्नता से वंचित नहीं रहना पड़ेगा। अमुक रसायन या अमुक इलेक्ट्रोड ही किसी को घन कुबेर, सत्ताधारी सम्राट अथवा सिद्ध योगी जैसी प्रचुर प्रसन्नता सहज ही प्रदान कर दिया करेगी।

रूसी वैज्ञानिक प्रो. एनोखीन ऐसी दवा विनिर्मित करने में सफल हो गये हैं जो पीड़ित अंगों में होने वाले दर्द के कष्ट से रोगी को बचा लेगी। इस औषधि का नाम है—एमीनाजाइन। यह रेक्टिक्युलर फार्मेशन में स्थित पीड़ा संवेदन केन्द्र को जकड़ लेती है फिर भले ही कोई माँस काटता रहे किसी प्रकार के दर्द की अनुभूति न होगी। बिना निद्रा लाये इस प्रकार संज्ञाशून्यता उत्पन्न करने का यह अपने ढंग का अनौखा प्रयोग है। एड्रेनेलीन वर्ग की इस प्रकार की औषधियों का अगले दिनों तौत्ता लगने वाला है। सोचा यह जा रहा है कि प्रसव से लेकर सिर-दर्द, साइटिका, उदरशूल जैसी व्यथाओं के रहते हुए भी बिना कष्ट सहे लोग अपना काम निपटाते रहें और जब आपरेशन की जरूरत पड़े तो बिना कष्ट की अनुभूति सहे वह काम भी हजामत बनाने की तरह सरलतापूर्वक निपट जाया करें।

मस्तिष्कीय नियन्त्रण के सूत्र जैसे-जैसे हाथ में आते जा रहे हैं वैसे-वैसे उसके लाभों का गुणगान बढ़ा-चढ़ाकर किया जाने लगा है कि औषधि उपचार, फाड़-चौर, अंगों का प्रत्यारोपण, प्लास्टिक सर्जरी, विद्युत आघात, विक्रण आदि के प्रयोगों द्वारा जिस प्रकार शारीरिक रुग्णता से निपटने के लिए प्रगति हो रही है, उसी

प्रकार मानसिक रोगों से छुटकारा पाया जा सकेगा। मनोव्यथाओं से छुट्टी मिलेगी। इतना ही नहीं मन के न मानने जैसा अवरोध भी न रहेगा उसे जैसे ढाला, मोड़ा जाना है, उसके लिए किसी अविज्ञात प्रेरणा के प्रवाह में बहता हुआ सहज ही तैयार तत्पर हो जायगा। तब अनुशासन के लिए नियम प्रतिबन्ध न लगाने पड़ेंगे वरन् कुछ उपचार द्वारा ही यह सब झंझट निपटा लिया जाया करेगा।

देखने सुनने में यह सब्जबाग बहुत ही अच्छा लगता है पर इसमें यह भयानक संझूट छिपा बैठा है कि चन्द सप्ताहारी इन उपचारों को हस्तगत करके प्रजा को अमुक उपचार लेने के लिए उसी प्रकार बाध्य कर दें, जिस प्रकार लड़ाई के दिनों अनिवार्य सैनिक भर्ती को अनिवार्य कर दिया जाता है। ऐसी दशा में जनसाधारण को स्वतन्त्र चेतना से वंचित होकर चन्द लोगों के हाथ ही कठपुतली मात्र बनकर रहना होगा।

मस्तिष्कीय चेतना को बाह्य पदार्थों और उपकरणों से प्रभावित करने की दिशा में विज्ञान दिन-दिन आगे बढ़ता जा रहा है और यह सम्भावना परिलक्षित हो रही है कि स्वतन्त्र चेतना या स्वतन्त्र चिन्तन का अगल दिनों अस्तित्व ही रह न जायेगा। विज्ञान इस फिराक में है कि न केवल भौतिक पदार्थों की सुख-सुविधाओं के लिए मनुष्य को लुभाया, ललचाया अथवा पराश्रित बनाया जाय वरन् इससे भी एक कदम आगे बढ़कर यह किया जाय कि उसका 'अपना' नामक कोई स्तर ही न रहे। समर्थ लोगों के इशारे पर चल रहा विज्ञान तब मनुष्य समूह का उपयोग मक्खी-मच्छरों की तरह करेगा और न केवल इनका शरीर वरन् मन भी किन्हीं क्रिया-कुशल हाथों से नियन्त्रित होगा। भेड़ों के झुण्ड को गड़रिये हाँकते हैं और उनके दूध, ऊन, खाल, माँस, गोबर का इच्छानुसार उपयोग करते हैं। तैयारी इस बात की जा रही है कि जन साधारण को शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्थिति में आत्मसमर्पण जैसा हो जाय तब विज्ञान का देवता हर किसी के चिन्तन में कर्तव्य को अपनी मर्जी के अनुसार ढाला करेगा और कठपुतली की तरह लोग बिना अनुभव किये स्वेच्छापूर्वक नाचा करेंगे। इस पराधीनता के पाश में एक बार फँस जाने के बाद फिर किसी के लिए उससे निकल सकना ही सम्भव न रहेगा। आत्म-विस्मृति के गर्त में गिर जाने के बाद फिर उद्धार की आशा किस आधार पर की जा सकेगी।

यह विभीषिका अणु बमों से भी अधिक भयानक है। उसमें ऐसी चिरस्थायी, बौद्धिक पराधीनता की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जिसमें एक बार फँस जाने के

बाद फिर कभी उबरना सम्भव न हो सके। स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर ही तो मनुष्य ने एक से एक बढ़कर बहुमुखी प्रगति की है और अवांछनीयता से लोहा लिया है। यह स्वतन्त्र चिन्तन यदि सर्व-साधारण के हाथ से छिन गया और चन्द लोगों की हाथ की कठपुतली बनकर समाज को रहना पड़ा तो वह उतनी बड़ी क्षति होगी जिसकी किसी भी प्रकार पूर्ति न की जा सके। समय रहते हमें निशस्त्रीकरण आन्दोलन की तरह बौद्धिक जड़ता से जकड़ देने वाली सम्भावना के विरुद्ध भी विश्व का लोकमत यहाँ जाग्रत करना चाहिए। मस्तिष्कीय दुर्बलता और रुग्णता दूर करने तक ही इन प्रयोगों को सीमाबद्ध रखा जाना चाहिए। चिन्तन पर नियन्त्रण करने की दिशा प्रतिबन्धित रहे तभी महत्वाकांक्षी अधिनायकों के चंगुल से स्वतन्त्र चेतना की रक्षा की जा सकेगी।

तृप्ति-तुष्टि-शान्ति

प्रत्येक प्राणियों की आवश्यकताएँ सीमित हैं। जीवधारियों की संरचना इस प्रकार हुई है कि इनका कौशल और स्वभाव स्थानीय परिस्थितियों और वस्तुओं के साथ तालमेल बिठाकर तृप्त हो जाता है। अभावजन्य असंतुष्टि के कारण उसका मानसिक स्तर उद्विग्नता ग्रस्त नहीं रहता। शरीरगत क्षुधाएँ उचित सीमा तक सरलतापूर्वक पूरी होती रहें तो फिर उस हैरानी की जरूरत नहीं पड़ती जो चैन से नहीं बैठने देती। मानसिक विकास हर प्राणी का इतना ही हुआ है कि वह साधन जुटाने और आत्म-रक्षा की दृष्टि से प्रतिरक्षा की आवश्यक व्यवस्था बनाता रहे। अधिकांश प्राणी यह सब कर भी लेते हैं। यही कारण है कि बचे हुए समय में प्रसन्न मुद्रा में बने रहते हैं और बचा समय विनोद मनोरंजन में कुदकने-फुदकने, यात्रा पर निकलने में खर्च करते हैं। आमतौर से पेट प्रजनन तक ही उनकी शारीरिक, मानसिक आवश्यकताएँ रहती हैं। स्वार्थों की खींच-तान में कभी-कभी वे लड़-झगड़ भी बैठते हैं। इसी प्रकार उनका समय पूरा हो जाता है। असमर्थ हो जाने पर उस कचरा शरीर को हिंस्र प्राणी अपना आहार भी बना लेते हैं। यही है साधारण नियति अधिकांश जीवधारियों की।

मनुष्य की स्थिति कुछ विचित्र है। उसे औचित्य की सीमा में रहना, मर्यादाओं का अनुबन्ध पालना स्वीकार नहीं। चंचलता, उद्विग्नता, आपाधापी, अहमन्यता, दूसरों पर हावी होना जैसे अनावश्यक किन्तु आकर्षक लगने वाले कार्यों में उसकी विशेष रुचि बढ़ी-चढ़ी मात्रा में रहती है। यह अतिवाद ही उसे अमर्यादित एवं अनैतिक स्थिति अपनाने के लिए बाधित करता है। यही वह ललक, लिप्सा-लालसा है जिसे इच्छित मात्रा में पूरा कर सकने

के लिए उसका चिन्तन उद्विग्न आकांक्षाओं से भरा रहता है। जो चाहा गया है उसका बहुत छोटा अंश ही पुरुषार्थ की सीमा और परिस्थितियों की अनुकूलता को देखते हुए कार्यान्वित हो पाता है। होना तो यह चाहिए कि पूरी करने की सारी विधि-व्यवस्थाएँ ठीक प्रकार से सम्पन्न हो सकें। तृष्णा के भड़क जाने पर व्यक्ति की स्थिति अतृप्त उन्मादी जैसी हो जाती है। मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। धर्मोन्माद, युद्धोन्माद के कारण अनेकानेक दुर्घटनाएँ आये दिन घटित देखी गयी हैं। ठीक इसी प्रकार लिप्सा-लालसा, वासना-तृष्णा, प्रशंसा की पूर्ति के लिए भी लोग इस कदर वेतहासा भाग दौड़ करते हैं कि उनका स्वस्थ चिन्तन ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। हविश के मारे लोग उन्मादियों की तरह स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसी सीमा तक आगे बढ़ जाते हैं जहाँ अनाचार के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति अनर्थ ही सोचते और अनर्थ ही करते हैं।

संसार में साधन इतने सीमित हैं कि उन्हें मिल-बाँटकर खाते हुए सभी लोग सामान्य स्तर का गुजारा कर सकते हैं। इस साम्यवादी आचार पद्धति को अपनाकर सभी लोग चैन से रह सकते हैं, चैन से रहने दे सकते हैं। न आपस में प्रतिद्वन्द्विता-प्रतिस्पर्धा उभरती है और न ईर्ष्या द्वेष का दौर चलता है। न कुछ आदमियों को बड़े बनने और शेष को गई-गुजरी स्थिति में रहने के लिए विवश होना होगा। दीवार उठाने के लिए कहीं मिट्टी खोदनी पड़ती है और गड्ढा बनाना पड़ता है। अमीरी की साधन-सुविधा बढ़ी-चढ़ी होने का परिणाम दुहरी हानि पहुँचाना है। एक यह कि वैभव का संरंजाम साधारण जनों को आकर्षित करता है और उसे पाने के लिए वे भी लालायित होते हैं। पुरुषार्थ, प्रज्ञा, परिस्थिति, कौशल हर आदमी नहीं जुटा पाता। इसलिए इतने बड़े-चढ़े साधन तो नहीं मिल पाते पर ईर्ष्या द्वेष की आग सहज ही भड़कने लगती है। जिसे शान्त करने के लिए उसे कुछ उपद्रव करने की, नीचा दिखाने की सूझ सूझती है। इससे उभयपक्षीय आक्रोश उभरता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कठिनाई यह है कि जिसे असाधारण सुविधाएँ मिलने लगती हैं और उसे अधिक पाने की लिप्सा असाधारण रूप से भड़कती है। जितना वैभव उसे मिल चुका है वह सर्वसाधारण की तुलना में कहीं अधिक होने पर भी यह प्रतीत होता है कि जितना चाहता था उसकी तुलना में कम मिला है। इसे पाने के लिए वह आतुरता से अधिकाधिक पाने के लिए वह क्रिया-पद्धति अपनाता है जो समूचे वातावरण को विक्षुब्ध कर देती है।

इसलिए वैयक्तिक और सामाजिक सुस्थिरता के लिए आवश्यक है कि हर किसी के मन में ऐसा चिन्तन

बोया उगाया जाय जो भौतिक पदार्थों और सुविधाओं की सीमित आकांक्षा करे। सीमित बटोरे और उनका सीमित ही उपयोग करे। यह मध्यवर्ती प्रचलन ही ऐसा है जिससे कामना या चेष्टा बढ़ने न पाये। इसका प्रतिफल यह होगा कि अमीरी घटने से गरीबी भी घटेगी। ज्वार ऊँचा उठता है तो समुद्र में उससे सटा हुआ भाटा नीचे जाता है। जिन जलाशयों में पानी समतल रहता है। उछाल नहीं आते उनका पानी भी स्वच्छ रहता है और जल जन्तु भी प्रसन्नता भरा जीवनयापन करते हैं। यही स्थिति समाज की भी होनी चाहिए। व्यवस्था भी इसी स्तर की बननी चाहिए कि अमीरी बटोरने का अवसर किसी को न मिले अन्यथा उनके सम्पर्क में आने वाले अपने को निर्धन अनुभव करेंगे और उसका कारण अमीरी को समझते हुए किसी न किसी प्रकार आक्रोश व्यक्त करेंगे। यह आक्रोश कितने स्थानों से कितने प्रकारों से फूटेगा, यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिए दर्शन, धर्म, तर्क, तथ्य, उदाहरण, प्रमाण एकत्रित करके लोक चिन्तन को इस प्रकार विनिर्मित किया जाना चाहिए कि किसी की महत्वाकांक्षा न भड़के। यह एक विशेष प्रकार का मानसिक ज्वर है। जो आक्रान्त को तो उद्वेलित करता ही है साथ ही अपनी छूत से उस सम्पर्क परिवार में रहने वालों को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

वितेषणा की तरह ही दूसरी महत्वाकांक्षा है लोकेषणा। लोग अपेक्षाकृत अधिक सम्मान पाना चाहते हैं, प्रतिष्ठा के अधिकाधिक भूखे रहते हैं। यह सदगुणों और सेवा भावनाओं के आधार पर अपनी गरिमा का परिचय देता है और बदले में कृतज्ञता के रूप में सद्भाव पाता है तो वह उचित है किन्तु यदि अपनी अमीरी, चतुरता या आतंकवादिता, सुन्दरता, ठाठ-बाट आदि दिखाकर ऐसी चेष्टा की गई है कि इस आडम्बर में दूसरों की आँखें चौंधिया जायँ और वे तिल का ताड़ समझने लगे तो इस प्रयास के निमित्त रचे गये समस्त जाल-जंजाल जादूगरी या बाजीगरी स्तर के होंगे। उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया कुछ भी क्यों न हो पर वास्तविकता जल्दी ही प्रकट हो जाती है कि वाहवाही लूटने को यह बानग बनाया गया है। इससे क्षुद्रता प्रकट होती है और अवमूल्यन होता है। प्रसिद्धि लूटने के लिए जो भी आडम्बर रचे जाते हैं, रचनाकार को जादूगर, बाजीगर विदूषक स्तर का उहाराया जाता है। क्योंकि ऐसे आडम्बर बड़े लोग रचते रहते हैं। शरीर का, चेहरे का सौन्दर्य बढ़ा-चढ़ा दिखाने के लिए कई महिलाये अनेक शृंगार प्रसाधनों से अपने को अधिक आकर्षक दिखाने का प्रयत्न करती हैं। इससे कोई अजनबी भर चौंक सकता है। विचारशील आदमी को वस्तुस्थिति समझने में देर नहीं लगती। कलई जल्दी ही धुँधली पड़

जाती है। ढोल की पोल हर किसी को समझ में आती है। बड़प्पन के लिए उछलकूद करने वाले बेदंगे मेढ़कों की चाल से हर कोई परिचित हो जाते हैं। पदवी, प्रतिष्ठा, सम्मान पाने के लिए कई व्यक्ति संस्थाओं के पदाधिकारी बनने के निमित्त लालायित फिरते हैं। इसके लिए जोड़-तोड़ भिड़ाते रहते हैं। किन्हीं को सफलता मिल जाती है तो कई असफल रहते हैं किन्तु इतना हर किसी को विदित हो जाता है कि यह उथला आदमी है। गम्भीरता के साथ विनयशीलता जुड़ी रहनी चाहिए। जो नम्र, ऋजु, विनयशील, सुसंस्कृत, शालीन नहीं है उसी का अहंकार नामवरी कमाने के लिए शेखीखोरी करता है। कुछ रिश्वत, उपहार देकर प्रलोभनों से बहकाकर अपना प्रयोजन पूरा कराता है। ऐसे लोग आमतौर से उपहासास्पद बनते हैं। उनकी उद्धतता पग-पग पर पकड़ में आती रहती है और कभी सामने, कभी पीठ पीछे हँसी उड़ती रहती है। इससे मुँहसाये कुछ सुनने-सुनाने पर वस्तुतः उनकी यह मनोवृत्ति दर्पण की तरह नंगी हो जाती है। तब शान्ति के समय वह सोचता है कि यदि विनयशीलता, नम्रता, ऋजुता, शालीनता अपनाई गई होती तो सम्मान भी अधिक मिलता और वह चिरस्थायी भी रहता। जिस प्रकार लूटपाट से उड़ाई हुई वस्तु को छिपकर ही उपयोग करना पड़ता है। सबके सामने उपयोग करने में बात खुल जाने और पकड़े जाने का भय रहता है। इसी प्रकार प्रशंसा के लिए लालायित व्यक्ति द्वारा रचे गये षड्यन्त्र, कुचक्र हाथों-हाथ प्रकट होते जाते हैं और जो भी वस्तुस्थिति समझ पाते हैं उन सभी के मन में उनके प्रति तिरस्कार के भाव बढ़ते हैं।

शास्त्रकारों ने वित्तेशणा, लोकेषणा, पुत्रेषणा को त्रिविधि अनैतिक आवेश कहा है। वे ज्वर पीड़ित की तरह आवेश, उन्माद उत्पन्न करते हैं। इन व्याधियों से ग्रसित व्यक्ति अपने चिन्तन, चरित्र, व्यवहार और क्रिया-कलाप को सज्जनोचित नहीं कर पाता, फलतः न उसे सन्तोष मिलता है और न अभीष्ट उपलब्धियों का सहकार प्राप्त कर लेने का श्रेय सौभाग्य ही। वह अनेक गुना घाटे में रहता है। चिन्तन को कुचक्र रचकर दूषित करता है। मिथ्याचार की रचना कर चरित्र बिगाड़ता है और उल्लू सीधा करने की फिराक में रहकर व्यवहार को भी भोंड़ा बना लेता है।

तीसरी ऐषणा है पुत्रेषणा जिसे बोलचाल की भाषा में कामान्विता या परिवार के प्रति कर्तव्य की सीमायें न रहकर उन्हीं के लिए विलास वैभव जुटाते रहने और मरते खपते रहने की लालसा कहते हैं। समय और सामर्थ्य हर मनुष्य के पास सीमित है। यदि कोई परिवार में अत्याधिक लिप्त हो जाता है। उन्हीं के लिए अपनी

सारी कमाई लगाता है। समय को उसी में खपाता है। चिन्तन पर वह थोड़े लोग ही छाये रहते हैं तो समझना चाहिए कि जीवन का महत्वपूर्ण अंश इसी जंजाल में नियोजित हो गया। औचित्य की सीमा में रहकर कर्तव्यपालन मात्र से भी काम नहीं चलता। ऐसी दशा में आत्मोत्कर्ष और लोकमंगल के लिए जिन उत्तरदायित्वों को हाथ में लेना चाहिए था, उस संदर्भ में कुछ बन ही नहीं पड़ता। सादा जीवन उच्च विचार का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उच्च विचारों को हृदयंगम और कार्यान्वित कर सकना मात्र उन्हीं के लिए संभव है जो अपने निजी जीवन में सादगी का, सन्तोष का, संयम का, सद्भावना का समुचित समावेश कर पाते हैं। जिनके लिए अपने ऊपर इतना नियन्त्रण करना कठिन है जो लिप्सा, तृष्णा, वासना, अहंता के उद्धत प्रदर्शन के अनावश्यक संघर्ष में ही अपने को खपा देते हैं और पीछे उसका दुःखद दुष्परिणाम भोगते रहते हैं।

तृप्ति, तृष्टि और शान्ति जीवन की तीन बड़ी उपलब्धियाँ मानी गई हैं। तृप्ति लिप्सा से होती है। लिप्सा का तात्पर्य है शरीर की आवश्यकताएँ, इन्द्रियजन्य वासनायें। उनका समाधान औसत नागरिक के स्तर पर अपना काम चलाने वाले विवेक को अपनाने से होता है। अन्यथा चटोरेपन के कुचक्र में पड़कर लोभ और भोग की रटत हर घड़ी लगी रहती है। भले ही उन भोगों का दूरदर्शितापूर्ण उपयोग कर सकने की क्षमता अपने में नहीं हो।

तृष्टि सीमित परिवार को सदगुणी, शिष्ट एवं सुसंस्कारी बनाने से होती है। इसके लिए अपने आपको अनुकरणीय उदाहरण बनाना पड़ता है। मर्यादाओं से बाहर का पक्षपात करने से, अनावश्यक लाइ लड़ाने से, उत्तराधिकार में विपुल सम्पत्ति छोड़ मरने की आकांक्षा अतृप्ति उत्पन्न करती है। इसलिए विश्व परिवार का दृष्टिकोण विकसित करते हुए समूचे समाज को कुटुम्ब मानकर चलना चाहिए, जो छोटा सा अपना परिवार है उसके प्रत्येक सदस्य को स्वावलम्बी सुसंस्कारी भर बनाने की बात सोचना चाहिए। जिनसे इतना बन पड़ता है उन्हें तृप्ति की प्रसन्नता भी अनुभव होती है।

शान्ति उन्हें मिलती है जिन्हें बड़प्पन बटोरने, सस्ते वाहवाही कमाने, बड़े पद पर आसीन होने या लोगों की आँखों में चक्काचौध उत्पन्न करके अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ने की अभिलाषा शान्त हो जाती है। नम्रता, विनय शीलता, सज्जनता का स्वभाव बना लेने में ही शान्ति का आभास होता है। अपने दृष्टिकोण, स्वभाव और कार्यक्रम उच्चस्तरीय बना लेने पर कोई भी व्यक्ति प्रचुर परिमाण में तृप्ति, तृष्टि और शान्ति का अजस्र आनन्द लाभ करता रह सकता है।

मनःक्षेत्र की ढलाई-वास्तविक पुरुषार्थ

विचारों का अपना महत्व है और कार्यों का अपना। पर वे दोनों ही सामयिक और अस्थिर हैं। समयानुसार के बादलों की तरह उछलते और गरज-बरसकर समाप्त हो जाते हैं। इतने पर भी उन दोनों के संयुक्त प्रभाव से उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया देर तक बनी रहती है। बादल बरस जाने का समय समाप्त हो जाने पर भी खेत में नमी बनी रहती है और देर तक अपने प्रभाव को बनाये रहती है। आवाज अन्तरिक्ष में गूँजती है, पर उसके कम्पन कुछ समय तक वातावरण में बने रहते हैं। इसी प्रकार जिन विचारों को कार्य रूप में परिणित होने का अवसर मिलता है, वे कर्ता के ऊपर एक देर तक ठहरने वाली छाप छोड़ जाते हैं। इसी को आदत कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में इन्हें ही 'संस्कार' कहा जाता है। ये 'संस्कार' अपना प्रभाव सहज समाप्त नहीं करते अपितु मनःक्षेत्र में जड़ जमाकर बैठ जाते हैं। इसे ही 'स्वभाव' कहते हैं।

आदतें मनःक्षेत्र की संचित सम्पदा हैं। उनके सहारे जीवन का ढर्रा अपनी पटरी पर थोड़े से सहारे-इशारे भर से लुढ़कने लगता है। लड्डू एक बार घुमा देने पर देर तक अपनी धुरी पर घूमता रहता है। आदतों के सम्बन्ध में भी यही बात है। वे आरम्भ में तो प्रयत्नपूर्वक ही विनिर्मित होती हैं किन्तु पक जाने पर अपना ऐसा प्रभाव दिखाती हैं मानो मनुष्य को उन्हीं के नियन्त्रण में वशीभूत होकर रहना पड़ेगा। धीरे-धीरे वे अपने शिकंजे में इस प्रकार मनुष्य को कस लेती हैं कि उसे उनसे छूट निकलने का मार्ग ही नहीं सूझ पड़ता। विवश-असहाय सा वह ढर्रे वाले प्रवाह में बहने लगता है।

'नशेबाजी' इसका एक अच्छा उदाहरण है। आदत पड़ जाने पर उसका छूटना कितना कठिन हो जाता है इसे सभी जानते हैं। अन्य दुर्व्यसनों के सम्बन्ध में भी यही बात है। उचक्के, उठाईगीरी बिना जरूरत के भी वैसी हरकतें करते रहते हैं। गाली बकने की आदत पड़ जाने पर अनजाने ही वह शब्दावली मुँह से मौके-बेमौके निकलती रहती है।

अच्छी आदतें स्वभाव का अंग बन सकें तो समझना चाहिये कि प्रगति पथ पर चल पड़ने और लक्ष्य तक पहुँचने की समस्या का आधा भाग हल हो गया। इसके विपरीत यदि उस प्रकार का ढर्रा न चला, स्वभाव न बना तो आदर्शवादी शोषाधी पुरानी विकृत आदतों के टकराव में हार मानती और दुम दबाकर भागती दृष्टिगोचर होगी। स्वाध्याय और सत्संग से कई अच्छे निष्कर्ष निकलते हैं। सन्मार्ग पर चल पड़ने का सत्परिणाम भी

समझ में आता है। कुछ करने की उमंग भी उठती है किन्तु व्यवहार में वैसा कुछ बन नहीं पड़ता। पथ कठिन जान पड़ता है। सुविधा के सामान्य ढर्रे से विपरीत यह आदर्शवादी मार्ग रुचिकर लगते हुए भी अपनाते नहीं बन पड़ता। यदि कुछ शुभारम्भ किया भी तो अजीब सा लगता है, संकोच होता है और उस नवीन निर्धारण का गले उतरना कठिन हो जाता है। इस असमंजस का एक ही कारण है, पुरानी आदतों की प्रबलता। इसी कारण उबरने के मन्सूबे तेज हवा में उड़ने वाले तिनकों की तरह इधर-उधर बिखर जाते हैं और मनुष्य अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों के सहारे पतन के गर्त में निरन्तर अधिक गहरा उतरता चला जाता है।

बुरी आदतों का अभ्यस्त होना सरल है क्योंकि उनका प्रचलन सर्वत्र पाया जाता है और अनुकरण करने के लिये वातावरण पहले से ही बना मिलता है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति किसी भी वस्तु से ऊपर से नीचे खींचती रहती है। किन्तु कुछ भी उछालना हो तो उसके लिये अतिरिक्त शक्ति साधन जुटाने होंगे। इसी प्रकार अच्छी आदतें डालनी हों तो उसके लिए उच्चस्तरीय विचारों को लगातार मनःक्षेत्र में प्रवेश करते रहने, उत्कृष्टता की दिशा में चलते रहने के लिए निर्धारित कार्यक्रम बनाने एवं संकल्पपूर्वक क्रियान्वित करने होते हैं। इतना बन पड़ने पर ही सुसंस्कारों की वह पूँजी जमा होती है जिसके सहारे सगहनीय प्रगति का संरंजाम जुट सके।

जाइये, पहले रूठे मन को मनाइये

बुद्धिमान उसे कहा जाता है जो 'टूटे' को बनाना और रूठे को मनाना जानता है। कपड़े, बर्तन, फर्नीचर, मकान आदि की टूट-फूट होती रहती है। उसकी मरम्मत की जाती है। जो टूटा उसे फेंक दिया जाय, ऐसा कैसे हो सकता है ? सब कुछ नया ही नया हो यह कैसे सम्भव है ? इसी प्रकार जो रूठ जाय उससे खुद भी रूठ बैठें तो घर-परिवार का चलाना कठिन है। कभी पत्नी से अनबन हो जाती है, कभी बच्चों से कहन-सुनन। कभी भाई से मनचाल हो जाती है तो कभी पड़ोसी से मन-मुटाव बन जाता है, इस स्थिति को ऐसे ही रहने दिया अथवा ऐंठ को और कड़ी करते रहा जाय, तो काम नहीं चलेगा। उलझन बढ़ती ही जायेगी, जिनके साथ रहना है उनसे मीठे सम्बन्ध बनाये रहने में ही लाभ है।

मन हमारा सबसे निकट का सम्बन्धी है। पत्नी, बच्चे, भाई, पड़ोसी तो दूर वह शरीर से भी अधिक समीप रहने वाला स्वजन है। शरीर से तो सोते समय

सम्बन्ध ढीले हो जाते हैं, मरने पर साथ छूट जाता है पर मन तो जन्मजन्मान्तरों का साथी है और जब तक अपना अस्तित्व रहेगा तब तक उसका साथ भी छूटने वाला नहीं है। मन मुख्य और शरीर गौण है। मन की मर्जी पर आत्महत्या आदि से शरीर छोड़ा जा सकता है। शरीर की मर्जी से मन नहीं छूट सकता। मन की समझदारी से शरीर की अस्त-व्यस्तता दूर हो सकती है। शरीर परिपुष्ट होने से मनोविकार दूर नहीं किये जा सकते। शरीर की सामर्थ्य तुच्छ है, मन की महान। मन का शासन शरीर पर ही नहीं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर है। उत्थान-पतन का वही सूत्राधार है। निन्दा और प्रशंसा उसी की गतिविधियों की होती है। किसी को सन्त, ऋषि, देवदूत और महापुरुष बना देना यह मन की सज्जनता का ही चमत्कार है।

ऐसे उपयोगी और सामर्थ्यवान साथी को रूठने नहीं देना चाहिए। रूठ जाय तो मनाना चाहिए। हमारी आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है। अन्य काम छोड़कर भी इस ओर ध्यान देना चाहिए और जितनी जल्दी हो सके रूठे मन को मना लेना चाहिए।

मन आँख से दिखाई नहीं पड़ता, इसलिये उसका रूठना भी नहीं दीखता, पर विवेक की आँख से देखें तो वह रूठा हुआ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा। रूठने वाले की पहचान है, साथ न देना, कहना न मानना, सहयोग न करना, नुकसान करना। बच्चा रूठ जाता है तो ऐसे ही उपद्रव करता है। घर का सामान तोड़ता-फोड़ता है और अपने हाथ-पैर पीटता है। घर को नुकसान पहुँचाता है और स्वयं कष्ट पाता है। रूठी हुई पत्नी भोजन करना, बोलना बन्द कर देती है। मन को पुष्ट करने में उपयुक्त स्वाध्याय सत्सङ्ग की खुराक लेनी उसने बन्द कर दी है। आत्मा के पास बैठकर कभी विचार नहीं करता कि घर का बनाव बिगाड़ किसमें है ? कुमार्गगामी होकर रूठे बच्चे की तरह सफलता के साधन सदगुणों को तोड़ता-फोड़ता रहता है और स्वयं निन्दा, तिरस्कार, अभाव, द्राष्ट्रिय, शोक-संताप का भागी बनकर कष्ट पाता है। रूठा हुआ नौकर या तो क्रम करता ही नहीं, करता है तो ऐसे ढङ्ग से कि मालिक को और उल्टा नुकसान पड़े। मन ने आत्मोन्नति के सारे प्रयास अवरुद्ध कर रखे हैं, कुछ करता है तो ऐसा विलक्षण जिससे इस लोक और परलोक में भविष्य अन्धकारमय ही बनता चला जाय। यह रूठने के प्रत्यक्ष चिह्न हैं।

यह असहयोग अवरोध देर तक नहीं चलने देना चाहिए। वह अपना भाई है उसके साथ राम-भरत जैसे मधुर सम्बन्ध बनाने चाहिए। रावण-विभीषण की तरह,

सुन्द, उपसुन्द की तरह परस्पर द्रोही-विद्रोही बनकर रहने में क्या आनन्द ?

मन ने यदि साथ दिया होता तो शरीर की ऐसी दुर्गति न होती जैसी आज है। उसने काया को स्वस्थ और समर्थ रखने के लिए संयम बरता होता। लिप्सा के फेर में न पड़ा होता। जीभ को, कामेन्द्रिय को व्यवस्था में रखा होता। आहार-विहार की नियमितता बरती होती तो काया गुलाब के फूल के तरह खिली हुई और गेंद की तरह उछलने वाली रही होती। बीमारी और कमजोरी की इस घर में घुसने की हिम्मत ही न पड़ती। मन रूठा बैठा रहा, शरीर को देखा सँभाला ही नहीं, रुग्णता ने घेरा डाल लिया, शरीर टूटा, आत्मा को अशान्ति रही और मन स्वयं ही उस रुग्ण काया में रहकर टूटे मकान में रहने वाले किरायेदार की तरह उद्विग्न बना रहा।

मन यदि रूठा हुआ न होता तो उसने अपने आपको सँभाल लिया होता। अपने को गुण, कर्म, स्वभाव से सुसज्जित-सुसंस्कृत रखा होता, पर वह तो कोपभवन में बैठा था। कपड़े फाड़े, बाल बखेरे, बिना नहाये-धोये, ऐसा ही गन्दा पड़ा रहा। अपना वेष बिगाड़ा, सम्मान खोया और बाप का काम बिगाड़ा। आत्मा को सहयोग देना तो सुसंस्कृत स्थिति में ही हो सकता था। मलीनता और कुत्सा का कलेवर ओढ़ लेने पर तो वह भारभूत ही रह सकता था, सो ही रह भी रहा है।

जीवन-क्षेत्र को सँभालने का उत्तरदायित्व यदि उसने सँभाला होता तो आज इस उद्यान की शोभा देखते ही बनती। शिक्षा से यदि उसने प्यार किया होता तो और एक दो घण्टे रोज भी पढ़ने के लिए उत्सुकता प्रकट की होती तो अन्धाधुन्ध अपव्यय होने वाले समय में से थोड़ा सा शिक्षा के लिए भी लग सकता था और पिछले जो दिन ऐसे ही बर्बाद हो गये अब तक अपनी स्थिति उच्चकोटि के विद्वान जैसी हो गई होती। पर उसने विद्या में रस लिया कब ? रूठा जो बैठा रहा।

देवत्व के सारे उपकरण अपने भीतर विद्यमान थे। एक उँगली के सहारे यह सारा साज झंकृत हो सकता था। अपने भीतर बैठा सन्त, ऋषि, देव प्रतीक्षा करता रहा, जरा सा सहाय मिले तो ऊपर उभरकर आये। पर मन को फुरसत ही नहीं मिली। वह रूठा रहा, भटकता रहा और अँगूठा दिखाता रहा, समय की निधि चुकती चली गई। अवसर हाथ से निकलता रहा। जीवन सन्ध्या निकट आ गई तो भी हाथ रे मन, तेरा सहयोग न मिल सका।

मन से अपनी दयनीय दुर्दशा का वर्णन करना चाहिए। परमात्मा का राजकुमार सकल साधनों से सम्पन्न

इस प्रकार दीन-हीन, निन्दित, तिरस्कृत, असफल, असहाय बना फिरे यह कितने दुःख की बात है। यह दुर्दशा केवल एक ही कारण से हुई है कि गाड़ी के दो पहियों में सहयोग नहीं रहा। आत्मा की गौरवशाली वर्चस्व की उपलब्धियों के लिए यह जीवन मिला है। यदि मन साथ दे तो महामानव की गरिमामयी स्थिति में प्रकाश और उल्लास भरा जीवन अब भी जिया जा सकता है। जो गया सो बहुत था पर जो बचा है सो भी कम नहीं। यदि उतने में भी परस्पर सहयोग रह सके तो अभी भी उतना अवसर है कि अभिशाप को वरदान में बदला जा सके।

मन कुचाल छोड़, इन्द्रिय लिप्साओं में भटकना छोड़। वासना आग की तरह है, भोग उपभोग से यह शान्त होने वाली नहीं है। इन्हें तृप्त करने के जितने ही साधन जुटायेगा उतनी ही अतृप्ति भड़केगी। फिर उनके कुचक्र में जितना ही फँसा जाय उतनी ही क्षमता, आयु, प्रतिभा घटती है। क्षणिक चटोरेपन के पीछे समर्थता की सम्पत्ति को गँवाने और दिन-दिन दुर्बल होते जाने से क्या लाभ ? बता मन, तू कोयलों के ऊपर मुहरे निछावर करने में क्या बुद्धिमत्ता अनुभव कर रहा है ?

आत्मा रोती-बिलखती रही, उसके सन्तोष, उत्थान, कल्याण के लिए एक कदम नहीं बढ़ाया गया, एक प्रयत्न नहीं किया गया। अन्तरात्मा की सहचरी सत्यवृत्तियाँ कुम्हलाई, मुरझाई और सूख गई। उन्हें सींचने के लिए एक लोटा पानी नहीं डाला जा सका। सद्भाव के बालक अपने पोषण की पुकार करते रहे उनकी आवश्यकताएँ जुटाने से मुँह मोड़े रहा गया, पर दुर्बुद्धि, दुष्प्रवृत्ति और दुर्भावनाओं के पोषण के लिए तरह-तरह के साज-संराजम जुटाये जाते रहे। परिवार का पोषण, विकास करना पर्याप्त था। पर उन्हें विलासी और धन कुबेर बनाकर छोड़ जाने के मोह से सारी ममता उन्हीं पर उँडेल दी गई। उन्हें ही अपना समझा गया। जो कुछ किया जाय उन्हीं के लिए जो कुछ सोचा जाय उन्हीं के लिए, सम्पन्न बनाया जाय तो उन्हीं को, समृद्ध बनें तो वे ही। उस छोटे से दायरे में अपनी सारी ममता समेटकर मन तू ठगा गया। इस मोहग्रस्तता ने लोक भी बिगाड़ा और परलोक भी। बता मन तू इसी चाल पर कब तक चलता रहेगा ? विश्व परिवार की ओर से कब तक आँखें बन्द कराये रहेगा ?

मन तू शरीर का मित्र बना और आत्मा का शत्रु। शरीर को ठाठ-बाट जुटाने में, बड़प्पन दिलाने में, सत्ताधारी बनाने में लगा रहा, उसी के ताने-बाने बुनता रहा। पर इससे मात्र अहंकार बढ़ा। शरीर पर चिन्ता का भार बढ़ा और इस गधे पर इतना बोझ लादा कि कमर

ही टूट गई। बाहर वाले बड़प्पन देखकर चौंधियाते जरूर हैं पर भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला पड़ा है। मन तू खुद भी मरा और अपने मित्र शरीर को भी मारा। यदि तू आत्मा का मित्र बन गया होता और जितना श्रम शरीर के लिए किया है उतना आत्मा के लिए करता, तो आनन्द आ जाता। आत्मा ऊँची उठकर परमात्मा बन जाती और तू यशस्वी होता, धन्य हो जाता। पर हाथ रे कुचाली, तू तो रूठा ही बैठा रहा, उल्टा ही चलता रहा, घर को खोखला किया और अपनों को चौपट कर दिया। जिन विरानों को अपना सब कुछ समझ रहा था, उनकी करतूतें तो देख—अहसान मानना तो दूर, अधिक शोषण के लिए उतावले और कृतघ्नता से बावले बने फिर रहे हैं। तेरे सारे प्रयास एक तरह से निरर्थक और निष्फल ही चले गये।

जीवन लक्ष्य की बात सोचने के लिए तुझे फुरसत ही नहीं मिली। कर्तव्य का ध्यान कभी आया ही नहीं—ईश्वर के दरबार में जाकर लेखा-जोखा देना पड़ेगा, यह कभी सूझा ही नहीं। स्वार्थपरता की संकीर्ण परिधि में कीचड़ के कीड़े की तरह कुलबुलाता, बिलखता रह गया अभाग। अपने को ज्वलन्त दीपक की तरह प्रकाशवान बनाकर सबको प्रकाश देता और स्वयं प्रकाशपुंज कहलाता। यह मार्ग तुझे क्यों नहीं सूझा ? विश्व भगवान की सेवा-साधना के लिए भीतर से हुलास क्यों नहीं उठा। पत्थर के टुकड़ों पर सिर पटककर ईश्वर भक्ति की विडम्बना तो रचता रहा पर प्रेम के अमृत की एक बूँद भी सच्ची भक्ति के रूप में कभी नहीं उपजी। आस्तिकता का कलेवर ओढ़े फिरने वाले नास्तिक बता तेरी इस बाल-क्रीड़ा से ईश्वरीय अनुग्रह का एक कण भी कैसे मिल सकेगा ?

भूलें बहुत हो चुकीं। बहुत क्या यों कहना चाहिए कि अब तक का सारा जीवन भूल-भुलैया में भटकते हुए ही बीत गया। जब वस्तुस्थिति पर विचार आता है हानि का लेखा-जोखा सामने आता है, तो छाती फटती है। जितना समय, श्रम और प्रयत्न मृग तृष्णा में भटकते बीता यदि वह सही दिशा में, राजमार्ग पर चलने में लगा होता तो अब तक कितनी मंजिल पार हो गई होती। कितने ऊँचे पहुँचे होते, कितने आगे बढ़े होते। पर कोल्हू के बैल की तरह—बालू में से तेल निकालने की तरह हाथ कुछ नहीं आया। खीज, क्षीणता, जलन और पछतावे के सिवाय इस भूल भरे मार्ग पर और मिलना ही क्या था ? सब कुछ गँवा बैठने पर भी तृष्णा और वासना के शूल अभी भी वैसा ही दर्द करते रहते हैं और चैन नहीं मिलने देते।

मन तेरे हाथ जोड़ते हैं, तेरे पैर छूते हैं, तेरे चरणों पर लोटते हैं, तू जीता हम हारे। पर अब कृपाकर रूठना छोड़ दे, कुचाल मत चल सही रास्ते पर आजा। आत्मा का बन, उसी के साथ रह, उसी की सहायता कर, उसी के काम आ। आखिर तू आत्मा का ही तो पुत्र है। माता के साथ दुष्टता—माया के साथ रासविलास। बच्चे इस रास्ते से पीछे लौट। बाप अब तो कृपा कर। तेरी शरण में आये शरणागत को अब और आगे मत सता। तू रूठना छोड़ दे, मन जाय तो, जीवन सन्ध्या की इन घड़ियों में ही अन्धकार को प्रकाश में बदला जा सकता है। देवता, अब तू प्रसन्न हो, वरदान दे तभी नाव पार उतरेगी अन्यथा अब डूबे-तब डूबे।

ऐसा चिन्तन, मनन हमें नित्य ही एकान्त में करना चाहिए। मन के साथ वार्तालाप करने का नाम ही मनन चिन्तन है। उसी को स्वाध्याय सत्सङ्ग की उच्च भूमिका भी कहते हैं।

अचेतन मन की व्याधियाँ और

उनका निराकरण

मृगी रोग से पीड़ित मनुष्य की कैसी दयनीय स्थिति होती है यह किसी से छिपा नहीं है। जब दौरा पड़ता है तो सारा शरीर विचित्र जकड़न एवं हड़कम्प की ऐसी स्थिति में फँस जाता है कि देखने वाले भी डरने, घबराने लगें। जहाँ सुरक्षा की व्यवस्था न हो वहाँ दौरा पड़ जाय तो दुर्घटना भी हो सकती है। सड़क पर गिरकर किसी वाहन की चपेट में आ जाने, आग की समीपता होने पर जल मरने की आशंका बनी ही रहती है। मस्तिष्कीय जड़ता के कारण बुद्धि मन्द होती जाती है और क्रिया-कुशलता की दृष्टि से पिछड़ता ही जाता है। दौरा पड़ने के बाद जब होश आता है तो रोगी अनुभव करता है मानो कई दिनों की बीमारी के बाद उठने जैसी अशक्तता ने उसे घेर लिया है। लोग सोचते हैं मृगी होने की अपेक्षा यदि एक हाथ-पाँव चला जाता तो कहीं अच्छा रहता।

मृगी क्या है ? इस सम्बन्ध में खोज-बीन करने पर इतना ही जाना जा सकता है कि यह अचेतन मन में पड़ी हुई किसी ग्रन्थि का अवरोध है। मस्तिष्कीय संरचना के बारे में बहुत कुछ खोज-बीन हो चुकी है। अचेतन मन के बारे में जो जाना जा सका है वह अति स्वल्प है, उस दिशा में अत्यधिक खोज-बीन किया जाना शेष है। इतना जाना जा चुका है कि शरीर में सोते-जागते जो स्वसंचालित गतिविधियाँ चला करती हैं उनका सूत्र संचालक अचेतन मस्तिष्क ही है। चेतन

मस्तिष्क का स्थूल अवयव भी है पर जहाँ सोचने-विचारने की गुंजाइश नहीं, वहाँ भी अचेतन मन की सत्ता काम करती है। रक्त संचरण, स्नायु समूह का आकुंचन-प्रकुंचन, श्वॉस-प्रश्वॉस, निद्रा-जागरण, पाचन, विसर्जन जैसी हलचलों में नियमित तारतम्य अनवरत और अविच्छिन्न रूप से बनाये रहने का कार्य अचेतन मन ही सम्पन्न करता है।

अचेतन मन में कई तरह के अवरोध-आघात, आकांक्षाओं के वेग को रोकने अथवा प्रतिकूलताओं के आघात अपमान से उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने पाये इसके लिए अध्यात्मवेत्ता यह उपदेश करते हैं कि मनोभूमि को भौतिक महत्वाकांक्षाओं एवं ललकों से मुक्त रखा जाय और सम्मुख प्रस्तुत कर्तव्यों को सही ढंग से पालन करने को ही महत्वाकांक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु बनाया जाय। इस प्रकार अनासक्त रहने की स्थितिप्रज्ञ जैसा समत्व बनाये रखने की ज्ञानयोग शिक्षा इसलिए दी जाती है कि परिस्थितियों के कारण आने वाले उतार-चढ़ावों को महत्व न दिया जाय, उनकी उपेक्षा की जाय और हर घड़ी सन्तुष्ट, प्रसन्न रहने का अभ्यास किया जाय, यदि इस स्तर की मनोभूमि प्रयत्नपूर्वक बनाई जा सकती है, इस प्रयत्नशीलता का नाम ही साधना है। साधनारत सौम्य, मनःस्थिति को उन आघात-अवरोधों का सामना नहीं करना पड़ता जिनके कारण मृगी जैसे अचेतन मन में उत्पन्न होने वाले रोगों की आशंका सामने आये।

मानसिक संतुलन में प्रत्यक्ष या परोक्ष अवरोध उत्पन्न होने से कई प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं इनमें विविध प्रकार की मृगी सदृश्य मूर्च्छाएँ भी सम्मिलित हैं।

अपस्मार, मृगी-एपिलेप्सी को पागलपन का, दिमागी खराबी का चिह्न नहीं माना जाना चाहिए। उच्चकोटि के बुद्धिमान व्यक्ति भी इस रोग से ग्रसित हो सकते हैं। नेपोलियन बोनापार्ट और जूलियस सीजर जैसी विश्वविख्यात हस्तियाँ भी इस रोग की शिकार रही हैं, उन्हें मृगी के दौर आते रहे हैं फिर भी उनकी बुद्धिमानि तथा मानसिक क्षमता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

यों डाक्टर लोग मृगी का कारण दिमाग पर चोट लगना, मस्तिष्कीय मज्जा में कोई छोटा घाव पड़ जाना, गर्दन तोड़ बुखार, मस्तिष्कीय सूजन-ऐनस-फलाइटिस-एनजियोयस-ट्यूमरआर्टीकियों, स्क्लेरोसिस आदि स्थानीय विकृतियाँ बताते हैं। कारणों की भिन्नता की भाँति ही उसके लक्षण भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। हर किसी को मृगी एक ही तरह की नहीं आती वरन् उनका स्वरूप एक-दूसरे से काफी भिन्न होता है। चीखना,

घिघियाना, काँपना, घबराना, मुँह से झाग डालना, दाँतों की भिच्ची लग जाना, हाथ और गर्दन का इठना, संज्ञा शून्यता, पुतली चढ़ जाना जैसे कितने ही प्रकार के उपद्रव होते हैं। कुछ रोगी तो गिर पड़ते हैं कुछ को ऐसा ही दौरा पड़ता है कि जो कार्य कर रहे हैं उसे ही करते रहें, जैसे चल रहे हैं तो दौरे की स्थिति में भी चलते ही रहेंगे, पर यह न सोच सकेंगे कि कहाँ चलने की और कहाँ रुकने, मुड़ने की आवश्यकता है।

मृगी के लक्षण के अनुसार उसका वर्ग-विभाजन पेटिटमाल, साइको मोटर, टेम्पोकललोव, क्राइज़ कन्वेलसन, त्रैथ होल्डिंग स्पाज़्म, फैब्राइल कन्वेलसन आदि नामों से किया जाता है। गर्दन तोड़ बुखार, सन्निपात, अतिताप जैसे ज्वरों से भी मृगी के दौरे उभर सकते हैं। शरीरगत रासायनिक विश्लेषण करने पर कुछ गहरी बात हाथ नहीं लगती। कुछ साधारण सी खराबियाँ भर हाथ लगती हैं जैसे—विटामिन डी. या कैल्शियम की कमी, रक्त शर्करा की न्यूनता के कारण संक्षोभ-हाईपग्लाइसीमिक रक्तगत विषाक्तता-ब्लडयूरिया आदि। पर यह शिकायतें लाखों रोगों की रहती हैं किन्तु उन्हें मृगी नहीं होती। इसलिए शरीर विश्लेषण में यह कमियाँ पाई जाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दौरे इन्हीं कारणों से आते हैं और यदि इन्हें ठीक कर लिया जाय तो दौरे पड़ना बन्द हो जायगा। ऐसी दशा में यह अँधेरे में टटोलना भर हुआ। शेर की माँद में यदि चुहिया भी बैठी पाई जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि चुहिया ही सिंह की जननी है। मृगी और मूर्च्छा दोनों रोग बाहर से देखने में एक जैसे लगते हैं पर उनमें मौलिक अन्तर होता है। हिस्टेरिया अवचेतन मस्तिष्क के आन्तरिक संघर्षों-अन्तर्द्वन्द्वों के कारण होता है। इसमें असामान्य विद्युतीय प्रभाव नहीं होता और न मस्तिष्कीय कणों में कहीं कोई रुग्णता पायी जाती है। इसलिए इसे भावनात्मक वर्ग का रोग माना जाता है। इसके विपरीत एपिलेप्सी मस्तिष्कीय संरचना में स्थानीय विकृति उत्पन्न होने के कारण होती है। उसे खोज निकाला जा सकता है। हिस्टेरिया में मुट्टियाँ जकड़ जाती हैं और दाँत भिच जाते हैं। जिसे दूसरे लोग मुश्किल से ही खोल पाते हैं। मुँह से झाग, मूत्रेन्द्रिय से पेशाब, आँखों से आँसू, नाक से कफ भी ऐसी स्थिति में निकल सकते हैं। किन्तु मूर्च्छा-एपिलेप्सी में मनुष्य सिर्फ होश-हवास ही खोता है और विग्रह- उपद्रव खड़ा नहीं करता। सिर दर्द की तरह यह स्थानीय रोग है और उसकी पकड़ यान्त्रिक परीक्षण

की पकड़ में आ सकती है पर अवचेतन की परतों में प्रवेश करके वस्तुस्थिति को समझना, निरूपण करना और उपचार खोजना मनोविज्ञान अथवा परामनोविज्ञान का विषय रह जाता है।

इलेक्ट्रो ऐंसीफलो ग्राफी (ई० ई० जी०) से मस्तिष्कीय विद्युत प्रवाह का प्रलेखन (ग्राफ) बनता है। इस रिकार्ड को देखकर ब्रेथ होल्डिंग स्पाज़्म, कोवल्, सवकार्टिकल, इडियोपैथिक, जैसी विकृतियों का पता चल सकता है, खोपड़ी का एक्सरे लेने से ट्यूमर, सूजन, ब्रण, क्षत आदि का पता चल सकता है। इनका उपचार भी हो सकता है। पर अवचेतन में दबी हुई? ग्रन्थियों को खोलने के लिये क्या किया जा सकता है ? क्या किया जाना चाहिए ? यह अभी निश्चित नहीं हो सका।

मस्तिष्कीय क्षति को पूरा करने के लिए आमतौर से चिकित्सक लोग फिनोबार्बीटोन, फिनी टाइन-सीडियम और प्रमिडोन सरीखी दवायें देते हैं। बड़े किस्म की मृगी-ग्रेडमल एपिलेप्सी में प्रायः इन दवाओं का प्रयोग होता है। छोटे किस्म की मृगी-पिटिटमाल में एथोसक्सी माइड-जारेडिन जैसी हल्की दवायें दी जाती हैं। इनसे नींद की झपकी सी आती है। वस्तुतः ये नींद की दवायें नहीं हैं, मस्तिष्क के भीतर इनका प्रभाव जो सनसनी उत्पन्न करता है, इसी से यह झपकियाँ महसूस होती हैं।

इन दवाओं का प्रयोग भी सर्वथा निरापद नहीं है। इनके कारण मसूड़ों का बढ़ना, टखनों के असन्तुलन से रक्त-सन्तुलन में गड़बड़ी जैसे उपद्रव उठ खड़े होने की आशंका बनी ही रहती है।

अब तक इस रोग के जो उपचार सामने आये हैं उन्हें प्रयोगात्मक ही कह सकते हैं। किस उपचार से किसे कितना लाभ हो सकेगा यह सर्वथा अनिश्चित है। इसका प्रमुख कारण एक ही है कि अचेतन मस्तिष्क की न तो संरचना ही अभी ठीक तरह समझी गई और न इस क्षेत्र में उत्पन्न विकृतियों का स्वरूप एवं उपचार ही निर्धारण किया जा सका। अँधेरे में ढेला फेंकते रहने पर भी कभी-कभी निशान ठीक बैठ जाता है ठीक उसी प्रकार मृगी का भी कभी-कभी कोई उपचार सफल हो जाता है।

किसी समय अचेतन मस्तिष्क का स्वरूप निर्धारण और उसका सुरक्षा सन्तुलन बनाये रखने के लिए अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञान का आश्रय लिया जाता था, फलस्वरूप इस प्रकार के रोगों का वर्णन केवल पुस्तकों तक ही सीमित था, उसके रोगी यदा-कदा ही देखने को मिलते थे। जब से भावनात्मक अवरोधों की जटिलता बढ़ती गई तब से अस्मार जैसे उन रोगों का प्रचलन

बढ़ता ही जा रहा है, जो प्रगति के पथ पर चढ़ान बनकर अड़े रहते हैं और चिकित्सकों की पकड़ में नहीं आते।

मनोविज्ञानी इस प्रकार के अचेतन मन के रोगियों को यह परामर्श देते हैं कि वे खुले मन से किस विश्वस्त मित्र के साथ वार्ता किया करें जिससे कोई दबाव-दुराव भीतर पड़े हों तो वे निकलकर बाहर आ जायें। मानसिक स्वच्छता को इस प्रकार के अवरोधों के निवारण का एक कारगर उपाय बताया जाता है और कहा जाता है कि ऐसे रोगियों को एकान्तप्रिय नहीं होना चाहिए और न अधिक सोचने-विचारने की आदत बनानी चाहिए। उन्हें हँसने-खेलने और प्रसन्नता-प्रोत्साहन के हल्के-फुल्के वातावरण में रहना चाहिए। किन्हीं के प्रति द्वेष, घृणा के भाव हों तो उन्हें निकाल देना चाहिए। भूतकाल की विपन्नताओं और भविष्य की आशंकाओं से मन को भारी नहीं रखना चाहिए। उपचार की दृष्टि से मनोविज्ञानवेत्ताओं ने मृगी के मरीजों को यही परामर्श अधिक उपयोगी पाया है और इस प्रकार के हेर-फेर का उत्साहवर्धक लाभ भी देखा है।

अध्यात्म विज्ञान का प्रधान प्रयोजन यही है कि परिस्थितियों को महत्व न देकर हर स्थिति में सन्तुष्ट और प्रसन्न तथा कर्तव्य करने की मनोवृत्ति विकसित की जाय। हँसती-खेलती और हल्की-फुल्की जिन्दगी जीने का अभ्यास किया जाय। पर यह सब हो तभी सकता है जब इसके लिए अध्यात्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि को गहराई के साथ समझा और अपनाया जाय। मात्र उपचार की दृष्टि से उथला सन्तुलन बालू का महल ही बना रहता है और बनाने में देर नहीं लगती है कि बिगड़ना आरम्भ हो जाता है।

उच्चस्तरीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाया न केवल मृगी के रोगियों के लिए वरन् समस्त मानसिक रोगियों के लिए यहाँ तक कि शारीरिक रुग्णता से ग्रसित लोगों के लिए भी उपयुक्त है। इस दिशा में बढ़ते हुए कदम न केवल रोगमुक्त करते हैं वरन् समस्त आधि-व्याधियों की जड़ ही काटकर रख देते हैं।

मानसिक तनाव बुरा तो है ही, उपयोगी भी

प्रसिद्ध विचारक और चिन्तक डाक्टर वाल्टर टोपेल ने लिखा है कि ‘केवल मनुष्य ही रोता हुआ पैदा होता है, शिक्रयत करता हुआ जीता है और निराश मरता

है।’ यह उक्ति अधिकांश लोगों के जीवन में अक्षरशः सही सिद्ध होती है। अन्य प्राणियों के जीवन में न तो कोई परेशानी होती है न समस्याएँ। पर मनुष्य विचारशील और भाव-प्रवण होने के कारण छोटी-छोटी घटनाओं से भी प्रभावित होता है तथा उन पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। ये प्रतिक्रियाएँ अनुकूल कम होती हैं और प्रतिकूल अधिक।

समाज के प्रत्येक वर्ग में प्रत्येक स्थिति के व्यक्तियों का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि हर कोई कहीं न कहीं, किसी न किसी कष्ट या समस्या से पीड़ित है। निर्धन व्यक्ति अपनी गरीबी से पीड़ित है तो समृद्ध और किन्हीं कारणों से कोई भौतिक सुख-सुविधाओं से परेशान है तो कोई मानसिक शान्ति न मिलने से। आज के समय में तो ये समस्याएँ और भी अधिक जटिल हो गई हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ और भी नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न होने लगी हैं। आज की मशीनी सभ्यता ने मनुष्य के लिए जो नई समस्याएँ उत्पन्न की हैं उनमें प्रमुख है मानसिक तनाव। यो चिन्ताएँ, विक्षोभ, मानसिक दबाव और असफलता का दुःख सदा से मनुष्य को परेशान करते हैं, पर विगत कुछ दशकियों में मानसिक तनाव के कारण कई ऐसे रोग फैलने लगे हैं जिनका कारण शरीर में खोजे भी नहीं मिल पाया है। ऐसे रोगों को अंग्रेजी में ‘साइकोसोमैटिक’ रोग कहा जाता है। एक अनुमान के अनुसार अकेले अमेरिका में लगभग ६५ प्रतिशत रोगी इसी प्रकार के होते हैं। भारत में भी ऐसे रोगियों की संख्या बड़े शहरों के कुल रोगियों की संख्या से कभीब आधे इन्हीं रोगों से ग्रस्त होते हैं।

चिकित्सा-विज्ञान की नई-नई शोधों और उपचार पद्धतियों के बल पर कुछ दशकों में जहाँ कई पुरानी बीमारियों पर पूरी तरह नियन्त्रण प्राप्त कर लिया गया था, वहीं अब कुछ ऐसे रोग बड़ी तेजी से फैल रहे हैं, जिनका पहले कभी नाम भी नहीं सुना गया था। विशेषज्ञों के अनुसार उन रोगों को सभ्यता के रज्जरोग कहा जाता है। उनका कहना है कि मन पर पड़ने वाले दबावों और मानसिक तनाव के कारण ही रोग उत्पन्न होते हैं।

विज्ञान की भाषा में मन शरीर का कोई अवयव नहीं है। वैज्ञानिकों के अनुसार जिसे मन कहा जाता है वह मस्तिष्क की शक्तियों का ही एक विशिष्ट प्रकार से होने वाला प्रक्षेपण है। मनुष्य शरीर के द्वारा सम्पन्न होने वाली सभी गतिविधियों, क्रिया-कलापों का संचालन मन द्वारा होता है-यह तो सर्वविदित है। शरीर के द्वारा कुछ कार्य तो मनुष्य अपनी इच्छानुसार करता है जैसे-चलना, उठना,

बैठना, लिखना, पढ़ना आदि। इनके अतिरिक्त शरीर में कई ऐसी प्रक्रियाएँ भी चलती रहती हैं जिन पर मनुष्य अपनी इच्छानुसार नियमन नहीं कर सकता। जैसे—पाचन क्रिया, रक्त परिभ्रमण, हृदय स्पंदन, नाड़ी चलना आदि। इन प्रक्रियाओं का नियन्त्रण मस्तिष्क के जिस भाग द्वारा होता है उसे हाईपोथैलेमस कहते हैं। इस केन्द्र से चलकर स्नायु पथ के द्वारा अनैच्छिक गतिविधियाँ चलती हैं। इसके भी दो भाग हैं एक को पैरसिपैथेटिक कहा जाता है तथा दूसरे को सिंपैथेटिक। पहला पाचन, पोषण और शुद्धिकरण जैसे कार्य करता है तथा दूसरा भाग प्राणी को विशिष्ट परिस्थितियों से निपटने की क्षमता प्रदान करता है। तनाव या दबाव के समय मस्तिष्क का यह हिस्सा सक्रिय हो उठता है। जैसे—खतरा प्रस्तुत होने पर इसके कारण रक्तचाप बढ़ जाता है, दिल की धड़कन तेज हो जाती है, हृदय से अधिक रक्त प्रवाहित होने लगता है। भीतरी अवयवों से हटकर माँसपेशियों की ओर आने लगता है, रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है और शरीर में आड्रेनेलिन नामक रसायन भी प्रवाहित होने लगता है। यह सब परिवर्तन आसन्न संकटों से जूझने के लिए होते हैं। किन्तु जब साधारण-सी बातों को लेकर भी चिंतित हुआ जाने लगता है तो भी यही परिवर्तन होते हैं।

भावनाओं की शरीर पर क्या प्रतिक्रिया होती है? इसका यह एक छोटा-सा उदाहरण है। प्रकृति ने भावनाओं का शरीर से यह सम्बन्ध विशिष्ट उद्देश्य से जोड़ा है। वह उद्देश्य यह है कि प्राणी का शरीर परिस्थिति के अनुरूप ढल सके। कुछ और घटनाओं द्वारा भावनाओं की शरीर पर होने वाली प्रतिक्रियाओं को समझा जा सकता है। डर के कारण पेशाब छूट जाना, घबराहट से पसीना छूटना, चिन्ता के कारण भूख न लगना, गुस्से में होने पर चेहरा तमतमा उठना, परेशानी से नींद न आना और लज्जा के मारे लाल हो जाना, चेहरा झुका लेना आदि स्थितियाँ दर्शाती हैं कि भावनाओं का प्रभाव मनुष्य शरीर के रक्त प्रवाह और अन्दरूनी हलचलों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है।

पसीना छूटने से पता चलता है कि भावनाएँ शरीर की उन ग्रन्थियों को प्रभावित करती हैं जो पसीना छोड़ने का काम करती हैं। बहुत बुरी खबर सुनने या मानसिक आघात पहुँचने पर घबड़ा उठने के साथ मूर्च्छित तक हो जाने की स्थिति दर्शाती है कि मस्तिष्क का क्रिया-कलाप भी भावनाओं से प्रभावित होता है। यह सब स्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि परिस्थितियाँ भावना को जन्म देती हैं और भावनायें शारीरिक प्रक्रियाओं को। परिस्थिति विशेष से निपटने के लिए शरीर में होने वाले ये परिवर्तन

प्रकृति की बहुत ही उपयोगी व्यवस्था होती है।

परन्तु कई बार अकारण ही व्यर्थ की चिन्ताएँ होती हैं और उन स्थितियों में भी यही परिवर्तन होने लगते हैं। लम्बे समय तक यह स्थिति बनी रहे तो मनुष्य शरीर कई रोगों से आक्रांत हो जाता है। आधुनिक सभ्यता में जीवन-क्रम की तेज गतिशीलता और कदम-कदम पर प्रतिस्पर्धा की आपाधापी भी मस्तिष्क में मिथ्या आशंकाओं, भय और गुत्थियाँ को जन्म देती है। वैसी दशा में मस्तिष्क के आदेश से शरीर में वैसी ही प्रक्रिया होने लगती है जैसी कि वास्तविक संकट के समय होती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस तरह की प्रक्रियायें अपेक्षाकृत कम तीव्र होती हैं, परन्तु वे लम्बे समय तक चलती हैं। जब वास्तविक संकट सामने होता है तब तो ये प्रतिक्रियायें जितनी तेजी से शुरू होती हैं उतनी ही तेजी से संकट दूर हो जाने पर अपने आप समाप्त हो जाती हैं। लेकिन अवास्तविक और अमूर्त संकट से उत्पन्न प्रक्रिया भले ही तीव्र न हो पर धीमे-धीमे शरीर में चलती जाती है तथा उससे शरीर को नुकसान पहुँचता है। उदाहरण के लिए वास्तविक संकट उत्पन्न होने के कारण हृदय की गति बढ़ जाती है और संकट समाप्त होते ही पुनः स्वाभाविक स्थिति में आ जाती है किन्तु मनोकल्पित आशंका से हृदय गति कुछ तेजी से ही धड़कती है। ऐसी आशंकाएँ भी लम्बे समय तक चलती रहती हैं और हृदयगति भी निरन्तर बढ़ी हुई रहने लगती है जो शारीरिक व्याधि का रूप धारण कर लेती है। उपरोक्त ढंग से बढ़ी हुई हृदय की गति के रोग को 'टैकी कार्डिया' कहा जाता है।

इसी प्रकार संकट के समय मस्तिष्क रक्तप्रवाह को आमाशय से हटाकर ऊपरी माँसपेशियों की ओर मोड़ देता है। ऐसे क्षणों में मारे घबराहट के जो मितलाने लगता है और उबकाई आने लगती है। यह प्रक्रिया मिथ्या भय के कारण भी होती है और अवास्तविक भय के कारण भी यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। ऐसी स्थिति में खट्टी डकारें आना, जो मितलाना जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

यह सब लक्षण रोग के प्रतीक होते हैं और लगता है कि शरीर स्वास्थ्य में कोई खराबी आ गई है। परन्तु वास्तव में इनकी जड़ मन के भीतर होती है। व्यक्ति इस बात को नहीं समझता और मानसिक कारणों को यथावत् रखते हुए रोग की भी चिन्ता करने लगता है। जितना ही वह रोग के बारे में सोचता जाता है, उतना ही रोग बढ़ता नजर आने लगता है और दोहरी समस्या बन जाती है।

इस तरह के मानसजन्य रोगों की एक लम्बी सूची है और विज्ञान भी यह मानने लगा है कि ६५ प्रतिशत रोगों का कारण इस तरह की मानसिक अपरिपक्वता ही है। व्यक्तित्व में प्रौढ़ता का अभाव ही मानसजन्य शारीरिक रोगों का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो निरन्तर किन्हीं बातों को लेकर चिन्तित रहना, गलत-सलत आशंका-कुशंकाएँ करते रहना और व्यर्थ के बहम पालना मानवीय मस्तिष्क को आत्यांतिक तनावग्रस्त कर देते हैं। तनाव का बहुत अधिक बढ़ जाना ही इस तरह के रोगों का कारण बनता है।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि तनाव जीवन का एक अनिवार्य अंग है परन्तु वह सीमा से अधिक हो जाता है तो मस्तिष्क और शरीर पर बुरा प्रभाव डालने लगता है। सिएटल के वाशिंगटन विश्वविद्यालय में चिकित्सा विभाग के प्रधान डॉ. टॉमस होम्स ने हाल ही में लम्बे समय तक शोध अनुसंधान के बाद यह प्रतिपादित किया है कि सक्रिय जीवन व्यतीत करते हुए कोई भी व्यक्ति तनाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। उनका कहना है कि एक ही तरह की घटनाएँ अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग अनुपात से तनाव का कारण बनती हैं। उन्होंने ऐसी विभिन्न घटनाओं के लिए अंक निर्धारित किये और कहा कि एक वर्ष में २०० अंकों से अधिक तनावपूर्ण स्थितियों में स्वास्थ्य के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है।

डॉ० होम्स ने जीवन साथी की मृत्यु से लेकर रहन-सहन में परिवर्तन और यहाँ तक कि सोने की आदतों में बदलाव तक को तनाव का कारण बताया है। यह बात अलग है कि कौन व्यक्ति इन घटनाओं से कितना तनाव अनुभव करता है। इस प्रकार तनाव से पूर्णतया छुटकारा तो नहीं पाया जा सकता और न ही इसके लिए चिन्ता करने की कोई आवश्यकता है। परमात्मा ने मनुष्य के शरीर और मन को इस योग्य बनाया है कि वह दैनन्दिन जीवन में आने वाले तनाव को झेल सके। समस्या वहाँ उत्पन्न होती है। जब मनुष्य साधारण घटनाओं को भी आवश्यकता से अधिक महत्व देने लगता है। इस स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी सीमाओं और सामर्थ्यों को सही ढंग से पहचाने तथा उनके अनुसार अपना जीवन-क्रम बनाये। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. सोलिये के अनुसार अपनी सामर्थ्य के अनुसार तनाव झेलना स्वास्थ्य के लिए अच्छा ही है।

लेकिन सामर्थ्य से अधिक तनाव बढ़ता प्रतीत हो तो डॉ. सोलिये ने उसके लिए श्रम को सबसे बड़ा

उपचार बताया है अपने आपको व्यस्त रखना, अनेक प्रकार की समस्याओं के साथ-साथ मानसिक तनाव से मुक्त होने का भी अच्छा उपाय है। महत्वाकांक्षाओं और क्षमताओं में सामंजस्य भी तनाव की सम्भावना को बहुत कम कर देता है। अपनी स्थिति से ऊँचा उठने और उन्नति के चरम शिखर को छूने की इच्छा हर किसी में रहती है। निश्चित ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए पर उसके लिए अथैर्य या व्यग्रता से काम नहीं लेना चाहिए। सीढ़ी दर सीढ़ी ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। डॉक्टर सोलिये का यह भी कहना है तनाव से उत्पन्न शारीरिक व्याधियों से बचने के लिए व्यक्ति का आस्थावान होना भी आवश्यक है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने में किसी को आपत्ति भी हो सकती है, पर कम से कम अपने प्रति आस्था तो रखी ही जा सकती है।

अपने प्रति आस्थावान रहने के लिए आवश्यक है कि अपना सही-सही मूल्यांकन किया जाय। अपने को बहुत अधिक बढ़ाकर या बहुत अधिक घटाकर देखने वाले लोग तनाव तथा कुण्ठा के शिकार होते हैं। अतएव अपना वास्तविक मूल्यांकन करते हुए सामान्य और सहज जीवन जीना मन और तन दोनों को सशक्त बनाता है।

समस्याओं का समाधान

दृष्टिकोण के परिष्कार पर निर्भर

कोई आदमी अच्छा है या बुरा? यह उसकी आदतों का स्तर देखकर पता चलता है। ये आदतें कहीं बाहर से आकर नहीं चिपटतीं। मनुष्य की विचारणा और क्रिया ही दीर्घकालीन अभ्यास से स्वभाव का अंग बन जाती है।

विख्यात मनोविज्ञानवेत्ता विलियम जेम्स ने आदतों का विश्लेषण करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि किसी प्रक्रिया की बार-बार आवृत्ति से हमारे मस्तिष्क में एक मनोवैज्ञानिक खाँचा बन जाता है। उस कार्य अथवा विचार की आवृत्ति उस खाँचे को और गहरी करती रहती है। यह खाँचा जितना गहरा होता जाता है, मन को उससे विरत करना उतना ही कठिन लगने लगता है।

आदतों की उत्कृष्टता-निकृष्टता ही जीवन में उत्थान-पतन की परिस्थितियाँ रचा करती हैं। अच्छी आदतें अन्तरंग सहयोग की तरह हर जगह अनुकूलता प्रदान करती हैं। इसके विपरीत बुरी आदतें हमेशा अपने पालक के अनगढ़पन की चुगली करती फिरती हैं। बने बनाये कामों तथा मधुर सम्बन्धों में खटाई डाल देना इस दुष्प्रवृत्ति का प्रिय व्यसन है।

कुछ बुरी आदतें स्वभाव में जड़ जमाकर इतनी पक्की हो जाती हैं कि उनके दुष्परिणाम भुगतने वाला भी उससे अनभिज्ञ बना रहता है। उदाहरण के लिए, जो दाँतों से नाखून काटता रहता है, चाहे किसी रूप में, आमतौर पर 'नर्वस' समझा जाता है। जो सदा देर से कहीं पहुँचता हो, वह लोगों की नजर में स्वाथी और दूसरों का न ख्याल करने वाला होता है। टालमटोल करने वाला व्यक्ति अविश्वस्त माना जाता है, उसे कोई दायित्व वाला काम नहीं सौंपा जाता। यदि प्रयास किया जाय तो इन प्रवृत्तियों से मुक्ति भी पायी जा सकती है। अपने चिन्तन एवं व्यवहार में दैनन्दिन स्वयंमेव समीक्षा करते रहने से यह दुष्कर लगने वाला कार्य भी सम्भव हो सकता है।

मनुष्य उज्ज्वल भविष्य की मनोरथ कल्पनाएँ किया करता है। सुखमय जीवन का स्वप्न देखता है। उन्नति की योजनाएँ बनाता है। सफलता के सूत्र ढूँढ़ता है। लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए हर तरह की कोशिशें करता है। जब वह पीछे मुड़कर उपलब्धियों का मूल्यांकन करना चाहता है तो पता चलता है कि उसकी मनचाही योजनाएँ या तो मन में धरी रह गईं अथवा उनका क्रियान्वयन आधा अधूरा हो पाया। इससे इसे अपने पुरुषार्थ पर खीज भी आती है व आक्रोश भी। कारण ढूँढ़ पाने में वह सफल नहीं हो पाता।

असफलताजन्य खीज की प्रतिक्रियाएँ प्रायः दो अतिवादी स्वरूपों में अभिव्यक्त होती हैं। एक व्यक्ति अपने को नितान्त अयोग्य मानकर घोर निराशा में निमग्न हो जाता है एवं सारा दोष भाग्य, भगवान अथवा परिस्थितियों में मल्ले मढ़कर निश्चित हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में सफलता की सम्भावनाएँ क्रमशः धूमिल होती जाती हैं।

दूसरा वर्ग सफल व्यक्तियों का है। असफलता के कारणों की छानबीन करते समय इनका दृष्टिकोण सन्तुलित रहता है। अपनी गतिविधियों का पर्यवेक्षण निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह करने पर पता चलता है कि स्वयं के भीतर पल रहे अवांछनीय और अनुपयुक्त विचार ही असफलताओं का मूल कारण हैं।

आदतें क्रियात्मक नहीं मूलतः विचारात्मक होती हैं। अतः सुधार की प्रक्रिया बहिरंग के साथ अन्तरंग में भी चलनी चाहिए। चिन्तन और व्यवहार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिए सुधार-परिवर्तन के लिए दोनों मोर्चों पर समान रूप से तैनाती की आवश्यकता रहती है। इस उभयपक्षीय प्रयोजन की पूर्ति का सरल उपाय यह है कि विचारों को विचारों से ही काटा जाय। लब्धप्रतिष्ठ

मनश्चिकित्सक सर नार्मन विसेंट पील के प्रयोग इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं—

अपने एक मरीज का हवाला देते हुए सर पील ने लिखा है कि उस व्यक्ति का बचपन भयंकर गरीबी में बीता था। किसी सहायक की छत्रछाया नहीं थी। उन दिनों हुए कटु अनुभवों के कारण वह अधिक से अधिक पैसा कमाने और मालदार बनने की ओर प्रेरित हुआ। समय बीता और उसकी गणना धन-कुबेरों की श्रेणी में होने लगी। परन्तु इसी अवधि में एक ऐसी लत लग गई जो लाख कोशिश करने पर भी उसका पिण्ड नहीं छोड़ रही थी। होता यह था कि बात-चीत के सिलसिले में दो चार ऐसी कटु बातें उसके मुँह से बरबस निकल पड़ती थीं जिन्हें सुनकर सामने वाला व्यक्ति भीतर ही भीतर तिलमिलाकर रह जाता। बाद में उसे अपने इस कृत्य पर काफी पछतावा होता। यह लाचारी उसके लिए कई बार अच्छी-खासी परेशानी खड़ी कर देती थी। वह जानता था कि यह आदत उस समय की दुःखद स्मृतियों का परिणाम है जब निर्धनता के कारण उसे दर-दर की ठोकें खानी पड़ी थीं। यह पता होने के बावजूद उसका बस नहीं चलता था कि इस आदत से कैसे छुटकारा पाये।

नार्मन पील ने सारा इतिहास गौर से सुनने के बाद पूछा—‘यदि मैं कुछ परामर्श दूँ तो अमल में लाना पसन्द करेंगे।’ उसका स्वीकारात्मक उत्तर पाकर श्री पील ने सलाह दी कि वह तीन महीने तक अपनी आय का एक निश्चित अंश जरूरतमन्दों की सहायता पर खर्च किया करे। रोग का निदान बताने के बाद की प्रतिक्रियाओं का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—‘यह सुनते ही उसकी कृपण वृत्ति सजग हो उठी और वह पूछ बैठा कि निश्चित अंश की क्या सीमा है! मैंने कहा—‘दस प्रतिशत।’ उसने दुबारा प्रश्न किया टैक्स देने के बाद या पहले? मैं जानता था कि पैसे के प्रति उसका लगाव कंजूसी की हद तक है। ऐसी हालत में उसके लिए न्यूनतम निर्धारण से प्रारम्भ करना उचित है। यह तथ्य है कि एक बार दान देने की प्रवृत्ति जहाँ उसमें जगी, वह रुकेगा नहीं क्योंकि दान की प्रवृत्ति के साथ आय बढ़ाने की प्रवृत्ति भी जुड़ी है। यह सब विचार करके मैंने उसको समूची आय का दस प्रतिशत निकालते रहने के लिए कहा। इतनी छोटी रकम खर्च करना उसके लिए हँसी-खेल जैसा काम था। अपनी समस्या का ऐसा सरल समाधान सुनकर उसकी बाँछें खिल उठीं और सहर्ष यह नियम अपनाने का संकल्प उसने ले लिया। वह छोटी-सी शुरूआत उसके जीवन का अविच्छिन्न अंग बन गयी। उसने दान देना शुरू किया उसके फलस्वरूप दूसरों

का दिल दुखाने वाली बातें कहते रहने की उसकी आदत बहुत कुछ जाती रही।”

प्रयत्न, पुरुषार्थ की आवश्यकता ऊर्ध्वमुखी प्रयासों के लिए होती है। ढलान की दिशा में सहज प्रवाह होने की बात सबको विदित है। यही कारण है कि जिन कुटेबों को नगण्य समझकर नजरन्दाज किया जाता है, दीर्घकाल तक अभ्यास में सम्मिलित रहने पर वे स्वभाव में मजबूती से जड़ें जमा लेती हैं। ऐसी स्थिति में उनको संघर्ष करके हटा पाना सम्भव नहीं। लड़ाई का दृष्टिकोण निषेधात्मक है। लड़ना ही हो तो बुरे विचारों से लड़ना चाहिए। विकृत दृष्टिकोण से उत्पन्न होने वाला अन्तर्द्वन्द्व और भी जटिल समस्याएँ खड़ी करता है। सत्प्रवृत्तियों और सद्विचारों को दैनन्दिन अभ्यास में शामिल करना इसके लिए अचूक उपाय सिद्ध हुआ है। जैसे-जैसे अच्छी आदतों की मात्रा बढ़ेगी, बुरी आदतों की तरफ रुझान स्वयंमेव कम होने लगेगा। आदतों पर विजय पाने का यह तरीका सर्वोत्तम है।

सफलता संसार में सबकी इष्ट है। परन्तु दुनिया जिनको असाधारण कर्तृत्व के लिए याद करती है, वे इस तरह कोई अलौकिक वरदान लेकर अवतरित नहीं हुए होते हैं। हेनरी एडवर्ड्स ने अपनी किताब में ऐसे कुण्ठाहीन लोगों की सफलता का रहस्य बताते हुए कहा है—“ये सच्चे हृदय से अपनी हानियाँ तलाश करते हैं। अपनी कमियों, कमजोरियों को ईमानदारी से स्वीकार कर लेना बहादुरों का काम है। जिस तरह चतुर किसान अपनी फसल की निराई करता है तथा खर-पतवारों को निर्ममतापूर्वक उखाड़ फेंकता है, उसी तरह ये अपने व्यक्तित्व में सदगुणों की खेती करते हैं, असफलता से निराश नहीं होते। धैर्यपूर्वक प्रयत्नशील रहते हैं। रहस्य की बात तो यह है कि उनका परिष्कृत गुण, कर्म, स्वभाव सिफारिशी चिट्ठी की तरह हर जगह उनके लिए कामयाबी की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है।”

मन पृथक् नहीं है शरीर से

मन क्या है? शरीर से यह क्यों अभिन्न है? इसकी यदि विवेचना करनी हो, तो छान्दोग्योपनिषद् के ‘अन्नमयं हि सोम्य मनः’ (६/६/५) के स्वर में मिलते हुए यही कहना पड़ेगा कि यदि एक ही उपादान से दो प्रकार की सृष्टियाँ हो रही हैं, तो उन दोनों में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य है, भले ही आकार भेद के कारण यह तादात्म्य स्थापित न हो पा रहा हो, तो भी इतने से ही उसे अमान्य करने का कोई कारण नहीं। जल से भाप और बर्फ दोनों ही बनती हैं। दोनों के

आकार और रूप में भारी अन्तर है। एक स्थूलता का प्रतिनिधित्व करती है, तो दूसरी अपने सूक्ष्म अस्तित्व का बोध कराती है। इतने पर भी दोनों में कोई भेद है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनुकूल परिस्थिति मिलने पर वाष्प बर्फ बन सकती है और बर्फ भाप। शरीर और मन के सम्बन्ध में विज्ञानवादी विचारधारा भी अब ऐसी ही बनने लगी है और विज्ञानवेत्ता द्वैत से अद्वैत की वैदिक मान्यता की ओर लौटते प्रतीत हो रहे हैं। इस आधार पर वे मनोकायिक रोगों का निदान और उपचार ढूँढ़ पाने में सफल हुए हैं।

इस अभेदता को कुछ अन्य उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक पदार्थ और ऊर्जा के बारे में मान्यता थी कि वे दो पृथक् वस्तुएँ हैं। द्रव्य भी अनाशवान है और ऊर्जा भी अनश्वर है। दोनों नित्य हैं। ऊर्जा द्वारा पदार्थ संचालित होते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थ सत्ता पर ऊर्जा का कोई हस्तक्षेप नहीं।

सबसे पहले इस अवधारणा पर आइन्स्टीन के ऊर्जा सिद्धान्त ($E=mc^2$) ने आघात किया। उक्त सूत्र द्वारा उन्होंने यह सिद्धान्त सिद्ध कर दिया कि शक्ति और द्रव्य परस्पर परिवर्तनीय हैं। इस प्रकार पदार्थ और ऊर्जा के द्वैतवाद से चलकर अब हम उनके अद्वैतवाद तक पहुँच गये हैं। इससे उत्साहित होकर आधुनिक मनोविज्ञान ने अब एक नई घोषणा की है कि द्रव्य और मन दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। उनके अनुसार यह एक ही सत्ता की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध में अमरीका के राइस इन्स्टीट्यूट में महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुए हैं। उनमें अपने अनुसंधान के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि मानस तत्त्व और भौतिक तत्त्व दो नहीं, एक हैं। विज्ञानवेत्ता मन और पदार्थ को पहले अलग मानते थे, पर हाल के अन्वेषणों ने अब उन्हें यह स्वीकारने के लिए बाध्य कर दिया है कि दोनों एक ही चेतना के दो रूप हैं। ‘न्यू फ्रण्टियर्स ऑफ माइण्ड’ नामक पुस्तक में विद्वान लेखक ने इस सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि ऐसी बात नहीं होती, तो मन का पदार्थ पर जो प्रभाव दिखाई पड़ता है, वैसा कुछ देखा-सुना नहीं जाता और पदार्थ सत्ता मन से सर्वथा अप्रभावित बनी रहती, पर व्यवहार में ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। मन में यदि कोई संकल्प बार-बार उठता है, तो वस्तु को वह इच्छानुरूप प्रभावित करने में सफल होता है। छुरी एवं चम्मचों को टेढ़ाकर देना अथवा तोड़ देना जैसे प्रदर्शन वस्तुतः इसी संकल्प बल के करिश्मे हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण समझाते हुए ग्रन्थकार ने मत व्यक्त किया है कि मन में जब भी कोई संकल्प

उठता है, तो वह यथावत् चेतना के समुद्र में संचारित हो जाता है और निर्दिष्ट वस्तु जहाँ कहीं भी होती है, उस तक वह निर्विघ्न पहुँच जाता है। चूँकि इस संसार के प्राणी और पदार्थ सब एक ही महत् चेतना के अंशधर हैं, इसलिए मन में उठे संकल्प का परिपालन पदार्थ चेतना आसानी से करने लगती है। जब पदार्थ चेतना पर संकल्प शक्ति क्रियान्वित होती है, तो फिर इच्छानुसार प्रभाव और परिवर्तन भी आरम्भ हो जाता है। इसकी पुष्टि के लिए उनने अनेक प्रयोग किये। उदाहरणार्थ, एक प्रयोग ताश खेलते लोगों के बीच किया। खेलने वालों में से एक व्यक्ति को यह निर्देश दिया गया कि वह अमुक पते के अपने पास आने का बार-बार विचार करे। बाद में जब उसका प्रतिशत निकाला गया, तो प्रयोगकर्ता यह देखकर हैरान रह गये कि ताश का वह पता सौ में से सत्तर बार उसके पास आया था। शेष तीस मौकों पर वह अन्य खिलाड़ियों के हाथ लगा। इसका अर्थ स्पष्ट था कि विचार का वस्तु पर प्रभाव पड़ता है।

यह सब प्रयोग हमें मन और पदार्थ के बीच की द्वैतता को मिटाकर अद्वैतता की ओर ले जा रहे हैं। पिछले दिनों शरीर और मन की अद्वैतता पर भी काफ़ी अध्ययन, अनुसंधान हुए हैं। चिकित्साशास्त्री अब यह मानने लगे हैं कि बहुत से रोग मन से सम्बन्धित होते हैं। उनका कोई दृश्य भौतिक कारण न होने के बावजूद भी वे अपना अस्तित्व बनाये रहते हैं, क्योंकि वे मानसिक मूल के होते हैं। वे इसे स्वीकारने लगे हैं कि जब कभी मनःक्षेत्र में विप्लव अथवा संघर्ष पैदा होता है, तो शरीर पर उसका दुष्प्रभाव व्याधि के रूप में सामने आता है। उदरव्रण (पेप्टिक अल्सर), उच्च रक्तचाप आदि रोगों का अध्ययन कर चिकित्सकों ने इस बात का पता लगाया है कि वे सब मन से सम्बन्धित हैं। अनेक प्रकार की शारीरिक पीड़ाओं को, यहाँ तक कि दाँत और हड्डियों के दर्द तक को उन्होंने मन से सम्बन्धित पाया है। ऐसी स्थिति में उनका मानसिक इलाज ही वास्तविक रोगोपचार साबित हो सकता है, किन्तु मानसिक मूल वाले बीमारों के सम्बन्ध में यह कहना उचित न होगा कि वे मात्र काल्पनिक व्याधि के शिकार हैं। यदि किसी की पीड़ा मनः कायिक स्वरूप वाली है, तो यह मान लेना कि रोगी केवल काल्पनिक दर्द में जी रहा है, वास्तविक पीड़ा उसे हो ही नहीं रही है, गलत होगा। शरीरवेत्ताओं की इस सम्बन्ध में जो मान्यता है, वह यह है कि निषेधात्मक मानसिक वृत्तियों के कारण स्नायुसंस्थान और शरीर तंत्र विकारग्रस्त होने लगते हैं, जो अंग विशेष में, रोग के कारण बनते हैं, ठीक वैसे ही जैसे जीवाणुओं और विषाणुओं के कारण वे उत्पन्न हुए हों।

व्याधि तो हर हालत में सत्य ही होती है। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि शरीर और मन के बीच द्वैत नहीं, अद्वैत स्थिति है।

तो क्या मनःशास्त्रियों का यह कहना उचित है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मन को नीरोग रखना पड़ेगा? 'हाँ' वर्तमान अध्ययन इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है, किन्तु वास्तविक तथ्य को हम भूलते जा रहे हैं और उसकी अपेक्षा मूल की जगह पते का उपचार कर रहे हैं। चिकित्सालयों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है, पर इस बात की ओर तनिक ध्यान नहीं जाता कि काया की तरह मन स्वस्थ रहे। कायिक बीमारियों का उपचार हो, यह अच्छी बात है पर यह भी कोई कम तथ्यपूर्ण नहीं है कि कई रोगों की जड़ें मन में घुसी रहती हैं, अतः मन को भी सबल-सशक्त बनाने का उपाय किया जाय। यदि ऐसा नहीं हुआ और भौतिक कारणों उपचारों पर ही अधिकाधिक केन्द्रित रखा गया, तो फिर इस क्षेत्र में पश्चिमी देशों जैसी स्थिति पैदा होते देखने लगेंगी। वहाँ जिस दर से मानसिक विकृतियाँ पैदा हुई हैं, उसी अनुपात में नये-नये कायिक रोग भी उत्पन्न हो रहे हैं, किन्तु पश्चिमी चिकित्सक उनका इलाज भौतिक मानकर ही करते रहे, फलतः बीमारियाँ अब नये रूप में नूतन, प्रकार से वहाँ प्रकट हो रही हैं। ऐसी व्याधियों को अंग्रेजी में 'कम्पलसिव ऑब्सेसिव डिसिजेज' कहते हैं।

भौतिकता के साथ-साथ मानसिक व्याधियाँ बढ़ती हैं। पश्चिमी देशों की सम्पन्नता को देखकर इसका अन्दाज आसानी से लगाया जा सकता है, साथ ही पहाड़ी अंचलों में रहने वाले वनवासियों अथवा अनपढ़ ग्रामीणों को देखकर इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि किस प्रकार धार्मिक मान्यताओं में जीने वाला व्यक्ति मन से स्वस्थ और शरीर से सबल होता है। अग्रद्वारा, अविश्वास, आशंका, भय, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष जैसे अधार्मिक तत्वों की बढ़ोत्तरी प्रगतिशीलता के नाम पर व्यक्ति के अन्दर ज्यों-ज्यों होती जाती है, वैसे ही वैसे इस बात की संभावना बढ़ती जाती है कि वह मानसिक विकृति के क़रीब पहुँचता चला जा रहा है। इसी तथ्य की स्वीकारोक्ति प्रो. ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'साइन्स एण्ड इण्डिविजुअलिटी' में की है। वे लिखते हैं कि यद्यपि इसे वे वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं कह रहे हैं, फिर भी वह सत्य है कि जो लोग धार्मिक परम्पराओं के अन्दर जीते हैं, उनमें मानसिक आधियों की न्यूनता होती है। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि धर्मधारणा के अन्दर कोई ऐसा निवारक तत्त्व, कोई ऐसी स्वास्थ्यकारी शक्ति है, जिसके द्वारा मानस रोग कम हो

२.८८ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

जाते हैं। उनका कहना है कि एक वैज्ञानिक के नाते वे बस इतना ही कह सकते हैं किन्तु यदि किसी को यह जानना हो कि धर्म किस प्रकार मन और फिर उसके द्वारा शरीर को प्रभावित करता है, तो धार्मिक लोगों को धर्म का अध्ययन और अनुसंधान करना पड़ेगा।

यही कारण है कि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत में अब भी मानसिक रोगियों की संख्या कम है। यह और बात है कि अपना देश भी अब यूरोपीय सभ्यता से अप्रभावित नहीं रहा, किन्तु उस प्रभाव के पीछे भी एक प्रच्छन्न धार्मिकता यहाँ के लोगों में अब भी देखी जा सकती है, कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि यहाँ के प्रगतिशीलों में भी धार्मिकता अब भी न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर हो जाती है। जहाँ जिस अनुपात में यह होती है, उनका भाव और आस्था क्षेत्र उतना ही मजबूत होता है। इस कारण वे मनोविकारों के उतने ही कम शिकार होते हैं। मन स्वस्थ रहा, तो काया भी नीरोग बनी रहती है।

मानसिक रोगों का एक कारण मनोविज्ञानी आत्म-केन्द्रित होना बताते हैं। व्यक्ति जितना आत्मकेन्द्रित होगा, उतनी ही मानस रोग एवं शारीरिक रोग की संभावना उसमें बढ़ जायेगी। संभवतः इस तथ्य से हमारे प्राचीन ऋषि परिचित रहे होंगे। इसलिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे सिद्धान्त वाक्यों के पीछे उनका एक भाव व्यक्ति और समाज को आत्मकेन्द्रित होने से बचाना भी होगा, ताकि स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति और समाज की रचना की जा सके।

इस प्रकार मन कायिक रोगों की उत्पत्ति भी इसी बात को सिद्ध करती है कि देह और मन परस्पर अभिन्न हैं। इस बात को जितनी जल्दी समझा जा सकेगा, उतनी ही जल्दी रुग्ण मन के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों से बचा जा सकना और स्वस्थ रहना सम्भव हो सकेगा।

मनोभावों का स्वास्थ्य पर प्रभाव

मनुष्य शरीर की सारी गतिविधियों और क्रिया-कलापों का संचालन मस्तिष्क द्वारा होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी इच्छा, आकांक्षा, विचार, भावना और संकल्प मस्तिष्क से ही उठते हैं तथा उन्हें पूरा करने की योजना बनाने का कार्य भी उसी के जिम्मे आता है। मस्तिष्क शरीर का प्रशासक, नियंता, संचालक और निर्देशक है तो स्वाभाविक ही है कि उसकी स्थिति दशा का प्रभाव शरीर पर भी पड़े।

प्रशासक यदि अयोग्य और अकुशल होगा तो व्यवस्था भी गड़बड़ायेगी ही। संचालक के हाथों हुई किसी भी गलती का प्रभाव उसके अधीन क्षेत्र पर भी पड़ता है। आधुनिक मनोविज्ञान इस दिशा में कई महत्वपूर्ण खोजें कर चुका है और इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है, जिनका प्रतिपादन प्राचीनकाल में महर्षियों ने किया था।

मनोभावों का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? इस दिशा में कई प्रयोग हुए हैं। पिछले दिनों अमेरिका के न्यूयार्क शहर में रहने वाला एक युवक एलेक्सी सेंट मार्टिन अपने एक मित्र द्वारा असावधानी से चल गई बन्दूक के कारण घायल हो गया। गोली पेट में लगी थी और पेट में दो इंच व्यास का छेद हो गया था। लगता था कि बचना मुश्किल है, फिर भी डॉ. विलियम बोमोर्ट नामक एक चिकित्सक ने उसे बचाने का भरसक प्रयास किया। डॉ. बोमोर्ट के प्रयासों से मार्टिन की प्राण रक्षा तो हो गई पर, पेट के भीतर वह सूराख बना रहा। उसके पेट की बाहरी और आंतरिक त्वचा तो जुड़ गयी, पर पेट के भीतरी अंगों में ऐसा विकार आ गया जिससे कि उसका खाया हुआ भोजन साफ दिखाई देता था।

डाक्टर बोमोर्ट ने मार्टिन की पर्याप्त सहायता और देखभाल की, उसे अपने साथ भी रखा ताकि वह भोजन की पाचन प्रक्रिया को उसके पेट में देखकर अध्ययन कर सके। डाक्टर बोमोर्ट ने मार्टिन पर कुल मिलाकर २८३ प्रयोगात्मक अध्ययन किये और उन प्रयोगों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में बताया गया है कि पेट के सब से अन्दर की पर्त लाल, गुलाबी मखमल सी दीखती है और वह श्लेष्मा से ढकी रहती है। ज्यों ही मुँह में भोजन रखा जाता है यह पर्त और भी अधिक सुर्ख गुलाबी रंग की हो जाती है और श्लेष्मा से एक तरल पदार्थ स्रवित होने लगता है, जो आमाशय में जमा हो जाता है। भोजन जब आमाशय में पहुँचता है, तो श्लेष्मा और सिकुड़ने लगती है। फलतः वहाँ अधिक तरल पदार्थ जमा होने लगता है।

यह तरल पदार्थ भोजन को अपने से लिपटाकर उसे गलाने लगता है। एक प्रयोग के दौरान मार्टिन को गुस्सा दिलाया गया। गुस्से की हालत में ही मार्टिन ने भोजन किया। ऊपर डॉ. बोमोर्ट परीक्षण करते रहे। उन्होंने देखा कि प्रयोग के दौरान रोगी मार्टिन को गुस्सा आने पर भोजन पचाने में अधिक समय लगा। डॉ. मोर्ट के इन निष्कर्षों की पुष्टि अन्य वैज्ञानिकों ने भी की है और बताया है कि उत्तेजित मनःस्थिति में किया गया भोजन

स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। खासतौर से पाचन संस्थान पर तो उसकी तुरन्त ही प्रतिक्रिया होती है।

न केवल उत्तेजना वरन् निराशा, घृणा, उदासी, ईर्ष्या, द्वेष और तनावग्रस्त मनःस्थिति भी पाचन क्रिया को प्रभावित करती है। यदि ये मनोविकार देर तक टिके रहें, तो पेट के रोग यहाँ तक कि अल्सर भी हो सकते हैं। डॉ. जैक्सन का तो यहाँ तक कहना है कि पेट सम्बन्धी सभी रोग अस्त-व्यस्त मनः स्थिति के कारण होते हैं।

अल्सर के फोड़े प्रायः पक्वाशय (ड्यूओडेनम) में होते हैं, जो छोटी आँत का वह भाग है जिससे पेट की धुरी दूसरे सिरे से जुड़ी रहती है। तनावग्रस्त या निराशा, उद्विग्न मनःस्थिति में पेट की लहरार सिकुड़न की गति बढ़ जाती है। फलतः पेट के भीतर विद्यमान खाई हुई वस्तुएँ तथा अन्य रस पक्वाशय में आ जाते हैं। पेट की भीतरी पर्त तो श्लेष्मा द्वारा सुरक्षित रहती है पर पक्वाशय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती। उत्तेजित और उद्विग्न रहने के कारण जब उपरोक्त प्रक्रिया बार-बार सम्पन्न होती है तो पक्वाशय की भीतरी पर्त कई स्थानों से छिल जाती है और वहाँ फोड़ा बन जाता है। अल्सर के फोड़े पुरुषों को प्रायः ३० से ४० की आयु के बीच होते हैं। ज्ञातव्य है जीवन का संघर्ष काल भी यही है। इसी वर्ग के लोग महत्वाकांक्षी होने के साथ साथ अहंमन्य भी होते हैं। अहंमन्यता के विपरीत कहीं कोई बात होती दीखी और सन्तुलन डगमगाया अथवा असन्तुलन स्वभाव का एक अंग बन गया तो अल्सर के अलावा और भी कई रोग इसी उम्र में आ घेरते हैं।

उदाहरण के लिए रक्तचाप और हृदय रोगों को ही लो। किसी भी उत्तेजनापूर्ण स्थिति में हृदय की धड़कन बढ़ जाना, साँस तेजी से चलने लगना, रक्त का दौरा तेजी से होने के कारण शरीर का गर्म हो जाना आदि बातें तो प्रत्यक्ष अनुभव की जा सकती हैं। यद्यपि ये सब व्यवस्थाएँ प्रकृति ने मनुष्य की रक्षा के लिए ही की हैं ताकि किसी संकट के समय शरीर के यह महत्वपूर्ण अंग पूरे शरीर की रक्षा करने में तत्परतापूर्वक सक्रिय हो जायें। परन्तु उत्तेजना जब व्याधि विकार की तरह बन जाती है, तो उसकी प्रतिक्रिया भी बार-बार शरीर के उन अंगों को उत्तेजित करती है और परिणामतः स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

उतावली और हड़बड़ी में रहने की प्रवृत्ति प्रायः इन रोगों की जननी होती है। कामकाज निबटाने में उतावली से काम लेना और आराम करते समय भी कामकाज की चिन्ता इन रोगों का स्वागत करती है। कुछ वर्षों पूर्व आयरलैण्ड में जन्मे ५७५ जुड़वाँ बच्चों पर

तुलनात्मक अध्ययन किया गया। बाद में दो जुड़वाँ भाइयों में से एक को अमेरिका के बोस्टन शहर में ले जाया गया। जो वहाँ कुछ महीनों तक रहा। दोनों भाइयों को एक समान भोजन दिया गया, एक समान काम दिया गया लेकिन बाद में पाया कि बोस्टन में रहने वाला भाई डबलिन (आयरलैण्ड) में रहने वाले भाई की अपेक्षा हृदय रोग के दौरे की सम्भावना से ज्यादा ग्रस्त है। यह उस स्थिति में जबकि डबलिन वाला भाई अधिक घण्टे तक काम करता था और अपने दूसरे भाई से ज्यादा मोटा भी था। अन्तर केवल इतना ही था बोस्टन वाला भाई अपना काम करते समय उतावली और हड़बड़ाट बरतता था जबकि डबलिन वाला भाई अधिक काम करता था।

यों हृदय का दौरा अकस्मात् ही पड़ता है। परन्तु यह रोग कोई अचानक पैदा न हो जाने वाली बीमारी नहीं है। प्रसिद्ध हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. जे. बर्नार्ड के अनुसार यह बीमारी लम्बे समय तक यहाँ तक कि कभी-कभी २० वर्ष तक पनपती और बढ़ती रहती है। अनुमान लगाया गया है कि आधुनिक सभ्यता की यांत्रिक दौड़ जैसे-जैसे तीव्र होती जायेगी, वैसे-वैसे रक्तचाप और हृदय रोगों का आक्रमण बढ़ता जायेगा।

इन रोगों से बचाव के लिए डॉ. जे. बर्नार्ड ने कहा है, आप चाहे रोगी हों या न हों, रोगी हों तो स्वस्थ होने के लिए अथवा रोगी न हों तो इस रोग से बचने के लिए आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता द्वारा प्रदत्त जीवन-दर्शन बदला जाय। बहुत हबड़-दबड़, भाग-दौड़, व्यग्रता, उतावली और तीव्र मानसिक संवेगों से बचा जाय। जैसा जो कुछ जीवन में है, उसे स्वीकार किया जाय और सुनियोजित, शान्त ढंग से उन्नति के लिए प्रयास किये जायें। परिवर्तन या उन्नति के लिए शारीरिक अथवा मानसिक बोझ उठाना हर दृष्टि से हानिकारक ही है।

पाचन संस्थान, रक्तचाप और हृदय रोग ही नहीं सिरदर्द जैसा साधारण रोग भी प्रायः मानसिक असन्तुलन के कारण ही होता है। डाक्टरों का कहना है कि सिरदर्द की शिकायत करने वाले ९० प्रतिशत रोगी केवल मानसिक तनाव के कारण सिरदर्द से पीड़ित होते हैं। एक अध्ययन में रोगियों से कहा गया कि जब भी उन्हें सिरदर्द हो तब वे उस स्थिति को नोट करें, जो कि सिरदर्द होते समय थी। इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर कहा गया कि सभी रोगियों को उसी स्थिति में सिरदर्द उत्पन्न हुआ जिसमें कि उन्होंने दुःख अनुभव किया।

दुःखोत्पादक भावनाओं के कारण गर्दन और सिर की मांसपेशियों में ऐंठन होती है और यह ऐंठन ही सिरदर्द के रूप में अनुभव होती है। इस अध्ययन के दौरान खास तौर से यह नोट किया गया कि ऐंठन का कारण कोई शारीरिक या मानसिक श्रम नहीं था वरन् उद्वेग अथवा दुःख की अनुभूति के परिमाण से ही ऐंठन होती थी। शरीर शास्त्रियों के अनुसार सिरदर्द का मस्तिष्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मस्तिष्क के चारों ओर खून ले जाने वाली शिराएँ ही सिरदर्द को जन्म देती हैं। तनाव अथवा दुःखोत्पादन भावनाओं के समय यह नलिकायें फैल जाती हैं। इस फैलाव को कभी-कभी कनपटी की त्वचा पर हाथ रखकर भी अनुभव किया जा सकता है। मांसपेशी की ऐंठन से होने वाला सिरदर्द इन नलियों के ज्यादा सिकुड़ जाने से होता है।

माइग्रेन भी सिरदर्द का एक प्रकार है। यह सिर के एक तरह ही होता है। कई बार इसका आक्रमण होने पर जी मिचलाने, उल्टी होने तथा आँखों से ठीक-ठीक न दिखाई देने की शिकायत भी होने लगती है। डाक्टरों के अनुसार माइग्रेन का हमला उन लोगों पर ज्यादा होता है जो स्वयं ही स्थिति आस-पस की परिस्थितियों से बहुत अधिक असंतुष्ट या लगभग क्षुब्ध रहते हैं। स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति में मानसिक तनाव उत्पन्न होता है और रोग हमला कर बैठता है।

चिन्ता, तनाव, निराशा, हताशा, उद्विग्नता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावनाएँ मन में क्षोभ और शरीर में रोग उत्पन्न करती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्रकृति ने शरीर में ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि स्वाभाविक क्रम से उत्पन्न होने वाले विकारों का परिशोधन अपने आप ही होता रहे, परन्तु जब भावनाओं द्वारा भी विकार उत्पन्न होने लगते हैं तो शरीर की सुरक्षा व्यवस्था कमजोर पड़ जाती है और उसकी प्रतिक्रिया रोगों के रूप में उत्पन्न होने लगती है। इनसे बचना चाहिए और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों भी, जबकि वास्तव में भावना क्षोभ उत्पन्न हो, तो उनका समाधान सहज स्वीकार भाव से करना चाहिए।

भावनात्मक सन्तुलन न केवल जीवन की एक अनमोल निधि है, वरन् वह जीवन जीने की एक कला भी है। इसके द्वारा जीवन हरा-भरा, पल्लवित, पुष्पित और सुखी-शांत बनाया जा सकता है। परन्तु इस भावना क्षोभ का उपचार क्या है ? डाक्टर जार्ज स्टीवेसन के अनुसार, जब भी भावना क्षोभ या तनाव उत्पन्न होता है, तो उसमें डूबने, झुलसने की बजाय उसे पहचानने की कोशिश करनी चाहिए कि उसका क्या कारण है। वह

कारण कुछ भी हो सकता है, जो भी कारण हो उसका उपचार करने की बात सोचना चाहिए न कि उससे उत्तेजित होना चाहिए।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि समस्याओं से मुक्त कोई नहीं रह सकता है। अनादिकाल से प्रतिदिन कई-कई लोग ऐसी समस्याओं से घिर जाते हैं कि कोई समाधान नहीं सूझता और आत्मघात कर लेने का मन होता है परन्तु वे समस्याएँ जब निपट जाती हैं, तो फिर सब कुछ सामान्य हो जाता है, इसलिए परिस्थितियों के शिकार व्यक्ति भी धैर्य द्वारा अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रह सकते हैं। अकारण भावना-क्षोभ पालने और रोगों को निमन्त्रण देने में कोई समझदारी ही नहीं है।

वास्तविक और अवास्तविक

हित साधन

‘गति’ शब्द का अर्थ है—हलचल। पदार्थ अपने ढंग की हलचलें करते हैं और प्राणी अपने ढंग की। पदार्थों की छोटी इकाई परमाणु परिवार और बड़ी इकाई ब्रह्माण्ड के भीतरी और बाहरी क्षेत्रों में अनवरत गतिशीलता पाई जाती है। क्या जड़, क्या चेतन इस संसार का कोई भी वर्ग सर्वथा निष्क्रिय नहीं है, यह दूसरी बात है कि उस क्रियाशीलता की दौड़ दूसरे पदार्थों की तुलना में मन्द हो या तीव्र। चेतन प्राणियों की तुलना में वनस्पतियों की हलचल सीमित और स्वल्प है किन्तु मिट्टी, पत्थर, खनिज आदि में जो गतिशीलता दृष्टिगोचर होती है वह वनस्पतियों की तुलना में भी न्यून है। मिट्टी से पत्थर, पत्थर से लोहे में प्रत्यक्ष गतिशीलता कम पाई जाती है किन्तु जो सर्वथा निष्क्रिय दिखाई पड़ते हैं, उनकी सूक्ष्म संरचना पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जिन परमाणुओं से मिलकर वस्तुओं का निर्माण हुआ है, वे अपने क्षेत्र में पूरी तरह सक्रिय हैं। ग्रह-नक्षत्रों समेत यह समूचा अन्तरिक्षीय परिवार धुरी या कक्षा में और अन्ततः किसी बड़े केन्द्र की प्रदक्षिणा में दौड़ लगाता हुआ देखा जा सकता है। इसलिए तत्त्वतः यहाँ ‘अगति’ जैसी कोई बात है नहीं।

इतने पर भी शब्द कोष में अगति, अवगति, दुर्गति एवं प्रगति का उल्लेख है तथा व्यवहार में भी प्रयुक्त होते हैं। पर इनकी कोई स्थिर विवेचना नहीं हो सकती। इन्हें सापेक्ष ही माना जा सकता है और किसी से तुलना करके ही यह बताया जा सकता है कि उपरोक्त शब्द कहीं लागू हुए या नहीं। एक बच्चे ने शरीर विकास की दृष्टि से प्रगति की, लेकिन बौद्धिक क्षेत्र में

वह दूसरे बच्चों से पिछड़ा रहा तो फिर उसकी स्थिति पर प्रगति शब्द कहाँ लागू हुआ। ऐसे तो चोर के डाकू बन जाने पर भी उसने प्रगति की है, ऐसा कहा जा सकता है फिर भी सज्जनता के क्षेत्र में वह पिछड़ता ही चला गया है। अगति, अवगति एवं दुर्गति के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। भले और बुरे वर्ग अपने-अपने क्षेत्रों में उपलब्ध होने वाली सफलताओं को प्रगति कहते हैं। जबकि वह उन्नति दूसरे वर्ग के लोगों की दृष्टि में पतन, पराभव के रूप में गिनी जाती है। गायिका ने नृत्य सीख लिया और अधिक ग्राहक पटाने लगी तो उस समुदाय में उसकी यह सफलता सराही जायेगी। पर कुलीनता की मर्यादाओं को महत्व देने वाले अवगति, दुर्गति के रूप में भर्त्सना ही कर सकते हैं। ऐसी दशा में किसे प्रगतिशील, किसे असफल अधःपतित कहा जाय? इस संदर्भ में सहज ही असमंजस सामने आ खड़ा होता है।

सही निर्णय पर पहुँचने के लिए तुलनात्मक विवेचना से निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता पर 'प्रगति' को मान्यता देने कुछ कसौटियाँ निर्धारित करनी होंगी। जीवधारी के भीतर जिस अनुगमन की उत्कंठा पाई जाती है, जिस प्रेरणा से उसकी बुद्धि और काया प्रयत्नरत रहती है, उस आकांक्षा का प्रवाह किस दिशा में चल पड़ा? यह देखना होगा और यह जाँचना होगा कि वह प्रवाह साथ में बहने वाले के लिए श्रेयस्कर हुआ या नहीं। लोक-हित की दृष्टि से उसकी उपयोगिता मानी गई या नहीं? यदि प्रयत्नों की दिशाधारा सही है तो उसे 'प्रगति' शब्द से सम्मानित करने में हर्ज नहीं। इसके विपरीत यदि ऐसी सफलताएँ अर्जित की गई हैं जो पहले की अपेक्षा उन्नति करने के रूप में तो दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु उनकी परिणति में दुष्परिणाम ही सामने आने वाले हैं तो समझना चाहिए कि तात्कालिक सफलता प्रकारान्तर से असफलता की ही पर्यायवाचक मानी जायेगी।

प्रतिभा की अभिवृद्धि उत्साहवर्धक तो है पर देखना यह भी होगा कि उत्पन्न हुआ पराक्रम एवं कौशल किस दिशा में नियोजित हुआ। जिस दिशा में प्रगति हुई, वह प्रकृति अनुशासन मानवी नीति, नियम एवं सामाजिक सहयोग, सन्तुलन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है या नहीं। अन्यथा प्रतिभाशाली तो उदण्ड, उच्छृंखल, ठग और अनाचारी आतंकवादियों को भी कहा जाने लगेगा। तर्क यह दिया जा सकता है कि सामान्य जनों के स्वभाव एवं क्रिया-कलापों की तुलना में वे अपनी अधिक समर्थता एवं तत्परता प्रकट करते हैं जिसके लिए उन्हें भी उन्नतिशील कहा जाना चाहिए।

इस संदर्भ में विवेकयुक्त निर्धारण यही है कि प्रगति की दिशा विश्व मानव के नियत नीतिमान के अनुरूप रही या नहीं? इस बात की जाँच, पड़ताल करके ही किसी नतीजे पर पहुँचा जाय। कई तोड़-फोड़ करने वाले ही अपने कुकृत्यों से उत्पन्न आतंक को भी अपनी विशिष्टता में गिनते, शेखी बघारते एवं मूँछें ऐंठते देखे गये हैं। जिन्हें इस अनाचार के लाभों में हिस्सा मिलता है वे 'कसाई के कूकर' ऐसे आतंकवाद की प्रशंसा भी कर सकते हैं और जिस-तिस तर्क के सहारे उसका औचित्य बताने में भी बुद्धि कौशल के सहारे तीर-तुक्का बिठा सकते हैं। इतने पर भी अवांछनीय कृत्यों में निरत लोगों का मूँछें ऐंठना और चमचागीरी करने वालों से वाहवाही सुनना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि उस विशेषता या सफलता को प्रगतिशीलता की सराहनीय संज्ञा दी जाय या नहीं।

मानवी मूल्यांकनों का निर्धारण इसी शाश्वत सिद्धान्त के आधार पर होता रहा है कि उसने निजी जीवन में नीतिमत्ता के अनुशासन को कितनी सच्चाई एवं कड़ाई के साथ पाला एवं सम्पादित समर्थता का कितनी उदारता के साथ, कितने उच्चस्तरीय कार्यों के लिए नियोजित किया। सर्वजनीन विवेक ने ऐसे ही लोगों की ऐसे ही प्रयासों को प्रशंसा की है। उन्हें उपयोगी माना और कृतज्ञता भरा सम्मान प्रदान किया है। यह कसौटी हर दृष्टि से उपयोगी भी है। इस मार्ग का अवलम्बन करने वाले कई दृष्टि से नफे में रहते हैं।

नीति और अनीति की विवेचना करने वाली, औचित्य और अनौचित्य के बीच अन्तर करने वाली एक ऐसी कभी न बुझने वाली ज्योति हर मनुष्य के अन्तराल में तभी से प्रज्ज्वलित है जबसे उसे मानवी कलेवर में प्रवेश करने का अवसर मिला। अति आरम्भ काल में तो प्रसुप्त, मूर्च्छित अनगह भी हो सकती है किन्तु जैसे-जैसे परिपक्वता आती है उसी अनुपात से यह विवेक भी जाग्रत होता है कि उचित और अनुचित की विभाजन रेखा कहाँ है? इसे परखतन्त्र की अन्तरात्मा कहते हैं। यह अनौचित्य अपनाने पर अन्तर्द्वन्द्व खड़े करती है। स्वार्थवश अनुचित काम करने के आवेश में किया कुछ भी जाता रहे। अन्तराल औचित्य का पक्ष समर्थन करने और अवांछनीय को हेय ठहराने का झण्डा हर हालत में बुलंद किये ही रहेगा। दबा देने पर उसकी आवाज धीमी तो हो सकती है किन्तु सर्वथा बन्द किसी भी दशा में नहीं हो सकती। अनीति अपनाने पर अन्तर्द्वन्द्व हर हालत में बना ही रहेगा और उस मार्ग पर चलने वाले का आन्तरिक असन्तोष भले ही पश्चात्ताप एवं परित्याग के रूप में प्रकट न हो पर इतना तो निश्चित है कि चैन से भी

बैठने नहीं देगा। 'आत्मधिकार की छोटी-बड़ी चिन्तारी अवसर मिलते ही फूटती रहेगी।

इस स्तर के अन्तर्द्वन्द्व व्यक्तित्व की छवि उभारने एवं बिगाड़ने में कितनी बड़ी भूमिका निभाते हैं, इसे सामान्य जन तो नहीं जानते पर मनःशास्त्र के विशेषज्ञ एक स्वर से कहते पाये जाते हैं कि अन्तर्जगत में दो व्यक्तित्वों का विकसित होना वैसा तो अनुपयुक्त है जैसा एक म्यान में दो तलवारों का घुस पड़ना। एक मुख में दो जीभों का होना। शरीर में विजातीय द्रव्य घुस पड़ते या भूत-पत्नी के आवेश आते हैं तो स्थिति कितनी विचित्र हो जाती है। मस्तिष्क की स्वाभाविक सम्पदा विवेक को छीनकर जब नशा उस संस्थान पर अपना अड्डा जमाता है तो दोनों की खींच-तान में सोचने से लेकर करने तक की समस्त प्रक्रिया बेतरह लड़खड़ाने लगती है और नशेबाज की स्थिति उपहासास्पद एवं दयनीय बन जाती है।

एक मर्द की दो औरतें—एक औरत के दो मर्द होने पर आये दिन कैसी खींच-तान चलती है इसे सभी जानते हैं। एक नौकर के दो मालिक होने पर भी उसकी नाक में दम आती है। दो मस्तिष्क, दो दिल, दो मुख, दो जननेन्द्रिय वाले व्यक्ति की स्थिति कैसी विचित्र होगी, इसकी कल्पना करने भर से बड़ा अजीब लगता है। एक जंगल में दो शेर—एक राज्य में दो राजा कहाँ रह पाते हैं। एक खेत को चरने दो साँड़ जा पहुँचे तो उन्हें मल्ल युद्ध करते देर न लगेगी। मुहल्ले के अधिकारी कुत्ते दूसरे मुहल्ले वालों को कहाँ फटकने देते हैं। रक्त के प्रहरी कण तक विजातीयों को सहन नहीं करते और अवांछनीय प्रवेश को मार भगाने के लिए अच्छा-खासा महाभारत खड़ा करते हैं। सूजन, व्रण, दर्द, ज्वर आदि विग्रहों की अनुभूति इसी नियम के अन्तर्गत होती है कि शरीर की स्वस्थ चेतना विजातीय द्रव्य को सहन न करे और उसे खदेड़ने के लिए जान हथेली पर रखकर संघर्ष करे।

ठीक ऐसा ही तब होता है जब अन्तरात्मा की मूल प्रकृति उत्कृष्टता के विपरीत चिन्तन या आचरण अपनाये जाते हैं। नीति की पक्षधर यह चिन्तारी अपना अस्तित्व पूर्णतया किसी भी स्थिति में खोती नहीं। उपेक्षित, तिरस्कृत, दुर्बल होने पर भी उसका अनीति विरोधी संघर्ष चलता ही रहता है। भले ही वह परिस्थिति के अनुरूप कितना ही धीमा या धूमिल क्यों न हो।

अन्तर्द्वन्द्वों के परिणाम कितने घातक होते हैं इसकी जानकारी कुछ समय पहले तक लोगों को उतनी अच्छी तरह नहीं थी जितनी कि इन दिनों अचेतन मनःसंस्थान के विशेषज्ञ विश्लेषणकर्ताओं ने प्रस्तुत की है। आधुनिकतम

मनोविज्ञान के निष्कर्ष इस तथ्य का विश्वासपूर्वक उद्घाटन करते हैं कि अन्तर्द्वन्द्वों से भयानक अवरोध मनुष्य की समग्र प्रगति में और दूसरा नहीं हो सकता। भीतरी लड़ाई में चेतना की इतनी शक्ति खप जाती है कि वास्तविक प्रगति की सही रूपरेखा बनाना और उसके लिए समग्र संरंजाम जुटाना बन ही नहीं पड़ता। अस्तु, अन्तर्द्वन्द्वों से ग्रसित व्यक्ति मात्र दुष्टता और भ्रष्टता के क्षेत्रों में ही अपनी उछल-कूद मचाते रह सकते हैं। ऐसी मानसिक प्रखरता वे सम्पादित कर ही नहीं सकते जिसके सहारे उन लाभों को प्राप्त कर सकना शक्य हो सके जो उच्चस्तरीय प्रगति के लिए आवश्यक हैं।

रोग निवारण हेतु मनोबल का उपयोग

रोग पहले मन में प्रवेश करते हैं, पीछे शरीर में उभरते हैं। शरीर पर चेतना का अधिकार है। चेतना में विकृतियाँ उत्पन्न होने पर शरीर भी विकारग्रस्त होता है। जिस आहार-विहार के अनाचार की निन्दा की गई है और रोगों का निमित्त कारण बताया गया है, वह वस्तुतः मानसिक दोष ही है। असंयम मन में उभरता है। उसका प्रयोग भर इन्द्रियों द्वारा होता है। मन पर कोई तीव्र आघात लगे तो बड़ी से बड़ी लालसा भी तत्काल समाप्त होगी। मन लगने तक ही इन्द्रियों में उत्साह रहता है। मन के शान्त होने पर अनाचार बन पड़े, ऐसा हो ही नहीं सकता।

शरीर पर मन का अधिकार है। मस्तिष्क जैसे ही निन्द्राग्रस्त होता है वैसे ही शरीर मृतक तुल्य निःचेष्ट हो जाता है। शोक, हानि विग्रह जैसे समाचार सुनते ही चित्त बेचैन हो जाता है। भूख, प्यास, निद्रा सभी गायब हो जाती हैं। क्रोध की अवस्था में शरीर की उतनी ही क्षति होती है जितनी तेज बुखार में। मन लगने पर काम अच्छा और जल्दी होता है किन्तु यदि अन्यमनस्कता छाई रहे तो बेगार भुगतने की तरह किया हुआ काम अधूरा और घटिया ही रहेगा। चेहरे की तेजस्विता और मुर्दनी बहुत कुछ मन की स्थिति पर अवलम्बित रहती है। मात्र शरीर रचना ही जन्मजात होती है। आकृति पर आमतौर से प्रकृति ही छाई रहती है। उसी को देखकर लोग किसी के व्यक्तित्व का स्तर परखते हैं।

मनोविकार रोगों के जन्मदाता हैं। अनेक प्रकार के असंयमों का सूजन भी विकृत मन ही करता है। इसके अतिरिक्त क्रोध, आवेश, निराशा, भय, आशंका, चिन्ता आदि का भी ऐसा कुप्रभाव पड़ता है कि अच्छा खाते-पीते और सुविधाएँ रहते हुए भी शरीर क्षीण होता

जाता है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि हँसोड़, उत्साही और निर्द्वन्द्व मनुष्य घटिया खान-पान रहते हुए भी हट्टे-कट्टे रहते हैं और नीरोग देखे जाते हैं।

चिकित्सा उपचार में भी श्रद्धा विश्वास का भारी योगदान रहता है। जिस चिकित्सक पर, जिस औषधि पर गहरा विश्वास हो, उसका प्रभाव विलक्षण होता है और रोग-मुक्ति का सुयोग जल्दी ही बन जाता है। किन्तु यदि अविश्वास हो, सन्देह या आशंका रहे तो न चिकित्सक का उपयुक्त प्रभाव पड़ेगा और न उनकी दी हुई दवा कारगर सिद्ध होगी।

देखा गया है कि “शंका डायन—मनसा भूत” वाली उक्ति अनेक बार सही सिद्ध होती है। भूत-पलीत हो या न हो पर उन पर विश्वास करने वाले तो अवश्य ही हावी रहते हैं। अन्धेरे में दौड़ता हुआ चूहा भी भूत लगता है और विश्वासी मरघट के समीप ही खेतों में काम करते रहते हैं, झोपड़ी बनाकर बाल-बच्चों समेत रहते हैं। उन्हें खटका तक नहीं होता।

ग्रह-नक्षत्रों की दशा विपरीत होने की बात जिनके मन में जम जाती है उनका मन काम में हाथ डालते हुए भी डरता है और असमंजस की स्थिति में काम प्रायः उल्टा ही पड़ता है। इससे देव प्रतिकूल होने की बात का और भी अधिक विश्वास जम जाता है। ऐसे व्यक्तियों का भविष्य अन्धकारमय ही बनता जाता है। सामने आये हुए सुयोग का भी वे लाभ नहीं उठा पाते।

छोटे रोग को बड़ा मान लेने पर वह विपत्ति बन जाता है। शरीर में भरा हुआ विजातीय द्रव्य जितनी हानि पहुँचाता है, उससे अनेक गुनी हानि मन की कुशंका में उत्पन्न होती है। जो जल्दी मरने की बात सोचते रहते हैं उसका सोचना ही आधी आयु को खा जाता है। जितने व्यक्ति मौत से मरते हैं, उससे अधिक लोग मौत के भय से मर जाते हैं।

आरोग्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। जिन्हें अपने दीर्घ जीवन पर विश्वास है, उनका दुर्बल शरीर भी लम्बी आयु तक साथ देता रहता है। बड़े रोग को छोटा गिनने की लापरवाही तो नहीं करनी चाहिए किन्तु ऐसा भी नहीं होना चाहिए। किन्तु रोग होते ही घबरा जाना और अपने तथा घरवालों के हाथ-पैर फुला देना। प्रकृति के अनुरूप आहार-विहार को नये सिरे से ढाल लिया जाय तो शरीर की जीवनी शक्ति में ही इतनी क्षमता विद्यमान है कि वह बिगाड़ को सुधार दे। प्रकृति ने शरीर दिया है तो उसके साथ इतनी क्षमता भी दी है कि टूट-फूट की मरम्मत भी करती रहे। रोग वस्तुतः प्रकृति की भीतरी क्षमता के अनुरूप उभरते और समाप्त

होते रहते हैं। चिकित्सा का प्रधान कार्य रोगी का मनोबल बनाये रहना है। जितना काम दवा करती है उससे कहीं अधिक रोगी का धैर्य, संयम और विश्वास काम करता है। इन्हें गँवा बैठने पर तो रोगी बेमौत मरने की तैयारी करता है।

मानसिक चिकित्सा का एक स्वर्णिम सूत्र यह है कि जिस अवयव में कष्ट हो उस पर ध्यान एकाग्र किया जाय और भावना की जाय कि इस स्थान की जीवनी-शक्ति रोग द्रव्य को मार भगाने में तत्परतापूर्वक जुट रही है और उसका उपयोगी प्रभाव भी हो रहा है। इसमें उस स्थान पर उसी भावना से हाथ फिराते रहने का भी अच्छा प्रभाव होता है।

प्राण चिकित्सा के उपचारक हाथ फिराकर या उँगलियों के छोरों का स्पर्श कराकर रोगों की चिकित्सा करते हैं। चुम्बक को उस स्थान पर फिराकर भी चिकित्सा की जाती है। रंगीन बोतलों में पानी भरकर सूर्य की धूप में रखने और उस पानी के उपयोग से रोग निवारण करने तथा होम्योपैथी चिकित्सा में अधिकांश लाभ रोगी के मन पर विश्वास जमा देने के कारण मिलता है। यह प्रभाव उपचार प्रक्रिया से किसी प्रकार नहीं होता। सन्त, महात्मा अपनी धूनी की भभूत देकर अनेकों का रोग निवारण करते देखे गये हैं। इसमें उनकी प्राणशक्ति का जितना योगदान होता है उतना ही रोगी के विश्वास करने का भी होता है।

अपने विश्वास की शक्ति को दूसरों के माध्यम बनाकर प्रयुक्त करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम बाल क्रीड़ा न करें। यथार्थता को समझें। अपने विश्वास की क्षमता की गरिमा समझें और बिना किसी का अहसान लिए स्वयं अपने लिए प्रयुक्त करें। यह सभी प्रकारान्तर से “स्व संकेत” (आटो सजेसन) है। इन्हें जब सीधे अपने लिए या दूसरों के लिए प्रयुक्त करके उसका प्रत्यक्ष लाभ देखा जा सकता है तो तथ्य से अनजान रहकर पराश्रित क्यों बने रहें? अपनी सम्पन्नता और विभूति की गौरव-गरिमा स्वयं ही क्यों न अनुभव करें। शक्ति अपनी है तो उसका श्रेय किसी और को क्यों लूटने दें।

बीमारियों के सम्बन्ध में अपनी अत्यधिक क्षमता-संकल्प शक्ति की प्रखरता का उपयोग हमें स्वयं करना चाहिए। पीड़ित अंग पर अपनी भावनाओं को केन्द्रित करना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अन्तराल में सन्निहित जीवनी-शक्ति अपनी मानसिक शक्ति के समन्वय से दूनी सामर्थ्यवान बन रही है और वैसा ही प्रयुक्त करने में सफल हो रही है जितना कि मनोबल के

मिल जाने से औषधि उपचार दूना काम करती है। यह एक प्रकार की “बायोफीड बैक” प्रक्रिया है।

रोग में चिकित्सा की मनाही नहीं है। यदि उपचार करना ही हो तो प्राकृतिक चिकित्सा या वनौषधि उपचार का आश्रय लेना चाहिए। उसमें मलों के निष्कासन, विश्राम और शिथिलीकरण जैसे मनोवैज्ञानिक उपचारों तथा जीवनी-शक्ति सम्बर्धन का समन्वय है। उसमें एक रोग को मारने के लिए दूसरा रोग उत्पन्न करने वाली हानिकारक प्रक्रिया से बचाव होता है। ऐलोपैथी उपचार में तो रोग मारण के नाम पर जीवनी-शक्ति को ही मारा जाता है। चिकित्सा चलते रहने के साथ भी यदि मानसिक क्षमता संकल्प बल का भी प्रयोग किया जाता रहे तो इससे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में और अधिक जल्दी लाभ मिलने की आशा है।

आत्म-हत्या पलायन ही नहीं

प्रतिशोध भी

परिस्थितियों से हताशा, गरीबी से निराशा और बीमारियों के कारण टूटी हुई जीवन-आशा; आत्महत्या की कापुरुषता के लिए उकसाती है। इन प्रयासों में स्पष्ट रूप से मनोबल का अभाव ही कारण है परन्तु घरेलू झगड़ों तथा भाई-भतीजे के विवादों में व्यक्ति जब आत्महत्या का प्रयास करे तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस प्रयास का कारण केवल मनोबल का अभाव ही है।

वस्तुतः आत्महत्या के कई कारणों में से एक प्रधान और प्रमुख कारण प्रतिशोध की भावना भी है। आत्महत्या करने वाला कई व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से आहत होकर यह विवश कदम उठाता है। लेकिन आत्महत्या करने से पूर्व वह कई अर्थों में इस प्रकार टूट भी चुका होता है जो उसे प्रतिशोध के लिए भी प्रेरित करता है। कुछ वर्षों पूर्व बरेली के एक युवक की आत्महत्या का मामला प्रकाश में आया था। यह युवक हड्डा-कड्डा और स्वस्थ होने के साथ-साथ उद्दण्ड तथा उपद्रवी भी था। परिवार अच्छी स्थिति का था अतः किसी प्रकार का दायित्व भी उसके कंधों पर नहीं आया था जो उसे गम्भीर बना सके। अपने साथी संगियों को सोहबत में रहकर वह शराब भी पीता, मारपीट भी करने लगा और बाहर भी रहने लगा। माँ जरा भावुक स्वभाव की थी और अपने बेटे की इन करतूतों से परेशान रहती थी। अतः वह रोक-टोक भी करती इस रोक-टोक को लेकर उच्छ्रंखल बेटे और ममत्वमयी माँ में झगड़ा हुआ करता। पिता तो अपने बेटे

की प्रवृत्तियों से इतने अधिक क्षुब्ध थे कि वे उससे बात भी नहीं करते थे।

जब उक्त युवक की प्रवृत्तियाँ काफी अटकने लगीं तो चचेरे भाई ने उसे स्नेह और ममत्व दिया। इस प्रकार आरम्भ हुई उसके सुधार की प्रक्रिया। भाई उसे अपने साथ रखने लगा, पास बिठाता और सम्मानपूर्ण तथा स्नेहाभिभूत व्यवहार करता। भाई ने उस युवक को यह अनुभव करा दिया कि उसे अपनी दिशाओं को बदलना चाहिए। आर्थिक सहायता भी की तथा कुछ महीने के बाद ही उक्त युवक टाइप सीखकर टाइपरायटर लेकर कचहरी में बैठने लगा। अच्छी आमदनी भी होने लगी और बुरी आदतें भी धीरे-धीरे छूटती गईं।

परन्तु माता-पिता ने तो उसे बिगड़ैल और आवारा ही समझ रखा था। वे उससे पहले की तरह ही पेश आते। घर में रोज झगड़ा होता। आखिर एक दिन उसने अपने आपको कमरे में बन्द कर मिट्टी का तेल छिड़का और आग लगा ली। अस्पताल में जब उसे बचाने के प्रयास किये गये तो माँ-बाप छाती पीटकर रो रहे थे और युवक की आँखों में सन्तोष झलक रहा था। शायद इसलिए कि जिस विष को वह अब तक चुपचाप पीता रहा—उसका प्रतिशोध ले लिया है।

आदमी जब खुलकर प्रतिशोध नहीं ले पाता तो इस प्रकार प्रतिशोध का यह उपाय आत्मघाती है और निर्वीय भी, परन्तु यह एक तथ्य है कि दुश्मन से लड़ना आसान है और अपनों से लड़ना बहुत ही मुश्किल। अब अपनों से तो सीधा स्पष्ट प्रतिशोध लेने का कोई मार्ग नहीं सूझता क्योंकि अभ्यासवश पड़े संस्कार तथा परिवेश मजबूर करते हैं और इसी कारण क्रुद्ध होने के बावजूद भी व्यक्ति अपनों से, अपने परिवार से टक्कर लेने में असहाय होता है।

और दूसरी ओर अपने प्रति हो रहे दुर्व्यवहारों को भी सहन करते रहने की क्षमता नहीं है। वह घुटन बढ़ती रहती है और बाहर के प्रतिबन्ध भी उसी अनुपात से कसते जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिशोध और निस्तार का यही उपाय सूझता है कि आत्महत्या कर ली जाय। ‘परिवार वालों को मेरा अभाव निश्चित रूप से खलेगा ही और जमाना भी उन्हें बुरा कहेगा’—अपने जीवन का अर्थ ही जब घुटन और कुण्ठाओं के अन्धकार में खो जाता है तो यह भाव उदय होते हैं और इन्हीं भावों की परिणति देखी जाती है—आत्महत्या के रूप में।

पारिवारिक कलह के कारण की गई आत्महत्याओं के पीछे जीवन से निराशा का कारण जितना ज्वलन्त है उतनी ही ज्वलन्त है प्रतिशोध की भावना। इसी कारण

देखा जाता है कि महिलाएँ जो अपने पति, सास, ससुर अथवा परिवार के अन्य लोगों का विरोध नहीं कर पातीं, वे आत्महत्या की राह पर चल पड़ती हैं। उनकी मृत्यु से उनके तो जीवन की ही क्षति होगी, परन्तु परिवार के अन्य लोगों का समूचा जीवन ही नारकीय बन जाता है। लोग उन्हें लम्बे समय तक अपने अत्याचार और उत्पीड़न के लिए लांछित करते रहेंगे।

गुजरात—जहाँ आधुनिकता और पुरातनता द्वन्द्वात्मक स्थिति में है, परिवार के बड़े बुजुर्ग अपनी परम्पराओं और मर्यादाओं को टूटते नहीं देखना चाहते तथा युवक-युवतियाँ आधुनिकता के ज्वार में बहे जा रहे हैं। इस द्वन्द्व का सर्वाधिक शिकार शायद महिलाओं को ही होना पड़ा है। १९७१ के आँकड़ों के अनुसार गुजरात में प्रतिदिन तीन अर्थात् हर आठ घण्टे में एक महिला आत्महत्या कर लेती है। १९६९ में जहाँ ६५० महिलाओं ने आत्महत्या की वहाँ १९७० से ७०० ने और १९७१ में तो यह संख्या औसतन प्रतिदिन तीन तक पहुँच गई।

यद्यपि जीवन संघर्ष और बाह्य परिस्थितियों का सामान प्रायः पुरुष वर्ग को ही करना पड़ता है, इस कारण जीवन से निराश हो पलायन कर जाने की प्रवृत्ति के कारण आत्महत्याओं की संख्या में पुरुष ही अधिक है, जबकि महिलाओं को बाह्य-संघर्षों का प्रायः कोई सामना नहीं करना पड़ता, वे पारिवारिक कलह के कारण आत्महत्या करती हैं। इसमें पारिवारिक यन्त्रणाओं से मुक्ति के साथ परिवार के लोगों के प्रतिशोध की भावना भी मुख्य रूप से काम करती है।

महानगरों में जहाँ आधुनिक सभ्यता का नशा युवा पीढ़ी में आया है वही स्वच्छन्द जीवन और उन्मुक्त मैत्री की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। लड़के-लड़कियाँ इसी कारण एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं तथा मिलते हैं। इन सम्बन्धों में से सभी की परिणति विवाह के रूप में नहीं होती परन्तु थोड़े बहुत पूर्व परिचित और सम्बद्ध युवक-युवतियाँ दाम्पत्य सूत्रों में बँधते हैं, अपने सँजोये सपनों को टूटते देखते हैं। विवाह से पूर्व प्रेमी और प्रेमिका भावुकताजन्य सपनों के संसार में विचरण करते हैं और विवाह के बाद जीवन के कठोर यथार्थों से सामना करना पड़ता है तो खीझ ही उठते हैं।

प्रायः देखा गया है कि युवक-युवतियाँ जो स्वच्छन्द सम्बन्ध बना लेते हैं और एक-दूसरे को जीवन साथी के रूप में देखना चाहते हैं, अपने परिवार के अन्य सदस्यों को बाधा रूप में खड़े देखते हैं। कारण चाहे जो भी हों, परिवार के अन्य सदस्य स्वेच्छया जीवनसाथी के चुनाव को प्रायः मान्य नहीं ही करते हैं। युवक-युवतियाँ

चूँकि निर्बाह और व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए परिवार पर ही निर्भर रहते हैं इसलिए प्रत्यक्ष रूप से उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते। फिर भी अन्त तक उनके प्रयास आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए होते हैं और जब उनकी आकांक्षाएँ निश्चित रूप से अपूर्ण रह जाती हैं, प्रेमी या प्रेमिका का विवाह अन्य कहीं हो जाता है तो परिवार के प्रति प्रतिशोध आत्म-हनन का उग्र रूप धारण कर लेता है।

दूसरे, लड़की जब बहू बनकर किसी के घर जाती है तो वहाँ एक सर्वथा नया ही संसार देखने को मिलता है। माँ की प्रतिमूर्ति सास के रूप में तो दिखाई देती है और सास के लिए बहू बेटी के समान ही है। लेकिन दोनों एक-दूसरे को भिन्न रूप में ही ग्रहण करते हैं। बहुत से रूपों में व्यवहार क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया देखने में आती है और एक-दूसरे की अपेक्षाएँ पूर्ण न होने के कारण उत्पन्न होता है—गृह-कलह।

परिवार में एक शीतयुद्ध का-सा वातावरण बन जाता है। दहेज, पिता-माता और बहू के परिवार, रिश्तेदारों से लेकर कुलरीति तथा खानदानी परम्पराओं के बखान तक वाक्ययुद्ध में तीखे तीर चलते हैं। पति न तो पत्नी की ओर बोल सकता है और न माता-पिता का पक्ष ले सकता है, प्रायः तटस्थ ही रहने में अपना भला समझता है और स्त्रियों में घुटन का कुहासा घिरने लगता है। इन परिस्थितियों में, पारिवारिक परिवेश में स्त्रियाँ मात्र प्रतिशोध लेने के लिए कोई और उपाय न देखकर आत्महत्या कर लेती हैं, जिसके दोहरे लाभ दीखते हैं। पहला तो यह कि प्रतिशोध की भावना भी पूरी हो जाती है और दूसरा यह कि उन परिस्थितियों, यन्त्रणाओं से भी छुटकारा मिल जाता है, प्रतिशोध की भावना का एक प्रमाण यह भी है कि आत्महत्या करने वाली बहुओं में से ७० प्रतिशत युवतियाँ अपने ससुराल में ही आत्महत्या कर लेती हैं। निस्सन्देह इसका कारण यह है कि सास जहाँ बहू को दूसरे घर से आई लड़की और मुफ्त की नौकरानी समझती है और बहू भी सास को माँ के स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाती और यह स्थिति बहू के लिए आत्म-हननकारी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करती है।

महिलाओं की तरह विषम पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन से परेशान होकर पुरुष भी आत्महत्या करते हैं। पुरुष भावुक किस्म के कम होते हैं, फिर भी कलह की एक सीमा होती है। जिसका अतिक्रमण पुरुष की सहन शक्ति से बाहर की बात हो जाती है। बाहर के संघर्षों और द्वन्द्वों से हाथ-थक आदमी घर में अपनी पत्नी की मुस्कान और बच्चों की तोतली बातों में डूबकर कुछ

समय के लिए मानसिक उद्वेगों से बाहर आ जाना चाहता है। जीवन, समय और श्रम जिन लोगों के लिए लग रहा है उनसे यह थोड़ी-सी आशा की जाय तो अनुचित नहीं होगा। लेकिन यह आशा जब पूरी नहीं होती, उल्टे सामने आती है फरमाइशों और शिकायतों की लम्बी फेहरिस्त तो उद्वेगपूर्ण वातावरण का निर्मित होना स्वाभाविक ही है।

पत्नी की फरमाइशों और शिकायतों के कारण तो छोटे-छोटे हैं परन्तु इनके साथ अन्य ऐसी गुत्थियाँ और समस्याएँ भी हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक भी अपने वस के बाहर समझते हैं। पति-पत्नी के तनावपूर्ण सम्बन्ध और बाहरी संघर्ष दोनों मिलकर आदमी को तोड़ डालते हैं। कहा जा सकता है कि बाहरी संघर्ष ज्यों के त्यों रहते और पति-पत्नी के सम्बन्ध मधुरतापूर्ण रहे होते तो कई पुरुष आत्महत्या का कदम उठाने के लिए अपने आपको विवश अनुभव नहीं करते।

आँकड़े बताते हैं कि अविवाहित पुरुषों की अपेक्षा विवाहित पुरुष ही अधिक आत्महत्याएँ करते हैं। इन आत्म-हत्याओं के पीछे असन्तुष्ट विषम दाम्पत्य-जीवन का कारण अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। बाहरी संघर्षों से निराशा और आन्तरिक पारिवारिक सम्बन्धों की विषमता व तज्जनित प्रतिशोध का भाव व्यक्ति को आत्मघात की ओर धकेल दे तो इसे असम्भावित घटना नहीं कहना चाहिए।

पारिवारिक कलह और दाम्पत्य-जीवन की असफलता व्यक्ति के जीवन को एक ओर जहाँ नीरस बना देती है वहीं दूसरी ओर ऐसे भयंकर आत्मघाती प्रतिशोध की आग भी जला देती है जिसकी ज्वालायें आत्महन्ता के जीवन का अन्त तो करती ही हैं, उससे उड़ता धुआँ और फैलती दुर्गन्ध आस-पास के लोगों की आँखें भी जला देती है और साँस लेना भी मुश्किल कर देती है।

इस कदम के लिए मनोबल का अभाव तो उत्तरदायी है ही, जीवन और जगत के प्रति व्यावहारिक तथा स्वस्थ दृष्टिकोण की असमता भी है। आवश्यकता है ऐसे प्रयासों की जो व्यक्ति के मन में जीने का उत्साह, परिस्थितियों से संघर्ष का साहस और प्रतिशोध के साथ प्रेम का सम्मिश्रण करा दे। यह सब जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण के विकास से ही सम्भव हो सकता है।

आधुनिकता के अभिशाप

इन दिनों प्रायः हर स्तर का व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों से घिरा रहता है जिससे उनका मनःसंस्थान खिन्न, उद्विग्न रहने लगे। तनाव का आक्रमण हर किसी

पर छाया दीखता है। मन मस्तिष्क पर तनावग्रस्तता छाई रहे तो उसकी परिणति समूची काया के गतितंत्र को अस्त-व्यस्त कर देगी और विरासत में अनेकों रोग, पाप, अपराध जैसे प्रतिफलों को दे जायेगी।

यों तो इन शताब्दियों में साधन-सुविधाओं में भारी अभिवृद्धि हुई है। शिक्षा और सम्पन्नता में भी बढ़ोत्तरी हुई है। फिर क्या कारण है कि इतना सब कुछ होते भी हँसता-हँसाता जीवनक्रम मनुष्य के हाथ से छूटता जा रहा है। शान्ति और सन्तोष, प्रसन्नता और निश्चिन्तता मात्र कहने सुनने की बातें रह गई हैं। गंभीरतापूर्वक कारणों की तलाश करने से इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि अब मनुष्य मानसिक दृष्टि से अधिक दुर्बल होता चला जा रहा है। आदर्शों का परित्याग करने, मानवी मर्यादाओं का उल्लंघन करने के उपरान्त उद्विग्नता, अनिश्चितता और एकाकीपन में बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण, स्वभाव एवं जीवन-यापन का क्रम भी ऐसा बन गया है जो इस विपत्ति को बढ़ाने में कड़ा कारण बनता है। इसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया बढ़ती हुई उद्विग्नता-तनावग्रस्तता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से खोखला होने और बीमारियों के चंगुल में फँसने का इसे प्रमुख कारण माना जा सकता है।

मनश्चिकित्सकों का मत है कि मानसिक असन्तुलन ही समस्त आदि-व्याधियों का प्रमुख कारण है। इस क्षेत्र में की गई नवीनतम खोजों ने इस तथ्य की पुष्टि कर दी है कि आवेश, चिन्ता, भय, ईर्ष्या, निराशा की मनःस्थिति ऐसी उत्तेजना उत्पन्न करती है जिसके कारण तनाव रहने लगे। क्रोधावेश और कामोत्तेजना जैसे विकार भी शरीर और मन पर दूषित एवं स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं। प्रसिद्ध मनोविज्ञानी डॉ. किन्से ने इन दोनों आवेग आवेशों को एक ही श्रेणी में रखा है। अपने अनुसंधान निष्कर्ष में उन्होंने बताया है कि इससे शरीर और मन पर प्रतिकूल प्रभाव तो पड़ता ही है, चिन्तन क्षेत्र भी बुरी तरह लड़खड़ा जाता है। फलतः ज्ञानेन्द्रियों की ग्रहण क्षमता को भारी आघात पहुँचता है और व्यक्ति असामान्य गतिविधियाँ अपनाने लगता है। इन आवेगों के प्रभाव से आँखों की पुतली फैलकर बड़ी हो जाती है। श्वाँस-प्रश्वाँस और हृदय गति बढ़ जाती है। साथ ही रक्त का दबाव भी ऊँचा हो जाता है। आमाशय एवं आँतों की सक्रियता में कमी आ जाती है। रक्त में एड्रीनलीन हार्मोन के बढ़ जाने तथा ऐन्ड्रिक माँसपेशियों में तीव्रता आ जाने से व्यक्ति गुस्से में काँपने लगता है। कामोत्तेजना में भी यही सब कुछ होता है। तनाव के निमित्त कारण यही मनोविकार हैं जिनसे शरीर और मन

की प्राकृत अवस्था चरमरा जाती है और वह व्याधि ग्रस्त रहने लगता है। निद्रा से भी उसे विश्राम नहीं मिलता। अशान्त मन स्वप्न में भी बड़बड़ाता रहता है।

मूर्धन्य मनोविज्ञानी डॉ. रोजर्स ने तनाव, दबाव और मनोविकारों के लिए दुराव, छिपाव और मनोग्रंथियों को जिम्मेदार ठहराया है। जब तक दोष-दुर्गुण, पाप-अपराध जीवन में किसी विश्वसनीय व्यक्ति के समक्ष प्रकट नहीं किये जाते अथवा उनका प्रायश्चित्त नहीं हो जाता, तब तक चित्त में बेचैनी, मन में अप्रसन्नता, खिन्नता, व्यग्रता उदासी छाये रहती है। ऐसे ही लोगों को अनेकों शारीरिक मानसिक रोग सनक, वहम, उन्माद, अवसाद आदि घेरे रहते हैं। यदि जीवन में ईमानदारी, नैतिकता जैसे सदगुण सम्मिलित कर लिये जाते हैं तो उक्त विकारों से और तद्व्यवस्था व्याधियों से सहज ही छुटकारा मिल सकता है। मनुष्य का मन भी तभी हल्का और उमंग से भरा पूरा रह सकता है। ऐसे ही व्यक्तियों को हँसती-हँसाती, खिलती-खिलाती मस्ती भरी जिन्दगी जीते देखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति अन्यो की अपेक्षा अधिक स्फूर्तिवान और क्रियाशील बने रहते हैं। इन्हें बुढ़ापा भी घेर ले तब भी उनमें बालकों जैसा उत्साह, उमंग और स्फूर्ति बनी रहती है।

मनोविकारों से ग्रसित मनुष्य अपने को गलाते-घुलाते हैं तथा दूसरों के लिए भी सिरदर्द बने रहते हैं। चिन्ता, भय, निराशा, निरुत्साह जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ हर समय बेचैन बनाये रहती हैं और यही आन्तरिक क्षमताएँ नष्ट-भ्रष्टकर मनुष्य को दयनीय बना देती हैं। कई बार ऐसे व्यक्तियों में क्रोध, क्रूरता जैसे दोष अपना अड्डा बना लेते हैं तथा ईर्ष्या, कुढ़न, जलन जैसी बुराइयाँ भी परिलक्षित होने लगती हैं।

ईर्ष्या और डाह, घृणा और द्वेष, उत्तेजना और आवेश को बढ़ावा देते हैं। इन्हीं के कारण जीवन में मनोमालिन्य बढ़ते और विरोध पैदा होते हैं। मनुष्य टूटा-सा, हारा-सा, उदास, खिन्न रहने लग जाता है। इनके लिए सुख-शान्ति सपने की सी मृगतृष्णा हो जाती है।

आवेश, आवेग, उत्तेजना और आक्रोश मनुष्य की चिन्तन प्रणाली को बुरी तरह गड़बड़ा देते हैं। प्रत्यक्ष न सही छिपा आक्रोश दुर्भावना, डाह, निन्दा, चुगली जैसी दुरभि सन्धियों के रूप में प्रकट होता है। ऐसे जाल-जंजाल में उलझे व्यक्ति की मनःस्थिति अधिकाधिक विपन्न होती चली जाती है और आन्तरिक अशान्ति की प्रतिक्रिया मनोविकारों के रूप में शारीरिक रोगों, कष्टों, क्लेशों के रूप में फूट पड़ती है। मन की उद्विग्नता और अशान्ति मनुष्य की नैसर्गिक क्षमताओं को भी नष्ट-भ्रष्ट

कर डालती है। इतना ही नहीं इससे भावना और विचारणा का क्षेत्र भी ऊसर बंजर मरुस्थल जैसा बन जाता है। हृदय तो असह्य आघात झेलता ही है।

‘वर्ल्ड हैल्थ आर्गनाइजेशन’ के अनुसार प्रमुख समृद्ध देशों में आधी मृत्युएं हृदय रोग से होने लगी हैं। इस अभिवृद्धि में साधनों की कमी या परिस्थितियों की प्रतिकूलता उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि मनुष्य का खिन्न-उद्विग्न रहना। तनाव, खीज और उदासी आदमी को तोड़कर रख देती है और वह कभी भी हृदय रोग जैसी विपत्ति में फँस सकता है।

सैनफ्रान्सिस्को के जाने-माने हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. फ्रीडमैन तथा रोजमैन ने सैकड़ों महत्वाकांक्षी, प्रतिस्पर्धी, असंयमी तथा इसके विपरीत नैतिक, संयमशील, व्रती, नियमित दिनचर्या और आहार-व्यवहार वाले दोनों प्रकृति के लोगों का गहन अध्ययन किया है और पाया है कि महत्वाकांक्षी, असंयमी, अनैतिक और प्रतिस्पर्धी व्यक्ति अधिक तनावग्रस्त रहते हैं। फलतः हृदय रोग की पकड़ में भी वही सबसे अग्रणी पाये जाते हैं। अन्यान्य हृदय रोग विशेषज्ञों का भी यही मत है कि मनोभाव दबाने से तनाव पैदा होता है जिससे एड्रिलीन ग्रंथियों से हारमोन्स अधिक स्रवित होने लगता है, जिसके कारण रक्त घमनिकाएँ सिकुड़ जाती हैं और हृदय तक रक्त पहुँचने में कमी आने लगती है। रक्त की पर्याप्त मात्रा हृदय तक न पहुँचने से पीड़ा होने लगती है। एक और तथ्य स्पष्ट होता है कि यही रोग स्त्रियों में कम पुरुषों को अधिक होता है।

सुप्रसिद्ध अमेरिकी हृदय रोग विशेषज्ञ प्रयोग, परीक्षण के उपरान्त हृदय रोग का स्थायी निदान और समाधान बताते हैं कि हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों को सहृदयता, बरतनी चाहिए और संयम निभाना चाहिए। उतावली और हड़बड़ाहट से असन्तुलन और व्यग्रता बढ़ेगी और अस्थिरता तथा मतिभ्रम से न कुछ करते बनेगा वरन् उल्टे तनाव, अपच, अनिद्रा जैसे स्थायी रोग शरीर को दबोच लेंगे।

डॉ. इरविन भी आन्तरिक शान्ति और आत्म-विश्वास को तनाव, दबाव और हृदय रोग की रामबाण और औषधि मानते हैं। इन गुणों को चिरस्थायी पूँजी बनाने के लिए जीवन में परोपकार और परमार्थ जैसे कृत्य करते रहने की वे सलाह देते हैं।

प्रख्यात मनोरोग चिकित्सक डॉ. स्टेकल के अनुसार मनुष्य का स्वास्थ्य और सन्तुलन उसके आहार-व्यवहार पर कम, मानसिक स्तर पर अधिक निर्भर रहता है। रोगियों में से अधिकांश की व्यथा मन की गहराई में अपनी जड़ें

जमाकर बैठ जाती है और दवा-दारू की भरमार होने पर भी टलने का नाम नहीं लेती। इसके विपरीत मनोबल सम्पन्न विपरीत परिस्थितियों के दबाव को सहन करते हुए भी बलिष्ठ बने रहते हैं। रुग्णता रहने पर भी उस स्तर के लिए अपने उत्साह और साहस में तनिक भी कमी नहीं पड़ने देते। ऐसे लोग न केवल आशाजनक सफलताएँ प्राप्त करते हैं वरन् अपनी विशिष्टताओं के कारण समुदाय का नेतृत्व भी करते हैं।

अतः व्यक्ति को चाहिए कि अपने आस-पास अनुकूलताएँ तलाश करे और प्रिय पात्र, प्रिय पदार्थ, प्रिय दृश्यों का अवलोकन कर चिन्तन और दृष्टि को विधेयात्मक बनाये रखे। सदैव मुस्कान बिखेरने और आत्मीयता बाँटने के बदले में प्यार, सम्मान मिलता है। छोटे-छोटे बच्चों की उछल-कूद, भोलापन और तोतली वार्ता में सम्मिलित रहकर पार्क, उद्यानों, नदी-सरोवरों का भ्रमण करके भी मन को प्रसन्न रखा जा सकता है। अपनी आन्तरिक स्थिति और चारों ओर का वातावरण यदि अपने अनुकूल नहीं है तब तक सहज और सरल जिन्दगी नहीं जी जा सकती। आन्तरिक शान्ति से ही मन को प्रसन्न रखा जा सकता है और अनेकों मनोरोगों से बचा जा सकता है। सज्जनता, शिष्टता एवं आदर्शवादिता का समुचित मात्रा में अवलम्बन ही वह प्रमुख आधार है जो मनुष्य की मानसिक उद्विग्नता, तनावग्रस्तता एवं मनो-शारीरिक रोगों का समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

अंतरंग को परखें, बहिरंग से प्रभावित न हों

पैमाने गलत हों, मूल्यांकन की कसौटियाँ विकृत हों तो अन्याय स्वभाव बन जाता है। आज समाज में अन्याय, अनीति तथा भ्रष्टाचार की कुटिल व्यूह रचना दिखाई पड़ती है, उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व उन गलत मापदण्डों पर भी है जिसके आधार पर मनुष्यों को तोला-नापा जा रहा है। जो उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन की कसौटी बने हुए हैं।

लोगों ने देखा कि कितनी विशाल कोठी है। सोने की तरह दमक रही है। खिड़की, दरवाजे और रोशनदान रंगीन काँच से जड़े हुए हैं। रेशमी पर्दे झिलमिला रहे हैं। मूनलाइट बल्ब जल रहे हैं। स्टीरियो डेक से गायन-वादन के स्वर गूँज रहे हैं। आँखें चकाचौंध हो गईं, कान लालायित हो उठे, मन कह उठा साक्षात् स्वर्ग का निवास है। बड़ा भाग्यवान है इसका मालिक! कितना बड़ा आदमी होगा? लाखों, करोड़ों होंगे इसके पास। अनायास श्रद्धा

जागी और उस अनजान धनवान की ओर झुक गई। उसका बड़े आदमी के रूप में मूल्यांकन हो गया। वह चर्चा और प्रतिष्ठा का पात्र बन गया और कोई अवसर आने पर पूजा, प्रतिष्ठा के रूप में उसका मूल्य व्यक्त कर दिया जाता है।

धन प्रतिष्ठा का विषय रहा है। इसलिए कि यह पश्चिम एवं पुरुषार्थ का साक्षी होता था। प्राचीन समय में जब धन को प्रतिष्ठा के विषयों में स्थान दिया गया था, लोग यह कल्पना तक भी नहीं कर सकते थे कि इसका अर्जन-उपार्जन अनीति के मार्ग से भी किया जा सकता है। अनुचित तथा अनीति पर पैसे और पैसे वाले से लोग ऐसे डरते और घृणा किया करते थे जैसे विषैले सर्प से। कोई किसी का अन्न खाने, दान या सहायता लेने में हजार प्रकार से सोच-विचार किया करते थे। उसी की सेवा अथवा सहायता स्वीकार की जाती थी जिसकी कमाई के विषय में यह विश्वास रहता था कि प्रत्यक्ष तो क्या परोक्ष रूप में भी इसका पैसा अन्याय अथवा अनीति से दूषित नहीं हुआ है। यदि इस प्रकार का संदेह भी होता जाता था तो समाज का बच्चा-बच्चा लक्षाधिपति होने पर भी उस धनवान को नीची नजर से देखा करता था। जिससे उसकी धनाढ्यता ही उसके लिए काल-फाँस की तरह दुःखदायिनी हो जाती थी।

समाज द्वारा इस कठोर मूल्यांकन से अनुशासित तब के धनवान अपने व्यापार एवं व्यवसाय में पराकाष्ठा तक पवित्र एवं सत्यपरायण रहकर विशुद्ध पश्चिम एवं पुरुषार्थ से उस स्थिति तक पहुँचकर प्रतिष्ठा के पात्र बनते थे। साथ ही यह विशुद्धता भी तब तक मान्यता नहीं पाती थी जब तक उसका पवित्र धन पवित्र एवं पुनीत कामों में व्यय नहीं होता था। इस प्रकार आय-व्यय दोनों की समान पवित्रता से तुलकर ही कोई धनवान धन के आधार पर उसी प्रकार समाज में मान्यता एवं श्रद्धा के भाजन बन पाते थे जैसे जनसेवा के अन्य कार्य करके कोई सत्पुरुष।

पहले जहाँ धन की मात्रा का कोई मूल्य नहीं था, मूल्य था उसके आय-व्यय की रीति-नीति का, वहाँ आज आय-व्यय की रीति-नीति का तो कोई मूल्य रहा नहीं। धन की मात्रा को ही श्रेष्ठत्व का मापदण्ड मान लिया गया है। स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है, इसलिए उसका प्रभाव एवं परिणाम भी उल्टा हो गया है।

लोगों ने कोठी, कार, एयर कण्डीशन, टी. वी. वी. सी. आर., आदि हास-विलास और आमोद-प्रमोद की चहल-पहल देखी नहीं कि बड़ा आदमी मान लिया और मान-सम्मान देना शुरू कर दिया। मान-सम्मान जैसी

बहुमूल्य चीज और श्रद्धा जैसी दुर्लभ वस्तु जो कि त्याग, तपस्या, साधना, सेवा, श्रम और पुरुषार्थ के आधार पर इतनी सस्ती और आसानी से मिल सकती है तब क्या किसी ने भाँग खाई है कि वह प्रतिष्ठापूर्ण जीवन जीने के लिए संयम तथा साधना करता फिरे। सेवा और त्याग का प्रमाण देता घूमे। क्यों न किसी प्रकार से धन बटोर कर उसे प्राप्त किया जाये? जनता द्वारा धन के प्रभाव में आकर दी जाने वाली इस सस्ती सामाजिक प्रतिष्ठा ने लोकप्रियता के प्यासे लोगों को अंध आर्थिकता में डुबो दिया है।

यही नहीं कि लोग किसी का धन वैभव देखकर ही प्रभावित हो जाते और उसे प्रतिष्ठापूर्ण दृष्टि से देखने लगते हों, फिर चाहे उसका धन उनके अथवा समाज के किसी हित में आता हो या न आता हो। प्रतिष्ठा का स्तर इतना गिर गया है, सम्मान इतना सस्ता हो गया है कि जन सामान्य धन के संचय को ही नहीं अपव्यय तक को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। नाच-रंग में डूबा रहना, शराबखोरी और फैशन-परस्ती में लगा रहना, ब्याह-शादियों में धूम-धड़ाका करते रहना, बड़ी-बड़ी दावतों और शहर में पैसा पानी की तरह बहाना तक लोगों के लिए श्रद्धास्पद बन जाता है। लोग उसे उदार, बड़ा आदमी, शाह खर्च कहकर सम्मान करते और रास्ता देते हैं। जनता की इस सस्ती श्रद्धा और अस्तरीय मापदंड ने भी लोगों की अंध आर्थिकता बढ़ाने में बहुत कुछ योग दिया है।

हर विचारशील व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है कि वह किसी के वैभव विलास से प्रभावित होकर उसका मूल्यांकन करने से पहले यह अवश्य देख ले कि इस सम्पत्ति का आधार नीतिपूर्ण रहा है या नहीं? उसे उसके साधन, उपायों तथा युक्तियों की पवित्रता की खोज कर लेना आवश्यक है जिससे कि गलत कामों के त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन का अपराध न हो जाये।

जब यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि अमुक व्यक्ति छल-कपट, छीना-झपटी, चोर बाजारी, मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार को आधार बनाकर कोठी पर कोठी बनाये जा रहा है, बैंक बैलेस कारोबार बढ़ाता जा रहा है तब क्या उसे अधिकार है कि वह हमारी प्रशंसा अथवा सम्मान की भावना को पाये और क्या हमें ही अधिकार है हम उसे कुछ दें? यदि हम दोनों में से कोई भी ऐसा करता है तो अनाधिकार चेष्टा करता है, समाज में अंध अर्थवाद को बढ़ावा देकर भ्रष्टाचार फैलाने में सहयोग करता है जो कि सामाजिक अपराध एवं आध्यात्मिक पाप है।

आज यदि लोग धनाढ्यता का मूल्यांकन करना छोड़कर साधनों और उसके उपायों पर ध्यान रखने लगे तो समाज में पैसे के लिए फैला हुआ भ्रष्टाचार बहुत कुछ कम हो सकता है। अनुचित साधनों के कारण यदि धनिकों का मूल्यांकन कम हो जाये, उनका वह अन्याय उपाजित वैभव घृणा एवं तिरस्कार का प्रसंग बन जाये तो निश्चय ही लोग आवश्यकता से अधिक धनवान बनने की लिप्सा छोड़कर सम्मान-रक्षा के लिए कमाई के उचित एवं उपयुक्त उपाय अपनाने के लिए विवश हो जायें।

आर्थिक क्षेत्र की ही तरह धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जनता के मूल्यांकन की कसौटी खोटी हो गई है। जिसे भी रंगे कपड़े पहने, जटा रखाये, चन्दन लगाये और भस्म रमाये देख लिया उसी को महात्मा, सन्त अथवा साधु समझ लिया और पूजा प्रसाद चढ़ाने लगे। सेवा करने और वरदान की आशा लगाने लगे। जिसको भी धार्मिक शब्दावली में वाचलता करते सुन लिया। विद्वान, दार्शनिक-तत्त्ववेत्ता मान लिया। जिसे हाथ उठाये, पैर गड़ाए शरीर तपाते पानी में खड़े सूर्य से आँख मिलाये देख लिया उसे ही सिद्ध, चमत्कारी, मुक्त, बीतराग, गुणातीत आदि न जाने क्या-क्या समझकर पूजा-प्रतिष्ठा करने लगे।

जनता की इस सस्ती श्रद्धा ने आध्यात्मिक क्षेत्र में रंगे स्यारों की बाढ़ बुला दी है। जब ढोंग, आडंबर तथा बहुरूपियापन करके तपस्वियों तथा सिद्धों जैसी पूजा पाई जा सकती है, स्थान पर बैठे-बैठे पुजापा प्राप्त किया जा सकता है तब क्या जरूरत है कि त्याग-तपस्या का असिंधारा के समान तीखा मार्ग अपनाया जाय?

पता नहीं श्रद्धा जैसी बहुमूल्य संपत्ति को लोग बिना परखे, पहचाने ढोंगियों तथा आडम्बरियों पर क्यों लुटाते फेंकते फिरते हैं? वे यह क्यों सोचने समझने की कोशिश नहीं करते कि अध्यात्म साधना और उसकी सिद्धियाँ यदि इतनी सरल और सस्ती होतीं तो प्राचीन ऋषि-मुनि आत्म परिष्कार, चिन्तन-मनन तथा स्वाध्याय में अपना जीवन क्यों खपा देते? आध्यात्मिक सिद्धियों के धनी क्या इस प्रकार गली-गली पैसा और प्रतिष्ठा माँगते-धूमते हैं? क्या यह शंका और संदेह का विषय नहीं है कि जो दूसरों को धन-वैभव, संपत्ति, संतान का वरदान देने की क्षमता रखता है वह क्यों स्वयं दरिद्री-भिखारी तथा पैसे-पैसे के लिए जान दे रहा है? क्या दूसरों को लाखों का वरदान देकर दो पैसे माँग ले जाने वाला सिद्ध हो सकता है? उसकी पूजा की जानी चाहिए। इस मान्यता में कौनसा तुक है यह समझ में नहीं आता। अटपटे शब्दों का उच्चारण और विलक्षण क्रिया, प्रतिक्रिया के साथ भूत भगाने वाले, रोग और दोष दूर करने वाले यदि पूजा-प्रतिष्ठा के अधिकारी हो सकते

हैं तो क्या कारण है कि विचित्र एवं अनबुझ भाषा बोलने और असंगत काम करने वाले पागल पूजा के अधिकारी नहीं हैं, ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है।

भाषण सुनकर भक्त हो जाने और शब्द सुनकर ही विश्वास कर लेने का सर्वजनीन दुर्बलता समाज में नित्य नये वाक् वक्त्रों को जन्म देती और आगे बढ़ाती रहती है। शब्द सुनकर ही किसी के प्रभाव में आ जाना, वह प्रोत्साहन एवं प्रेरणा है जिससे लोग व्यक्तिगत आचरण की उपेक्षा कर वाक्पटुता का अभ्यास करके सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठा पा लेते हैं। जनता पर यदि महत्त्व का मापदंड होता तो निश्चय ही वाक्-वक्त्रों की बुद्धि पर अंकुश लग जाता और समाज परिगत प्रवृत्ति के धर्म-ध्वजियों तथा वक्त्रों से होने वाली हानियों से बच जाता और धार्मिकता तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ रहे भ्रष्टाचार की बाढ़ पर रोक हो जाती। किन्तु खेद है कि जनता की अंध श्रद्धा अंधविश्वास और मूल्यांकन की छोटी कसौटी ही हित अनहित का निर्देशन नहीं करने देती।

यह बात बड़ी सीमा तक सत्य मानी जा सकती है कि यदि लोक जीवन में विवेकशीलता उभर सके और मूल्यांकन के विषय में अपनी श्रद्धा एवं प्रतिष्ठा का मापदंड ठीक करके सही कसौटी काम में लायी जाय तो जीवन के व्यापक दायरे में भ्रष्टा बहुत हद तक दूर हो सकती है। अर्थ तथा धर्म के क्षेत्र में देखने, परखने और मूल्यांकन करने का सही मापदंड साधन और सच्ची कसौटी व्यक्ति के कथन तथा आचरण की एकरूपता ही है। जिस दिन लोक मानस इस तथ्य को हृदयंगम कर तटस्थ आचरण पर उतारू हो जायेगा। उसी दिन सुधार शुभारम्भ सुनिश्चित है।

सही जीवनयापन के लिए नैतिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। इससे सरल और सरस प्रक्रिया बनी रहती है और शान्तिपूर्वक निर्बाह होता रहता है। अनैतिक आचरण से अन्तर्द्वन्द्व उठते हैं, आत्म-ग्लानि बढ़ती है। समाज की निन्दा, तिरस्कार और शासन का न्याय-दण्ड सदा डराता रहता है। इस दबाव से मनःसंस्थान इतना पिसता है जितना कि लगातार मानसिक श्रम करने पर भी पिसना नहीं पड़ता। सन्तुलित जीवनयापन करने के लिए चिन्तन की सन्तुलित दिशाधारा लोगों को मालूम नहीं होती, फलतः इधर से उधर भटकने और औचिन्त्य चिन्तन करने लगते हैं। भय, आशंका निराशा उन्हीं लोगों को होती है जो परिस्थितियों पर असन्तुलित प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं और घबराहट में अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की तरह मस्तिष्क को विक्षिप्त एवं अर्धविक्षिप्त बना लेते हैं।

विक्षिप्तता और उसका

स्थायी समाधान

मनोविकारों और मानसिक रोगों में क्रिया और प्रतिक्रिया जितना ही अन्तर है। काम और उसका परिणाम देखने में दो प्रकार के होते हैं, पर वस्तुतः दोनों के बीच घनिष्ठ तारतम्य रहता है। चोरी करना जब आदत में सम्मिलित हो जाता है और अवसर पाते ही वह क्रिया अनायास ही होने लगती है तब उसे मनोविज्ञानी 'क्लपटोमीनिया' कहते हैं। नशेबाजी की गहरी आदत 'डिपसोमीनिया' कहलाती है। पदार्थों को नष्ट करने की अदम्य अभिलाषा 'वायरोमीनिया' कहलाती है। दूसरों को कष्ट पाते देखकर मजा लूटने का स्वभाव 'म्यूटिलोमीनिया' कहलाता है। यौन कुत्साएँ जो बेतरह मन पर छाई रहती हैं डिमेनशिया कहलाती हैं।

किसी स्वजन सम्बन्धी की मृत्यु एवं हानि दुर्घटना का समाचार सुनकर चेहरा सुस्त पड़ जाता है और भूख मारी जाती है। भय के अवसर उत्पन्न होने पर शरीर काँपता है, पसीना छूटता है, मुँह सूखने और रोमाञ्च खड़े होने लगते हैं। क्रोध में भयंकर उष्णता उत्पन्न होती है और उस गर्मी से पक्षाघात, रक्तचाप जैसे रोग उत्पन्न होने का भय रहता है। कहा जाता है कि एक घण्टे का क्रोध एक दिन के बुखार की बराबर शक्ति क्षीण करता है। मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार अनेक मनोविकारों के परिणाम भयङ्कर बीमारियों के रूप में सामने आते हैं। हृदय रोग, श्वैस रोग एवं पाचन सम्बन्धी कितने ही रोग शारीरिक गड़बड़ी से उठने नहीं होते जितने कि मानसिक दबावों के कारण। निराशा और खिन्न रहने वाले व्यक्ति मधुमेह, अनिद्रा, अपच, गठिया, सिरदर्द जैसे रोगों से ग्रसित रहने लगते हैं।

पूरे मनःसंस्थान में विभिन्न प्रकार की अनेकानेक विसंगतियों का उत्पन्न हो जाना ही पागलपन कहा जाता है। इस स्थिति को 'स्किजोफ्रीनिया' कहते हैं। आंशिक विक्षिप्तता को सनक, मूढ़ता आदि नाम दिये जा सकते हैं। ऐसे लोग आजीविका उपार्जन, नित्यकर्म आदि जीवन निर्वाह के सामान्य कार्य मजे में करते रहते हैं। किसी विशेष प्रयोजन में ही वह सनकते और गड़बड़ाते हैं। इस स्तर की बीमारियाँ न्यूरोसिस कहलाती हैं।

उदास प्रकृति का पागलपन एकाकी होता है। वह दूसरों के सम्बन्ध में न अधिक सोचता है न उनसे मतलब रखता है। अपने में ही खोया रहता है। अपनी मनमर्जी से चलता है। न वह किसी को अपना मानता है और न अपने ऊपर किसी का अधिकार स्वीकार करता

है। अपने बेढंगेपन पर उसे दूसरों की प्रतिक्रिया की परवाह नहीं होती। आत्म केन्द्रित रहकर वह गुजारा करता है कोई इच्छा, महत्वाकांक्षा भी उसकी नहीं होती।

कमजोर मन वाले व्यक्तियों को तनिक-सी प्रतिकूलताएँ बहुत डरावनी लगती हैं और उनसे भयभीत होकर वे अपना मानसिक सन्तुलन बिगाड़ लेते हैं। दाम्पत्य रीति-नीति से अपरिचित लड़कियाँ सुहागरात प्रकरण से कई बार इतनी डर जाती हैं कि उन्हें उस प्रकार की पुनरावृत्ति प्राण संकट जैसी लगती है। इसी प्रकार कई गर्भवतियों का मानसिक स्वास्थ्य प्रसव पीड़ा की भयानकता को बढ़ा-चढ़ाकर सोचते रहने से चौपट हो जाता है। पति या सास के थोड़े से दुर्व्यवहार से नव-वधू कभी-कभी इतनी घबरा जाती हैं कि उन लोगों के साथ रहना उन्हें असह्य प्रतीत होता है और बच निकलने का मार्ग न देखकर आत्महत्या जैसे दुःखदायक प्रसंग खड़े कर लेती हैं। ससुराल में उपेक्षा, पितृगृह का बिछोह, नये वातावरण में फिट न हो सकना, पुरानी जीवनयापन पद्धति में भारी अन्तर आने जैसी विसंगतियों का तालमेल न बैठ पाने से कई नव विवाहिताएँ भूत-पलीत, मृगी घबराहट के दौर आने जैसी बीमारियों में फँस जाती हैं।

उत्तेजित प्रकृति के पागल हर समय बेचैन रहते हैं। उत्तेजनाग्रस्त, अस्थिर, चंचल उन्हें पाया जाता है जो कुछ न कुछ उठक-पटक करते रहते हैं, बड़बड़ाते हैं, दूसरों के कामों में हस्तक्षेप करते हैं और लड़ने-मरने पर उतारू रहते हैं। आत्म प्रशंसा, दर्प प्रदर्शन, धमकी, दूसरों का तिरस्कार जैसी हरकतों में उन्हें संलग्न देखा जा सकता है। इस स्तर की बीमारी 'हैब्रेनिक' कहलाती है। शारीरिक और मानसिक तनाव बढ़ा-चढ़ा रहे। चैन से न बैठे और न बैठने देने की स्थिति हो तो उसे 'कैटाटोनिक' कहा जायगा। अदृश्य दृष्टि देखना, तरह-तरह की आवाजें सुनना-पीड़ा प्रताड़ना सहनी पड़ रही है ऐसा आभास होना—यह चिन्ह पागलपन के उस स्तर के हैं जिसे 'पैरेनोइड' कहा जाता है।

हताश, निराश बैठे रहने से रोगियों के रक्त में 'सेरेटोनीन' का अनुपात न्यूनाधिक हो जाता है। ऐसे लोग खिन्न होकर आत्महत्या कर बैठते हैं। कहीं दूर एकान्त में जा बसने वाले प्रायः इसी मर्ज के मरीज होते हैं।

कई व्यक्तियों को अपनी कल्पनाएँ बहुत दिन तक सँजोये रहने पर वे वास्तविकता जैसी लगने लगती हैं और फिर वे उसे वास्तविक घटना समझने लगते हैं और वैसा ही वर्णन करने लगते हैं। इसे 'कोर्साकोप्स सायकोसिस' कहा जाता है। सिद्ध योगियों के, देवी-देवताओं के भूत-प्रेतों के, चमत्कारों के—आँखों देखे

घटनाक्रम की तरह दावे के साथ बताने वालों में प्रायः इसी रोग के मरीज होते हैं। वे कल्पनाओं को वास्तविक समझने में ईमानदार गलती करते रहते हैं।

विस्मृति के साथ-साथ यदि विसंगतियाँ उस स्थान पर जम बैठे तो पिछली घटनाओं को, व्यक्तियों को अथवा सम्बन्धों को अवास्तविक रूप से अपना लिया जाता है ऐसी स्थिति में उनके कथन में ऐसी बातें घुस पड़ती हैं, जिनके लिए मिथ्या भाषण का दोष लगाया जा सके। एल्जाइमर एवं लोप्रेषर हाइड्रोसेफलस रोग प्रायः वृद्धावस्था में ही होते हैं और विस्मरण से उत्पन्न विक्षिप्तता के लक्षण बढ़ जाते हैं। 'सठियाना' इसी को कहते हैं। साठ वर्ष बाद अनेकों को हल्के भारी रूप में इस प्रकार की मानसिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

विक्षिप्तता की चरम सीमा तक पहुँच जाने पर रोगी को पकड़कर पागलखाने पहुँचाया जाता है। इससे कम की स्थिति में मानसिक रोग सनक, उदण्डता, दुष्टता आदि समझे जाते रहते हैं। जबकि वह अटपटापन वस्तुएँ मानसिक अस्वस्था के कारण ही उत्पन्न होता है। सही मनःस्थिति होने पर वह व्यक्ति पछताता भी है और अपने को सुधारना भी चाहता है, पर कोई ऐसा विचित्र आवेश दौर के समय चढ़ता है और वह कुछ से कुछ करने लगता है।

पागलखाने के डाक्टरों के पास कुछ थोड़े से उपचार हैं और वे प्रायः उन्हीं में उलट-पुलट करते रहते हैं। भारतीय जड़ी-बूटियों में पागलपन की दवाओं में 'सर्पगंधा' की अधिक ख्याति है। ऐलोपैथी परीक्षणों में उसे रक्तचाप के लिए अधिक उपयोगी पाया गया है। ऐलोपैथ सर्पगंधा के समकक्ष एक अन्य औषधि—'रेजरपीन' का उपयोग करते रहे हैं। इन दिनों एमीप्रभीन, ट्राइसाइकलिक, लीथियम कारबोनेट जैसी कई औषधियों का अधिक प्रचलन है। इन्हीं दिनों कई नई औषधियाँ बाजार में आई हैं, अभी उनके परिणामों के बारे में निश्चित निष्कर्ष नहीं निकले हैं।

शल्य चिकित्सा में पागलपन का उपचार करने की पद्धति को 'सिग्लोटोमी' कहते हैं। इनमें गड़बड़ी पैदा करने वाले भाग को काटकर अलग कर दिया जाता है। इससे अटपटापन तो दूर हो जाता है, पर मस्तिष्क की प्रखरता में भारी कमी आ जाने से स्थिति मन्द बुद्धि जैसी बन जाती है। अगले और पिछले मस्तिष्क का सम्बन्ध सूत्र काट देने से मनुष्य की बुद्धिमत्ता चली जाती है हाँ, किसी प्रकार शान्तिपूर्वक जीवनयापन कर सकने जैसी स्थिति अवश्य बन जाती है। इन उपचारों से

चिन्ताजनक स्थिति का ही समाधान निकला है। पगलाये हुए व्यक्ति को भले चंगे मनुष्य के स्तर पर फिर से ला सकने जैसी सफलता नहीं मिली है।

मस्तिष्कीय कोशाओं और तन्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र शिथिल पड़ जाने से सही निष्कर्ष निकालना और सही निर्णय करना उसके लिए कठिन हो जाता है। अभ्यस्त क्रिया-कलापों में से कोई भी, कुछ भी, कभी भी उठ सकता है। शरीर एवं मन द्वारा किसी भी प्रकार की अनियन्त्रित गतिविधियाँ चलने लग सकती हैं। यही है मोटे रूप से पागलपन की व्याख्या। इस असम्बद्धता को दूर करने में बिजली का झटका देने की उपचार पद्धति काम में लाई जाती है। उछलकर लम्बी कूद कूदने और बीच की खाई पाट लेने की रीति-नीति मस्तिष्कीय घटकों की असम्बद्धता दूर करने के भी काम आती है। इसे 'शाकथिरैपी' कहते हैं। मस्तिष्क को बिजली का झटका देने से पहले इन्मुलीन का इन्जेक्शन लगाया जाता है। जिससे रक्त में शर्करा की मात्रा घट जाती है और रोगी बेहोश हो जाता है। इस बेहोशी की हालत में ही मस्तिष्क में बिजली के झटके दिये जाते हैं। काम पूरा हो चुकने पर कोकजिक्स इन्जेक्शन देकर रोगी को फिर से होश में कर लिया जाता है। जिस प्रकार भावनात्मक झटका लगने से मनुष्य पगला सकता है उसी प्रकार शाकथिरैपी के आधार पर मस्तिष्कीय संस्थान को इनझना देने वाले बिजली के झटके उस टूट-फूट को दुरुस्त करते हुए भी देखे गये हैं। पागलपन की चिकित्सा में यही पद्धति अन्य सभी उपचारों से अधिक सफल देखी गई है।

पागलखानों के डाक्टर कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ रोगियों के शरीर में पहुँचाकर उस कमी को पूरी करते हैं जो मानसिक रोगों का कारण समझी जाती है। इस प्रकार के रसायनों में 'केटेकोलोमीन' वर्ग की औषधियाँ ही प्रधान रूप से काम में लाई जाती हैं। इनकी एक शाखा 'एड्रेनेलीन' हारमोन की है, जिससे मस्तिष्कीय शिथिलता घटती और उत्तेजना बढ़ती है। इनसे अवसाद की, शिथिलता की स्थिति दूर होती है। दूसरी शाखा 'नोराड्रेनेलीन' रसायनों की है जो अपेक्षाकृत हल्की है उससे उत्तेजना नहीं फुर्ती भर आती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य औषधियाँ भी प्रख्यात हैं। जैसे तन्तु संस्थान के अवरोधों को दूर करने वाला-डोपामीन। आवेग रोकने के लिए-सेरोटोमीन आदि।

मन:चिकित्सा का एक तरीका यह है कि रोगी को कुछ भी कहने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। आदमी उसी की चर्चा करता है जो उसकी समझ से अधिक

महत्वपूर्ण है। भले ही वह दूसरों की दृष्टि में निरर्थक ही क्यों न हो? दिलचस्पी से सुनने पर रोगी अपने जीवन की, मन की-स्मृतियों को कहना आरम्भ कर देता है। यह क्रम एकाध घण्टे नित्य चलता है फलतः उसके जी में जमी हुई ऐसी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। जिनके कारण मनोरोग उत्पन्न होते माने जाते हैं। मान्यता यह है कि कोई अप्रिय प्रसङ्ग जीवन में आते हैं और वे दूसरों से कहने योग्य न होने के कारण मस्तिष्क के किसी कोने में छिपे पड़े रहते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क खुली पुस्तक की तरह होना चाहिए जिसे कोई भी पढ़ सके तो किसी को भी खुशी-खुशी पढ़ाया जा सके। ऐसा दुराव रहित निष्कपट मन स्वच्छ रहता है। ग्रन्थियाँ दुराव की होती हैं। वे गुदें, मूत्राशय या जिगर में जमने वाली पथरी की तरह दिमाग में जम जाते हैं और बाहर न निकलने तक चुभे हुए काँटे की तरह कष्ट देते रहते हैं। इन्हें निकाल बाहर किया जाय तो मनोरोग दूर होते हैं। मनोरोग चिकित्सा में यही पद्धति प्रमुखतया काम में आती है और यदि दुराव के कारण उन्माद हुआ और उसे बिना संकोच कहकर प्रकट कर दिया गया तो उसका अच्छा परिणाम होता है और उस व्यथा के निवारण में सहायता मिलती है।

संसार भर में बढ़ते हुए पागलपन पर मन:विशेषज्ञों ने चिन्ता व्यक्त की है और रोकथाम तथा उपचार के अनेकों तथ्य खोजे एवं उपाय सोचे हैं। औषधि उपचार से नहीं के बराबर लाभ हुआ है। मस्तिष्क को ठप्प या उत्तेजित करने वाली औषधियाँ आरम्भ में कुछ लाभ दिखाकर अपना फिर प्रभाव दिखाना बन्द कर देती हैं। इसके अतिरिक्त उनमें बुद्धि मन्द पड़ते जाने जैसी नई व्यथा उत्पन्न होती है तो लगभग पागलपन के ही समतुल्य होती है।

चिकित्सा जितनी महत्वपूर्ण है उससे भी अधिक महत्व रोकथाम के उपाय बरतने पर दिया जाना चाहिए। उन्माद के मूल कारण असन्तुलन को दूर करने के लिए नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मन:शास्त्र के उन सिद्धान्तों को जन-मानस में प्रतिष्ठापित कराया जाना चाहिए जो मनुष्य को सरल, सौम्य एवं शालीनता का जीवनयापन करने की विधि-व्यवस्था समझाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म धारणा और अध्यात्म साधना को उपयोगी उपचार की तरह काम में लाया जा सकता है। उसकी उपयोगी विधि-व्यवस्था अपनाकर न केवल उन्मादी और सनकी रोग रहित किये जा सकते हैं, वरन् वैसे उपद्रवों की रोकथाम भी सहज ही हो सकती है। इस निष्कर्ष पर विचारशील मन:शास्त्री पहुँच रहे हैं और समय पूर्व जिस नीतिशास्त्र का उपहास किया जा रहा था अब उसका

समर्थन मानसोपचार के रूप करने की बात सोची जा रही है। यही है विक्षिप्तता को रोकने और समाप्त करने का स्थिर समाधान।

अन्तरंग को स्वस्थ व निर्मल बनायें

जैसे-जैसे हमारी गति स्थूल से सूक्ष्म में होती जा रही है, वैसे-वैसे हमें संकटों और अभावों के वास्तविक कारणों को समझने में सुविधा मिलती जा रही है। मोटी बुद्धि हमेशा संकटों का कारण बाहर ढूँढती है। व्यक्तियों, परिस्थितियों पर ही सबका दोष थोपकर निश्चित हो जाती है। समझदारी बढ़ने पर पता चलता है कि घटिया व्यक्तित्व ही पिछड़ेपन से लेकर समस्त विपन्नताओं की जड़ है। व्यक्तित्व का घटियापन सूझ ही न पड़े, उसके सुधार की कोई योजना ही नहीं बने तो परिस्थितियों की विपन्नता का समाधान हो ही नहीं सकता। वे एक से दूसरा रूप भर बदलती रहेंगी।

बहुत समय पहले शारीरिक व्याधियों का कारण भूत पत्नीतों का आक्रमण समझा जाता था। बाद में वात, पित्त-कफ के ऋतु प्रभाव का कारण उन्हें माना गया। उसके बाद रोग कीटाणुओं के आक्रमण की बात समझी गई। शोध के इस प्रगति क्रम में उतरते-उतरते इन दिनों अरोग्य शास्त्र के पण्डितों ने इस तथ्य को खोज निकाला है कि शारीरिक रोगों के सन्दर्भ में आहार-विहार विषाणु आक्रमण आदि तो बहुत स्वल्प मात्रा में दोषी हैं। रुग्णता का वास्तविक और मूल कारण तो व्यक्ति की मनःस्थिति में अन्तर्निहित है।

इन शोध प्रयासों से जो नये-नये तथ्य सामने आए हैं उनसे पता चलता है कि शरीर की प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष क्रियाओं पर पूरी तरह मानसिक अनुशासन काम करता है। अचेतन मन की छत्र छाया में श्वाँस-प्रश्वाँस, ग्रहण-विसर्जन, रक्त परिसरण आदि अनैच्छिक कहलाने वाली क्रियायें चलती रहती हैं। चेतन मन के द्वारा बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले क्रिया-कलापों और लोक व्यवहारों का क्रम चलता है। इस तरह शरीर की परोक्ष और प्रत्यक्ष क्षमता पूर्णतया अचेतन और चेतन कहे जाने वाले मनःसंस्थान के नियंत्रण में रहती है।

यह स्थूल क्रम हुआ। बारीकी में उतरने पर पता चलता है कि अमुक शारीरिक रोग अमुक मनोविकार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और वे तब तक बने ही रहते हैं जब तक कि मानसिक स्थिति में कारगर परिवर्तन न हो जाय इस अनुसंधान ने उस असमंजस को दूर कर दिया है जिसके अनुसार सारी गड़बड़ियों की जड़ बाहर

मानकर उसे दूर करने के लिए बाहरी प्रयत्नों को ही सब कुछ माना जाता था।

अब आरोग्य दशा और रोग निवृत्ति की दोनों ही जरूरतों की पूर्ति के लिए मनःसंस्थान की खोज-बीन करना जरूरी हो गया है और समझा जाने लगा है कि यदि मनुष्य के चिन्तन क्षेत्र में घुसी गड़बड़ियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, वहाँ जमी वितृष्णाओं और विपन्नताओं का समाधान न किया गया, तो आहार-विहार का सन्तुलन बनाये रहने पर भी रुग्णता से पीछा छूट नहीं सकेगा। अब नये शोध प्रयासों ने कुछ दुर्घटना जैसे-आकस्मिक कारणों से उत्पन्न होने वाले रोगों को ही शारीरिक माना है और लगभग समस्त बीमारियों को मनःक्षेत्र की प्रतिक्रिया घोषित किया है। गहरी खोजों के फलस्वरूप आरोग्य जैसे मानव जीवन के अति महत्वपूर्ण प्रयोजन पर नये सिरे से विचार करना होगा।

इस तरह के विचार का शुभारम्भ मनोविद एरिक फ्रॉम ने अपनी रचना 'मैन फॉर हिमसेल्फ' में किया है। उनका मानना है कि अधिकांश मानसिक विकृतियों का कारण नैतिक होता है। छल-दुराव एवं ढोंग पाखण्ड के कारण दो व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाते हैं। एक वास्तविक, दूसरा पाखण्डी। दोनों के बीच भयंकर अन्तर्द्वन्द्व खड़ा रहता है। दोनों एक-दूसरे के साथ शत्रुता बनाये रखते हैं और विरोधी को कुचलकर अपना वर्चस्व बनाने का प्रयत्न करते हैं। मनोअध्येता फ्रायड ने इसे 'ईड' और 'सुपर इगो' के बीच का द्वन्द्व माना है। इस तरह विग्रह के फलस्वरूप अनेकों रोग उठ खड़े होते हैं और वे वैसी ही मानसिक स्थिति में बने रहने तक हटने का नाम नहीं लेते।

मानसिक रोगियों में प्रायः विक्षिप्त अर्थ विक्षिप्त स्तर के ऐसे लोग गिने जाते हैं जो अपना सामान्य काम-काज चला सकने में असमर्थ हो गये हों, जिनका शरीर निर्वाह एवं लोक व्यवहार विपन्नताग्रस्त हो। ऐसों की संख्या भी लाखों से बढ़कर करोड़ को अपने देश में ही छूने लगी है। उन लोगों की कोई गणना ही नहीं जो रोजी-रोटी तो कमा लेते हैं, खाते और सोते समय भी साधारण लगते हैं पर उनका चिन्तन विकृत एवं हेय होता है। कितने ही दुष्टता की भाषा में सोचते हैं और हर किसी पर दोषारोपण करते हुए उन्हें शत्रुता की परिधि में लपेटते हैं, कितने ही आशंकाओं-आपेक्षों-सन्देहों के अभ्यस्त होते हैं। कुछ शेख-चित्तियों की तरह मनसूबे बाँधते, संभव-असम्भव का विचार किये बिना अपने सपनों की एक अनौखी दुनिया बसाते रहते हैं। परिस्थिति का मूल्यांकन कर सकना दूसरों की मनःस्थिति समझ सकना

उनके लिए सम्भव नहीं होता। किसी महत्वपूर्ण प्रसंग में ऐसों का परामर्श तनिक भी काम का सिद्ध नहीं होता। अपनी कार्य-पद्धति को किसी उद्देश्य के साथ जोड़ सकना, उनसे नहीं बन पड़ता। इन्हें पागल तो नहीं कह सकते, पर व्यक्तित्व की परख की दृष्टि से उससे कुछ अच्छी स्थिति में भी उन्हें नहीं समझा जा सकता।

मन:शास्त्री जे. वान. क्लासविट्ज ने अपने अध्ययन "माडर्न सोसाइटी एण्ड ह्यूमन बिहैवियर" में आज की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विक्षिप्त-अर्धविक्षिप्त और विक्षिप्तता के सन्निकट सनकी लोगों से प्रायः आधा समाज भरा पड़ा है। ऐसे लोगों में विवेक बुद्धि एवं विवेचनात्मक चिन्तन का अभाव रहता है। स्वतंत्र चिन्तन के प्रकाश में उनकी आँखें चौधिया जाती हैं। इस वर्ग के लोगों को मानसिक दृष्टि से अविकसित, नर-पामरों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

सोचने की बात है यह सब होता क्यों है? मनुष्य का प्रत्यक्ष दोष दिखाई नहीं देता। जान-बूझकर ऐसा कुछ किया हो जिससे उन शारीरिक व्याधियों और मानसिक आधियों का दुःख सहना पड़े, ऐसा कुछ समझ में नहीं आता। फिर क्या कारण है कि समाज में इनकी संख्या स्वस्थ लोगों से कहीं बढ़ी-चढ़ी दिखाई पड़ती है।

इस असमंजस का समाधान देते हुए मन:शास्त्र आचार्य ह्री. गोर्डन. चाइल्ड ने अपने अध्ययन "सोसाइटी एण्ड नॉलेज" में बताया है कि अनैतिक एवं असामाजिक चिन्तन और कर्तृत्व से मन:क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला अन्तर्द्वन्द्व दुहरा व्यक्तित्व रच देता है और उससे निरन्तर उठने वाली आन्तरिक कलह सारी मनोभूमि को क्षत-विक्षत करके रख देती है। संचालन के आहत-धायल एवं परेशान होने पर उसके आधीन काम करने वाले तन्त्र की दुर्दशा होना स्वाभाविक है।

इतना सब जान लेने पर हमें एक ही निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि चेतन की मूल सत्ता अन्तःकरण को प्रभावित करने वाले नैतिक और अनैतिक विचार एवं कर्म ही हमारी भली-बुरी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी हैं। इसी उद्गम से हमारे उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा होता है और यहीं से विपत्तियों का वज्र गिरने वाली दुःखद सम्भावनायें विनिर्मित होती हैं। इस मूल केन्द्र का परिशोधन करना ही समस्या का वास्तविक निदान है। प्रस्तुत संकटों से छुटकारा पाने और निकट भविष्य में फलित होने वाले संचित संस्कारों का निराकरण करने के लिए आन्तरिक परिशोधन का प्रयास इतना अधिक

आवश्यक है कि उसे अनिवार्य की संज्ञा दी जा सकती है।

इस परिशोधन का स्वरूप समझाते हुए मानविकी विद्या के आचार्यों का मत है कि उन्नत चिन्तन एवं उत्कृष्ट कर्म का सामंजस्य ही वह उपाय है जिससे अचेतन में नूतन लिपि लिखी जा सकती है। इनमें से एक का भी अभाव होने से प्रयोजन की समग्रता नहीं घटेगी। इससे न केवल जीवन-क्रम सामान्य बनेगा बल्कि अन्तस्तल में उन दिव्य शक्तियों का अविरल प्रवाह प्रवाहित होने लगेगा, जिनके कारण सामान्य मनुष्य महामानवों और प्रतिभावानों की पंक्ति में जा बैठता है।

अवांछनीय अभिवृद्धि के दुष्परिणाम

अभिवृद्धि की कामना सभी करते हैं और विस्तार को प्रगति एवं सफलता का चिह्न माना जाता है। इतने पर भी यह ध्यान रखने योग्य है कि अभिवर्धन स्वस्थ और सन्तुलित होना चाहिए। अन्यथा अनावश्यक फैलाव कई बार उल्टी समस्या बन जाता है।

शरीर में चर्बी बढ़ जाने से जो स्थूलता आती है वह आँखों को भले ही यह सम्पन्नता का चिह्न लगे और मोटा व्यक्ति भले ही अपनी समृद्धि की शेखी बघारे पर वस्तुतः यह बढ़ा हुआ भार हर दृष्टि से असुविधा ही उत्पन्न करता है। सूजन आने से किसी अंग की स्थूलता बढ़ सकती है, पर उससे किसी को कोई सुविधा या प्रसन्नता नहीं हो सकती।

सुविधा-साधनों की बढ़ोत्तरी के लिए मची हुई आतुर भगदड़ के फलस्वरूप सम्पन्नता बढ़ी है, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इससे स्वस्थ विकास का कोई उपयोगी आधार खड़ा हो रहा है। प्रगति एवं समृद्धि की प्रशंसा तभी की जा सकती है, जब वह सही साधनों से उपलब्ध हुई हो और उसका उपयोग किन्हीं श्रेष्ठ प्रयोजनों के लिए किया जाता हो। इसके विपरीत यदि अवांछनीय तरीकों से वृद्धि हुई है और बढ़ोत्तरी का उपयोग अनुपयुक्त प्रयोजनों के लिए किया जाना है तो निश्चय ही इस उन्नति की तुलना में वह सामान्य स्थिति ही अच्छी थी जिसमें असन्तुलन उत्पन्न होने की शंका तो नहीं थी।

उदाहरणार्थ, अपने समय में औसत मनुष्य के बढ़ते हुए मस्तिष्कीय भार को लिया जा सकता है। मस्तिष्क पर चिन्ताओं का भार बढ़ने की बात यहाँ नहीं कही जा रही है, वरन् उस तथ्य का उल्लेख किया जा रहा है जिसके अनुसार खोपड़ी के भीतर भरे हुए पदार्थ के भार और विस्तार दोनों में ही बढ़ोत्तरी हो रही है और उस

अभिवृद्धि के कारण लाभ नहीं हो रहा, बरन् उल्टा घाटा सहना पड़ रहा है। यह वृद्धि वैसी ही है जैसी कुसंस्कारी की, उसकी बढ़ी हुई सम्पदा दुष्ट दुर्गुणों को बढ़ाने का निमित्त बनती है। हाल ही में ब्रिटिश चिकित्सकों ने परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव मस्तिष्क का भार निरन्तर बढ़ रहा है। लन्दन इन्स्टीट्यूट ऑफ सायकिट्री के प्रोफेसर कोर्मेलिस एवं डॉ० एच० मिलर ने अपनी प्रामाणिक शोध द्वारा यह सिद्ध किया है कि मानवी मस्तिष्क की क्षमता का निरन्तर हास हो रहा है व उसी अनुपात में उसका वजन भी बढ़ता जा रहा है।

लन्दन के अस्पतालों में मरने वाले २० वर्ष से ६० वर्ष तक की आयु के ३९७ स्त्री-पुरुषों के शवों की परीक्षा करके उनसे पाया कि सन् १९४० से ६० के मध्य एक पुरुष के मस्तिष्क का औसत भार १३७२ ग्राम से बढ़कर १४२४ ग्राम हो गया। इसी अवधि में एक महिला के मस्तिष्क का भार १२४२ ग्राम से बढ़कर १२६४ ग्राम हो गया। इसी अनुपात में स्नायु रोगों की संख्या एवं आत्महत्या करने वालों की तादाद भी बढ़ी है। अमेरिका में प्रति वर्ष ५०,००० व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं। भारत में भी आत्महत्या हेतु प्रेरित लोगों की संख्या कम नहीं है।

इन वैज्ञानिकों के अनुसार भार एवं आयतन का सीधा सम्बन्ध है। मस्तिष्क के भार के अनुपात में आयतन भी बढ़ा है एवं इसी वजह से स्नायुरोगों का आधिक्य हुआ है।

ऐसा लगता है कि भौतिक सुखों की तलाश में मनुष्य के मस्तिष्क पर अधिक बोझ आ गया है। बीसवीं शताब्दी के इस अभिशाप को हम मानसिक अशान्ति एवं रोगियों की बढ़ती संख्या के रूप में प्रत्यक्ष देखते हैं।

यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि अमेरिका, जो विश्व का सर्वाधिक उन्नत, आधुनिक व सुख-सम्पन्न राष्ट्र है, में इतनी अधिक आत्म-हत्याओं का कारण क्या है ? आज से सौ वर्ष पूर्व का मानव अपनी सीमाओं में सुरक्षित था, शान्तिपूर्ण जीवन जीता था व उनमें पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी। आज का मानव प्रतिद्वन्द्वी है व मनोविकारग्रस्त है। सम्प्रेक्षण की वर्तमान प्रगति मानव मस्तिष्क के लिए बोझ बन गई है। विज्ञान की अतुलनीय उन्नति ने पिछली अनेक शताब्दियों के ज्ञान को समेटकर मानव मस्तिष्क पर लाद दिया है।

शरीर के कार्य करने की अपनी प्रक्रिया है। विभिन्न क्रियायें अपनी निर्धारित गति से कार्य करती हैं। इस निर्धारित गति, लय तथा ताल में आया अन्तर सम्पूर्ण

क्रियाओं को गड़बड़ा देता है और क्रियाओं की यह असामान्य अवस्था उसे रोगी बना देती है।

प्रतिद्वन्द्विता, उत्तेजना तथा उलझावों के कारण मानव मस्तिष्क भावनात्मक धरातल पर कमजोर पड़ गया है। कमजोर मस्तिष्क उसकी निर्णय शक्ति का साथ नहीं दे पाता तो वह मानसिक सुप्तता के लिए दवाओं का सहारा लेता है और ये ही दवायें उसे मृत्यु के नजदीक पहुँचा देती हैं। विक्षिप्त व्यक्ति समाज के लिए घातक एवं बोझ तथा मृत व्यक्ति के समान होता है।

मस्तिष्क की उत्कृष्टता पर मानवी प्रगति का सारा ढाँचा खड़ा हुआ है। उससे अनेकानेक उपयोगी प्रयोजन सध सकते हैं, पर यह सम्भव तभी है जब उसका मूलभूत ढाँचा अपनी स्वाभाविक एवं संतुलित स्थिति में बना रहे। इस सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य से बहुत वजन डालने वाला काम अत्यधिक मात्रा में न लिया जाय। दिनचर्या में यह गुंजायश रहनी चाहिए कि हँसने-खेलने, विनोद-उपार्जन एवं शारीरिक श्रम के लिए समुचित समय सुरक्षित रखा जाय। अत्यधिक श्रम लेने से मस्तिष्क की वैसी ही दुर्गति होती है जैसी एक सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी के सारे अण्डे एक साथ निकाल लेने के लोभी मालिक की हुई थी। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखा ही जाना चाहिए कि मनोविकारों की उत्तेजना मनःसंस्थान को बुरी तरह जलाती, झुलसाती और विषाक्त बनाती है। चिन्ता, भय, निराशा, द्वेष, लिप्सा, लालसा जैसे मनोविकारों का जो अनावश्यक दबाव इन दिनों पड़ रहा है वही इस मस्तिष्क्रीय भार वृद्धि का प्रधान कारण है। मोटे तौर से हर बढ़ोत्तरी सौभाग्य का चिह्न मानी जाती है, पर मस्तिष्क भार का बढ़ना प्रत्यक्षः अतीव हानिकारक दुष्परिणाम उत्पन्न कर रहा है। ठीक यही बात इस समृद्धि एवं प्रगति के सम्बन्ध में की जा सकती है जो सुविधा, साधनों के रूप में बढ़ती रही है पर उसके उपार्जन एवं उपयोग में नीतिमिता का समावेश नहीं हो रहा है। विस्तार का उपयोग तभी है जब उसके स्तर में न्यूनता न आने पाये।

सुखाकांक्षा में भटकती

अविकसित मनःस्थिति

अविकसित मनुष्य को सुख की आकांक्षा रहती है और वह उन्हीं के साधनों को दूढ़ने-सँजोने में लगा रहता है चेतना की दृष्टि से विकसित व्यक्ति का स्तर ऊँचा उठा होता है और उसे इतने से समाधान नहीं मिलता। उसे अपने विकसित स्तर के अनुरूप परिस्थितियाँ चाहिए।

उसकी आकांक्षा आनन्द पाने की होती है। इसके बिना उसे अतृप्ति और अशान्ति ही बनी रहती है।

सुख इन्द्रियजन्य है और पदार्थों के सम्पर्क से मिलता है। जिह्वा को स्वाद चाहिए, मूत्रेन्द्रिय को घर्षण सम्वेदना उनकी तृप्ति अभीष्ट प्रयोजन पूरा करने वाले पदार्थ, शरीर मिल जाने से हो जाती है। तृप्ति के क्षण सुखद लगते हैं, पर इससे पूर्व और पश्चात् जलन एवं पश्चाताप की मनःस्थिति बनी रहती है जब तक अभीष्ट वस्तु न मिले तब तक उसकी अभिलाषा इतनी उदीप्त रहती है जिसे लगभग बेचैनी ही कहा जा सकता है। स्वादिष्ट पकवान जिन त्योंहारों और दावतों में मिलते हैं—जिस होटल में जाकर खाये जाते हैं, उनके लिये प्रतीक्षा में जो समय रहता है उसमें उत्सुकता और ललक ही उभरी रहती है और मन अशान्त बना रहता है। जितने क्षणों वे स्वादिष्ट वस्तुएँ खाई जाती हैं उतनी देर सन्तोष मिलता है। पेट भर चुकने के बाद अरुचि हो जाती है और परोसने वाले का आग्रह अस्वीकार करना पड़ता है। आतुरता में स्वभावतः कुछ अधिक खा लिया जाता है ऐसी दशा में पेट गड़बड़ाने लगता है और दूसरी बार उस कष्ट को याद करके स्वादिष्ट पकवान की अपेक्षा हल्की और बिना स्वाद की वस्तुएँ खाने की व्यवस्था बनानी पड़ती है। उस भारी आहार को टालना पड़ता है। न मिलने से पूर्व आतुरता और मिलने के बाद घृणा असन्तोष यही प्रतिक्रिया सुख-साधनों में से प्रत्येक के सम्बन्ध में प्रस्तुत होती है।

इन्द्रिय सुखों में दूसरा है—काम सुख। जननेन्द्रिय की तृप्ति का भी यही हाल है। मुद्दतों पहले से रखी सपने मस्तिष्क में घुमड़ते हैं। सम्भव असम्भव का विचार किये बिना बहुरंगी स्वप्न परियाँ मस्तिष्क के इर्द-गिर्द उड़ती रहती हैं। वह जलन और आतुरता का समय है। संयोग के कुछ क्षण मादक भी हो सकते हैं। इसके उपरान्त शरीर और मन में जो शिथिलता आती है उसे दूसरा आग्रह अस्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। उन्माद का आवेश उतर जाने पर यह भी प्रतीत होता है कि जीवन रस की मात्रा इस तरह नष्ट होते जाने से असमय में ही वृद्धता, रुग्णता तथा अकाल मृत्यु का वरण करना पड़ेगा। थोड़ी भी समझदारी जीवित रही तो इस प्रकार पश्चाताप निश्चित रूप से उग्र होगा। पत्नी का स्वास्थ्य खराब करने और बच्चों का अनावश्यक भार लादने की बात भी कभी न कभी सूझती ही है तब प्रतीत होता है कि कुछ क्षणों की मादकता के लिए कितना अनर्थ कर गुजरते हैं। सामयिक धिक्कार तो कष्ट देता ही है। प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जब अपना और पत्नी का स्वास्थ्य बिगड़ता है, बढ़ी हुई गृहस्थी की जिम्मेदारियाँ वहन करने में जो आर्थिक और मानसिक

कठिनाइयाँ सामने आती हैं वे भी ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करती हैं जो विषय सुख के कुछ क्षणों की तुलना में बहुत ही महँगी और भारी पड़ती है।

सुख की आकांक्षा ठाठ-बाट की, सज्जध की, खर्चीली अमीरी की, विडम्बनायें रचने के लिए बाध्य करती है। दूसरे लोग हमें धनवान सुसम्पन्न और बड़ा आदमी समझकर प्रभावित आतंकित हों, इज्जत प्रदान करें, इसी अभिलाषा से अनावश्यक वस्तुयें इकट्ठी करनी पड़ती हैं और धनिकों जैसी शान-शौकत का ठाठ जमाना पड़ता है यह कितना महँगा और खर्चीला पड़ता है इसे भुक्तभोगी ही जानता है। मस्तिष्क की कुशलता और आर्थिक सुविधा का अधिकांश भाग इसी जंजाल में खर्च हो जाता है यहाँ तक कि कर्ज लेने और बेईमानी करने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है। शान-शौकत अच्छी जरूर लगती है पर वह कितना महँगी पड़ती है इसे देखा जाय तो प्रतीत होगा कि जिन साधनों की उपयोगी दिशा में नियोजित करके अपना-परिवार का, समाज का भारी हित साधन किया जा सकता था उन्हें लगभग पूरी तरह अहंकार को तृप्ति देने के लिए जुटाये जाने वाले साधनों में ही समाप्त कर दिया गया।

सुख की परिभाषा में अपने लिये उपयोगी, स्नेही, सम्बन्धी बढ़ाने की आकांक्षा भी आती है। इस आवश्यकता की पूर्ति अविकसित स्तर के लोग पुत्र प्राप्ति के साथ जोड़ते हैं। उनकी मान्यता रहती है कि जो अपने रक्त से पैदा होगा वही हमारी सहायता करेगा, सुख देगा, वही वफादार रहेगा। चूँकि कन्यायें समर्थ होने पर दूसरे घर चली जाती हैं सहायता देने का सपना पूरा नहीं करती इसलिए बुरी लगती हैं। कन्याओं की तुलना में पुत्र का अच्छा लगना इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है कि विश्वस्त और चिरस्थायी सेवक, सहायक उपलब्ध हो सके। सन्तान न होने पर घर सूना लगने का और कोई कारण नहीं, केवल वह क्षुद्रता ही एकमात्र निमित्त है जिसमें विश्वस्त मित्र पाने की अभिलाषा उदीप्त रहती है। किन्तु मोहग्रस्त मनोभूमि में वैसा ही कहाँ बन पड़ता है हमारे स्वार्थों का घटाटोप बालकों के मन पर सहज ही प्रभाव डालता रहता है। बड़े होने पर वे पक्के स्वार्थी निकलते हैं और पिता की सेवा करने की अपेक्षा अपने स्त्री-बच्चों में ही निरत हो जाते हैं। बूढ़े बाप के पास जो कुछ हो उसे झटक लेने के उपरान्त वे यही चाहते हैं कि जितनी जल्दी यह बूढ़ा खूसट मौत के मुँह में चला जाय उतना ही अच्छा। सेवा-सहायता और समझदारी सन्तानों से पाने का स्वप्न अधिकांश लोगों को धूल धूसरित होता ही सामने आता है।

अविकसित लोगों की सुख-लिप्सा जिन उपाय-आधारों को अपनाने के लिए बाध्य करती है वे सभी थोड़े सिद्ध होते हैं। उनका आरम्भ जलन के अतृप्ति और अशान्ति के साथ होता है और अन्त ऐसी स्थिति में होता है जिसे निराशा, खीज, पश्चाताप एवं ग्लानि का ही नाम दिया जा सकता है। सुख की आकांक्षा ही मनुष्य को धन उपार्जन, इन्द्रिय सेवन, सन्तानोत्पादन तथा ठाठ-बाट जमाने, वाहवाही लूटने के लिए प्रेरित करती है। जन-साधारण को इन्हीं प्रयोजनों में लगा हुआ भी देखते हैं पर प्रतीत होता है कि किसी का मनोरथ पूरा नहीं होता—हर किसी को मृग-तृष्णा में भटकने जैसी निराशा ही लेकर विदा होते देखते हैं।

धन की लालसा कितनी तीव्र होती है। योग्यता परिस्थिति और साधनों का अभाव रहते हुए भी प्रचुर मात्रा में धन कमाने की अभिलाषा के लिये एकमात्र उपाय बेईमानी ही रहती है। इससे भी आकांक्षा कहीं पूरी हो पाती है जो कमाया जाय वह भी आत्म-ग्लानि भरता होता है, पाप की प्रतिक्रिया सामाजिक असम्मान, राजदण्ड और ईश्वरीय न्याय के रूप में भी आती है। उसके भय से अन्तरात्मा को मुक्ति नहीं मिल सकती। इस प्रकार अनीति की कमाई से वैभव भले ही बढ़ जाय किन्तु अन्तःकरण में ऐसी जलन और अशान्ति बनी रहती है जिसे तथाकथित धनीमानी व्यसन और व्यभिचार की आड़ लेकर दबाने का प्रयत्न करते हैं। नशाघरों में, क्लबों में, होटलों में वे आत्मा की अतृप्ति को झुठलाने के लिए ही जाते रहते हैं। इसमें भी सफलता उन्हें कुछ क्षण के लिए ही मिलती है। स्वाभाविक अशान्ति बार-बार उभर आती है और मानसिक स्तर को विकृत, विक्षिप्त जैसा बना देती है। धनियों के उद्धत स्वभाव और उद्धत आचरण को सहन समर्थन करने के लिए चापलूस मुसाहिबों की भीड़ साथ में चिपकी रहती है। उन्हीं से उन्हें थोड़ी राहत मिलती है अन्यथा स्पष्ट-वक्ता समीक्षकों के साथ रहने पर तो वे अपने को अर्ध-विक्षिप्त ही अनुभव कर सकते हैं। अनीति उपार्जित वैभववानों की यह दुर्गति कहीं भी बड़ी आसानी से देखी जा सकती है।

जहाँ धन एकत्रित होता है, वहाँ घात लगाने वालों की चाण्डाल चौकड़ी एकत्रित होने लगती है और फिर उसके मृदुल कटुक दो पंच सामने बिछे देखकर मनुष्य शतरंज जैसी उलझन में फँस जाता है। सरकारी टैक्स अधिकारी, चन्दा खाऊ रिश्तेदार और मित्र, चोर और गुण्डे न जाने कितनी तरह की तरकीबें लड़ाकर धन अपहरण करने के जाल बिछाते हैं। यह घातें इतनी जटिल, मृदुल, वहकावे, छल-आतंक आदि के चक्रव्यूहों से भरी होती हैं कि फिर दिये बिना कोई रास्ता ही नहीं

रह जाता। इच्छा से नहीं अनिच्छा से देना पड़ता है। स्वेच्छा से नहीं मजबूरी ही सामने होती है। पैसे को कमाना जितना कठिन है उससे हजार गुना कठिन उस संग्रह को सुरक्षित रखना है। सदुपयोग करने लायक विवेक बुद्धि न होने पर उसका दुरुपयोग हो सकता है। अनुपयोग की स्थिति में भी तो नष्ट ही होकर रहता है।

अविकसित मनःस्थिति वाले व्यक्ति की गतिविधियाँ इन्हीं विडम्बनाओं में केन्द्रीभूत रहती हैं। वह इन्द्रियभोग, कुटुम्ब वर्धन, धन संग्रह, अहंता के परिपोषण के अतिरिक्त और कहीं सुख अभिलाषा की मूर्ति देखता ही नहीं सो इन्हीं में निरत रहता है। मनोरंजन के लिए उसे व्यसन और व्यभिचार के उद्धत आचरण ही अपनाने पड़ते हैं। चिन्तन, निर्णय और दृष्टिकोण में विकृति भरी रहने के कारण दिशा ठीक बन ही नहीं पाती और सुख अभिलाषा की पूर्ति के लिये किये गये समस्त कार्य प्रायः दुःखदायक ही सिद्ध होते हैं। अभिलाषा पूरी न होने तक आतुर व्याकुलता कष्ट देती है। पूर्ति के कुछ क्षण हड़बड़ी में बीतते हैं, सन्तोषपूर्वक तृप्ति के क्षणों का भी आनन्द ले सकना सम्भव नहीं होता। पूर्ति के पश्चात् संचय एवं उपयोग का इतना अधिक वजन बढ़ता है कि गर्दन टूटने लगती है और रीढ़ चरमराने लगती है। सरल स्वाभाविक जीवन का आनन्द न जाने कहाँ चला जाता है। कृत्रिमता का अनावश्यक उत्तरदायित्वों का बोझ इतना भारी पड़ता है कि उसे वहन करते-करते भारवाही बैल, घोड़े या गधे से भी दयनीय स्थिति में जा फँसते हैं और उसी जंजाल में मरते, खपते, दम तोड़ते हैं।

भोगों को भोगने की आकांक्षा तृप्त कहाँ होती है, वे भोग ही मनुष्य को भोग लेते हैं और निचोड़े हुये नीबू के छिलके की तरह मानव जीवन के सुर दुर्लभ सौभाग्य को कूड़े-कचड़े के गर्त में ले जाकर फेंक देते हैं। दाद खुजाने में कष्ट भी होता है, एक विशेष तरह का मजा भी आता है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और उसके घर्षण से अपने ही मसूड़े से निकलने वाले रक्त को पीकर सोचता है हड्डी में से खून निकला और उसे पीकर लाभ कमाया पर वस्तुतः होता इसके विपरीत ही है। वह पाता कुछ नहीं, सूखी हड्डी चबाकर खोता ही खोता है। सूखी हड्डी के टुकड़े उसके पेट में जाकर पोषण नहीं दर्द ही प्रदान करते हैं। सुख अभिलाषा तो ठीक है। पर उसे ओछे स्तर अपनाकर अविकसित मनःस्थिति के लोग जो रीति-नीति अपनाते हैं उससे उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। अशान्ति और असफलता पर पश्चाताप करते हुये, सिर धुनते हुए ही वे इस संसार से विदा होते हैं।

सुख पाना हो तो मन को प्रशिक्षित करें

संसार में प्रायः सभी लोग अपने विभिन्न कामों के द्वारा सुख की तलाश करते रहते हैं। कोई एक तरह से इसकी ढूँढ़-खोज करता है, कोई दूसरी तरह से। इसी के लिए अनेक तरह के साधनों को इकट्ठा करने की होड़ बढ़ती जा रही है। पर ऐसे लोग जिन्होंने ढेरों के ढेरों साधन-सामग्रियों को बटोरा है, उन्हें भी अशांति शोक-संताप से घिरा देखा जा सकता है। ये सभी सुविधाएँ मिलकर भी उन्हें इससे छुटकारा दिला सकने में समर्थ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि वास्तविक सुख कहाँ है? इसे कैसे पाया जा सकता है?

विचार करने पर पता चलता है। कि सभी साधन सामग्रियाँ आखिर हैं तो जड़ ही। इनमें अपनी कोई सामर्थ्य ही नहीं है। न तो कोई पदार्थ किसी को सुख दे सकता है और न दुःख। जिस प्रकार बन्दूक में अपनी कोई ताकत नहीं, वह यन्त्र भर है। चलाने वाला उससे किसी की रक्षा भी कर सकता है और मार भी सकता है। इसमें बन्दूक का क्या गुण-दोष? ठीक इसी तरह इन पदार्थों में न तो कोई सुखद तत्त्व है, और न दुःखद, जिससे वे किसी को अपनी इस विशेषता से खींच सकें अथवा दूर हटा सकें। यह मनुष्य की अपनी चेतना है, जो बहिर्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण उससे सम्बन्ध स्थापित कर उसे सुखद, या दुःखद बना लेती है। इसकी उन्मुखता और भावों के अनुसार कोई पदार्थ किसी को सुखद, किसी को दुःखद लगता है।

भारतीय चिन्तकों ने इस चेतना को आत्मतत्त्व की संज्ञा दी है। पश्चिमी मनोवैज्ञानिक एरिक फ्रॉम ने अपनी पुस्तक 'मैन फार हिमसेल्फ' में इसे मनोवैज्ञानिक तत्त्व कहा है। उनके अनुसार जिस समय मनुष्य की चेतना सुखोन्मुख होकर पदार्थ से सम्बन्ध स्थापित करती है, सुखद लगता है। जब यही दुःखोन्मुख होकर सम्बन्ध स्थापित करती है, वह दुःखद लगता है। स्वयं में तो संसार की सभी चीजें जड़ हैं। वे अपनी ओर से किसी को सुख-दुःख दे भी कैसे सकती हैं? ये तो अपने चेतनागत भाव हैं, जो इनसे सम्बन्ध स्थापित करे, उसे सुख देने वाला अथवा दुःख देने वाला बना देते हैं। पदार्थों से सुख या दुःख मिलने की धारणा पूरी तरह भ्रमात्मक है।

बुढ़ापा आ जाने पर मनुष्य को वही पदार्थ रसहीन लगने लगते हैं, जिनके पीछे वह अपनी जवानी में दौड़ा भागा करता था। सारा का सारा सुख पता नहीं कहाँ चला जाता है? असलियत यह है कि कमजोरी अथवा बुढ़ापे में बाहरी चीजों से सम्बन्ध स्थापित करने वाली इन्द्रियाँ दुर्बल या शिथिल हो जाती हैं। यह शिथिलता ही पदार्थों को नीरस और निस्सार बना देती है।

बुढ़ापे में ही नहीं, जवानी में भी सुख की अनुभूतियाँ समाप्त होती देखी जाती हैं। बुखार आने पर या स्वाद-इन्द्रिय जीभ में छाले पड़ जाने पर वही स्वादिष्ट भोजन जिनके लिए अभी तक लार टपकती थी, अब रसहीन और बेकार लगते हैं।

सही मायने में रस की अनुभूति का कारण इन्द्रियों की स्थूल बनावट नहीं, बल्कि इनसे परे चेतना है। वही चेतना जो समुची देह, प्राण और मन में समायी है। यही सर्वव्यापक चेतना आत्मा है। सुख का कारण एवं आनन्द का स्रोत यही है। यह न तो किसी पदार्थ में है, न किसी अन्य वस्तु में। इसे तो आत्मा में ही जीवात्मा के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। सुख का संसार इसी में बसा है, खोज का क्षेत्र भी वही होना चाहिए। सांसारिक विषय और वस्तुएँ साधन भर हैं। इनका उपयोग सिर्फ जीवन-निर्वाह के लिए है। सुख के लिए इनके पीछे भागने-भटकने से वही परिणाम सामने आएँगे जो मरीचिका में भूले-भटके मृग के सामने आते हैं।

मनोवैज्ञानिक कार्ल जुंग ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न मैन इन सर्व ऑफ सोल' में सुख और दुःख दोनों की अनुभूति को सापेक्ष बतलाया है। उनके इस कथन में भारतीय दर्शन की मान्यता को प्रयोगों की कसौटी पर खरा सिद्ध करने की झलक मिलती है। बात भी सही है। कोई मध्यम वर्ग का आदमी किसी मिल मालिक सेठ की तुलना में गरीब है, पर दरिद्र की तुलना में वह अमीर है। बुखार से पीड़ित व्यक्ति पूरी तरह से स्वस्थ पहलवान की तुलना में दुःखी है, पर कैन्सर रोग के रोगी की तुलना में सुखी। इसी तरह लगभग सभी दुःख और सुख सापेक्ष हैं। उसी स्थिति में एक आदमी अपने को दुःखी महसूस करता है, दूसरा सुखी। फिर सही बात क्या है?

सही स्थिति न जानने के कारण ही मनुष्य तरह-तरह के संताप भोगता और दुःखी होता है। योगवाशिष्ठ में इस पर चर्चा करते हुए इसका कारण बताया है। इससे छूटने का उपाय वास्तविकता को

मंझना तथा उसके अनुसार व्यवहार करना है। यही स्थायी सुख की स्थिति है। इसी को दर्शन की भाषा में ब्राह्मी स्थिति कहकर संबोधित किया गया है।

ऐसा स्थायी सुख सामान्य दृष्टि से विलक्षण चीज है,, क्योंकि सामान्य जिन्दगी में लोगों को थोड़े समय के लिए सुख मिलता है। हँसते-बोलते, खाते-पीते, ताश-चौपड़ खेलते, नृत्य गीत का लाभ लेते इस का अनुभव किया जाता है। ऐसा लगता है कि इस आमोद-प्रमोद में प्रसन्नता छुपी है। इसी कारण इसके लगातार बने रहने के उपाय किये जाते हैं। समझा जाता है कि इनके बने रहने पर प्रसन्नता भी रहेगी, पर यह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि सुख पदार्थ परक है ही नहीं वह तो आत्मपरक है, अन्दर की अनुभूति का तत्व है, माध्यम भले ही पदार्थ बन जाये, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक “आइडियलिस्टिक व्यू आफ लाइफ” में इसे भली प्रकार समझाया है। उनके अनुसार स्थायी सुख के लिए हमें मन को प्रशिक्षित करना होगा। बाहरी परिस्थितियों के साथ यदि इसका तालमेल बिठाया जा सके तो सारी जिन्दगी सुखी रहा जा सकता है। मन के प्रशिक्षण के लिए यह सत्य जानना होगा कि सुख कहीं बाहर नहीं अपने में है। बाहरी चीजों का केवल इतना उपयोग है कि शरीर की सामान्य जरूरतें पूरी होती रहें। जिस तरह मोटर की सामान्य जरूरत पेट्रोल है, वह मन्जिल तक पहुँचाने में सहायक तो है, पर स्वयं मन्जिल नहीं। अगर पेट्रोल की जगह कोई इत्र का उपयोग करे तो लाभ की जगह हानि ही होगी।

इसी कारण आचार्य शंकर कहते हैं जिन्दगी की सामान्य जरूरतों को दवा की तरह लेना चाहिए। दवा को न कम लिया जा सकता है न ज्यादा। इसे ठीक-ठीक मात्रा में लेना ही भलाई है। इसके लिए मन एकाएक तो तैयार नहीं होगा क्योंकि अभी तक इसकी दौड़-भाग बाहर सुख खोजने में रही है। इस उल्टी गति को सीधा करना होगा। जे. कृष्णमूर्ति के शब्दों में यह प्रयासपूर्वक मन को अपनी सत्ता के केन्द्र “आत्मा” की ओर मोड़ना है। इसकी प्रक्रिया के बारे में उनका कहना है कि जब-जब मन पदार्थों में सुख की खोज करें, विवेकपूर्वक उसे धीरे-धीरे समेटकर वापस केन्द्र की ओर ले जाया जाय। उनके अनुसार यह काम छोटे बच्चे को सही चीज सिखाने की तरह है। छोटा बच्चा जब चमकीली आग को पकड़ने दौड़ता है, तो अभिभावक उसे रोककर दूसरी ओर ले जाते हैं। मन बच्चा है और विवेक अभिभावक। इस प्रक्रिया से मन इस ढंग से ढल जायेगा कि आत्मा की

निर्मलता और आनन्द को सही ढंग से व्यावहारिक जीवन में उतार सके।

यह प्रशिक्षण तुरन्त पूरा हो जाने वाला नहीं है इसके लिए लगातार जुटे रहना होगा। जैसे-जैसे इसमें गति आयेगी, मन हर प्रकार की परिस्थितियों से ताल-मेल बिठा सकेगा क्योंकि बदली हुई स्थिति के अनुसार बाहरी चीजें भोग सुख की सुविधाएँ न होकर जिन्दगी की सामान्य जरूरतों को पूरा करने के लिए जरूरी साधन हैं, जिन्हें कम से कम लेकर काम चलाया जा सकता है।

जिन्होंने इस ढंग से मन को प्रशिक्षित किया है उनके जीवन में इस तथ्य और सत्य को देखा जा सकता है। श्री अरविन्द ने अलीपुर जेल की काल कोठरी की कठोर यातनाओं में भी सुख का अनुभव किया। तुकाराम की गरीबी उनके सुख को कम नहीं कर सकी। इस तरह के अनेकों महामानवों के उदाहरण हैं, जिन्होंने व्यावहारिक जिन्दगी के प्रत्येक क्षण को सुख में बदला है। इस स्थिति को पाने के लिए हम सभी को यह व्यावहारिक प्रक्रिया अपनानी चाहिए। इस स्थित को गीताकार ने “**बल्ल्या चापरं लाभ मन्यते नाधिकं तत्**” अर्थात् जिसको पाकर कुछ पाना बाकी नहीं रहता, कहा है।

संतुलित उल्लसित जीवन कैसे जियें?

शरीर और मन का अन्योन्याश्रित संबंध है। दोनों सही स्थिति में रहते हैं और एक-दूसरे की सुरक्षा में सहायक बनकर रहते हैं तभी काम चलता है। इनमें से एक के गड़बड़ा जाने पर दूसरा भी कंधा डाल देता है। गाड़ी में दो बैल जुते हैं। इसमें से एक बैल अपना कार्यभार उठाने में असमर्थ बन जाय तो दूसरे को दूना परिश्रम करना पड़ता है और वह भी डममगाने लगता है, दो फेफड़े, दो गुर्दे मिल-जुलकर अपना काम निपटाते हैं। पर जब उनमें से एक रुग्णता से घिर जाता है, तो दूसरे को भी अपना कार्य ठीक तरह चलाने में असुविधा होती है। इसलिए दोनों की ही स्वस्थता का स्वच्छता का निरन्तर ध्यान रखने की आवश्यकता है।

छोटी आयु के बच्चे ठीक तरह समझ सोच नहीं पाते, क्योंकि उनका मानसिक विकास तब तक हो नहीं पाता। बुद्धि अपना पूरी तरह काम करने की स्थिति में नहीं होती। परिपक्वता के अभाव में बालक ऐसा ही सोचता और करता है, जिन्हें बचकाना कहा जाय।

यही बात बुढ़ापे में भी होती है। काया जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, इन्द्रियाँ जवाब देने लगती हैं। पाचन सही

२.११० चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

नहीं होता और नींद पूरी नहीं आती। फलतः मस्तिष्क पर भी बुरा असर पड़ता है। बुद्धि संठिया जाती है। सरकारी नौकरियों से छुटकारा मिल जाता है घर के लोग भी उनकी सलाह को कम महत्व देते हैं। चिड़चिड़ाना और भूल जाने की शिकायत शुरू हो जाती है, दुर्बल शरीर उपार्जन के उपयुक्त भी नहीं रहता। कड़ा परिश्रम करने से थकान आती है और खटते रहने पर दुर्बलता रुग्णता में बदलने लगती है। युवावस्था में जो जोश, साहस और बुद्धि का बल रहता है, आयु के ढलने पर वह भी घटता चला जाता है। बच्चों का सा दुराग्रह पनपने लगता है। यह शारीरिक दुर्बलता का मन पर पड़ने वाला प्रभाव है।

मन की स्थिति सन्तुलित न रहने पर शरीर का भी बुरा हाल होता है। उद्विग्न, विक्षिप्त, चिन्तित, आक्रोशग्रस्त व्यक्ति यदि शरीर से नीरोग हो, तो भी उनका शरीर वैसा काम नहीं करता जैसा करना चाहिए। शोक समाचार सुनकर भूख भाग जाती है और सामने परसी थाली पर हाथ डालने की इच्छा नहीं होती। भले ही पेट खाली हो। क्रोध के आवेश में भी ऐसा ही होता है, कहते हैं कि एक घण्टे का क्रोध चौबीस घण्टे के बुखार जितनी कमजोरी लाता है। चिन्तित और निराश रहने वाला नींद खो बैठता है और दिन-दिन क्षीण होता जाता है। यह मन का शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव है।

शरीर स्वस्थ रहे तो मन शुद्ध भले ही न हो पावे पर सन्तुलित और विचारशील तो बना रहता है।

स्वस्थ मनःस्थिति का व्यक्ति योजनायें क्रमबद्ध बनाता है और उन्हें परिश्रमपूर्वक पूरी कर लेता है। भले ही वह निर्धारण अनुचित स्तर का ही क्यों न हो, बीमार और कमजोर आदमी तो चोरी डकैती करने का मन होने पर भी कायिक असमर्थता के कारण वैसा नहीं कर पाता। यही बात पुण्य-परमार्थ के सम्बन्ध में है। उन्हें करने के लिए आत्मसंयम और उदार चेतना की आवश्यकता है। पर रोगी को अपनी ही व्याधा कचोटती रहती है। उस पर स्वार्थ ही छाया रहता है और हर बात के लिए पराश्रित रहने की स्थिति में आत्मग्लानि भी कम नहीं होती। जो उस स्थिति में भी कुछ तो किया ही सकता है, पर मानसिक असंतुलन उसे भी ठीक तरह करने नहीं देता।

गाड़ी के दोनों पहिए सही रहने चाहिए। इसी प्रकार न केवल शरीर को स्वस्थ रखने में पूरी-पूरी सतर्कता बरती जाय, वरन् मन को संतुलित रखने में भी कुछ उठा न रखा जाय।

शरीर की दुर्बलता एवं रुग्णता दैवी विपत्ति की तरह नहीं घटती वरन् मनुष्य की अपनी बुलाई हुई होती है। असंयम शरीर को खाता है। जीभ को चटोरापन और कमजुब प्रसंगों में अतिवाद अपनाने से मनुष्य भीतर ही भीतर खोखला हो जाता है। उसका ऊपरी ढकोसला भले ही ज्यों का त्यों दीखे, पर भीतरी जीवनी-शक्ति क्षीण होती जाती है। फलतः बाहरी विषाणुओं का आक्रमण आये दिन दबोचता रहता है। असंयम का पेट पर भी कुछ असर पड़ता है। चटोरे व्यक्ति बिना भूख लगे आवश्यकता से अधिक मात्रा में अटसंट खाते रहते हैं। फलस्वरूप पेट की भट्टी में पूरी तरह परिपाक न होने की स्थिति में रक्त-मॉस में अशुद्धता बढ़ती है और न्यूनता पड़ती है। चटोरा अपना पेट खराब करता है और साथ ही शरीर में अनेक बीमारियाँ घुस पड़ने का द्वार खोल देता है। यही बात परिश्रम की कोताही करने के संबंध में भी है। आलसी, अकर्मण्य बैठे-ठाले आराम तलब लोग अपने अवयवों को जंग खाये लोहे की तरह निकम्मा बना लेते हैं। समय पर निर्धारित काम करने की जिनकी शक्ति-नीति नहीं होती, समय का पालन नहीं करते, दिनचर्या बेतुकी, बेढंगी अस्त-व्यस्त रखते हैं, उनके लिए स्वस्थ रह सकना कठिन पड़ता है। शरीर की प्रकृति ऐसी है कि नियत समय पर नियत कार्य की माँग करती है। यदि उसमें व्यवधान पड़ता है तो शरीर की क्रिया-प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न होता है और शरीर पर रुग्णता छाने लगती है।

इन साधारण-सी बातों का सतर्कतापूर्वक ध्यान रखा जाय तो मनुष्य आसानी से नीरोग रह सकता है और दीर्घजीवी भी बन सकता है। पर नरोबाजी जैसे दुर्व्यसन अपनाकर कोई अपने पैरों स्वयं ही कुल्हाड़ी मारे तो उसे आघात से बचाने के लिए दूसरा कोई क्या कर सकता है?

मन-मस्तिष्क को असंतुलित बनाने में सबसे बड़ा कारण है आत्म विश्वास की कमी। जिसमें साहस, स्वावलम्बन, मनोबल नहीं है, वह हितैषी व्यक्तियों पर भी संदेह करता है और आशंका अविश्वास से घिरा रहकर भीतर ही भीतर भयभीत बना रहता है। भले ही उस पर कोई विपत्ति न आये, पर भविष्य में कोई विग्रह खड़ा हो जाने के भय से सदा बेचैनी बनी रहती है। साहस के अभाव में इतना भी सोचते नहीं बन पड़ता कि जब कठिनाई सामने आवेगी, तब उससे साहसपूर्वक निपट लिया जावेगा। डरपोक व्यक्ति को जितना विपरीत परिस्थितियाँ त्रास देती हैं, उससे कहीं अधिक वह आशंकाओं से आतंकित बना रहता है। मानसिक उद्विग्नता का दूसरा कारण है, बढ़ी-चढ़ी महत्वाकांक्षाओं का

घटाटोप। लोकेषणा, वितेषणा और पुत्रेषणा को भी शान्ति खा जाने वाली डाकिनें माना गया है। बहुत धन होना चाहिए, बड़ा पद मिलना चाहिए। विलास के बड़े-बड़े ठाट-बाट हों। ख्याति और सम्मान से अहंकार का पोषण होता रहे; आदि-आदि इच्छायें जब-जब साधारण स्तर से उंची उठ जाती हैं तो वे लिप्सा-तृष्णा कहलाने लगती हैं।

हर किसी की हर मनोकामना पूरी हो सकना संभव नहीं। वैभव बटोरने के लिए ललकों का उछलते रहना ही पर्याप्त नहीं, वरन् परिस्थितियाँ भी अनुकूल होनी चाहिए। सघन सहयोग भी उपलब्ध होना चाहिए। यह सब इच्छामात्र से ही उपलब्ध होते रहें, यह आवश्यक नहीं। बड़े-बड़े सपने शेखचिल्ली की तरह असफल भी रह सकते हैं और अपमान भी करा सकते हैं। असंतोष की आग से बच सकना उन्हीं के लिए संभव है, जो औसत नागरिक भर का निर्वाह पर्याप्त मानते हैं। उन्हीं के लिए यह संभव है कि तृष्णा द्वारा उत्तेजित की गई अनावश्यक महत्वाकांक्षाओं को काबू में रखकर आय के अनुरूप में व्यय का बजट बना सकें और स्वल्प संतोषियों की तरह हँसता-हँसाता जीवन जी सकें। ऐसे ही लोग पाप, अनाचार से भी बचे रह सकते हैं और आजीवन शालीनता बनाये रह सकते हैं अपने से बड़ों की अपेक्षा छोटों के साथ तुलना करते रहने का दृष्टिकोण बना लिया जाय, तो यही अनुभव होगा कि जो उपलब्ध है, वह सौ से कम भले ही हो, पर हजार से अधिक भी है। ऐसी मनःस्थिति संतुलित कही जाती है और वह शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए पौष्टिक टॉनिक एवं बचाव की दृष्ट से ढाल का काम करती है।

शरीर और मन दोनों में से किसी की भी उपेक्षा न की जाय। बहुमूल्य जीवन तभी तक स्थिर है जब तक कि शरीर में प्राणों को धारण किए रहने की क्षमता है। जो भी पुरुषार्थ करना चाहते हैं, वे स्वस्थ शरीर के सहारे ही बन पड़ते हैं। वह अपना निरन्तर साथ रहने वाला और सेवा निरत रहने में तत्पर सबसे स्वामिभक्त सेवक है। रूखा-सूखा खाकर काम चला लेता और हर स्थिति में प्रसन्न रह लेता है। ऐसे सन्निवृत्त के साथ यदि सद्व्यवहार करते रहा जाय, उस पर अनाचार का अवांछनीय भार न लादा लाय तो अन्य प्राणियों की तरह मानवी काया भी नीरोग रह सकती है। स्वस्थ रहने के लिए किन्हीं बड़े रहस्यों को ढूँढ़ने या रसायनों के सेवन करने की आवश्यकता नहीं है। यदि प्रकृति के संकेतों पर चला जाय, संयम, अनुशासन पाला जाय तो आरोग्य से बिछुड़ने की कभी नौबत न आवेगी, साथ ही मनोबल भी बढ़ेगा। पुरुषार्थ भी जगेगा और चित्त भी प्रसन्न रहेगा।

मानसिक व्यथायें परस्थितिजन्य नहीं होतीं। मनःस्थिति के विकृत होने पर ही मनुष्य उद्विग्न होता है और अनेकों दुष्प्रवृत्तियों से घिर जाता है। यदि हलकी-फुलकी जिन्दगी जी जाय और मिल-जुलकर सुख बाँटते दुःख बाँटते रहा जाय तो चित्त सदा हलका रहेगा।

मन को इतना नहीं उछलने देना चाहिए कि शरीर को उसके पीछे घिसटना पड़े। शरीर पर असंयम के इतने चाबुक नहीं मारने चाहिए कि वह तिलमिला जाय और जीवन सुख के राजमार्ग पर चलने से इन्कार कर दे। शरीर और मन के बीच परायापन नहीं रहना चाहिए। दोनों एक दूसरे का ध्यान रखें। संतुलित शान्तिमय सन्तुष्ट, प्रसन्न और संयमी जीवन जिया जाय तो निरोग भी रहा जा सकता है और आनन्दित, उल्लसित भी।

अचेतन की अभिव्यक्ति है

आभामण्डल

मानवी काय सत्ता का बहिरंग पक्ष जो हाड़-माँस से बना स्थूल रूप में दिखता है, उसका अदृश्य सूक्ष्म शरीर जिन प्राण स्फुल्लियों के समुच्चय से बना है, वह अपने आप में अद्भुत एवं अपरिमित शक्तियों का पुंज है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने आप्त पुरुषों ने शरीर को देव मन्दिर की संज्ञा दी है। पर सामान्य मान्यता यह है कि दृश्यमान समर्थता स्थूल शरीर की ही देन है, जबकि उसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह समीपवर्ती क्षेत्र में बाहर भी विद्यमान रहती है और सम्पर्क में आने वाले वातावरण को भी प्रभावित करती है और सान्निध्य में आने वाले व्यक्तियों को भी। जो दूसरों को प्रभावित करती है, वह स्थूल काया नहीं वरन् उस में सन्निहित सूक्ष्म प्राण चेतना है, जो प्रकाश किरणों के रूप में शरीर से बाहर भी फैली रहती है। यह आन्तरिक शक्तियों का बहिरंग में परिचय प्रस्तुत करती है, इसे जो जितनी मात्रा में विकसित और परिष्कृत कर लेता है, उसी अनुपात में दिव्य क्षमताओं का अतीन्द्रिय सामर्थ्य का स्वामी बनता चला जाता है। इससे न केवल अपना हित साधन होता है वरन् दूसरों को भी लाभान्वित किया जा सकता है।

ईसाई धर्म-ग्रन्थों में वर्णित है कि एक प्रकाश क्षेत्र मनुष्य को चारों ओर से सतत् घेरे रहता है जिसकी सघनता सिर के ईर्द-गिर्द अधिक होती है। कहा जाता है कि जब मूसा ईश्वरीय नियम खुदे पवित्र पत्थर को लेकर पर्वत से नीचे उतर रहे थे, उस समय इजराइल के बच्चे उन्हें देखने में असमर्थ रहे क्योंकि उनके चेहरे से तीव्र प्रकाश किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं। विभिन्न साहित्यों

में इसका विस्तृत वर्णन भी मिलता है। इसी तरह सेंट पाल के बारे में प्रचलित है कि उपदेश देते समय उनके मुख मंडल से प्रकाश रश्मियाँ निकलकर आस-पास के वातावरण में फैल जाती थीं। ईसा मसीह का तेजोवलय इतना तीव्र होता था कि जिसकी तुलना किसी भी प्राकृतिक या कृत्रिम प्रकाश से नहीं की जा सकती। सेंट फिलिप तथा सेंट चार्ल्स बोरोमेओ ने इसका अलग वर्णन किया है। वैज्ञानिक जगत में इसे ही आभा मण्डल, प्रभामंडल आदि नामों से जाना जाता है और कहा जाता है कि जब कोई व्यक्ति दिव्य चित्तन और आध्यात्मिक साधना में निमग्न हो जाता है, उस समय प्रभामंडल के रंग और अधिक चमकदार एवं प्रभावकारी हो जाते हैं। इसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के चिन्तन और भावना क्षेत्र से है, जिसमें आये क्षणिक परिवर्तन से भी इस में अंतर आ जाता है और अपने चारों ओर के वातावरण को प्रभावित करता है।

मस्तिष्क की तरह सम्पूर्ण शरीर के चारों ओर प्रकाशित क्षेत्र को “औराओला” कहा गया है। उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्शवादी कर्तृत्व से इसमें अभिवृद्धि होती है। इस संदर्भ में गुह्य विद्या के प्रसिद्ध ग्रंथकार पैरासेल्स ने कहा कि सूक्ष्म मर्म-स्थानों से निस्सृत इस तेजस्वी ऊर्जा का विनाश नहीं होता वरन् शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् चारों ओर वलय रूप में घिरी रहती है। उसके अनुसार यह अर्ध प्राकृतिक किरणें हैं, जो यह प्रदर्शित करती हैं कि मनुष्य उत्कृष्ट चिन्तन तथा श्रेष्ठ भावना सम्पन्न है अथवा निकृष्ट विचारों को दूषित अंतःकरण से ग्रसित है। जीवन के मूल तत्व यही दोनों माने गये हैं, जिनके दूषित होने पर शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, जिससे चेहर-मुहरे से सुन्दर व्यक्ति उदास, निस्तेज, आलसी होने पर मग-गिरा सा टूटा हुआ प्रतीत होता है। जबकि उत्कृष्ट चिन्तनवाला व्यक्ति स्वस्थ, सुसन्तुलित एवं कला-कुरूप होने पर भी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व का स्वामी होता है। ऐसा व्यक्ति जहाँ जाता है अपनी उपस्थिति से वातावरण प्रभावशाली बना देता है।

इसी ग्रन्थ में तेजोवलय को पाँच भागों में विभक्त किया गया है—(१) स्वास्थ्य और (२) मर्मस्थान का और (३) कायिक और जो मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति को बताता है (४) चरित्र का और (५) आध्यात्मिक प्रकृति का तेजोवलय।

स्वास्थ्य वलय रंगहीन होता है परन्तु इसे त्रिजिमीय रेखाओं द्वारा अनुभव किया जाता है। यह शरीर की सभी दिशाओं से निकलता है। दूसरा वलय शरीर से निश्चित दूरी पर होता है एवं इच्छा शक्ति द्वारा

परिवर्तित-परिवर्धित होता रहता है। सामान्य अवस्था में गुलाबी रंग एवं समय-समय पर गहरे गुलाबी रंग में परिणत हो जाती है। तीसरा और अभिव्यक्ति को स्पष्ट करता है, यह एक ऐसा दर्पण है जहाँ प्रत्येक इच्छाएँ, कामनाएँ, भावनाएँ परावर्तित होती हैं।

इनके परिवर्तन पर ही रंग बदलते रहते हैं। क्रोधी एवं मानसिक उत्तेजना वाले व्यक्ति अपने और को काले क्षेत्र में गहरे लाल रंग के धब्बों से भर देते हैं, जबकि भय इसे तुरन्त भूरे रंग में परिणत कर देता है। चौथे प्रकार का वलय भूतकालिक जीवन चरित्र को स्पष्ट करता है। पाँचवें प्रकार का वलय उच्चस्तरीय आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर लेने वालों में ही देखा जाता है। बाहर दिखने वाला तेजोवलय व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के स्तर को स्पष्ट करता है कि उसने कितनी प्रगति की है ? यही वह सूक्ष्म आभा है, जो दिव्य-स्थलों में, आश्रमों में, तीर्थ-स्थलों में विद्यमान रहती है जिसे प्राप्त करने के लिए तीर्थ यात्रा का विधान है। थियोसाफी ग्रन्थों में हिमालय क्षेत्र में ऐसा ही प्रकाश पुंज छाये रहने की बात उल्लिखित है। इसमें निहित गुलाबी रंग शुद्ध भावना, तेज लाल को क्रोध एवं उत्तेजना को गाढ़ा, लाल इन्द्रिय-लिप्सा एवं कामुकता को पीला चमकदार बुद्धि क्षेत्र में पैनेपन को, वासन्ती रंग बौद्धिक क्षमताओं को जिसका अंतःस्वार्थपरता एवं, अहंकार में होता है, भूरा रंग कंजूस प्रवृत्ति को प्रकट करता है। हरा रंग प्रभावशाली रंग है, इस प्रवृत्ति का व्यक्ति दूसरों को भी अपने जैसा समझता है इसका हल्कापन क्रूरता एवं बर्बरता को स्पष्ट करता है। नीला रंग धार्मिक प्रवृत्ति एवं भक्ति की ओर प्रेरित करता है। इसमें निहित छाया साधना के स्तर पर चेतना की महानता को बताती है कि व्यक्ति कितना आदर्शवादी है। नील लोहित रंग मानसिक प्रखरता आध्यात्मिकता की जागृति एवं गुह्य विद्या की पूर्णता का परिचायक है।

तेजोवलय में निहित रंगों के सम्बन्ध में अब वैज्ञानिक भी इस बात का समर्थन कर रहे हैं कि यह मनुष्य के अन्तराल में छाये भावनाओं की अभिव्यक्ति ही है। विचारणा भावना कल्पना क्षेत्र में आने वाले उतार-चढ़ावों से आभामण्डल में होने वाले परिवर्तनों को जाँचने परखने के लिए स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक द्रव्य विलियम टिलर एवं डेविड वायरस ने विशिष्ट प्रकार के संवेदनशील यंत्रों का विकास किया है। उनका कहना है कि विचारणाएँ, भावनाएँ इतनी तीव्रता के साथ बदलती हैं जिन्हें सामान्य उपकरणों के माध्यम से नहीं पकड़ा जा सकता। व्यक्ति को क्षणभर में उत्कृष्टता से निम्नगामिता की ओर लुढ़कते देखा जाता है। यही कारण

है कि प्राचीन मनीषियों ने कठिन साधना विधानों का आध्यात्म उपचारों का निर्माण किया था, जिससे मनुष्य का स्थायी परिमार्जन, परिष्कार हो सके। अपने प्रयोग परीक्षणों में उन्होंने पाया कि भावना विचारणा के परिवर्तन के साथ ही सफेद नीली एवं लाल रंग पर प्रकाश रोशनीयों में भारी फेर-बदल होता है। उत्तेजना आवेशग्रस्तता की स्थिति में गहरे लाल रंग की किरणें निस्सृत होती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य की भावनाएँ, विचारणाएँ कितनी प्रचंड होती हैं, जो अल्ट्रावायलेट किरणों, लेसर किरणों की तरह क्षण भर में कहीं से कहीं भी जा पहुँचती हैं। इनका सुनियोजन श्रेष्ठता की दिशा में होने पर व्यक्ति महामानव, देवता, सन्त, ऋषि बनता है एवं उसकी निष्कृष्टता से उसी व्यक्ति को नर-पिशाच, नर-पशु दुष्ट अत्याचारी बनते देखा गया है।

ड्यूफ यूनिवर्सिटी में कार्यरत वैज्ञानिक स्टीवेन्सन और टिलर ने अपने-अपने अनुसंधान में पाया कि ध्यान की अवस्था में जब शरीर मन उत्तेजना रहित होता है, उस समय लाल रंग की किरणों का निष्कासन समाप्त हो जाता है किन्तु यदि ध्यान के पश्चात् साधक उत्तेजित होता है, तो इन किरणों की मात्रा द्विगुणित वेग से निकलने लगती है। सामान्य स्थिति में आवेश उत्तेजना उतनी हानिकारक नहीं होती जितनी कि साधनाकाल में काम, क्रोध, आवेश, अहंकार, जेसे मनोवेगों की छोटी लहर भी साधक को पतन पराभव की ओर धकेल देती है। अतः इस समय विशेष सावधानी एवं संयम बरतने की आवश्यकता है।

सोवियत संघ के प्रख्यात वैज्ञानिक डा. किलियन का कहना है कि मानसिक परिवर्तन के साथ-साथ व्यक्ति के आभामण्डल में भी परिवर्तन होता रहता है। त्वचा के कुछ विशेष बिन्दुओं पर नीले एवं स्वर्णिम आभा के कण दिखाई देते हैं, जो मानसिक अस्थिरता एवं निस्तेजता को प्रकट करते हैं। कुछ दीप्ति कण त्वचा के एक स्थान से दूसरे स्थान शरीर के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु एवं एक व्यक्ति से दूसरे की ओर जाते रहते हैं, जहाँ वे अवशोषित कर लिये जाते हैं। जब तक पहला समूह पूरी तरह से अवशोषित नहीं हो जाता, तब तक दूसरा समूह नहीं निकलता। इस सम्बन्ध में उन्होंने किलियन व आर्गोन फोटोग्राफी द्वारा चित्र भी खीचे हैं। वे धीरे-धीरे चमकती हुई जाती हैं एवं अंत में तीव्र आभा के रूप में चमककर अपने केन्द्र पर पहुँचकर बुझ जाती हैं। इनका रंग नीलिमा लिए सफेद एवं भूरा होता है। ये बुझे मुरझाये प्रकाश समूह अनिर्धारित, अस्त-व्यस्त एवं हीन संकल्प शक्ति को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में हेय विचार वाले कुसंस्कारियों से दूर

रहने के लिए कहा गया है। झुआ-छूत का निर्धारण इसी आधार पर किया गया था। जातिगत आधार पर नहीं। कामी, व्यभिचारी, लोलुप मिथ्याचारी, दम्भी व्यक्तियों के संसर्ग में रहने से उनके सूक्ष्म संस्कार अनायास ही अच्छे संस्कार वालों को प्रभावित करते हैं। इसलिए न तो उनके सम्पर्क में रहें, नहीं उनके द्वारा प्रयोग किये वस्त्रों अथवा सामानों का उपयोग करें, क्योंकि उसमें भी उनका प्रभाव आ जाता है।

रूस स्थित और साइकियेट्रिक इन्स्टीट्यूट की प्रमुख महिला विज्ञानी डॉ. थेल्मा मॉस ने भी अपने प्रयोग परीक्षणों में पाया है कि ध्यान, सम्मोहन अथवा ट्रॉस की स्थिति में अँगुलियों के अग्रभाग से निकलने वाली प्राण रश्मियों में भारी परिवर्तन होता है। तनाव, उत्तेजना अथवा निषेधात्मक चिंतन की स्थिति में अवस्थित जिन व्यक्तियों के किलियन चित्र उतारे गये तो देखा गया कि फिल्म पर गहरे लाल रंग के चकते पड़ जाते हैं। इनका सर्वाधिक प्रभाव हाथ पर ही होता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के भले-बुरे अणुओं की आभा हाथों में प्रकट होती है और सम्पर्क में आने वालों को प्रभावित करती है। धर्म-ग्रन्थों में इसीलिए कहा गया है कि हाथ काट डालने योग्य हैं, जो पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं। तन की बात सर्वविदित है। स्पर्श से उनकी दिव्य प्राण ऊर्जा का लाभ अनायास ही लोगों को मिल जाता है। उनके चरणों को छूने के पीछे यही विज्ञान काम करता है। समर्थ गुरु अपने शिष्य पर शक्तिपात में यही क्रिया दुहराते हैं। रामकृष्ण परमहंस द्वारा विवेकानन्द को, रामदास द्वारा शिवाजी को, विरजानन्द द्वारा दयानन्द को प्राण ऊर्जा का दिव्य अनुदान इसी प्रकार हस्तांतरित हुआ था। इसी आधार पर उदारमना तपस्वी अनेक बार दीन-दुःखियों की भी सेवा, सहायता करते रहते हैं और प्रसन्नता अनुभव करते हैं। न्यूजीलैण्ड का एक गड़रिया अपने या पराये झुण्ड की जिन भेड़ों पर हाथ फेर देता था वे उसी के साथ चल पड़ती और मालिकों द्वारा खींचने पर भी वापस न लौटतीं। गड़रिया ही उलटा हाथ फिराकर उन्हें अपनी पकड़ से मुक्त करता, तब वे वापस लौटतीं। इसमें भी हाथ के माध्यम से सूक्ष्म शक्ति द्वारा भेड़ों को प्रभावित करना ही है।

संकल्प शक्ति एवं एकग्रता द्वारा प्राण शक्ति का अभिवर्धन एवं प्रकाश अणुओं के रंगों में परिवर्तन भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में ई. डगलस ने अपने संस्मरण में लिखा है कि एक बार इथेल रोगी का उपचार कर रही थीं। उसी समय उनके हाथ से वासन्ती रंग निकल रहा था। उन्होंने कहा 'मैं चाहूँ तो हरा भी हो सकता है' हमने पुनः यंत्र के माध्यम से चित्र लिए तो उसी

अवस्था में हरे रंग की आभा मिली। पूछने पर उन्होंने बताया कि मनुष्य के मन में हो रहे क्षण-क्षण परिवर्तन उनसे निकलने वाले प्रकाश प्रवाह को बदलते रहते हैं, चूँकि यह विचारणा, भावना एवं संकल्प शक्ति से सुसम्बद्ध है। अतः चाहें तो हममें से हर कोई इसे विधेयात्मक रूप से देकर अपनी मनःशक्तियों, अतीन्द्रिय सामर्थ्यों को विकसित कर सकता है अथवा निषेधात्मक विचार-प्रवाह उत्पन्न कर स्वयं को पतनोन्मुख की दिशा दे सकता है। ऐसे व्यक्ति से सभी दूर बने रहेंगे। एक नेगेटिव ऑरा उससे सतत निकलता रहता है। विचारों की शक्ति व्यक्ति को एक चलता-फिरता चुम्बक बना देती है, जो आकर्षित भी कर सकता है, विकर्षित भी। चेतन सत्ता का विलक्षण खेल है यह !

अन्तरंग को सुधारें, बहिरंग

सुविकसित होगा

सम्पदा सम्पादित करना अपने हाथ के सर्वथा बल-बूते की बात नहीं है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता उसमें बाधक भी हो सकती है। प्रकृति-प्रकोपों के कारण कई बार ऐसी विपन्नता उत्पन्न हो जाती है कि करा-धरा पुरुषार्थ मटियामेट हो जाता है।

खेत में अच्छा बीज डालने और खाद पानी का समुचित प्रबन्ध करने से भी यह निश्चित नहीं है, कि इच्छित उत्पादन होकर ही रहेगा। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओले, कीड़े, टिड्डी जैसे कई उत्पात खड़े हो सकते हैं। दाव लगे तो वन्य-पशु और पक्षी भी उसके अधिकांश भाग को हड़प सकते हैं। चोर उपज को ही नहीं खड़ी फसल को भी काट सकते हैं। आँधी-तूफान से भारी क्षति हो सकती है। सहायता के लिए मजदूर न मिलें, बैल बीमारी से चल बसें, तो सम्पन्न बनने की योजना में प्रकृतिगत या मानवी कारणों से ऐसा कुछ हो सकता है, जिससे मनसूबे धरे के धरे ही रह जायँ। प्रयास के साथ परिस्थिति की अनुकूलता और साधन सहयोग की विपुलता ही भौतिक प्रगति का पथ प्रशस्त करती है, अन्यथा मनसूबे धरे के धरे रह जाते हैं।

उच्च शिक्षा की प्राप्ति, ऊँचे पद पर आरूढ़ होना, प्रतियोगिताओं में सफल होना, उन्नतिशील बनने के लिए आवश्यक है। इनके लिए पूरी तैयारी करने पर भी आकस्मिक रुग्णता, दुर्घटना, आवेश भरी योजना कुछ से कुछ कर सकती है। जो ऐसा सँजोया गया था, वह उलटा हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने पर अनुरूप पद न मिले और किसी छोटी आजीविका से सन्तोष करना पड़े। पहलवान भी दंगल में

मात खा जाते हैं। अफसर भी पदावनत और निलंबित होते देखे गये हैं। जीवन भर की कमाई को चोर चुरा सकते हैं। कपटी, ठग, विश्वासघात की चोट मार सकते हैं। घर के कुपात्र सदस्य ही कुसंग में पड़कर दुर्व्यसनों के शिकार बनकर उस सम्पदा को स्वाहा कर सकते हैं, जिसके बारे में सोचा गया था कि जिन्दगी का सहारा बनेगी और सुख-सुविधाओं में कोई कमी न पड़ेगी। सम्पन्नता अभीष्ट तो है, पर प्रयत्नरत व्यक्ति उसका समुचित लाभ उठा सकेंगे इसकी कोई गारंटी नहीं।

इसकी तुलना में सुसंस्कारिता की फसल ऐसी है, जो मात्र अपने संकल्प के बलबूते उगाई और पकाई जा सकती है। मन अपना है। शरीर भी अपना है। उन दोनों पर पूरी तरह अपना स्वामित्व है। इच्छानुसार उन्हें सिखाया, समझाया, बदला-सुधारा और मोड़ा-मरोड़ा जा सकता है। इस क्षेत्र में किसी दूसरे का कोई हस्तक्षेप नहीं। यदि प्रण कर लिया जाय कि सुसंस्कारी बनकर रहेंगे, तो यह प्रतिभा अपने बलबूते पूरी की जा सकती है। दूसरों की सहायता इसके लिए आवश्यक नहीं। प्रतिकूलताओं की स्थिति में थोड़ी कठिनाई तो हो सकती है, पर इतनी शक्ति किसी में नहीं जो आदर्शों के प्रति निष्ठावान को पतित पराभूत कर सके। शरीर पर आघात हो सकते हैं। साधनों को नष्ट किया जा सकता है, किन्तु यह सम्भव नहीं कि व्रतशीलों को उत्कृष्टता अपनाये रहने से विरत कर सके। देव मानवों की कथा-गाथायें इसकी साक्षी है कि उनसे कठिन समय में भी महानता अपनाये रखी। व्यवधानों को सहते या विकट संघर्ष करके उन्हें निरस्त करते रहे। उत्कृष्टता ऐसा सम्बल है कि यदि उसे एक बार दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया जाय तो फिर उससे डिगा सकने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। दधीचि, भागीरथ, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, कर्ण आदि ने महानता को अश्रुण बनाये रखने का निश्चय किया था। कठिनाइयाँ आती रहीं और वे उन्हें दुलराते रहे। ध्रुव, प्रह्लाद जैसे बालकों के साहस भी कठिन प्रसंगों में न टूटे। दमयन्ती, सीता, सावित्री, सुकन्या, शैव्या, अरुन्धती, इला, अपाला एवं मीरा जैसी महिलायें जब अपनी उत्कृष्टता को अश्रुण बनाये रहने के लिए कटिबद्ध हो गईं, तो उनकी गरिमा पर उँगली उठाने की किसी में भी हिम्मत न हुई। विपत्तियों के तूफान उनसे टकराकर वापस लौट गए।

भौतिक सम्पदाओं को उन्नति का आधार तो माना जा सकता है, पर कोई दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि वह उस आकांक्षा को पूरा करके ही रहेगी। उस निमित्त पोषण ही पर्याप्त नहीं। परिस्थितियों की

अनुकूलता भी चाहिए। प्रतिकूलता के अड़ जाने पर तो सारा गुड़-गोबर हो जाता है।

सुसंस्कारिता सम्पादन के संबंध में ऐसी बात नहीं है। उसे स्वावलम्बनपूर्वक कमाया और बढ़ाया जा सकता है। सद्गुणों का अभ्यास अपने बलबूते हो सकता है। दुर्बल मन वाले ही कुसंग से प्रभावित होते हैं। मनस्वी के लिए आत्मा का संकल्प और परमात्मा का विश्वास इन दोनों के सुदृढ़ बने रहने पर ही काम चल जाता है। बुरी आदतें डाली जा सकती हैं, पर यह नहीं समझना चाहिए कि अच्छी आदतें डालना उससे कठिन है। कुम्हार अपनी मर्जी के अनुरूप चाक पर चित्र-विचित्र आकृतियों के बर्तन बनाता रहता है। मनुष्य की अन्तरात्मा यदि समर्थ, सतेज बनी रहे तो वह भी अपने आप को जैसा भी चाहे भला या बुरा गढ़ सकता है। यह कार्य कठिन नहीं, सरल है। समृद्धि अर्जित करने की तुलना में प्रतिभा का उपार्जन सरल है।

एक गान्धी पर करोड़, करोड़पतियों को निछावर किया जा सकता है। एक महामानव लाख पहलवानों से बढ़कर है। इस तथ्य को यदि समझा जा सके, तो व्यक्ति समृद्ध बनने के लिए कितना प्रयत्न करता है, उससे हजार गुना अधिक प्रबुद्ध बनने के लिए करे।

मूर्खन्य कर्णधारों को यदि यह सूझ पड़े कि प्रजाजनों की शारीरिक आवश्यकताओं की तरह अन्तरात्मा की भावनाओं को विकसित करना भी आवश्यक है, तो वे दूसरी तरह से सोचें और अपनी प्रयास योजनाओं का कम से कम आधा भाग सद्भाव सम्बर्धन के लिए निश्चय ही सुरक्षित रखें। विचारशील व्यक्ति आलस्य प्रमाद से छूट सकता है, अवगति के गड्ढे से उछलकर प्रगति की मुड़ेर पर आ सकता है और उस राजमार्ग को पकड़ सकता है, जिस पर चलते हुए अपनी ही नहीं, प्रभाव क्षेत्र की भी दरिद्रता को मार भगा सकता है। सम्पत्ति पुरुषार्थ को उत्पन्न नहीं करती। पुरुषार्थ सम्पत्ति को उत्पन्न करता है। सम्पदा से मनुष्य पैदा नहीं होता। मनुष्य के पसीने से दौलत पैदा होती है। यह समझा जा सके कि तो मनुष्य को समृद्ध, शिक्षित, बलिष्ठ, चतुर बनाने की अपेक्षा ऐसा शिल्पी बनाया जाय जो अपने आप को भी ढाल सके और समीपवर्ती मिट्टी खोदकर उसे देव प्रतिमा के रूप में सुसज्जित कर दे। आवश्यकता इसी कौशल को सीखने और सिखाने की है। यदि ऐसा एक व्यक्ति ढल सके, तो उस पर स्नातक प्रमाण-पत्रों के गाड़ी भरे कागज तोरणों की तरह स्वागत पथ पर लटकाये जा सकते हैं।

सद्गुणी स्वल्प साधनों में भी उनका सदुपयोग करते हुए अमीरों से अधिक प्रसन्न रह सकता है और निर्वाह के अतिरिक्त उतनी ही पूँजी से प्रगति के साधन भी जुटा सकता है। किन्तु यदि दुर्गुणों की, दुर्व्यसनों की भरमार हुई, महत्वाकांक्षाओं की मदिरा जैसी खुमारी चढ़ी रही, तो फिर समझना चाहिए कि कुबेर का कोष या कारू का खजाना भी कम पड़ेगा। सम्पत्ति को दुर्व्यसन के समीप ले जाते ही वह इस प्रकार जलकर खाक हो जाती है, मानो पुआल के ढेर में किसी ने जलती लकड़ी डाल दी हो।

परिश्रमी पसीने की बूँदों से खेती उगाते हैं। सज्जन अपने अनेकों सहयोगी और प्रशंसक बुला लेते हैं। जिज्ञासा उभरे तो समाधान बताने वाले किसी भी कोने से निकल आते हैं। पढ़ने में रुचि हो तो जेल के कैदी लोहे के तसले पर कंकड़ों की कलम बनाकर एक-दूसरे से पूछते हुए विद्यावान बने दीखते हैं। इसी प्रगतिशीलता को बोते, उगाते, सींचते, बढ़ाते और रखवाली करते हुए वैभव भरी उपज के स्तर तक पहुँचाया जाना चाहिए। यदि यह लगन लग पड़े तो अकबर जैसे निरक्षर इतने प्रवीण हो सकते हैं कि बचपन से ही काम-काज सँभाल लें और सभा के नवयुवकों का मार्ग-दर्शन करें।

शिक्षा का अपना महत्व है। साक्षरता सम्बर्धन के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न चलते ही रहने चाहिए। पैसे की अपनी आवश्यकता है। गरीबी भगाओ आन्दोलन के अन्तर्गत हर व्यक्ति को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाया जाना चाहिए। इन प्रयत्नों को रोकने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो बढ़ावा ही मिलना चाहिए। कहा यह जा रहा है कि उस प्रज्ञा उन्नयन की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, जिसके आधार पर मनुष्य अपनी गरिमा को पहचानता है, जिम्मेदारी को समझता है और साहस भरे पराक्रम के आधार पर जो हस्तगत हो सकता है, उसकी अनुभूति कर सके।

इसके लिए अलग से कोई विभाग खोलने की जरूरत नहीं है। जो भी वर्ग, क्षेत्र, उपक्रम है, उन्हीं के साथ यह सरसता धुलती रहनी चाहिए कि हर मनुष्य समझदारी, ईमानदारी और बहादुरी का महत्व सीखे। हँसती-हँसाती जिन्दगी जियें। अपनी खुशी बाँटे और दूसरों का दुःख बटायें। सलाह लें और सम्मान दें। व्यस्त रहें, मस्त रहें। कृतज्ञ रहें और सज्जन बनें। इस प्रक्रिया के लिए अलग से विद्यालय खुलें तो भी हर्ज नहीं। हर समझदार व्यक्ति अपने आपको सज्जनोचित ढाँचे में ढालें। अपने गुण, कर्म स्वभाव में शालीनता का समावेश होने दें। इतना करने भर से दूसरों पर उसका प्रभाव पड़ेगा।

और समीपवर्तियों से लेकर दूरवर्तियों तक उस प्रक्रिया का अनुकरण करने लगेंगे। चोरी लोग इसलिए करते हैं कि उसका लाभ तत्काल और प्रत्यक्ष देख पड़ता है। शालीनता उससे बढ़कर है। उसे अपनाने पर आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह का तिहरा लाभ मिलता है। इसके लिए परलोक पहुँचकर स्वर्ग मिलने जैसी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उसके सत्परिणाम नन्द धर्म की तरह सामने आते हैं। दुर्जन अपने ढंग का दर्प अहंकार दिखाते फिरते हैं, पर यह नहीं समझा जाना चाहिए कि सज्जनों के पास ऐसा कुछ नहीं होता, जिसके कारण अपने को आनन्द और दूसरों को उल्लास दिया जा सके।

शुरूआत अपने से की जा सकती है। शुभारम्भ के लिए आज का दिन ही परम श्रेष्ठ माना जा सकता है। प्रयोगशाला नई बनाने की जरूरत नहीं है। अपने मस्तिष्क एवं चिन्तन का उद्यान उगाया जा सकता है और शरीर द्वारा ऐसी जीवनचर्या का निर्धारण किया जा सकता है, जिसमें गुण, कर्म, स्वभाव की आदर्शवादिता पग-पग पर दृष्टिगोचर होने लगे। गुलाब खिलता है तो उसकी महक चारों ओर फैलती है। चन्दन अपने समीपवर्ती झाड़-झंखाड़ को भी सुगंधित बना लेता है। इन तथ्यों को जो भी समझ सके, वह अपने को सुधारे-समीपवर्ती तो अनायास ही सुधरता चला जाएगा।

क्या मनुष्य स्वभावतः आक्रामक है ?

नृतत्व विज्ञानी डॉ. वाशवर्न मनुष्य की बौद्धिक क्षमता का इतिहास प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य का मस्तिष्क कई लाख वर्षों तक विकसित नहीं हुआ, सात लाख साल पूर्व मनुष्य का मस्तिष्क पहले की अपेक्षा दूना हो गया। चार लाख वर्ष पहले समूची स्थिति में अचानक परिवर्तन आया। मनुष्य का मस्तिष्क एक साथ कई आयामों में विकसित हुआ। किन्तु विकास की इस प्रक्रिया में सबसे बड़ी त्रुटि यह रह गई कि उसकी आक्रामक मनोवृत्ति में जरा भी परिवर्तन नहीं आया। पाषाण युग की सभ्यता एवं वर्तमान की मनोवृत्तियों में अब भी एकरूपता है। उनका कहना है कि आज आवश्यकता इसकी है कि मनुष्य बदले और उसे बदलना ही होगा अन्यथा मानव जाति का विनाश निश्चित है।”

उक्त विचार यूनेस्को द्वारा आयोजित ‘पेरिस’ की एक कॉन्फ्रेंस में प्रस्तुत किया गया था। विषय था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किस प्रकार शान्ति की स्थापना की जाय ? किस प्रकार मानवी मूल्यों की पुनर्स्थापना हो ? इसमें १४ देशों के १८ मूर्धन्य वैज्ञानिकों ने भाग लिया।

विकासवाद का उपरोक्त सिद्धान्त सही न भी माना जाय तो भी मानवी स्वभाव को बदलने की आवश्यकता को तो समझना ही होगा।

दिवंगत प्रो. सोरोकोव ने अपनी पुस्तक ‘सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स’ में नौ सौ वर्षों में संसार के देशों में जितने युद्ध किए हैं, उसके आधार पर विस्तृत तालिका बनायी है। इस तालिका के अनुसार बारहवीं सदी से बीसवीं तक रूस ने अपने समय का ४२ प्रतिशत, स्पेन ने ६७ प्रतिशत, पोलैण्ड ने ५८ प्रतिशत, ग्रीस ने ५७ प्रतिशत, इंग्लैण्ड ने ५६ प्रतिशत, फ्रांस ने ५० प्रतिशत, हॉलैण्ड ने ४४ प्रतिशत, रोम ने ४१ प्रतिशत, आस्ट्रिया ने ४० प्रतिशत, जर्मनी ने २८ प्रतिशत वर्ष युद्ध करते बिताया है। उक्त सम्मेलन में उपस्थित सभी मनोवैज्ञानिकों ने कहा कि मनुष्य का मन परिवर्तनशील है, उसे बदला जाना सम्भव है।

आक्रामक, अति उत्साही व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का अत्यधिक मूल्यांकन करने वाला होता है। इस आवेश में दूसरे को मच्छर की तरह मसल देने की अहमन्यता सवार रहती है। कभी-कभी बदला लेने की भावना प्रबल होती है। कभी मात्र नीचा दिखाने और स्वयं यशस्वी बनने तथा लाभान्वित होने की प्रवृत्ति का मन पर इतना अधिक दबाव बढ़ जाता है कि उसे आतंक प्रदर्शित करने के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढना पड़ता है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि संसार में कोई न्याय-व्यवस्था भी है, जो आक्रामक को नीचा दिखाने के लिए स्वयं ही अदृश्य व्यवस्था बनाती रहती है। शान्ति प्रिय प्राणी अपनी प्रकृति के अनुरूप बढ़ते भी रहते हैं और फलते-फूलते भी हैं और पारस्परिक सहयोग का लाभ उठाते रहते हैं। इसके विपरीत आक्रमणकारी आपस में ही ईर्ष्या-द्वेष की आग में जलते रहते हैं और जब भी अवसर मिलता है, भेड़ियों की तरह एक-दूसरे को दबोचने का अवसर भी नहीं चूकते। सिंह, व्याघ्रों की संख्या संसार में घटती ही जाती है, क्योंकि प्रकृति नहीं चाहती कि हानिकारक तत्व संसार में अधिक बढ़ें और अधिक समय तक जीवित रहें। आक्रामक अपराधियों को राजदण्ड, सामाजिक, असहयोग एवं तिरस्कार भी निरन्तर सहन करना पड़ता है। यह उनकी जीवनी शक्ति को घटाने एवं परास्त करने में कम भूमिका नहीं निभाती। आत्म हनन का पश्चाताप भी उन्हें कम नहीं सहना पड़ता।

यों मनुष्य भूतकाल की विपन्न परिस्थितियों में आत्म रक्षा के नाम पर आक्रामकता अपनाता रहा है, पर स्वभावतः अपनी शारीरिक एवं मानसिक संरचना के कारण वह आक्रामक है नहीं।

यह 'मूड' क्यों ऑफ हो जाता है ?

आजकल एक नया रोग चला है। उस रोग का नाम है—“मूड ऑफ होना।” आधुनिक समय के सभ्य व शिक्षित कह जाने वालों में प्रायः अधिकांश इससे ग्रसित हैं। उनको यह कहते हुए सुना जा सकता है कि आज तो अमुक काम कर ही नहीं सके, मूड ही नहीं हुआ। क्या करें आज तो ऑफिस जाने का मन ही नहीं हुआ ? इस रोग की दवा किसी चिकित्सक के पास नहीं है। इसकी दवा उन्हीं लोगों के पास है, जो यह कहते हैं कि “मूड ऑफ” था। वैसे यह रोग है बड़ा भयंकर। दवा नहीं की तो जीवन को ही शुष्क, नीरस ही नहीं आकर्षक विहीन बना देता है।

मूड “ऑफ” होने के लक्षण कुछ इस प्रकार होते हैं—शरीर के अंगों में हल्की पीड़ा, शिथिलता व आलस्य का प्रभाव रहता है। काम करने में अनुत्साह, सिर भारी, चित्त उदास तथा मन बेचैन रहता है। यह शिकायत आज पचास फीसदी लोगों की रहती है। वस्तुतः यह हमारे अपने आपे द्वारा शरीर और मन पर लादी गयी, अतिरिक्त थकान है, जो निकट भविष्य में किसी न किसी व्याधि के रूप में प्रकट होती है।

शारीरिक शक्ति का जितना सम्बन्ध आहार से है, उससे अधिक जीवन क्रम की नियमितता से है। जिसने इसका नियमन और निर्धारण किया है, उसे न कभी थकान अनुभव होती है न कमजोरी। इसका मूल कारण मनुष्य की अनियमितताएँ हैं, जो मूड ऑफ होने की सांकेतिक बीमारी के रूप में प्रकट होती हैं।

आज के समय में अनेकों साधन जुट जाने से शरीर को तो आराम मिला है, पर मन काफी बोझिल हो गया है। वातावरण की कृत्रिमता और अर्थ प्रधान युग की जटिल प्रक्रिया कुछ ऐसी हो गयी है कि मनुष्य को मानसिक आवेशों से छुटकारा नहीं मिलता। इनसे हम जितना थकते हैं, उतनी थकान श्रमशीलता से नहीं आती।

प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक, विचारक, मनोविज्ञानी विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक “दी एनर्जी ऑफ मैन” में अनेकों प्रकार से स्पष्ट किया है कि मनुष्य अपनी शक्ति का एक छोटा-सा अंश ही काम में ला रहा है। यदि वह सम्पूर्ण शक्ति से काम लेने की कला सीख जाय, तो वह अपने जीवन में आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ पा सकता है।

उन्होंने इन शक्तियों के ठीक से अभिव्यक्त न होने के कारणों पर विचार करते हुए कहा है—सामान्यता संसार में दो तरह के आदमी होते हैं एक तो निष्क्रिय, निष्कमे

और दूसरे क्रियाशील। क्रियाशीलों की पंक्ति में आने वालों को उन्होंने पुनः दो वर्गों में बाँटते हुए कहा है कि एक के काम करने के पीछे भय समाया होता है यथा काम नहीं करेंगे, तो अधिकारी नाराज हो जायेंगे, पता नहीं वह कैसा व्यवहार करें आदि भयजनित समस्याएँ उन्हें घेरे रहती हैं। दूसरी स्थिति के लोग लोभ-लालच से ग्रसित होकर काम करते हैं। तरह-तरह के सपने बुनने, गगनचुम्बी कल्पनाएँ करने में जुटे रहते हैं। जेम्स के अनुसार पहली स्थिति चिन्ताजनित अवसाद को जन्म देती है। शंकाओं से घिरे रहने के कारण इसमें आधे-अधूरे मन से काम होता है। मूड की खराबी व अत्यधिक थकान ऐसी ही दशा में जन्म लेती है। दूसरी दशा में काम होता तो दीखता है, परिपूर्ण मनोयोग के अभाव में शरीर के ज्यादा घसीटे जाने के कारण थकान व मूड की खराबी ही पल्ले पड़ती है। इन दोनों ही दशाओं में व्यक्ति की समूची क्षमताएँ अभिव्यक्त नहीं हो पाती हैं।

एक तीसरी स्थिति का विवेचन करते हुए मनोविज्ञानी हेराल्ड ने अपने अध्ययन “हाउ टु लूज योर फीअर्स” शर्मन एण्ड फाइण्ड योर की टु हैप्पीनेस” में स्पष्ट किया है कि क्रियाशीलता को सुनियोजित एवं सुसम्बद्ध करने से इस मूड ऑफ होने के रोग से छुट्टी मिलती है। उनके अनुसार एक औसत मनुष्य अधिकतम १६ से १८ घण्टे क्रियाशील रह सकता है। यहाँ क्रियाशीलता का मतलब एक ही कार्य खुद को लगाने से नहीं है। इस अवधि में ६-८ घण्टे उसे व्यक्तिगत जीवन की देख-भाल, घर-परिवार आत्मीय सम्बन्धियों में देने पड़ते हैं। इससे एक काम यह भी होता है कि वह हल्का होता और ताजगी प्राप्त कर लेता है। बचे हुए आठ से दस घण्टे को श्रमशीलता में नियोजित किया जा सकता है। ऐसा करना उचित भी है। शर्मन का कहना है कि प्रारम्भ में हो सकता है कि इस अवधि में लगातार काम करने में घबराहट, बेचैनी का सामना करना पड़े। उन्होंने कई प्रयोगों में इसे सच पाया। देखा यह गया कि काम छुड़ा देने पर बेचैनी, घबराहट आदि सब गायब हो जाती है। निष्कर्ष में पाया गया है कि इसका कारण काम नहीं, श्रम-मनोयोग एवं जिम्मेदारी की भावना-इन तीनों की असम्बद्धता थी। जैसे-जैसे सुसम्बद्धता आती गयी, मूड ऑफ होने की तकलीफ भी दूर हुई और क्षमताएँ भी बढ़ती गयीं।

उन्हीं के शब्दों में “जब स्वयं हम कोई काम करते हैं तो थोड़ी देर बाद थकान-सी अनुभव होती है, उस समय काम छोड़कर आराम किया जाय तो थोड़ी ही देर में थकान समाप्त हो जाती है, पर यदि काम करते

ही रहा जाय, तो भी थोड़ी ही देर में थकान समाप्त हो जाती है। उनके अनुसार दूसरी स्थिति में थकान का अनुभव न होना, व्यक्ति की कार्य के प्रति गहरी अभिरुचि दर्शाता है। वे कहते हैं कि यदि धीरे-धीरे कार्य में रुचि जगाकर, उसमें मन को लगाकर काम करने की आदत डाली जाय, तो मनुष्य आश्चर्यजनक रूप से अपनी कार्यक्षमता को बढ़ा सकता है।

जिन्होंने भी जीवन में, इस सूत्र को धारण किया, कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ पा सकने में सफल हुए। नोबल पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध वैज्ञानिक सी. वी. रमण ने एक स्थान पर अपने बारे में बताते हुए कहा कि प्रारम्भ में बहुत देर तक पढ़ने से मेरा मन रह-रहकर उचट जाता था। पढ़ना चाहता था, पर मूड न बनता। आखिर एक दिन मेरे पिता ने मार्ग सुझाया। कहा-पहले पढ़ने के प्रति रुचि पैदा करो। शरीर और मन असंतुलित दशा ही इसका प्रधान कारण है। धीरे-धीरे मैंने इसका अभ्यास शुरू किया और कुछ ही दिनों के बाद फिर कभी मन उचटने की शिकायत नहीं हुई।

बात भी सही है। क्रमबद्धता और नियमितता हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को बनाये रखने के लिये सहायक हैं। एक दिन बहुत काम किया, दूसरे दिन ढीले पड़े रहे, तो क्रमबद्धता टूटती है। इसका हानिकारक प्रभाव भी पड़ता है। इसी प्रकार उत्तेजित दशा में कुछ करना भी ठीक नहीं होता। हमारे क्रिया-कलाप वर्ष भर बहने वाली सरिता की तरह अविरोध रूप से एक गति में होने चाहिये न कि बरसाती नाले की भाँति, जो चार दिन तो किनारों को तोड़ता-फोड़ता बहता है और बाकी दिन सूखा पड़ा रहता है। अनियमितता और क्रमहीनता मनुष्य की शक्तियों को वैसे ही चुका देती है, जैसे बरसाती नाला।

मनोविज्ञानी नैपोलियन हिल अपने अध्ययन ‘थिंक एण्ड ग्रो रिच’ में इसका एक और कारण बताते हैं कि वह है शारीरिक और मानसिक श्रम में सामंजस्य न होना। प्रायः दिन भर दफ्तर में काम करने वाले कर्मचारी, अधिकारी मानसिक श्रम तो करते हैं, पर शारीरिक श्रम की उपेक्षा कर देते हैं। इस असंतुलन के कारण मूड ऑफ होने की बीमारी ही उनके पल्ले पड़ती है। चाहे एक्स-रे के आविष्कारक रोएण्टजन हों या साहित्यकार अर्नाल्ड रायनवी किसी के भी जीवन का अध्ययन करें, तो पायेंगे उन्होंने व्यस्त मानसिक कार्यों के साथ-साथ शारीरिक श्रम को भी महत्व दिया।

हम अपने जीवन में भी यह कर सकते हैं। यदि हमारा काम मानसिक है, तो थोड़ा-सा शारीरिक श्रम, चाहे

वह खेलकूद हो या वाटिका में फूल-पौधे ठीक करना, यह हमारे मूड को हल्का-फुल्का बना देंगे। यदि काम शारीरिक श्रम सम्बन्धी हो तो रचानात्मक साहित्य का अध्ययन बिगड़े मूड को ठीक कर देगा और वह अडियल टट्टू की तरह जहाँ-तहाँ अड़ना बन्द कर देगा। यदि हम कार्य में श्रम, मनोयोग एवं जिम्मेदारी की भावना का सम्मिश्रण करना तथा जीवन क्रम का सुनियोजन करना सीख जायें, तो हमारी क्षमता कई गुनी विकसित हो सकती है और कार्य का स्तर भी बढ़ सकता है। पिछड़ापन तो दूर होगा ही, साथ ही मूड खराब होने की शिकायत भी न रहेगी।

जीवन पद्धति वही ठीक, जो

“मूड” को सही रखे

कई बार व्यक्ति की ऐसी अवस्था हो जाती है, जिसमें काम में मन नहीं लगता, फलतः आधा-अधूरा बन पड़ता है, निश्चित कर्तव्यों और दायित्वों की उपेक्षा होने लगती है, व्यवहार असामान्य हो जाता है और जिस कार्य की सफलता सुनिश्चित मानी गई थी, उसमें असफलता हाथ लगती है। ऐसा क्यों हुआ ? पूछने पर पता चलता है कि ‘मूड’ ठीक नहीं था।

आखिर यह ‘मूड’ है क्या ? मनोविज्ञानी जैजोंक के शब्दों में कहें, तो वह मानसिक अवस्था, जिसके अच्छे या बुरे होने पर व्यवहार, क्रिया और परिणाम में तदनुरूप अंतर दिखाई पड़ने लगे, सामान्य बोलचाल की भाषा में ‘मूड’ कहलाती है। यों तो यह एक अस्थायी मनोदशा है, पर जब तक रहती है, आदमी को सक्रिय या निष्क्रिय बनाये रहती है। सक्रियता, उत्कृष्टता, स्फूर्ति, उत्साह, उमंग उस मनःस्थिति का नतीजा है, जिसमें वह सामान्य रूप से अच्छी होती है, जबकि बुरी मनःस्थिति में अंतरंग निष्क्रिय, निस्तेज, निराश और निरुत्साह युक्त अवस्था में पड़ा रहता है। इस प्रकार विनोदपूर्ण स्थिति में व्यक्ति यदि दिखाई पड़े, तो यह कहा जा सकता है कि वह अच्छे ‘मूड’ में है, जबकि नैराश्यपूर्ण दशा उसके खराब ‘मूड’ का द्योतक है।

विलियम एन० मोरिस ने अपने ग्रन्थ ‘मूड दि फ्रेम ऑफ माइण्ड’ में मूड बनाने और बिगाड़ने वाली परिस्थितियों को चार वर्गों में विभाजित किया है। पहली श्रेणी में उन घटनाओं को रखा है, जो हल्के विषेयात्मक या निषेधात्मक स्तर की हैं, दूसरे में संवेगात्मक प्रकरणों को सम्मिलित किया गया है, तीसरी कोटि भूतकालीन आवेगात्मक स्मृतियों की है, जबकि चौथे में वह निरोध शामिल है, जो आवेश उत्पन्न करने वाले प्रसंगों की

भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को रोकता है। मोरिस के अनुसार इन सभी स्थितियों में मनोभाव प्रभावित होता है और घटना के भले-बुरे स्वभाव के अनुसार उसका निर्माण होता है। यहाँ तक संपूर्ण मनोविज्ञान जगत एकमत है, पर मूड-निर्माण संबंधी प्रक्रिया में विशेषज्ञों में पारस्परिक सहमति नहीं हो सकी है। “दि साइकॉलॉजी ऑफ फीलिंग एण्ड इमोशन” नामक रचना में मनोविज्ञानी सी. ए. रूकमिक लिखते हैं कि उत्तेजना पैदा करने वाला उद्दीपन जब समाप्त हो जाता है, तो आवेग भी धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगता है। इस निर्बल संवेग की अवस्था को ही वे “मूड” की संज्ञा देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो घनीभूत आवेश की तीव्रता जब समय के साथ छितराती है, तो वही “मूड” बन जाती है, जबकि “हैण्डबुक ऑफ सोशल कॉगनिशन” नामक पुस्तक में एलीस एम. आइसेन कुछ भिन्न मत प्रकट करती हैं। उनका मानना है कि उत्तेजना और मूड साथ-साथ उत्पन्न होते और समानान्तर रहकर कार्य करते हैं। दोनों का प्रादुर्भाव एक ही घटना से होता है। वे किसी ऐसी प्रक्रिया से इनकार करती हैं, जो आवेग की निर्बलता के उपरांत “मूड” जैसी स्थिति पैदा करती हो। “मूड” को वह एक अवशिष्ट अवस्था मानती हैं, एक ऐसी सूक्ष्म अवस्था जो मनोवेग के आरम्भ से पृष्ठभूमि में रहती तो है, पर तब तक स्वयं को अप्रकट स्तर का बनाये रहती है, जब तक आवेश एकदम क्षीण न हो जाय।

“मूड” संबंधी यह सैद्धान्तिक विवेचन समझ लेने के उपरांत हर एक को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह सदा स्वस्थ मनोदशा में रहे। यदा-कदा वह कभी गड़बड़ा जाय, तो उसे तुरन्त पूर्व स्थिति में लाने की कोशिश करनी चाहिए। जिसका मानसिक घरातल जितना लोचपूर्ण होगा, वह उतनी ही जल्दी अपने इस प्रयास में सफल होता प्रतीत होगा। जो जितना शीघ्र सामान्य मानसिक अवस्था में वापस लौट आता है, मनोविज्ञान की दृष्टि से उसे उतना ही स्वस्थ मन वाला व्यक्ति कहा जा सकता है। महामानवों और महापुरुषों की मानसिक संरचना लगभग ऐसी ही होती है। ‘वे क्रोधित नहीं होते, यह बात नहीं।’ गुस्सा वे भी करते हैं, पर जिस तीव्रता से वह प्रकट होता है, उसी गति से विलुप्त भी हो जाता है। सामान्य लोगों में यह विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, इसी कारण से लम्बे समय तक वह उससे प्रभावित बने रहते हैं। लगातार खराब “मूड” में बने रहने के कारण मन फिर उसी का अभ्यस्त हो जाता है और व्यक्ति अवसाद का पुराना रोगी बन जाता है।

मूर्धन्य व्यवहार विज्ञानी एल. बुडजिया अपनी पुस्तक, “डायमेसन्स ऑफ मूड” में अध्ययन का ब्यौरा

देते हुए लिखते हैं कि आज के कठिन समय में जीवन की जटिलताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि व्यक्ति अधिकांश समय बुरी मनोदशा में बना रहता है। गाँवों की विरल आबादी से जैसे-जैसे वह शहरों के जनसंकुल वातावरण के निकट आता जाता है, वैसे-ही-वैसे पेचीदगियाँ बढ़ती जाती हैं। इनके बढ़ने से मानस पर उसका दबाव तदनुसार बढ़ता जाता है। प्रकरांतर से यही दबाव खराब मनःस्थिति का कारण बनता है। उनका मानना है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन शनैः-शनैः जटिल होता चला गया। आज से सौ वर्ष पूर्व मानवी जिंदगी जितनी सरल थी, अब वह वैसी रही नहीं। यही कारण है कि तब लोग खेल और मनोरंजन की तरह जितनी सहजता से तनावरहित उन्मुक्त जीवन गुजार लेते थे, वैसा आज सम्भव नहीं। आदि मानवों का जीवन और भी सहज था। उन्हें न भोजन की चिंता थी न भविष्य की फिक्र। जब कभी भूख लगती, जंगली कंद-मूलों एवं जन्तुओं के शिकार से अपना पेट भर लेते, नींद आती, तो पेड़ तले सो लेते, न घर बनाने की आकांक्षा न संपत्ति जोड़ने की अकुलाहट, आज यहाँ, तो कल वहाँ-यही उनकी दिनचर्या थी। जहाँ इतनी सीधी-सादी जिंदगी होगी, वहाँ अंतःकरण प्रफुल्ल क्यों न रहेगा ? वे कहते हैं कि जटिल जीवन से समस्याएँ बढ़ती हैं और उस बढ़ोत्तरी का असर मन की स्वाभाविकता पर पड़े बिना नहीं रहता।

अशांत चित्त का दूसरा महत्वपूर्ण कारण गिनाते हुए वे लिखते हैं कि महत्वाकांक्षा यों तो प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, पर यह अनियन्त्रित होने पर दुःख-शोक का कारण बनती है। इन दिनों वह इस कदर बढ़ी-चढ़ी है कि मनुष्य अधिकाधिक दौलत जुटा लेने, यश कमा लेने और वाहवाही लूट लेने की ही उधेड़बुन में हर घड़ी उलझा दिखाई पड़ता है। जीवन इसके अतिरिक्त भी कुछ है, उन्हें नहीं मालूम। बस यही अज्ञानता विपन्न मनोदशा की निमित्त बनती है। यहाँ वे प्राच्य दार्शनिकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि जीवन के वास्तविक लक्ष्य को जब तक स्मरण नहीं रखा जायेगा, तब तक अवांछनीय आकांक्षाओं से ध्यान हटा पाना सरल नहीं और यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हल्के-फुल्के जीवनक्रम की अभिलाषा कभी न उपलब्ध हो सकने वाली मृगतृष्णा बनकर रह जायेगी।

यह सच है कि आदमी का रहन-सहन जितना निर्द्वन्द्व व निश्छल होगा, उतना ही अनुकूल उसकी आंतरिक स्थिति होगी। इसके विपरीत जहाँ बनावटीपन, दिखावा, झूठी शान, प्रतिस्पर्धा होंगे, वहाँ लोगों की मनोदशा उतनी ही असामान्य होती है। एम. टी. मेडनिक

और मेहराबियन के प्रस्तुत सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सर्वेक्षणकर्ताओं ने आस्ट्रिया के कई शहरों में जाकर इस बात का अध्ययन किया कि शहरी वातावरण का मानवी मनोभावों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? प्राप्त परिणाम इस बात का स्पष्ट संकेत था कि भोले-भाले ग्रामीणों की तुलना में स्वभाव से अधिक चतुर-चालाक और कृत्रिमता को अपनाने वाले शहरी लोगों का “मूड” अपेक्षाकृत ज्यादा बदतर होता है। सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि नगर-निवासियों में से ६६ प्रतिशत लोग ऐसे थे, जिनकी सप्ताह में औसतन पाँच से लेकर छः दिन तक मनोभूमि न्यूनाधिक अच्छी नहीं रहती। ३१ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे पाये गये, जो सप्ताह में तीन से चार दिनों तक खराब “मूड” के शिकार बने रहते। शेष तीन प्रतिशत में एक प्रतिशत से भी कम लोग ऐसे निकले, जो उस अशांत परिस्थिति में भी स्वयं को स्थिर चित्त रखने में सफल होते पाये गये, जबकि शेष ऐसे थे, जो बहुत कठिन परिस्थितियों में ही इस रुग्णवस्था की गिरफ्त में आते।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जब कभी मनःस्थिति खराब हो जाय, तो उसे अपने हाल पर अपनी स्वाभाविक मानसिक प्रक्रिया द्वारा ठीक होने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। इसमें समय ज्यादा लम्बा लगता है और शारीरिक, मानसिक क्षति की सम्भावना बढ़ जाती है। इसलिए सलाह देते हुए वे कहते हैं कि इससे जिस भी प्रकार सम्भव हो सके, उबरने का शीघ्र प्रयास करना चाहिए। विलम्ब करना अपने आप को हानि पहुँचाने के समान है। अमेरिकन साइकिरिट्रिक एसोसियेशन के “डायग्नोस्टिक एण्ड ए स्टेटिस्टिकल मैनुअल” के अनुसार ऐसी मनोदशा, जिसमें रुचि और प्रसन्नता समाप्त हो जाती हो, इस स्थिति से उबर पाना जल्दी सम्भव नहीं होता। इससे बाहर निकलने और स्वस्थ सामान्य अवस्था में आने में करीब दो सप्ताह जितना समय लग सकता है। इतने लम्बे समय तक अवसादग्रस्त स्थिति में बने रहने से शरीर के विभिन्न तन्त्रों पर अनावश्यक दबाव पड़ने लगता है, जिसका प्रकट लक्षण विभिन्न प्रकार की असामान्यताओं के रूप में सामने आता है। ऐसी स्थिति में भूख बढ़ या घट सकती है। इसी प्रकार वजन, नींद, यौन, क्रियाएँ आदि सामान्य स्तर से अधिक या कम हो सकती हैं। थकान, हीनभावना, कल्पना और चिंतन संबंधी अक्षमता जैसे दोष भी इस अवस्था में प्रकट हो सकते हैं। यह तो वे असामान्यताएँ हुईं, जो व्यक्त होती और दिखाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही दोष हैं तो अप्रकट स्तर के बने रहते हैं। इनमें आन्तरिक क्रियाएँ और रक्त-रसायनों की न्यूनाधिकता

शामिल है। विशेषज्ञों के मतानुसार व्यथित मनोभूमि में एंडीनल कार्टेक्स से कोर्टिसोल नामक एक विशेष रसायन स्रवित होने लगता है, जिससे शरीर की चयापचय क्रिया असाधारण रूप से प्रभावित होती है। अवसादग्रस्त अवस्था में थायरोयड ग्रंथि के रस-स्राव पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते देखा गया है। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही आन्तरिक क्रियाओं को यह मानसिक दशा प्रभावित करती है। बाह्य लक्षणों में स्मरण शक्ति की कमजोरी, निर्णय ले सकने की अक्षमता, व्यवहार में चिड़चिड़ापन, क्रोध आदि अनेक कमियाँ खराब “मूड” की स्थिति में उत्पन्न होते देखी जाती हैं। इसीलिए विशेषज्ञ बराबर इससे बचे रहने की बात कहते हैं।

उनके अनुसार यदि कभी “मूड” खराब हो जाय, तो एकाकी पड़े रहने की तुलना में मित्रों के साथ हँसी-मजाक में स्वयं को व्यस्त कर लेना, उससे उबरने का एक कारगर तरीका हो सकता है, पर इसके साथ जिस एक बात के प्रति मनोवैज्ञानिक सावधान करते हैं, वह यह कि “मूड” को चर्चा का विषय न बनाया जाय। इससे मनोदशा के सुधारने की अपेक्षा बिगड़ने की सम्भावना और बढ़ जाती है।

मनोदशा को दुरस्त करने का एक अन्य तरीका भ्रमण भी हो सकता है। मनःशास्त्रियों का विचार है कि प्रकृति के सम्पर्क से मन जितनी तीव्रता से प्रकृतस्थ होता है, उतनी तेजी से अन्य माध्यमों के सहारे नहीं होता देखा जाता, अतएव ऐसी स्थिति में पार्क, उपवन, बाग, उद्यान जैसा आस-पास कोई सुलभ स्थल हो, तो वहाँ जाकर मानसिक अवस्था को सुधारा जा सकता है। नियमित व्यायाम एवं खेल का सहारा लेकर भी मन की दुरवस्था को घटाया-मिटया जा सकता है।

आजकल अवसाद आदि मनोविकारों को भूलने के लिए शराब, गाँजा, भाँग, अफीम, ब्राउन सुगर जैसे नशीले पदार्थों का बहुतायत से सेवन हो रहा है। इनके प्रयोग से पूर्व यह बात जान लेनी चाहिए कि गम गलत करने में इनसे रहत जैसी अनुभूति अवसादग्रस्त को हो सकती है, पर यह कोई इलाज नहीं, महज विषाद को भुलाने का उपक्रम मात्र है। इससे स्थिति सुधारने की तुलना में और बिगड़ती चली जाती है, जिससे बाहर निकल पाना बाद में अत्यन्त मुश्किल हो जाता है।

अंतिम उपचार अध्यात्म का है। यदि व्यक्ति भौतिकता में आध्यात्मिकता का समावेश करता चले और जीवन में आवश्यक संयम-नियम का अनुपालन करे, आवश्यकता से अधिक की आकांक्षा और स्तर से ज्यादा की चाह में प्रवृत्त न रहे, तो मूड के खराब होने जैसी

किसी भी कठिनाई से वह बचा रहेगा। यदि कभी इस बुरी मनोदशा से ग्रस्त हुआ भी, तो संयम और अनुशासन के कठोर अनुपालन के कारण जल्द ही उस स्थिति से बाहर आ जाता है। इस दृष्टि से अध्यात्मवादी अधिक लाभ में रहते हैं। वे जितनी निश्चिततापूर्वक जीवनयापन करते हुए अपने सुनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते हैं, उतनी शांति और संतुष्टि भौतिकता के चक्रवर्ध में जाने वालों में परिलक्षित नहीं होती। अतएव उत्तम यही है कि वैसा जीवनक्रम अपनाया जाय, जिसमें अवसाद भरी मनःस्थिति में पड़ने की समस्त संभावनाएँ ही निरस्त हो जायँ। जीवन पद्धति वही अच्छी है, जो हमें शांति और संतोष प्रदान करे एवं चरम लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ाती चले।

विघातक इरादे बदल भी सकते हैं

पाल ब्रंटन ने अपनी 'गुप्त भारत की खोज' में जहाँ अनेकों योगियों की अद्भुत चमत्कारी घटनाओं का उल्लेख किया है, वहाँ अध्यात्म विषय में अभिरुचि रखने वालों और खोजियों के मन्तव्यों का भी संकलन किया है। उनके अनुसार भारतीय वैज्ञानिक सी. वी. रमन के सम्मुख एक योगी को साइनाइड विषपान करने का उदाहरण सामने आया, तो उनमें इतना ही कहा कि यह विज्ञान के लिए एक चुनौती है। उसे तथ्य, प्रमाणों एवं तर्कों द्वारा इनका खण्डन अथवा मण्डन करना चाहिए।

'लिविंग युनिवर्स' के लेखक सर यंग हस्बैंड का कथन है कि जिस जड़ ब्रह्माण्ड का ऊहापोह भौतिक विज्ञान द्वारा किया जाता है, उसके अन्तराल में एक चेतना ब्रह्माण्ड भी है, जिसमें आत्मा की गतिविधियाँ और रीति-नीतियाँ काम करती हैं। इस सन्दर्भ में भारत अभी भी बहुत कुछ रहस्योद्घाटन करने की स्थिति में है। हिमालय की कन्दराओं में ऐसी आत्माएँ अवस्थित हैं, जिन पर मानवी शरीर के साधारण नियम लागू नहीं होते।

अपने इसी ब्रह्माण्ड में एब्सोल्यूट वैक्युम (पूर्ण शून्य) की यत्र-तत्र परिस्थितियाँ हैं। वे स्वेच्छाचारी प्रतीत होती हैं। मनमर्जी से जहाँ-तहाँ परिभ्रमण करती हैं, पर यह सम्भव नहीं है कि उन्हें आत्म-शक्ति द्वारा किसी स्थान विशेष पर घसीटकर लाया जा सके और उस क्षेत्र में चलने वाली समस्त गतिविधियों को ठप्प किया जा सके, भले ही वे कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हों ?

इन दिनों अणु बम, हाइड्रोजन बम, रसायन बम, न्यूट्रॉन बम आदि की बहुत चर्चा होती है और इनकी विघातक शक्ति का भयावह वर्णन किया जाता है। यह हो सकता है कि जिस क्षेत्र में इनका उत्पादन एवं प्रयोग

की योजना है, उसे पूर्ण शून्य के प्रभाव में ले लिया जाय और इनका प्रयोग ही न हो सके। अन्तरिक्ष में एक इस प्रकार की 'पूर्ण शून्य' की रचना हो सकती है जिसमें 'लैसर' और मृत्यु किरणों तक को ठप्प किया जा सके। उनके सामने प्रक्षेपणास्त्रों और बमों की क्षमता तो खिलौने जैसी कही जा सकती है।

विनाश की शक्तियाँ अद्भुत हैं, वे अपने मारक कृत्यों और क्षमताओं का प्रदर्शन बहुधा करते रहते हैं। पर यह भी असम्भव नहीं है कि पूर्ण शून्य की क्षमता के सम्मुख वे अपने को असहाय एवं असमर्थ अनुभव करें और विघातक योजनाएँ उनके निर्माताओं के मस्तिष्क तक ही सीमित रहें। जो करना चाहती हैं, वे न कर सकें।

प्रकाश की गति सर्वोपरि मानी गई है। अब तक के गणित की पहुँच यहीं तक है कि एक सैकण्ड में १,८६,००० मील चलने सकने वाला प्रकाश ही सर्वाधिक द्रुतगामी है। किन्तु इससे भी आगे गुरुत्वाकर्षण की दौड़ है। पृथ्वी एक छोटा ग्रह है, इसलिए उसकी भ्रमण क्षमता स्वल्प है। किन्तु बड़े ग्रह पिण्डों के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में प्रवेश पा सकने पर प्रकाश की गति से भी अधिक गति हस्तगत हो सकती है।

'ब्लैक होल' जिन ग्रहों के, पदार्थ के सम्पर्क में आते हैं, उसे इस प्रकार पराभूत कर लेते हैं कि उसे तनिक दूरी तक भी देखा न जा सके। किन्तु इन ब्लैक होलों का केन्द्र-बिन्दु जहाँ होता है, वहाँ इतनी गति होती है कि प्रकाश का समूचा परिकर ही उसमें अदृश्य हो सके। यह गति की ज्ञात चरम सीमा है। इसे प्रकाश गति से कहीं अधिक समर्थ माना गया है।

जिस प्रकार वर्षा के दिनों में पानी, ठण्डक के दिनों में ओस और गर्मी के दिनों में धूल ऊपर-से-नीचे की ओर बरसती देखी जाती है। उसी प्रकार अनन्त अन्तरिक्ष के कितने ही तारक और प्रवाह अपनी धरती पर विभिन्न स्तर के परमाणु एवं तरंग विकिरण बिखेरते रहते हैं। इनमें पृथ्वी की पाचन शक्ति जिन्हें उपयोगी एवं आवश्यक समझती है, उन्हें ग्रहण करती एवं पचाती रहती है। जो अनुपयोगी होते हैं, उन्हें अपने इर्द-गिर्द तनी छतरी से रोकती और जिघर-तिघर छितरा जाने देती है। फिर भी उसे छतरी को बेधकर कुछ न कुछ मात्रा में वह विशिष्ट विद्युत प्रवाह नीचे आता रहता है।

छतरी तान लेने पर कड़ी धूप का एक अंश ऊपर रुक जाता है, फिर भी उसे पार करके गर्मी का एक अंश नीचे उतर आता है और मनुष्य अनुभव करता है कि उसे गर्मी लग रही है। इसी प्रकार वर्षा के दिनों में

छाता लगा होने पर पानी का एक अंश इधर-उधर बह जाता है, फिर भी उसके बारीक छेदों में से रिसकर पानी हल्की फुहारों के रूप में नीचे आता रहता है और छाता लगाकर चलने पर भी कपड़े या शरीर का कुछ भाग नम हो जाता है। छाते का कपड़ा मोटा है या झीना इस बात पर भी छनकर नीचे आने वाली बात बहुत निर्भर करती है।

पृथ्वी से कुछ मील ऊँचाई पर विचित्र पदार्थों की विनिर्मित छतरियाँ तनी हैं, जिन्हें आयनोस्फियर, ट्रोपोस्फियर, लीथोस्फियर, बायोस्फियर आदि नाम दिये गये हैं। यह कवच पृथ्वी से लेकर ४००० किलोमीटर तक चले गये हैं। इन्हें एक छलनी के बाद दूसरी छलनी कह सकते हैं। इनसे टकराते और छितराते हुए अन्तरिक्षीय विकिरण का अनुपयुक्त भाग इधर-उधर बिखर जाता है और ऊपर ही रुक जाता है और पृथ्वी अपनी कामचलाऊ स्थिति में बनी रहती है। यदा-कदा ऐसे अवसर भी आते रहते हैं कि अधिक सशक्त दबाव ऊपर से नीचे तक आ पहुँचता है और उससे वातावरण असाधारण रूप में प्रभावित होता है। ऐसे अवसर पृथ्वी के जन्म से लेकर अब तक अनेक बार आये हैं, जिनमें अन्तरिक्षीय तरंग वर्षा की प्रबलता से पृथ्वी की परिस्थितियों में असाधारण उथल-पुथल होती रही है। हिम युग, जल प्रलय, अत्यधिक उष्मा, प्राणघातक वायु आदि के अभिवर्षण से ऋतुओं में भारी उलट-पुलट हुई है और अभ्यस्त वातावरण में अन्तर आने से जीवधारियों ने या तो अपनी प्रकृति बदली है या फिर उनमें से अधिकांश समाप्त हो गये हैं। यही बात वनस्पतियों के सम्बन्ध में है। उनकी आकृति और प्रकृति में हेर-फेर हुआ है। प्राणधारी जल, वायु और वनस्पतिजन्य आहार के आधार पर अपना जीवन धारण किये रहते हैं। इस आधार पर उनकी आदतें बदलती हैं और गुण, स्वभाव में परिवर्तन होता है। यों ऐसे अवसर यदा-कदा ही हजारों वर्षों बाद कारण विशेष में आते हैं अन्यथा एक बार का निर्धारित ढर्रा लम्बे समय तक चलता रहता है, थोड़े परिवर्तन को ध्रुव प्रदेशों की संरचना और कार्य पद्धति अपने ढंग से सन्तुलित कर लेती है। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है कि सर्व साधारण को उसका पता भी नहीं चल पाता और आने वाले औंधी-तूफान अपने ढंग से उतर जाते हैं।

पृथ्वी के ऊपर चढ़े हुए छातों का यथास्थिति बने रहना आवश्यक है। वह ऐसे ही हैं, जैसे शरीर पर कपड़े या मकान पर छत का आच्छादन। यह आवरण फट जाय या झीना पड़ जाय, तो ऋतु प्रभाव शरीर को

प्रभावित करेगा और असाधारण होने पर स्वस्थता को लड़खड़ा देगा।

ब्रह्माण्ड में बरसने वाले तरंग-प्रवाह को जितना पृथ्वी की साधारण संरचना रोक सकती है, उतना ही सम्भालकर पाती है यदि वह दबाव अत्यधिक मात्रा में हो जाय तो बेचारी पृथ्वी क्या, कोई भी सशक्त ग्रह पिण्ड भी उसकी चपेट में आ सकता है और उसका कचूमर निकल सकता है। तारकी का जन्म-मरण इसी आधार पर होता रहता है। स्वाभाविक मौत तो उनमें से बहुत कम की आती है। उनमें से अधिकांश को ऐसे ही किसी अन्तरिक्षीय प्रवाह की चपेट में आकर दुर्घटनाग्रस्त होना पड़ता है।

आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक विज्ञान के आधार पर विघातक शक्तियों पर अंकुश लगा सकने जैसे कोई विशिष्ट क्षमता विकसित हो और अनर्थ को रोक सकने के लिए ऐसे जुटाये जो भयभीत मानवता को सान्त्वना दे सकें और जो उपलब्ध सामर्थ्य के आधार पर मदोन्मत्त हो रहे हैं, उन्हें नये ढंग से सोचने के लिए सहमत कर सकें। आवश्यक नहीं कि जो आज का निश्चय है, वह कल भी उसी रूप में बना रहे। एकत्र की चिन्तन मनुष्य को दुराग्रही बनाता है, पर जब विपरीत पक्ष को ध्यान में रखते हुए विचार करने का अवसर मिलता है, तो वह अपनी राह बदल भी सकता है।

परा मनोविज्ञान के अन्तर्गत मेण्टल ट्रान्स फार्मेशन की, 'ब्रेन वाशिंग' की एक सशक्त प्रक्रिया है, जो मनुष्य को आज की अपेक्षा कल दूसरे ढंग से सोचने और अहंकारी, उन्माद को दूरदर्शी विवेक अपनाकर नये ढंग से सोचने के लिए सहमत कर सकती है।

यहाँ अणु आयुष सब कुछ है, अन्तरिक्ष बढ़िया किस्म का रण क्षेत्र है, दूसरे का विनाश करके हम सुरक्षित रह सकते हैं, यदि इस विचारधारा का कोई दूसरा विकल्प सूझ पड़े, अपनी भूल का आभास हो और साथ ही यह अनुभूति हो कि जिस आक्रामक योजना को सफल, सुनिश्चित माना गया था, वह व्यर्थ, निरर्थक भी सिद्ध होने जा रही है तो कोई कारण नहीं कि आक्रमण की दिशा में उठते पैर और बढ़ते हाथ रुक न सकें।

हमारी महत्वाकांक्षाएँ निकृष्ट न हों

महानता की प्राप्ति महत्वाकांक्षाओं की प्रेरणा से ही होती है। इसमें किसी प्रकार भी सन्देह नहीं है। प्रथम तो महत्वाकांक्षा महान् मानस की साक्षी है। दूसरे महत्वाकांक्षा महाकर्तृत्व का उद्बोधन करती है। जिसमें जिस प्रकार की आकांक्षा होती है, वह उसी प्रकार का मार्ग तथा उसी

प्रकार की गतिविधि को अपनाता है और उसे पूरा करने के लिये उसके अनुरूप ही साहस तथा कष्ट सहिष्णुता का अनुसरण किया करता है। यदि उसकी आकांक्षा प्राणवती तथा सच्ची है, तो वह उसके लिये उतना ही त्याग एवं बलिदान करने को तत्पर रहता है।

जिसकी इच्छाएँ छोटी-छोटी तथा सामान्य शारीरिक आवश्यकताओं तक ही सीमित रहती हैं, वह उसी परिधि तक अपनी गतिविधियों को बढ़ाता है। उसके आगे बढ़ने की न तो उसे प्रेरणा होती है और न साहस। उस सीमा से आगे उसकी कल्पना की गति भी नहीं होती।

इच्छा से ही मनुष्य प्रेरणा प्राप्त करता है और प्रेरणा के अनुसार ही गतिविधि अपनाता है। मनुष्य की क्रियाएँ उसकी इच्छाओं का ही तो खेल है। जो महान् आकांक्षाएँ रखता है, वह उसी के अनुसार कार्य कर महान् बन जाता है और जो छोटी और ओछी आकांक्षाएँ रखता है, वह क्षुद्र तथा नगण्य बना रहता है।

महत्वाकांक्षा का अर्थ है सामान्यता से बढ़कर इच्छा करना और उसकी पूर्ति से उस क्षेत्र से बढ़कर स्थिति तथा स्थान पाना।

धन का क्षेत्र ले लीजिये, गुजारे के लायक कमा लेने की कामना आकांक्षा के रूप में कोई महत्व नहीं रखती, यह तो आवश्यकताओं की पूर्ति की मजबूरी है। उससे आगे बढ़कर ऊँचे स्तर से रहने और सम्पत्ति जमा करने की इच्छा सामान्य कामना से कुछ आगे की बात है, किन्तु जब यही कामना मिल मालिक बनने, संसार के धन-कुबेरों में गणना कराने और बड़े-बड़े उद्योगपतियों में नाम लिखाने की इच्छाएँ बन जाती है, तब यह महत्वाकांक्षा बन जाती है। सामान्यता से विरलता की स्थिति में पहुँचने की कामना ही महत्वाकांक्षा है।

महत्वाकांक्षा के एक-दूसरे से विपरीत दो रूप होते हैं। एक शुभ और दूसरा अशुभ। उसी प्रकार उनकी पूर्ति असम्भव होने पर भी शुभ महत्वाकांक्षी चरित्र नायक की तरह उज्ज्वल पृष्ठ में और अशुभ महत्वाकांक्षी इतिहास के मलीन पृष्ठ पर अंकित होते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक होने पर भी एक विरल व्यक्ति पतित और कलंकी, एक श्रद्धा और सम्मान के साथ देखे-सुने और याद किया जाते हैं, दूसरे घृणा एवं तिरस्कार के साथ। दोनों ने अपनी लक्ष्य प्राप्ति में चाहे समान ही त्याग, बलिदान अथवा कष्ट सहन क्यों न किया हो, कितना ही परिश्रम, प्रयत्न एवं उद्योग क्यों न किया हो, किन्तु शुभ अथवा अशुभ के साथ संसार का यह भिन्न दृष्टिकोण अवश्य बना रहेगा।

संसार को विजय करने की इच्छा रखने वाला सिकन्दर निःसन्देह महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसकी आकांक्षा बहुत ही बड़ी और विरल थी। इसे मूर्तिमान् करने के लिये उसने बहुत बड़ा त्याग किया, अपार कष्ट उठाये और अनन्त उद्योग किया और उसने अनेक देशों पर अपनी विजय-वैजयन्ती भी फहराई तथापि विरल व्यक्ति होने पर भी वह इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ पर लिखे जाने का गौरव प्राप्त न कर सका, इसका एक मात्र कारण यही था कि उसकी महत्वाकांक्षा अशुभ थी। उसकी विजय के पीछे कोई भी मांगलिक उद्देश्य न था। उसकी महत्वाकांक्षा उसके व्यक्तिगत दम्भ और शक्ति अहंकार की उद्धतता से दूषित थी। उसने अपने व्यक्तिगत अहंकार को तुष्ट करने के लिये न जाने कितने देशों को रौंद डाला, हजारों-लाखों निरपराधों को मौत के घाट उतारा और अपनी सेना के असंख्यों सैनिकों को निरुद्देश्य समराग्नि में आहुति बना डाला। निरर्थक अशांति, अराजकता, युद्ध और रक्तपात का दोषी होने के कारण ऐतिहासिक होकर भी सिकन्दर महान् न बन सका। यद्यपि अनेक लोग उसे सिकन्दर महान् की पदवी देते हैं, किन्तु उसका महान् मानने वाले व्यक्ति उस जैसी ही आततायी वृत्ति के हो सकते हैं। प्रत्युत् कोई भी निष्पक्ष और बुद्धिमान् व्यक्ति सिकन्दर को उसकी उस विजय के लिए महान् मानने को तैयार न होगा। वह तो उसे रणलिप्सु* तथा रक्त-रंजक ही कहेगा। एस अशुभता के कारण ही सिकन्दर का सारा बलिदान, त्याग तथा उद्योग असफल होकर रह गया, जिसका फल उसके लिए ऐतिहासिक अपकीर्ति के सिवाय और कुछ न ला सका।

चाणक्य राजनीति क्षेत्र का महान् व्यक्ति है। यद्यपि उसने नन्द तथा आम्भीक जैसे राजाओं को आमूल नष्ट कर डाला। अनेक युद्ध कराये ही नहीं उनका नेतृत्व भी किया। जहाँ तक रक्तपात का प्रश्न है, चाणक्य के जिम्मे भी यह बात आती है तथापि राजनीति क्षेत्र का वह एक विरल व्यक्तित्व है और इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ से अंकित है और लोक में श्रद्धा तथा सुयश का भागी है।

सिकन्दर तथा चाणक्य दोनों युद्ध के हेतु रहे। किन्तु सिकन्दर कलंकित और चाणक्य यशस्वी। इसका एकमात्र कारण यही है कि चाणक्य का उद्देश्य, उसकी महत्वाकांक्षा का ध्येय और उसके सारे युद्धों का लक्ष्य शुभ था। जहाँ विजय के पीछे सिकन्दर की यह महत्वाकांक्षा थी कि वह सारे संसार का एकछत्र शासक बने, संसार उसकी अपराजेय शक्ति के सम्मुख नमन करे, उसका साम्राज्य विस्तार हो और मानव-जाति उसकी दास बने। वहाँ चाणक्य की महत्वाकांक्षा यह थी कि देश की राजनीतिक अव्यवस्था तथा अस्त-व्यस्तता दूर हो।

शासन में स्थिरता आये। छोटे-छोटे राज्यों के रूप में खण्ड-खण्ड देश एक और एक राष्ट्र बनें। राजाओं की अनीति और अत्याचार का दमन हो, नन्द जैसे राजाओं का उन्मूलन हो, जनता का त्रास दूर हो, सब ओर सुख-शांति और व्यवस्था की परिस्थितियाँ दिखाई देने लगे। राष्ट्र एक संगठन और एक राजनीतिक सूत्र में बद्ध हो। इसकी शक्ति बढ़े, आचरण उज्ज्वल हो और देश से विदेशियों का भय दूर हो।

जहाँ सिकन्दर की महत्वाकांक्षा उसने शक्ति-दर्प और व्यक्तिगत अहंकार से प्रेरित थी, वहाँ चाणक्य की महत्वाकांक्षा का आधार देश-शक्ति, राष्ट्र-शक्ति, समाज के हित और लोक-रंजन ही था। उसका उससे यत्किंचित भी अहंकार अथवा स्वार्थ न था। यही शुभ और अशुभ का अन्तर था, जिससे दोनों की महत्वाकांक्षाओं ने दोनों की ऐतिहासिक स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर कर दिया।

मनुष्य को महत्वाकांक्षी होना चाहिये, महत्वाकांक्षा से ही मनुष्य महान् बनता है। बिना ऊँची कल्पना और आकांक्षा के वह यों ही सामान्यतर स्थिति में पड़ा रहता है। किन्तु अपनी महत्वाकांक्षा में शुभ-अशुभ का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। नहीं तो साधारण व्यक्ति जहाँ कुछ समय के लिये सीमित क्षेत्र में ही अपवाद, कलंक अथवा धिक्कार के पात्र बनते हैं, वहाँ असाधारण व्यक्ति अशुभ आकांक्षाओं के कारण इतिहास में स्थायी रूप से युग-युग धिक्कारे जाते हैं। यह जीवन की बड़ी व्यापक, विराट और दूरगामी असफलता है। इस परिणाममूलक महत्वाकांक्षा से कहीं अच्छा एवं कल्याणकर है कि मनुष्य साधारण जीवन परिधि में सज्जनतापूर्वक चुपचाप जीवन पूरा कर ले। इससे वह महान् भले न बन पाये, किन्तु लोक से लेकर परलोक तक युग-युगान्तर के लिये उसकी आत्मा तो कलंक, ग्लानि और पश्चाताप की आग में न जलेगी।

यदि आपकी महत्वाकांक्षा घनवान, यशवान अथवा बलवान् बनने की है बड़ा अच्छा है। आपको उसे मूर्तिमान करने के लिए यथासम्भव पुरुषार्थ और प्रयत्न करना चाहिये, फिर भी इससे पहले कि आप अपनी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित एवं परिचालित हों यह देख लीजिए, पूरी तरह विवेचन कर लीजिए कि आपकी महत्वाकांक्षा अशुभता के दोष से तो दूषित नहीं है। उसमें लोक-रंजन, सामाजिक हित अथवा आत्मोद्धार की भावना के स्थान पर शोषण, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा, भोग, विस्तार आदि के विषैले बीज तो सन्निहित नहीं हैं। यदि ऐसा हो तो तत्काल ही अपनी उन महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दे दीजिए अथवा उनका सुधार-संशोधन कर डालिए, क्योंकि इससे तो लोक से लेकर परलोक तक

के बनने-बिगड़ने की सम्भावना होती है। अपयश और अशांति मूलक महानता से शांति-संतोष और सुखदायक सामान्यता हजारों-लाखों गुना अच्छी है।

इस सम्बन्ध में आत्म-विवेचना करते समय निष्पक्ष और निःस्वार्थ रहने की आवश्यकता है। यदि आँख पर से इन आवरणों को उतारकर दिग्दर्शन न किया गया तो अपने दोष दिखाई न देंगे। स्वार्थ और पक्षपात के दोष दृष्टि को ऐसा कोण दे दिया करते हैं, जिससे असत्य, सत्य और अहित, हित दिखाई देने लगता है और मनुष्य अपने ही दृष्टिकोण से स्वयं प्रवर्चित हो जाता है। इसलिए महत्वाकांक्षाओं के विषय में उनके रूप और उनका विवेचन करने में बहुत ही सतर्क और सावधान रहना चाहिये।

महत्वाकांक्षी बनिए, उनमें शुभ-संकल्प का समारोपण करिये, उनके मूर्तिमान करने के लिए सत्य का अवलम्बन करिये और संसार में महान् उन्नतिशील और यशस्वी होकर इस महत्वपूर्ण मानव-जीवन को सफल एवं सार्थक बनाइये। परमेश्वर आपकी सहायता करें।

महत्वाकांक्षा की सनक से खड़े ये अजूबे

महत्वाकांक्षाएँ प्रायः उसे पालने वालों को तो हैरान-पेशान करती ही हैं, अन्य अनेकों को भी अछूता नहीं छोड़तीं। शांतिपूर्वक रहने और दूसरों को रहने देने का एक ही तरीका है कि औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाया जाय और विचारों में उच्चस्तरीय आदर्शों को समाविष्ट किया जाय।

एक समय था, जब विश्व के अधिकांश भाग में सामंतवाद का बोलबाला था। सामंतवादी साम्राज्य का एक ही लक्ष्य होता था—विस्तारवाद। जिसे इसकी आकांक्षा होती, वही डाकुओं का, बलिष्ठ लोगों का समर्थन प्राप्त कर ऐसे ही दस्युओं का ऐसा वलिष्ठ गिरोह बनाता, जिससे पास-पड़ोस के इलाकों में आतंक के सहारे अपना वर्चस्व कायम किया जा सके। मारकाट मचती, तो निर्दोषों की खून की नदियाँ बह जातीं, पर उन साम्राज्यवादियों को इसकी क्या परवाह थी ? उन्हें तो घन, दौलत और राज्य चाहिए, सो इन आक्रामक आक्रमणों से मिल जाते। बस फिर क्या था ? अँधे को आँखें चाहिए। वह किस प्रकार मिलती हैं, कठोर अंतःकरण वालों को इसकी क्या चिंता ? पर जो दूसरों का चैन छीनते हैं, उन्हें भी तीसरे शांति से नहीं जीने देते। सेर को सवा सेर मिलते

रहते हैं और अगले को पदच्युत कर पिछले उस पर अधिकार करते रहते हैं।

कभी चीन में भी ऐसे घटनाक्रम तेजी से घट रहे थे। यह ईसा पूर्व ३०० की बात है। उन दिनों चीनी शासक अपने-अपने राज्य की सुरक्षा के लिए विशाल दीवारें विनिर्मित कर रहे थे। तब भारत में मजबूत महल बनाने और पहाड़ियों पर किले खड़े करने एवं चारों ओर खाई खोदने का प्रचलन था, पर चीनी सामंतों ने एक कदम आगे बढ़कर समुद्र की सीमाओं को पृथक् करने की विभाजन रेखाएँ खड़ी की थीं। सामान्य-सा देश अनेक छोटी रियासतों में विभाजित था। इतने पर भी उन्हें चैन नहीं। घात-प्रतिघात के आक्रमण-प्रत्याक्रमण बराबर चलते रहते और निर्बल, सबलों का शिकार बनते।

यह क्रम अभी खत्म भी नहीं हुआ था कि ईसा से २४ घण्टे पूर्व वहाँ 'चेन' नामक एक शक्तिशाली सम्राट का उदय हुआ। वह समूचे राष्ट्र पर अपना एकाधिकार कर लेने के मनसूबे बनाने लगा। इच्छा उपजी, तो तदनु रूप योजनाएँ बनने और क्रियान्वित होने लगीं। इस क्रम में उसने सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़ीं और रक्तपात इस कदर मचाया कि छोटे राजा उससे मिल जाने में ही अपनी भलाई समझने लगे। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में पूरे चीन पर उसका एकछत्र राज्य हो गया। वह वहाँ का चक्रवर्ती बन बैठा, पर इतने से ही बाहरी आक्रांताओं को रोक तो नहीं जा सकता था। आखिर उन्हें भी तो साम्राज्य, धन और यश की कामना थी। चेन ने समझा था कि अब चैन से दिन गुजारने से उसे कोई रोक नहीं सकता, पर शायद उसने उस 'चेन प्रतिक्रिया' (श्रृंखला प्रतिक्रिया) को भुला दिया था, जिसकी शुरुआत कभी उसने नृशंस लूट-पाट मचाकर की थी। भीड़-भाड़ में जब हल्की-सी भी धक्का-मुक्की हो जाती है, तो उसका रेला-सा चल पड़ता है और तब तक जारी रहता है, जब तक वह आखिरी सिरे को छू न ले। अब विपुल-संपदा के अधिपति चेन की बारी थी। मध्य एशिया के कबाइली छापामार उसकी नौद हाराम किये हुए थे। बीच-बीच में वे आक्रमण करते, संपत्ति लूटते और भारी बर्बादी मचाते। जब यह सिलसिला आये दिन चलने लगा, तो रक्षा का उपाय सोचा गया। योजना बनी कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर एक विशाल दीवार खड़ी की जाय, जिससे आक्रमणकारियों से राज्य की सुरक्षा हो सके और इस विशालकाय आकांक्षा पूरी करने का श्रेय-सौभाग्य भी मिले। अब तक एक ही प्रश्न था कि इतना विपुल धन कहाँ से कैसे प्राप्त हो ?

पर सनक अपनी महत्वाकांक्षा किसी-न-किसी प्रकार पूरी कर ही लेती है। हठवादी चेन की बड़ी-चढ़ी महत्वाकांक्षा ने उस असंभवजन्य कार्य को पूरा करने की ठानी। कार्य आरम्भ कर दिया गया। दीवार बनने लगी। प्रबन्ध ऐसा किया गया कि रास्ते में जो नदी-नाले निकलें, वे भी उसके नीचे होकर गुजरें। इस निमित्त अनेक पुल बनने लगे। कार्य इतना बड़ा था कि उसके लिए आस-पास के क्षेत्र में उपलब्ध ईंट-पत्थर पर्याप्त न थे। परिणाम यह हुआ कि मोटी दीवार की पोल को भरने के लिए समीपवर्ती क्षेत्र के पेड़-पौधे, बालू-रेत जो भी मिले काटकर भर दिये गये। आधुनिक अनुसंधान बताते हैं कि यह भी जब अपर्याप्त साबित हुए, तो भूखे, कंगालों को उसमें ज़िंदा दफन किया जाने लगा। इसके प्रमाण आज भी जहाँ-तहाँ दीवार से बाहर झाँकते उनके कंकाल के रूप में मौजूद हैं।

इस अभूतपूर्व संरचना के लिए कुशल कारीगर और प्रशिक्षित मजदूर चाहिए, सो भी इतने, जितने से चेन की महत्वाकांक्षा जल्दी-से-जल्दी पूरी हो सके। इतने कुशल शिल्पी और श्रमशील श्रमिक एक साथ कैसे उपलब्ध होंगे? हल इसका भी निकाल लिया गया। दूर-दूर के क्षेत्रों से बलिष्ठ जवानों को पकड़कर दास बना लिया गया। उन्हें बड़ी संख्या में पकड़ तो लिया गया, पर इससे पूर्व उनके भोजन, आवास, विश्राम जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के बारे में सोचा तक न गया। अकुशल प्रबंध और दिन-रात के कठिन श्रम से हठ-पुष्ट जवान भी जल्द ही जब क्षय रोग के रोगी जैसे लगने लगे। इतने पर भी जब उन पर समुचित ध्यान न दिया गया, तो बड़ी संख्या में उनकी मौतें होने लगीं। सड़ते-गलते शरीर को ठिकाने लगाने के लिए योजनाकारों को मोटी दीवार के रूप में अच्छी कब मिल गई। सभी को सामूहिक रूप से दीवारों से जहाँ-तहाँ दफनाया जाने लगा। इससे ईंट गारे की भी कमी पूर्ति कुछ हद तक हो जाती थी। उपाय अच्छा लगा, तो यह सिलसिला चल पड़ा। जब भी कारीगरों और मजदूरों की मृत्यु से उनकी कमी पड़ती, तो दूसरे राज्यों पर आक्रमण कर ऐसे लोग पकड़ लिये जाते। मरने पर फिर उनका दफन उसी में कर देते। इस प्रकार उस हत्यारी दीवार ने लगभग एक लाख लोगों को निगल लिया। यह दीवार संबंधी तत्कालीन दस्तावेजों से ज्ञात होता है।

चेन ने सोचा था कि विशालकाय निर्माण के उपरान्त उसे आक्रांताओं का त्रास नहीं झेलना पड़ेगा, पर अनुमान गलत निकला। अब दस्त्युओं ने दीवार में जहाँ-तहाँ सेंध लगाना शुरू किया। इस प्रकार वे चेन-साम्राज्य में लूट-पाट करने और भागने में सफल होते

रहे। दीवार पर बने रक्षकबुर्ज के चौकीदार और सेना भी उनका दमन न कर सके। जो हुआ, वह मात्र इतना कि दीवार टूटती और मरम्मत होती रहती, पर यह क्रम भी अधिक दिनों तक जारी न रह सका। चैन के उत्तराधिकारियों के लिए इसकी देख-रेख कठिन पड़ गई, फलतः वह जहाँ-तहाँ गिरने और टूटने लगी। राज्य भी स्थिर न रह सका। तलवार के बल पर जिन सामंतों को कभी काबू किया गया, अब वे भी अपनी तलवारें चमकाने लगे। चैन-वंशज उन्हें वश में न रख सके। परिणाम यह हुआ कि फिर चीन के खंड-खंड हो गये।

कारण साफ था कि विजय किन्हीं उच्चादशों के नाम पर राष्ट्रीय एकीकरण के लिए उसे ससुंगठित और सबल बनाने के लिए नहीं प्राप्त की गयी थी और न अधीनस्थ सामंतों को विजय से पूर्व अथवा बाद में ऐसा कुछ समझाया गया था, कि यह सब राष्ट्र के हित के लिए किया जा रहा है।

प्रचार से निजी स्वार्थ तो कोई छिपता नहीं। यदि ऐसा प्रचारित किया भी गया होता, तो तदनुरूप आचरण के अभाव में वह झूठा ही साबित होता। यही कारण है कि उद्देश्य उच्च न होने से देश उस रूप में संगठित न रह सका और चैन के बाद पुनः सत्ता-संघर्ष के लोभ में परस्पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण शुरू हो गये।

आज चीन की दीवार संसार के महानतम आश्चर्यों में गिनी जाती है। वह २१५० मील लम्बी है और ऊँचाई १५ फुट से लेकर ३१ फुट तक है। चौड़ाई औसतन ३२ फुट है। समग्र दीवार १५ वर्षों में बनकर पूरी हुई। विश्व के कोने-कोने से लोग उसे देखने आते हैं, पर पर्यटक यह नहीं समझ पाते कि चैन यह क्यों न सोच पाया कि मनोबल संपन्न अंतराल और देशभक्ति से भरे-पूरे सैनिक, आक्रमणों को निरस्त करने में सफल हो सकते हैं। विशालकाय किले और संरचनाएँ उस कार्य को पूरा नहीं कर सकते।

वर्तमान में चीन की दीवार खंडहर बनकर रह गई है। दिन-दिन वह और गिरती-बिखरती जा रही है। साथ ही अपनी मूक भाषा में सर्वसाधारण को बताती रहती है कि किस प्रकार महत्वाकांक्षा की बढ़ी-चढ़ी सनक जिन पर उभरती है, वे कैसे-कैसे अजूबे खड़े करते व धनबल, जनबल, बुद्धिबल को अपार क्षति पहुँचाते हुए यशस्विता प्राप्त करने का एक असफल व हास्यास्पद प्रयास करते हैं।

दोषारोपण से घृणा-घृणा से युयुत्सा

मनोविकार बहुधा अपने को ही गलाते-घुलाते रहते हैं, पर उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो आक्रामक स्तर के होते हैं और दूसरों को क्षति पहुँचाये बिना सन्तुष्ट नहीं होते। चिन्ता, भय, निराशा जैसी प्रवृत्तियों में घनुष्य स्वयं ही घुटता रहता है और उस घुटन से अपनी आन्तरिक क्षमताओं को नष्ट-भ्रष्ट करके दीन-दयनीय बनाता चला जाता है। इसके विपरीत क्रोध, द्वेष, क्रूरता को तिरस्कृत, पीड़ित दंडित किये बिना होता ही नहीं। उद्धत अहंकार भी दूसरों को गिराकर तुलनात्मक दृष्टि से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के ताने-बाने बुनता रहता है। ईर्ष्या, कुद्वन, जलन अक्सर उद्धत अहंकार की प्रतिक्रिया ही होती है, वे दूसरों को अपने आक्रोश का निशाना बनाती हैं। छुटपुट, लड़ाई-झगड़ों से लेकर महायुद्ध तक इसी पृष्ठभूमि पर विकसित होते हैं।

अपने पक्ष के किसी भी प्रतिपादन को सही सिद्ध करना और दूसरे पक्ष पर अनेकानेक दोषारोपण करना दूषित यह एक प्रचार तन्त्र है। इसीसे प्रेरित होकर युद्धोन्माद भड़कता है और घृणा, द्वेष के बीज फलते-फूलते हैं।

लड़ाई की अवांछनीयता और सहयोग की उपयोगिता सिद्धान्त रूप से हर किसी को समझाई जा सकती, पर विकृत 'अहं' उसे कथन श्रवण तक ही सीमित रखता है और मान्यता, भावना एवं क्रिया की गहराई तक उसे उतरने नहीं देता। जो हम सोचते हैं वही उचित है—जो हम चाहते हैं वही आवश्यक है। जब ऐसी मान्यता जम गई हो तो फिर अपनी बात का अन्य समर्थन और दूसरे पक्ष पर अनेकानेक दोषारोपण करने में तर्क बुद्धि जुट जाती है और तिल को ताड़ बनाकर ऐसी विभीषिकाएँ रच देती हैं, जिनसे निपटने के लिए युद्ध के अतिरिक्त और कोई चारा ही दिखाई न पड़े। "हमारा नहीं दोष दूसरों का है" सिद्ध करने की जब पहले से ठान-ठन गई हो तो सन्तुलित विचार विनिमय के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती मात्र अनिर्णीत विवाद हो सकता है। प्रतिष्ठा का प्रश्न बनकर सुदृढ़ पूर्वाग्रह किसी भी सफाई या तर्क से झुक नहीं सकता। यदि दलीलें अपने पक्ष में कम पड़ती होंगी तो भी वह हारने वाला नहीं, सामने वालों को दुर्बुद्धि एवं दुर्भावनाग्रस्त बताकर डटा अपनी ही बात पर रहा जायेगा। विवेक का उदय पक्षपातरहित स्थिति में ही हो सकता है। उद्धत अहमान्यता के तूफान में न्यायोचित तथ्य का पता लगाने वाले विवेक के पैर टिक ही नहीं पाते।

सभी जानते हैं कि द्वितीय महायुद्ध में आस्ट्रिया ने सर्विया को और जर्मनी ने पोलैण्ड को नीचा दिखाने के लिए जो आक्रमण किये थे वे सत्ता-मद में चूर पक्ष की उद्धत कार्यवाहियाँ थीं। समस्या उतनी जटिल नहीं थी कि सद्भावनापूर्ण आपसी विचार-विनिमय से सुलझाई न जा सकी होती। यही बात व्यक्तिगत और वर्गगत विद्वेष विग्रहों में होती है। मनुष्य का 'अहं' सीमा लाँघकर जब उद्धत हो जाता है तो उसमें दूसरे पक्ष की कठिनाइयाँ और दलीलों को समझने की इच्छा ही नहीं रहती। युद्ध ही उसे सरल उपाय सूझता है। यदि इसके विपरीत न्याय और समन्वय की दूसरे पक्ष की दलील और कठिनाई समझकर समन्वयात्मक मार्ग निकालने की इच्छा रही होती तो वह हल निकल सकता था, जो दोनों की अपेक्षाकृत नहीं अधिक सस्ता पड़ता।

लड़ाइयाँ छोटी हों या बड़ी उनके मूल में मनुष्य की यह मान्यता काम करती है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरों के साथ बल प्रयोग करना उचित और आवश्यक है। एक ग्रीक कहावत है—'शान्ति चाहते हो तो युद्ध की तैयारी करो' सशक्त पक्ष अपने अहं को प्रतिष्ठित करने के लिए छोटों के साथ दमन की नीति अपनाता है। इसमें उसे तिहरा लाभ प्रतीत होता है। अपने अहं की तुष्टि, आतंक से दूसरे लोगों को डरकर आत्म-समर्पण करना और दूसरे भौतिक लाभों को कमा लेना। अस्तु युद्ध के पक्ष में शक्तिशाली पक्ष बहुत-से कारण बताकर अपने लोगों को उत्तेजित करके दूसरे पक्ष पर चढ़ दौड़ने की भूमिका विनिर्मित करता है।

एक विद्वान का कथन है—भूखे लोग भोजन माँगते हैं, थके लोग विश्राम चाहते हैं और जब पागलपन सवार होता है तो लोग लड़ने पर उतारू हो जाते हैं।

युद्ध कितने महँगे, कष्टकर, विनाशकारी एवं अगणित समस्याएँ उत्पन्न करने वाले होते हैं यह अब अधिक अच्छी तरह समझा जाने लगा है। किसी जमाने में यह समझा जाता था कि शान्ति-रक्षा एवं आत्म-रक्षा के लिए युद्ध की तैयारी करना आवश्यक है, पर पदार्थ विज्ञान और मनोविज्ञान के गहन निष्कर्षों ने हमें इस नतीजे पर पहुँचाया है कि लड़ाई से कोई समस्या हल नहीं होती। द्वेष, प्रतिशोध का कुचक्र परस्पर आक्रमण के दावघातों का ताना-बाना बुनता है, समयानुसार दोनों पक्ष एक-दूसरे को अपनी-अपनी दुरभिसंधियों का निशाना बनाते हैं और शृंखला का अन्त तब होता है जब दोनों पक्ष लगभग अपनी क्षमता नष्ट कर चुके होते हैं। विजेता और पराजित दोनों ही लगभग समान रूप से क्षतिग्रस्त होते हैं। इसलिए उनकी निरर्थकता स्पष्ट है। अब

विचार-विनिमय, न्याय, तर्क, औचित्य आदि के आधार पर ऐसे निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा निर्णय कराने और उसे दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किये जाने को मान्यता देकर मतभेदों को दूर करने की बात ही उचित मानी जाना चाहिए।

लड़ाई अब दिन व दिन इतनी महँगी होती जा रही है कि उसका भार उठाना सामान्य स्तर के देशों या लोगों के लिए सम्भव नहीं रह गया है।

जूलियस सीजर के समय लड़ाई में एक सैनिक मारने के लिए ७५ सेन्ट खर्च पड़ता था। पीछे नेपोलियन के जमाने में वह बढ़कर २१ डालर हो गया। दूसरे विश्व युद्ध में उसकी दर और बढ़ी और एक सैनिक मारने के लिए ५० हजार डालर खर्च करने पड़े। वियतनाम की लड़ाई में वह सात गुना बढ़ गया है। एक सैनिक मारने पर अमेरिका को ३,४४,८२७ डालर खर्च करना पड़ा। दूसरे युद्ध में विश्व की अपार सम्पत्ति युद्ध के लिए खर्च हुई। छोटे से वियतनाम युद्ध में ही इतना धन लग गया, जिससे उस छोटे-से देश को जापान की बराबर समृद्ध और समुन्नत बनाया जा सकता था।

इतना सब होते हुए भी राष्ट्रीय स्तर पर बड़े युद्ध होते हैं और व्यक्तिगत स्तर पर अथवा दलबन्दी के आधार पर छोटे-लड़ाई-झगड़े। इनके पीछे कुछ व्यक्तियों की 'युयुत्सा' ही काम कर रही होती है। वे तनिक से कारणों को लेकर युद्धोन्माद पैदा करते हैं और धन-जन की अपार हानि खड़ी कर देते हैं।

घरों में जरा-जरा सी बात पर विग्रह खड़े होते हैं। पुरुषों द्वारा स्त्रियों को पीटा जाना, स्त्रियों द्वारा बच्चों की पिटाई, पालतू पशुओं को धुन डालना कीड़े-मकोड़ों को कुचल डालना, पक्षियों का अन्धाधुन्ध शिकार जैसे क्रूर कृत्य किसी को कोई बड़ा लाभ नहीं देते तो भी लोग उन्हें करते हैं और प्रसन्न होते हैं। यह क्रूरता एक मानसिक आवेश है जो धन लोभ के साथ मिलकर सामान्य लोगों को दुर्दान्त दस्यु बना देता है।

हत्याओं और आत्म-हत्याओं का दौर अब क्रमशः बढ़ता ही जाता है। मृत्युदण्डों, दुर्घटनाओं और युद्धों में जितने आदमी मरते हैं, उससे कहीं अधिक आत्म-हत्याओं और हत्याओं से मरते हैं। इनके कारण ढूँढ़ने पर आश्चर्य होता है कि इतनी छोटी बात के लिए इतना बड़ा कुकृत्य कैसे बन पड़ा ? ऐसे कारण तो अक्सर आते रहते हैं, सम्भवतः उस हत्या करने वाले के जीवन में भी न्यूनाधिक मात्रा में आते रहे होंगे। पहले जब अवसर चुका दिये गये तो इसी बार क्या आफत आ गई कि इतना बड़ा कुकृत्य बन पड़ा, जिसके लिए अनन्त पश्चात्ताप ही हाथ रह गया ?

यह आवेश ही है जो मनुष्य के सिर पर कभी-कभी उन्माद की तरह हावी हो जाता है। उस समय उसे जो कुछ भी सूझ पड़े वह कर गुजरता है। इस आवेश का दबाव इतना असह्य हो जाता है कि वह उससे पीछा छुड़ाने के लिए हत्या-आत्म-हत्या या और भी जो कुछ उसे सूझ पड़े वह कर गुजर सकता है। वस्तुतः वह प्रयास अपने ऊपर छाये तनाव से पीछा छुड़ाने के लिए किया गया भौड़ा उपचार मात्र होता है, जिसे न्याय संहिता एवं समाज व्यवस्था के अनुसार जघन्य अपराध ही गिना जायेगा।

अपराधों के मूल में उतने ठोस कारण नहीं होते जितने कि मानसिक आवेशों के। चोरी उठाईगीरी करने वाले निर्धन नहीं होते, मजबूरी में वैसा नहीं करते। उनकी सामान्य स्थिति अन्य लोगों की तरह ही काम चलाऊ होती है। चाहें तो वे प्रयत्न या पुरुषार्थ से सामान्य लोगों की तरह कुछ अधिक भी कमा या पा सकते हैं, जिससे कोई तात्कालिक काम अड़ गया हो तो उसे पूरा किया जा सके। पर बात ऐसी कुछ भी नहीं होती। चोरी एक आदत है जिसका आरम्भ छोटे-छोटे कदमों से होता है और पीछे वह पक्की नशेबाजी की स्थिति में पहुँचकर मनुष्य को अपना गुलाम बना लेती है। वैसा किये बिना उसे चैन ही नहीं पड़ता। व्यभिचार का कारण भी उस तरह की सुविधा न होना नहीं वरन् एक विशेष कौतुक-कौतूहल का रसास्वादन होता है। व्यभिचारियों में से सभी के दाम्पत्य-जीवन असंतुष्ट नहीं होते। उनकी ललक ही वैसी कुछ उथल-पुथल का ताना-बाना बुनती रहती है और जब अवसर मिल जाता है तो उस तरह की घटना भी बना लेती है। पीछे भले ही उसके लिए पश्चात्ताप किया जाता रहे।

मानसिक उद्विग्नता है तो मनोरोग ही, पर वह नशेबाजी की तरह अपने प्रकटीकरण का अवसर मिलने पर ही बढ़ती है अन्यथा खाद, पानी न मिलने पर जिस तरह पौधे सूख जाते हैं, उसी तरह वह भी घट या मिट जाती है।

अपराधियों को दुष्ट, पापी समझा जाता है यह आरोप एक हद तक ही सही है। अपराध करने की क्रमबद्ध योजना बनाना और उसके लिए बुद्धिमत्तापूर्ण ताना-बाना बुनना भी कम नहीं होता। इसमें आवेश नहीं-मनुष्य का भ्रष्ट जीवन दर्शन ही काम कर रहा होता है। उसे नीति, निष्ठा, आदर्शवादिता एवं मानवी शालीनता पर विश्वास नहीं होता। अपने आपको हेय, नीच, निकृष्ट, पतित स्थिति में रख लेने पर फिर संसार का कोई काम घृणित नहीं रह जाता। जिस प्रकार भी

स्वार्थ सिद्ध हो वह सब कुछ उचित लगता है। बुद्धि को उचित-अनुचित का ज्ञान न होता हो ऐसी बात नहीं है। पर बुद्धि सदा से आस्थाओं की अनुगामिनी रही है। विश्वासों के आधार पर जीवन की दिशा बनती है और उसी राह पर बुद्धि एवं क्रिया के कदम उठने लगते हैं। मूल में इच्छा शक्ति ही होती है जिसे श्रद्धा, भावना, आस्था के रूप में परिपक्व देखा जा सकता है। आस्थाएँ यदि निष्कृष्ट हैं तो मनुष्य की मानसिक और शारीरिक गतिविधियाँ उसी स्तर के प्रयत्नों में संलग्न रहेंगी। अपराधी की हरकतें करते रहने वालों में से कितने ही अपना अन्तःकरण निकृष्ट स्तर का बना चुके होते हैं और वे उसी प्रकार का ताना-बाना बुनते रहते हैं। उनकी अपराध शृंखला में नई-नई कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं।

किन्तु अधिकांश अपराधी ऐसे नहीं होते वे मानसिक सन्तुलन की क्षमता गँवा बैठते हैं। विवेक और मनोबल की दुर्बलता बढ़ जाने के कारण आवेशों पर अंकुश रख सकना उनके हाथ में नहीं रहता और आवेश उन्माद में वे ऐसे कृत्य कर बैठते हैं जैसे दूसरों को करते देखकर वे स्वयं भी घोर घृणा कर सकते हैं।

चोर वस्तुतः बहुत डरपोक होता है। पकड़े जाने की आशंका जब सामने होती है तो सामने पड़ने वाले के प्राणहरण करने में भी उसे आपत्ति नहीं होती। पकड़े जाने पर उत्पन्न होने वाले संकट का भय उसके ऊपर बुरी तरह हावी होता है। इस स्थिति में वह प्रतिरोधी की हत्या से लेकर बचने के प्रयास में छत से कूदकर अपनी हड्डी-पसली तोड़ लेने तक के जोखिम उठा सकता है। सामान्य बुद्धि से चोरी के प्रयास में पकड़े जाना कोई भारी विपत्ति नहीं है, उसमें कुछ महीने की कैद भर हो सकती है। कानूनी दाव-पेचों से वह छूट भी सकता है। यह पकड़े जाने का संकट इतना छोटा ही उसके सामने रहा होता तो आक्रमण करके पकड़े जाने पर मृत्युदण्ड का जोखिम क्यों उठाता ? भय भी क्रोध की तरह ही एक भयावह है, आवेश जिससे ग्रसित व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ बनकर समय पर जो कुछ भी सूझ पड़े वही कर गुजरता है। पीछे भले ही उसे अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करना पड़े।

देवी-देवताओं पर बलि चढ़ाने वालों की मनोदशा भी बड़ी विचित्र होती है। वे पशु-पक्षियों को ही नहीं अपने बालकों तक की निर्मम बलि चढ़ा देते हैं। इसमें उन्हें न तो घृणित नृशंसता की अनुभूति होती है न अपने कुकृत्य पर पश्चात्ताप। उलटे उन्हें अपने को धर्मात्मा, पवित्रात्मा होने का अनुभव होता है। यह धर्मोन्माद का

आवेश है, जिसमें सामान्य मानवी सहृदयता की भी बलि चढ़ जाती है।

साधारणतया अपराधों पर चिन्ता प्रकट की जाती है और उनकी रोकथाम का प्रयत्न किया जाता है, पर यह भुला दिया जाता है कि उस अनौचित्य की जड़ें काफी गहरी हैं। मानसिक रोगों की स्थिति यह बढ़ती ही गई तो फिर रोकथाम के राजकीय प्रयत्नों से कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा।

न्यूरेस्वेनिया के मरीज सदा अपराधों की भाषा में सोचते हैं। वैसा ही कुछ कर गुजरने का उनका मन होता है, जिससे किसी न किसी पर विपत्ति आये-कोई न कोई कष्ट उठाये-किसी न किसी का नुकसान हो। इससे उन्हें अपने बड़प्पन का, शक्तिमत्ता का गौरव पा सकने का आभास होता है।

दूसरों के प्रति दुर्भावना रखने की आदत आरम्भ में बहुत छोटी होती है। छिद्रान्वेषण, दोषारोपण, निन्दा में रस लेना, कल्पना को लोगों की बुराइयाँ ढूँढ़ने में लगाना, अनुमान के आधार पर जिस-तिस को दुष्ट-दुराचारी मान लेना और सामने न सही पीठ पीछे निन्दा करते रहना, विकृत मन के लोगों को बहुत पसन्द आता है। वे किसी के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक प्रमाण ढूँढ़ने का भी प्रयत्न नहीं करते। अपनी विकृत कल्पना को ही अमुक व्यक्ति को दुष्ट मान लेने के लिए पर्याप्त मान लेते हैं। दुष्टता के प्रति रोष होना स्वाभाविक है। रोष से घृणा पैदा होती है और घृणास्पद ही हानि पहुँचाने के लिए मन में ताना-बाना बुना जाने लगता है। यही आदत बढ़ते-बढ़ते इस स्तर तक जा पहुँचती है कि मानसिक हिंसा प्रत्यक्ष आक्रमण के रूप में परिणत हो जाय और क्रूर-कर्मों में रस लेने की आदत बनकर मनुष्य के जीवन को निकृष्ट स्तर तक पहुँचा दे।

अनावश्यक दुर्भावनाओं को मन में स्थान देना, दूसरों के लिए अशुभ सोचते रहना, औरों के लिए उतना हानिकारक नहीं होता, जितना अपने लिए। उचित यही है कि हम सद्भाव सम्पन्न रहें। जिनमें वस्तुतः दोष, दुर्गुण हों उन्हें चारित्रिक रुग्णता से ग्रसित समझकर सुधार का भरसक प्रयत्न करें, पर उस द्वेष, दुर्बुद्धि से बचे रहें, जो अन्ततः अपने ही व्यक्तित्व को आक्रामक असुरता से भर देती है और दूसरों का ही नहीं अपना ही सर्वनाश प्रस्तुत करती है।

विचार परिष्कार ही अचेतन का अनावरण है

सम्भव है अनेक लोग ऐसा विचार रखते हों कि जो महापुरुष अपने जीवनकाल में संसार की सेवा करते हैं, वे उसके अन्त में किन्हीं दिव्य-लोकों में जाकर निष्क्रिय हो जाते होंगे और अपने सत्कर्मों का फल स्वर्गीय सुख का चैन से भोग करते होंगे।

इसमें तो सन्देह ही क्या हो सकता है कि सत्कर्मों का फल सद्गति ही होता है और बहुत बार स्वर्गादि भी। किन्तु सच्चे जनसेवी वहाँ पहुँचकर निष्क्रिय नहीं बैठ जाते वे वहाँ से भी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा लोक-कल्याण का कार्य करते रहते हैं।

पहली बात तो यह है कि उन्हें लोक-मंगल की सेवाओं का स्वाद, उसका आनन्द ज्ञात होता है, इसलिये स्वर्ग का निष्क्रिय सुख उनको उस परमार्थ सुख से तुच्छ लगता है और वे जड़तापूर्ण सुख को भोगते रहने के स्थान पर वहाँ से भी अपने सूक्ष्म जीवन द्वारा सेवा के कार्य करते रहते हैं। दूसरे वे सेवा कार्यों, परमार्थ कर्मों का मूल्य जानते हैं। उन्हें पता रहता है कि जब संसार में उन्होंने जनसेवा के लिये तुच्छतम सुखों, नश्वर सुखों का त्याग किया, तब तो उन्हें इन उच्च-लोकों की प्राप्ति हुई और अब जब इन उच्च-लोकों का चिरन्तन सुख वे परमार्थ के लिये उत्सर्ग कर देंगे, तब उन्हें न जाने किस उच्चपद की प्राप्ति होगी। त्याग, सुख तथा आत्म-सन्तोष की शांति का अनुभवी अधिकधिक त्याग को अपना लक्ष्य बनाता है। ग्रहण और फिर किसी परमार्थ पुण्य के फल ग्रहण को तो वह तुच्छ लोभ ही मानता है।

त्याग का यदि मूल्य ले लिया, सेवा की कीमत चुकाली तो फिर उसकी महत्ता ही क्या रह जाती है? सच्चे परमार्थियों का पुरुषार्थ से उत्पन्न अधिकधिक पुरुषार्थ की शक्ति ही उसका लाभ-लोभ तथा मूल्य होता है, उससे प्राप्त सुख का भोग फिर चाहे वह अपवर्ग सुख ही क्यों न हो उनके लिये कोई आकर्षण नहीं रखता, वे अपने परलोक की सारी सम्पदायें संसार में सत् तथा शुभार्थ मुक्त-हस्त से लुटा देते हैं।

स्थूल शरीर के उपरान्त सच्चे सेवा-धनी सूक्ष्म विचार जीवन धारण कर लेते हैं और चिरन्तन-तरंगों के रूप में मानव मस्तिष्कों में आन्दोलित रहकर उनके द्वारा परमार्थरत रहा करते हैं। जो व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक अपने मस्तिष्क को उन सूक्ष्म विचार तरंगों के योग्य बना लेता है, वह उन दिवंगत महात्माओं की शक्तियों का उपयोग करने की पात्रता प्राप्त कर लेता है। मस्तिष्क की यह

योग्यता प्राप्त करना कोई विलक्षण अथवा अद्भुत बात नहीं है। इसके लिये केवल उसको मूढ़ताओं, कुविचारों, विकारों, अन्धविश्वासों या दुराग्रह अथवा पक्षपात के कलुष से विमुक्त भर करना होता है और यह काम परमार्थ बुद्धि, आध्यात्मिक आस्था, स्वाध्याय, सत्संग अथवा सेवा-कार्यों द्वारा सहज ही में किया जा सकता है।

विचार रूपी सूक्ष्म शरीरधारी महात्मा लोग संसार के वायुमण्डल में सात्विक तत्वों के रूप में ओत-प्रोत रहते हैं और जिन हृदयों अथवा मस्तिष्कों में अपने योग्य निवास पाते हैं, समाहित हो जाते हैं और उस माध्यम से अपने उन कार्यों को आगे बढ़ाते रहते हैं, जिनको वे एक बार स्थूल अवस्था में प्रारम्भ कर चुके होते हैं। इस प्रकार उनका सेवा कार्य सदा-सर्वदा चलता रहता है।

जिस प्रकार असत्कर्मों का फल अत्याग की अनिवार्यता से प्रतिबन्धित है, उस प्रकार सत्कर्मों के फल त्याग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उसे त्याग सकने का किसी को भी अधिकार रहता है। फलों के विषय त्यागात्याग की भिन्नता का कारण यह है कि पापों का फल दण्ड रूप में निर्धारित होता है, जिसके त्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता, उस पर कुकर्मों का कोई अधिकार नहीं होता, किन्तु पुण्य कर्मों का फल पुरस्कार स्वरूप होता है, उसे त्याग सकने का अधिकार रहता है, क्योंकि वह सुकर्मों की अपनी निजी सम्पदा, अपना व्यक्तित्व उपार्जन होता है। अनेक पुरुषार्थी जो परमार्थपरक सेवा, सुख का सौन्दर्य अनुभूत कर चुके होते हैं, स्वर्ग ही नहीं मोक्ष तक का निषेध कर देते हैं और उसके स्थान पर पुनः मानव शरीर स्वीकार कर संसार में, अपनी इस कर्मभूमि में, इस पवित्र धरा-धाम में लोकरंजन और जनमंगल के लिये जन्म धारण कर लेते हैं। अपने पुण्यकर्मों के प्रताप से उन्हें यह मानव शरीर जिसे निष्क्रिय लोग एक भार, रोग-शोक का भण्डार और आत्मा का बन्धन मानकर भयभीत होते हैं, सेवा का सर्वोपरि साधन तथा सबसे सरल उपाय मालूम होता है। वे बारम्बार इसे प्रसन्न-प्रसन्न धारण करते हैं और प्रसन्न-प्रसन्न छोड़ते रहते हैं। उन्हें इस विग्रह, अविग्रह में खेद होना तो क्या उल्टे लीला लास्य जैसा आनन्द आता है ?

खेद का प्रश्न तो तब उठे न जब वे इस शरीर, इस साधन को कर्मयोग के स्थान पर भोग-संयोग मानकर चलें और इन्द्रियों की शक्ति और उनकी अभिमुखता नश्वर संसारिक सुखों की ओर प्रेरित करें। जिसका हृदय, पवित्र है, जिसके कर्म धन्य हैं और जिसका पथ-परमार्थ और रुचि आध्यात्मिक है, ऐसे जन्म-जन्म के सपूर्व

अभ्यासी को संसार में भय कहाँ ? लोभ, लालसा, लिप्सा और लोलुपता के कीट-पतंग उस तेजोपूर्ण व्यक्तित्व के पास आ भी कैसे सकते हैं और कैसे उस प्रकाशपूर्ण आत्मा का सामुख्य, ईर्ष्या, द्वेष, क्रम, क्रोध आदि का अन्धकार ही कर सकता है ? वह तो आत्मालोकित, आत्म-निर्भर और आत्म-मुक्त एवं आत्म-प्रसन्न पुण्य-पुरुष परमात्म-तत्त्व से अविच्छिन्न सम्बन्ध किये अभयभाव से संसार की छलनाओं तथा प्रवचनाओं के बीच अपने निश्चित पथ पर ऐसे चला जाता है, जैसे बलशाली वैनतेय वायु के प्रतिकूल झोकों की उपेक्षा किये, अमृत पथ पर सहजगति से उड़ता चला जाता है।

मनुष्य का विचार शरीर स्थूल शरीर से अधिक शक्तिशाली तथा सूक्ष्म होता है। व्यक्तित्व जो मनुष्य के प्रभाव का मुख्य स्रोत है, विचारों द्वारा ही निर्मित होता है। कर्मों का मूल प्रेरणा केन्द्र भी विचार ही होते हैं। कोई मूर्ति, चित्र अथवा रचना स्थूल अभिव्यक्ति पाने के पूर्व शिल्पी के विचार जगत् में ही जन्मती है, उसी में परिष्कृतापूर्ण होती है तत्पश्चात् स्थूल उपादानों के माध्यम से मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर होती है। जिस रचना को दूसरे लोग बहुत बाद में उसके भौतिक अस्तित्व में आने के बाद ही देख पाते हैं, उसे विचारशील शिल्पी अदृश्य रूप में ही पूर्ण रूप से साकार देख लेता है। यह दिव्य-दृष्टि प्रखर तथा उज्ज्वल विचारों द्वारा ही प्राप्त होती है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण विचारों द्वारा ही होता है। प्रत्येक शुभ-विचार व्यक्तित्व को उन्मुक्त और विकसित करने में सहायक होता है। शुभ विचारों से मस्तिष्क का शृंगार करने से अचेतन मन का, जो दिव्य-शक्तियों का केन्द्र होता है, अनुकूल दिशा में सृजन होने लगता है। व्यक्तित्व का वास्तविक निर्माता यह अवचेतन मन ही होता है, जिसका जागरण विचारों द्वारा ही होता और जो जितने शक्तिशाली ढंग से अपने प्रबोधक विचारों का प्रतिपादन करता है, मनुष्य का व्यक्तित्व उतना ही प्रखर तथा सतेज बन जाता है। व्यक्तित्व की तेजस्विता ही अन्य व्यक्तियों को, अनुरूप निर्माण कर संसार में सत्प्रवृत्तियों का संघ बनाकर क्रांति उपस्थित कर देती है। देवता तथा राक्षस दो भिन्न जीवन नहीं हैं। यह मनुष्य के व्यक्तित्व के उज्ज्वल तथा मलीन दो पक्ष ही हैं। जिसने अपने सद्विचारों द्वारा अपना मानसिक परिष्कार कर डाला है, भ्रांतियों, विडम्बनाओं, प्रवचनाओं, आडम्बर, छल-कपट, स्वार्थ अथवा अहंकार की प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। कलुष एवं कुत्सा को निकाल डाला है, उसका हृदय सद्भावनाओं, सहानुभूति, संवेदन, सहयोग, सेवा और सामंजस्य की

विभूतियों से जगमगा उठता है और यही जगमगाहट, कर्मप्रवाह में प्रवाहित हो प्रमाणित कर देती है कि अमुक व्यक्ति देवता है। इसके विपरीत जिसका हृदय, मत्सर, मलीनता तथा मदांधता के अन्धकार से भयावह हो रहा है, उसके कर्म उसी अनुसार प्रतिकूलता का प्रतिपादन करते हुए बतला देते हैं कि यह व्यक्ति राक्षस अथवा असुर है। देवता तथा राक्षस कुछ और नहीं, केवल विचारों की परिणति अथवा परिपाक ही होता है, जो किसी की गतिविधि में कदम-कदम पर प्रकट होता रहता है।

विचारों की शक्ति अपरिमित और अनन्त होती है। एक बार इसकी सिद्धि हो जाने पर फिर जन्म-जन्मातारों में इसका तारतम्य नहीं टूटता। यह सदा-सर्वदा मनुष्य के साथ बनी रहती है, जिससे हर जीवन में उसकी सफलता की सम्भावना सुरक्षित रहा करती है। स्थूल शरीर की शक्ति से कोई एक व्यक्ति किन्हीं एक-आध व्यक्तियों को ही नियन्त्रण में रखकर अनुकूल दिशा में चलने के लिये विवश कर सकता है, किन्तु विचार शरीर की अपूर्व शक्ति से एक मनुष्य पूरे संसार तथा पूरे युग को ही बदल सकता है अथवा अनुकूल दिशा में अग्रसर कर सकता है। लोक-नायकों अथवा संसार के जन-नेताओं की मुट्ठी भर हड्डियों में कितनी शक्ति होती है ? शायद उतनी भी नहीं जितनी एक श्रमिक में होती है तथापि वह विशाल लोकमत को प्रभावित कर वशीभूत बना लेता है। उनकी यह शक्ति विचार-शक्ति ही होती है। जिसको वे अपने शुभ-संकल्पों, सत्प्रवृत्तियों, सत्य निष्ठा तथा सद्भावनाओं द्वारा लोकहित के लिये ही सिद्ध करते हैं। वे विचारों द्वारा ही वैचारिक तप करके इस अलौकिक शक्ति का जागरण अपने अन्दर कर लिया करते हैं।

जिस-जिस अनुपात से मनुष्य की विचारशीलता सूक्ष्म की ओर बढ़ती जाती है, उस-उस अनुपात से वह दिव्य-दृष्टा बनता जाता है। भूत, भविष्यत् वर्तमान उसके लिए हथेली पर रखी वस्तु की तरह स्पष्ट हो जाते हैं। उसकी विचार-शक्ति बड़े-से-बड़े आवरण को भेदकर किसी भी रहस्य अथवा गुहा भेद को अच्छी तरह देख आती है। विचारों की गति त्रिलोक तथा त्रिकाल में अबाध होती है। वह मनुष्य के अन्तःकरण में छिपी बातों को, हृदय में बसी भावनाओं से सम्बन्ध स्थापित कर विचारशील को अन्तर्दामी बना देती है, तभी तो कोई सूक्ष्मदर्शी, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक मानव-प्रवृत्तियों को पुस्तक की तरह पढ़ और समझ लेता है। विचारों की शक्ति संक्रामक तथा सर्वव्यापक होती है।

विचारशील राजनीतिज्ञ अपने देश के, अपने निवास के एक छोटे-से कक्ष में बैठा हुआ दूर देशान्तर में होने वाली घटनाओं अथवा घटना मूलक परिस्थितियों को अपने मस्तिष्क में चलचित्र की तरह देखता रहता है और वही से विचारों द्वारा बैठा-बैठा, नियन्त्रित अथवा परिवर्तित करता रहता है। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में राज-नायकों की हार-जीत उनकी विचार-शक्ति पर ही निर्भर रहती है, जिनके विचार जितने अधिक सतेज तथा सूक्ष्म होते हैं, वे संसार-चक्र को उतना ही अपनी मनोवांछित दिशा में घुमा सकने में समर्थ होते हैं।

शारीरिक शक्ति में नगण्य वैज्ञानिक विचार-शक्ति द्वारा ही प्रकृति के तत्वों को जीतकर उसके रहस्यों का उद्घाटन कर संसार को विस्मय में डाल दिया करते हैं और विचारों की आध्यात्मिक शक्ति ही परमेश्वर जैसे विराट् तथा सर्वशक्तिमान् मुनि मानस में प्रकट कर देती है। इस ढाई-तीन हाथ के शरीर में रहता हुआ भी मनुष्य विचारों के बल पर विराट् तथा विशाल बनकर सृष्टि के अणु-अणु में छा जाता है और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके पिंड प्रदेश में प्रतिबिम्बित हो उठता है। विचारों की शक्ति और उनकी महिमा अपार और अनिवर्चनीय है।

अपने अन्दर सोये विचारों को सदाशयता द्वारा जागृत करिये, उन्हें क्रिया रूप में अभिव्यक्ति दीजिये और वह शक्ति प्राप्त कर लीजिये, जिसके द्वारा साधारण मनुष्य महापुरुष, महात्मा और युग-प्रवर्तक बन जाया करते हैं। स्थूल जीवन से विचार जीवन में प्रवेश कीजिये और जन्म-जन्म संसार की प्रेरक शक्ति बनकर अमरत्व का वरण करिये।

विचार का परिष्कार एवं प्रसार करके आप मनुष्य से महामनुष्य, दिव्य और यहाँ तक ईश्वरत्व तक प्राप्त कर सकते हैं। इस उपलब्धि में आड़े आने के लिये कोई अवरोध संसार में नहीं है। यदि कोई अवरोध हो सकता है तो वह आपका स्वयं आलस्य, प्रमाद, असंयम अथवा आत्म-अवज्ञा का भाव। इस अनन्त शक्ति का द्वार सबके लिये समान रूप से खुला है और यह परमार्थ का पुण्य-पथ सबके लिये प्रशस्त है, अब कोई उस पर चले या न चले यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है।

मानवी काया का अदृश्य अस्तित्व

मनुष्य मात्र वह शरीर है, जो बाह्य रूप से दीखता है परन्तु वह चेतना का सूक्ष्म रूप है जो मृत्यु के बाद भी बचा रहता है। मनुष्य के चारों ओर एक और होता है, जो ज्ञानी, भक्त और सिद्ध पुरुषों में स्पष्ट दीखता है। यही और (प्रभामण्डल) मनुष्य की

चेतना का शरीर या सूक्ष्म शरीर है, जो कि उसकी वास्तविकता है। यह ऑरा प्रकाश के रंगों और लहरों के रूप में होता है एवं समस्त विषयों में भावनाएँ व्यक्त करता है। यह भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यह मनुष्य के धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक, दूसरों के प्रति उसके सम्बन्धों, उसके व्यवहारों और अधिकारों आदि बातों को व्यक्त करता है। यह चिन्तन के अनुरूप बदलता रहता है।

‘मेन विजीबल-इन विजीबल’ पुस्तक के लेखक सी. डब्ल्यू. लेडवीटर के अनुसार हमारे मन के अनेकों दिशाओं में दौड़ लगते रहने के कारण और परिस्थितियों के कारण यह ऑरा अनेक भागों में विभाजित हो जाता है। हम नित्य अनेक सुख-साधनों को चाहते हैं और अनेक आकांक्षाएँ रखते हैं। इनकी पूर्ति न होने के कारण ये भाव अचेतन मन में अंकित हो जाते हैं। इनका प्रभाव हमारे चरित्र और चिन्तन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। हमारे जाने-अनजाने असंख्य विद्वेषों, प्रतिशोधों का अंकन नित्य चेतना पर होता है। हिप्नोसिस से या ध्यान द्वारा मस्तिष्क को उत्तेजित करके इन्हें ज्ञात किया जा सकता है। इससे मन का मस्तिष्क से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

हमारे असंख्य विचारों और भावनाओं के कारण आदतों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। हमें प्रेम, घृणा, सुन्दरता, कुरूपता, सहानुभूति, साहस, धैर्य, शत्रुता या मैत्री की भावनाएँ नित्य पीड़ित करती रहती हैं। इस परिवर्तन के अनुसार हमारा चेतना मण्डल या ऑरा भी बदलता रहता है। ईसा का कथन है कि स्वर्ग का राज्य कहीं नहीं है। स्वर्ग मात्र मनुष्य के मन और हृदय की एक स्थिति भर है। जब वह अपनी त्रुटियाँ देखकर उन्हें सुधारता है और सत्य को समझता है तो उस दृष्टिकोण से वह स्वयं को स्वर्ग जैसी स्थिति में पहुँचा लेता है। इस सत्य या ज्ञान को जान लेने पर वह हमेशा दूसरे मनुष्यों की सहायता करता है। साथ ही आन्तरिक शांति और मन की स्थिरता से चेतना शुद्ध होती है और शीघ्र ही परमात्मा से एकत्व स्थापित करती है। वैज्ञानिकों और अनुसन्धान कर्त्ताओं को अपने अनुसन्धानों में शान्ति एवं स्थिरता से ही मन के नए-नए आयामों का रहस्योद्घाटन करने में सफलता मिली है।

विभाजित चेतना भी एक बार अवसर मिलने पर तन्मयों एवं दबावों से मुक्त होकर स्थापित कर सकती है। इसके लिए उसका स्वतन्त्र, शान्त एवं स्थिर होना आवश्यक है। उसे लालसाओं, आदतों और आकर्षणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए, तब उसकी प्रकृति और

समझदारी सही दिशा में नियोजित होती है तथा वह अपने एक दूसरों के प्रति व्यवहार सत्य के आधार पर करता है। इससे वह समस्याओं से मुक्त रहता है और सभी परिस्थितियों एवं कठिनाइयों का मुकाबला आसानी एवं धैर्य के साथ कर लेता है। इस शुद्ध चेतन के स्वतः प्रकाशित होने से ब्रह्माण्ड से सीधा सम्पर्क कायम हो जाता है और वह वहाँ की समस्त शक्तियों का लाभ उठाता है।

साधारणतः हम सोचने, सुनने और सामान्य काम करने आदि में अपनी शक्ति का एक अंश ही लगाते हैं। परन्तु विपत्तियों में हम अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं और उससे प्रायः मुक्त हो जाते हैं। यह चेतना की कुल शक्ति तब अपनी पूरी सामर्थ्य से काम करती है, जो उसकी स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह अज्ञात शक्ति मनुष्य के भीतर से ही आती है। इस शक्ति का आभास मनुष्य के ऑरा के प्रत्येक भाग से होता है। ऑरा की असीम शक्ति जीवन और चेतना की एकता का प्रतीक है। डा० एनीबेसेन्ट के अनुसार ऑरा का प्रकाश भीतर से बाहर की ओर चक्राकार में प्रवाहित रहता है एवं यह प्रकाश अनेक रंगों में जीवन की स्थितियों को प्रकट करता है। दिव्य दृष्टा पुरुष इसे देख भी सकते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन हमेशा वर्तमान स्थिति में होता है। भूतकाल की बातों को भूलने पर ही वर्तमान की स्थिति आती है और आत्मा (या चेतना) शुद्ध होती है। तब जीवन शुद्ध और स्वतन्त्र होता है। यही आत्मा सत्ता का शाश्वत सौन्दर्य है। मृत्यु एक प्रकार का पटाक्षेप है। वह आत्मा को शुद्ध करती है और भूतकाल के अनुभवों को समाप्त करती है। शुद्ध चेतना फिर भौतिक आकर्षणों और भाग-दौड़ में नहीं पड़ती। परमात्मा से उसका एकत्व कभी नष्ट नहीं होता। जीवन अविनाशी है, यद्यपि शरीर का नाश हो जाता है। पूर्वार्त दर्शन के अनुसार हर आत्मा का दुबारा जन्म फिर होता है, क्योंकि यह प्रकृति का नियम है। किन्तु अपवाद रूप में कोई-कोई मनुष्य अपने जीवन काल में ही चेतना को शुद्ध एवं स्वतन्त्र कर लेते हैं, तब दुबारा जन्म लेना या न लेना उनकी इच्छा पर निर्भर होता है। ऋषि, महामानव, देवदूत इसी श्रेणी में आते हैं।

मनुष्य जब अपनी चेतना की क्षमता को समझ लेता है और शुद्ध बना लेता है, तब उसके जीवन एवं मृत्यु की अनेक समस्याएँ एवं पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं। आत्म-सत्ता सम्बन्धी यह जीवन दर्शन जो भली-भाँति हृदयंगम कर लेता है, वह जीवित रहते हुए भी बन्धनों से, कषाय-कल्मषों से सर्वथा मुक्त रहता है।

मन की शक्ति इस प्राण शरीर या सूक्ष्म चेतना से ही मिलती है। मन बहुत संवेदनशील और शक्तिशाली है और प्रत्येक परिस्थिति का उस पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का मन दूसरे के मन से अलग-अलग विचारों, भावनाओं एवं अनुभवों का समुच्चय होता है। इस आधार पर ही प्रत्येक का व्यवहार एवं आदतें दूसरों से भिन्न विकसित होती हैं। उनकी अभिलाषाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मन का व्यावहारिक प्रकटीकरण अपने आप निरन्तर जाने-अनजाने में होता रहता है।

मृत्यु से शरीर नष्ट होता है परन्तु उसके सारे जीवन के अनुभव एवं उसकी सक्रियता के सूत्र सूक्ष्म शरीर में बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। ये आत्मा के साथ हर जीवन में साथ देते हैं। आत्म-सत्ता प्रकृति में पूर्ण चैतन्यता एवं स्वतन्त्रता बनी रहती है। अपनी इस आन्तरिक विभूति की स्वतन्त्रता एवं शक्ति को समझने से मनुष्य असीम शक्तिशाली एवं क्रियाशील बन सकता है। इससे उसका हर नया पल सफल एवं महान् विकसित होता रह सकता है। महापुरुषों में हमेशा ताजगी, तरुणाई एवं सहृदयता आदि गुण पाये जाते हैं। यह शक्ति शरीर और मन की ही नहीं होती वरन् अन्तरात्मा की होती है। चेतना के स्वतन्त्र होते ही यह जीवन-शक्ति विस्फोटक हो जाती है। यह स्थिति स्वैच्छिक मृत्यु होने के बाद नए जीवन में सुगमता से विकसित होती है और ऐसी आत्मा का हृदय शुद्ध होता है।

नित नूतन नवीनता और सुन्दरता बाह्य विश्व और पदार्थों में नहीं है, वरन् वह चेतना में है। चेतना ही सोचती, समझती और प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। मानव चेतना अति महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म है। दैनन्दिन क्रिया-कलापों की स्मृति उसकी भाव प्रवीणता को कमजोर करती है। पर स्मृति के बिना हम संसार में नहीं रह सकते। हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप स्मृति के आधार पर ही होते हैं। यह स्मृति जीवन के असंख्य आकर्षणों के कारण संकुचित हो जाती है। किन्तु शुद्ध चेतना पर समय और दूरी का प्रभाव नहीं पड़ता।

हमारी आत्म-सत्ता जीवन की सम्पूर्ण हलचलों को बिना किसी प्रतिरोध के अंकित करती रहती है, क्योंकि प्रतिरोध से कठिनाइयाँ, बाधाएँ और समस्याएँ पैदा होती हैं। गीताकार के अनुसार शुद्ध चेतना असंख्य प्रकार के जीवन-प्रवाहों को बिना प्रभावित हुए सहन करती रहती है। कौन कितना, किस सीमा तक स्वयं को शुद्ध बनाकर आत्म-चेतना को विकसित करता है, इसी पर उसकी अन्तरंग एवं बहिरंग क्षेत्र में सफलता निर्भर करती है ?

यही है वह तत्त्वज्ञान जो किसी भी साधारण से मनुष्य को बोध होने पर महामानव बना देता है।

भावनात्मक परिष्कार ही

एकमात्र समाधान

भावनाएँ ही मनुष्य को ऊँचा उठातीं और नीचा गिराती हैं। हम अपने विकास के आरम्भिक समय* में भावनात्मक उन्नति कर चरमोत्कर्ष पर पहुँचे थे, पर अब उसी का दिन-दिन हास होने के कारण नीचे गिरते जा रहे हैं। पूर्व का हमारा भावनात्मक आरोहण अब-अवरोहण बन चुका है। संवेदना की दृष्टि से हम एकदम निम्न बिन्दु पर पहुँच चुके हैं, यही हमारी सबसे बड़ी विडम्बना है।

व्यक्ति के भाव-क्षेत्र के परिष्कार के साथ-साथ जैसे-जैसे उसका प्रसार विस्तार होता है, व्यक्ति में तदनु रूप परोपकारिता एवं सेवा-सहयोग की वृत्ति भी बढ़ती जाती है और वृत्ति की परिधि का विस्तार भी होता जाता है। जब इसकी व्यापकता क्षुद्रता की सीमा लौंघकर विराट् स्तर तक पहुँचती है, तो व्यक्ति को महान बनाती और महामानव, देवमानव, भूसुर, देवता जैसी उपाधियों से अलंकृत करती है। इसका प्रारम्भ परिवार स्तर से होता है। जब मनुष्य अपने सुख-दुःख को परिवार का सुख-दुःख और परिवार के कष्ट-कठिनाई को अपना समझने लगे, अर्थात् अपना अस्तित्व परिवार से पृथक् न मानकर शरीर और उसके अंग-अवयव की तरह अविच्छिन्न रूप से जुड़ा महसूस करने लगे, तो इसे परोपकारिता की दिशा में प्रथम चरण कहा जा सकता है और भाव-विस्तार की प्रथम अभिव्यक्ति।

नूतत्ववेत्ताओं का कहना है कि यदि मनुष्य की भावना का इतना विकास न हुआ होता, तो आज उसका अस्तित्व सुरक्षित न रह पाता और संघर्षरत स्थिति में कब का समाप्त हो गया होता। कारण कि मानव की आरम्भिक स्थिति और जंगली-जन्तुओं के स्तर में कोई बहुत भारी अन्तर रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज जो बड़ा अन्तर दिखाई पड़ रहा है, वह तो क्रमिक प्रगति और परिष्कृत भाव-चेतना का परिणाम है। जब आज की विकसित बुद्धि की स्थिति में भी मानव संघर्षशीलता से बाज नहीं आता और तनिक-से हक की होड़ में मरने-मारने पर उतारू हो जाता है, तो आरम्भ की अविकसित अवस्था में वह कैसा खूँखार रहा होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है ? आये दिन तब छोटे-छोटे कुनबों में युद्ध और मार-काट मचते होंगे तथा रक्त की नदियाँ बहती होंगी। समय बीतने के साथ-साथ

रोज-रोज की लड़ाइयों से उकताकर वे किसी ऐसी युक्ति की तलाश के लिए विवश हुए होंगे, जो उन्हें कुछ शांति दे सके, अनावश्यक संघर्ष से बचा सके और कुछ ऐसा हस्तगत करा सके, जिससे पारिवारिक कटुता में कमी आये। मानव विज्ञानी मानते हैं कि इसका सबसे उत्तम उपाय उन्हें यही प्रतीत हुआ होगा कि दूसरे के कठिनाइयों में दुःख और दर्द में कुछ अपनत्व प्रदर्शित किया जाय, सहयोग दिया जाय और स्वयं पर विपत्ति आने पर उन्हें याद किया जाय, उनकी मदद ली जाय।

नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य में भाव विकास का यह प्रथम सोपान था। इससे स्वतन्त्र परिवारों का परस्पर मिलन-समागम संभव हुआ और धीरे-धीरे कर यही समुदाय का रूप धारण करता चला गया। ऐसे अलग-अलग समुदायों की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ और पहचान थी। जब उन्हें एक-दूसरे के बारे में पता चला, तो वे पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा अपनी-अपनी विशेषज्ञता का लाभ एक-दूसरे को देने पर सहमत हो गये। समाज-निर्माण की यह आदिम रूपरेखा थी। कालान्तर में इसी से सभ्य समाज का जन्म हुआ। जब समाज का पूर्ण विकास हुआ, तो मानव ने विभिन्न क्षेत्रों में आपसी आदान-प्रदान की रीति-नीति अपनायी। परिवार के बाहर भी स्नेह-प्रेम, सहयोग-सहकार घनिष्ठ होने लगे। संवेदना और सहानुभूति की परिधि बढ़ी तो पहले का संकुचित परिवार और बड़ा बना और फिर धीरे-धीरे विकास करते हुए वह एक वृहत्तर परिवार बन गया। यों संरचना और संगठन की दृष्टि से था तो वह समाज ही, पर आचरण और व्यवहार की दृष्टि से, आत्मीयता और अनुराग की दृष्टि से उसे एक वृहद् परिवार ही कहना समीचीन होगा एक ऐसा परिवार जिसमें उसकी समग्र उन्नति के लिए सभी का सम्पूर्ण विकास अभीष्ट था। कार्ल मार्क्स के शब्दों में कहा जाय, तो इसे 'वन फॉर ऑल, एण्ड ऑल फॉर वन' की नीति का विकास कहना चाहिए। भावनाओं की दृष्टि से आदमी की यह और उन्नत स्थिति थी।

फिर राष्ट्र और विश्व राष्ट्र का विकास हुआ। भू-भाग की दृष्टि से सभी की अपनी-अपनी सीमाएँ तो थीं, पर सब के भाव-क्षेत्र ऐसी सीमाओं से सर्वथा मुक्त थे। यही वह काल था जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सूत्र-सिद्धान्त दिये गये। यह प्रतिपादन सिद्धान्त मात्र बनकर नहीं रह गये, वरन् आचार-व्यवहार में दूष-पानी की तरह घुले-मिले थे। आंतरिक उत्कर्ष की दृष्टि से मनुष्य का यह चरम विकास था, जिसमें भाव-संवेदनाएँ अपना अधिकतम विस्तार प्राप्त कर चुकी थीं। इसी भाव उत्कृष्टता के कारण युगों में इसे सर्वश्रेष्ठ सतयुग कहा गया। फिर धीरे-धीरे इसकी उदात्तता

घटती गई। भाव-विस्तार में कमी आयी और शनैः-शनैः उसमें अनुदात्त तत्वों के समावेश से उसका स्तर क्रमशः गिरता गया। हम उस सर्वोच्च स्थिति से लगातार नीचे गिरते गये। आत्मीयता की हमारी परिधि संकीर्ण होने लगी और घटते-घटते इतनी घट गई कि रूखेपन से भरा मध्यकाल का सामंतवादी युग आ पहुँचा। साम्राज्य विस्तार के इस काल में आक्रमकता का इतना विस्तार हुआ कि अपने और परायेपन का भेद घृणित रूप धारण करने लगा। यहीं से 'जिसकी लाठी तिसकी मौस' का पृष्ठपोषण करने वाली लूट-खसोट की नीति का उद्भव हुआ। साम्राज्यवादी शासक विस्तारवादी ललक की पूर्ति के लिए आक्रमण-प्रत्याक्रमण के घात-प्रतिघात में निरत रहने लगे। नीति-अनीति का विचार छोड़ जिन्हें जो सूझता, वही करते और जो हाथ लगता, उसी को बड़ी मछली की तरह निगल जाते। फिर अगले शिकार के लिए आगे बढ़ते। इस क्रम में भारत को अनेक विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण और उत्पीड़न झेलने पड़े। भारतीय राजे-महाराजे भी स्वयं इस शरीरगत प्रवृत्ति और मनोगत वृत्ति से अछूते न रह सके। उनमें भी इस बात की प्रतिस्पर्धा छिड़ी रहती कि किस प्रकार दूसरे की सम्पन्नता हड़पकर अपनी विपन्नता घटायी और सामर्थ्य बढ़ायी जाय ? यह राजतंत्र का जमाना था।

फिर लोकतंत्र का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु हमारा भावनात्मक पतन अब भी नहीं रुका। हम और नीचे गिरे। समय के साथ-साथ यह गिरावट और बढ़ती गई और आज स्थिति यह है कि समाज पर स्वार्थान्विता इस कदर हावी है कि उस ललक को पूरा करने के लिए वह किसी भी सीमा तक जाने में जरा भी संकोच नहीं करता। जब व्यक्ति की उद्गम लिप्सा पराक्राष्टा की लौंघकर कुत्सित बन जाती है, जब व्यक्ति अपना आतंक जमाने और वर्चस्व स्थापित करने के लिए दूसरों के न्यायोचित अधिकार को भी छीनने से नहीं हिचकता, तो सदा इन दिनों जैसी ही स्थिति पैदा होती है। ऐसे ही लोगों को भर्तृहरि ने मानवों की सबसे निचली और चौथी कोटि में रखा है। उन्हें कोई विशेष नाम तो नहीं दिया, सिर्फ यह कहकर छोड़ दिया कि—'ते के न जानीमहे'।

यहाँ प्रश्न यह है कि आखिर यह स्थिति पैदा ही क्यों हुई ? हमारा अधःपतन क्यों हुआ ? उत्तर जेम्स डिल्लेट फ्रीमैन अपने ग्रन्थ 'दि हिलटॉप हर्ट' में देते हैं। वे कहते हैं कि यह ठीक है कि हम कभी चेतनात्मक विकास की सर्वोच्च अवस्था में थे और यह भी सत्य है कि आज हम विनाश के कगार पर हैं, किन्तु यह भी तथ्यपूर्ण है कि उक्त दशा सदा-सर्वदा आज जैसी बनी नहीं रह सकेगी। उनका विचार है कि

मानव समेत यह दुनिया परिवर्तनशील है। यहाँ जैसा संप्रति है, कल भी सब कुछ वैसा ही बना रहेगा, ऐसा नहीं हो सकता और कल का संसार एवं परसों का विश्व दोनों एक जैसे होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता। यहाँ सब कुछ क्षण-क्षण में बदल रहा है, भले ही यह बदलाव अदृश्य स्तर का इतना न्यून और सूक्ष्म हो, जिसे देखा व अनुभव नहीं किया जा सके। इतने पर भी तथ्य यथावत् बना रहता है और परिवर्तन चलता रहता है। यह परिवर्तन सूक्ष्म अणु से लेकर विराट् ब्रह्माण्ड तक में समान रूप से जारी है। आदमी में भी चल रहा है। वे कहते हैं कि आधुनिक मानव इस परिवर्तन का अंतिम प्रतिफल नहीं है, वर्न् विकास-यात्रा का निर्माण विशेष है। होमोसेपियन्स (आधुनिक मानव) के प्रकटीकरण के साथ यह परिवर्तन-प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायेगी, उसकी विकास यात्रा बन्द हो जायेगी, ऐसा कहना अनुचित होगा तो फिर आगामी युग के व्यक्ति कैसे होंगे ? उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि निश्चय ही उनका बाहरी ढाँचा वर्तमान लोगों जैसा ही होगा, पर मानसिक संरचना सर्वथा भिन्न होगी। मनुष्य अब चेतना के धरातल पर विकास करेगा। उसकी शारीरिक प्रगति पूरी हो चुकी। अब आगे जो उत्कर्ष सम्पन्न होगा, वह विशुद्ध रूप से मानसिक स्तर पर होगा। चिन्तनशील प्राणी होने के नाते उस क्षेत्र में अभी भी उन्नयन की काफी कुछ गुंजायश शेष है। ऐसे में आने वाले समय की मानव-जाति को प्रज्ञा सम्पन्न मान लिया जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

दूसरे ढंग से विचार करें, तो ज्ञात होगा कि हमारी गति-प्रगति चक्रीय है। चक्र के प्रत्येक बिन्दु से गुजरना हमारी नियत है। इस क्रम में इसके शीर्ष पर कभी हम उत्कृष्टता का अदभुत उदाहरण प्रस्तुत करते हुए स्थित थे, तो आज अधःबिन्दु पर पड़े-पड़े उस गौरव-गाथा को याद करके ही संतोष करना पड़ रहा है। ऊर्ध्व से अधः की यात्रा आसान है। इसमें मात्र गिरना पड़ता है, निम्न से उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित होने के लिए पराक्रम करना पड़ता है, बल लगाना पड़ता है। तिनका हवा के सहारे आकाश चूमने लगता है। पतंग को भी गगनचुम्बी ऊँचाई छूने के लिए वायु की आवश्यकता पड़ती है। पानी को कई मंजिल ऊपर चढ़ाना हो, तो पम्प चाहिए। वायुयान, रॉकेट, उपग्रह सभी को ऊपर उठाने के लिए अतिरिक्त बल की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य भी बिना पुरुषार्थ के अपनी उन्नति के शीर्षस्थ बिन्दु पर अधिष्ठान नहीं कर सकेगा। इसके प्रयास के साथ-साथ परिष्कार की भूमिका भी सम्पन्न होनी चाहिए, तभी वह भावनात्मक विकास की उच्चतम मंजिल तक पहुँचने में सफल हो सकेगा।

दोष जाने और हटाये बिना स्वयं को शुद्ध न मान लें

मन को शुद्ध करने की कामना सभी व्यक्त करते रहते हैं। किन्तु मनःशुद्धि के लिए मन के दोषों को भी जानना आवश्यक है और फिर उन्हें समाप्त करने की साधना आवश्यक है। यह प्रक्रिया पुरुषार्थ-साध्य है। इसीलिए उसे साधना-समर कहा गया है।

मन पाँच क्लेशों या पाँच दोषों से पीड़ित और लिप्त रहता है। वस्तुतः मन स्वयं में मात्र संकल्पक इन्द्रिय है। यह संकल्प उसमें स्वतः नहीं उद्भूत होता। वह अन्तःकरण के स्वरूप पर यानी श्रद्धा पर निर्भर होता है। मन स्वयं तो छठी इन्द्रिय मात्र है, वह उपकरण है। दोष मूलतः चित्त-वृत्ति की स्थिति विशेष है। सामान्यतः मन, चित्त और बुद्धि एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते रहते हैं। परन्तु जिसे प्रचलन में मन कहा जाता रहता है, वह वस्तुतः अन्तःकरण है।

अन्तःकरण विविध होते हैं। ये हैं बुद्धि, अहंकार एवं मन। वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यतत्व कौमुदी' में ३३वीं कारिका की व्याख्या में लिखा है—

“अन्तःकरणं त्रिविधं-बुद्धिरहंकारो मनः इति; शरीराभ्यन्तर्गतित्वादन्तःकरणम्। “दशधा बाह्यं” करणं, “त्रयस्य” अन्तःकरणस्य “विषयारव्यम्” विषयमारब्धाति विषयसंकल्पाभिमानाध्यसायेषु कर्तव्येषु द्वारी भवति। तत्र बुद्धिन्द्रियाग्यलोचनेन, कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं व्यापारेण।”

अर्थात्—बुद्धि, अहंकार तथा मन के भेद से 'अन्तःकरण' तीन प्रकार के हैं। शरीर के अन्तर्गत होने से ये अन्तःकरण कहलाते हैं। बाह्यकरण दस होते हैं। ये तीनों अन्तःकरण के विषयों को प्रस्तुत करते हैं। विषयों के सम्बन्ध में होने वाले संकल्प अभिमान और निश्चय में ये द्वार या साधन बनते हैं। इनसे ज्ञानेन्द्रियाँ विषय, प्रकाशन द्वारा तथा कर्मेन्द्रियाँ यथायोग्य व्यापारों द्वारा सहायक बनती हैं। मन विषयों का ग्रहण कर उन्हें बुद्धि तक पहुँचता एवं बुद्धि से प्राप्त निर्देश इन्द्रियों को देता रहता है। अहंकार ही संस्कार-जगत होता है। इसे ही चित्त भी कहते हैं। अहं भाव ही समस्त करण व्यापारों का मूल है। इसीलिए उसे अन्तःकरण कहा जाता है। अहं के प्रत्यय यानी मैं ज्ञाता हूँ, मैं कर्ता हूँ आदि अन्तर्भाव ही बुद्धि तत्व है। इसे ही 'अस्मि' का, स्वयं के होने का भाव या अस्मिता कहते हैं। अहंकार एवं बुद्धि इन दोनों को अस्तिमता कहा जाता है। इनमें उदित संस्कारों के

अनुभव विषय का ग्रहण, तदनुसार चेष्टा एवं धारण ही संकल्पात्मक मन के कार्य हैं।

प्राण मन की ही प्रेरणा से चलता है। जब तक स्वयं मन कुमार्गगामी है, अन्तःकरण कुसंस्कार-युक्त है, तब तक प्राण का संयम सम्भव नहीं। प्राण-प्रवाह गतिशील अश्व के समान है, उसका नियन्त्रण निर्देशन करने वाला अश्वारोही मन है। उन्मत्त घुड़सवार घोड़े पर लगाम नहीं रख सकता। असंयमित मन प्राणों को संयमित नहीं कर सकता। इसीलिए मनःसंयम की प्राथमिक आवश्यकता है।

मन के असंयम का कारण होती है उसकी विषयों के प्रति लोलुपता की वृत्ति। यही मन की अशुद्धि का कारण है। चित्त-मन की इस अशुद्धि की अवस्था को ही योगशास्त्र की भाषा में क्लेश कहते हैं। मन को शुद्ध करने के लिए अशुद्धि का अर्थात् क्लेशों का स्वरूप जानना आवश्यक है। ये क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। योगसूत्र में कहा है—

‘अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।’

(योग सूत्र २१३)

समस्त क्लेशों का सामान्य स्वरूप है-विपर्यस्त ज्ञान, जो चंचलता अशान्ति और कष्ट की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। इसीलिए अविद्या या विपर्यस्त ज्ञान को समस्त क्लेशों का आधार कहा जाता है। असत्य को सत्य समझना भ्रान्ति को यथार्थ समझना, जड़ जगत को ही जीवन-सार समझना अविद्या है। पातञ्जलि ने कहा है—

‘‘अनित्याशुचि दुःखानात्मसु

नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।’’

अर्थात्—अनित्य, अशुचि, दुःखमय तथा अनात्म विषय में नित्यता, शुचिता, सुख तथा आत्मस्वरूपता की अनुभूति एवं बोध की अविद्या है।

वस्तुतः अविद्या ही मूल क्लेश है। अनात्म तत्व को ही आत्मतत्व माने रहने की अविद्या, अस्मिता का आधार है। मूलतः अपवित्र, असुन्दर वस्तुओं को पवित्र, सुन्दर मान बैठने की अविद्या ही राग है। दुःखद, पीड़क, उत्तापकारी मनःस्थिति उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ ही द्वेषपूर्ण चित्त को सुखद, हर्षदायक, जो जुड़ाने वाली प्रतीत होती हैं, अतः दुःख में सुख का ज्ञान करने वाली अविद्या ही द्वेष का आधार है। अनित्य, नश्वर शरीर को नित्य मान बैठने, उसके ही नाते, रिश्तों में बँधे रहने को अविद्यापरक स्थिति ही अभिनिवेश है। अयथार्थ ज्ञान ही

अविद्या है और जिसे अज्ञान कहा जाता है, वास्तविक अर्थों में वह अयथार्थ ज्ञान होता है। जैसे रस्सी को साँप समझ बैठना अयथार्थ ज्ञान है। यह भली-भाँति समझ लेने योग्य तथ्य है कि अविद्या और विद्या के विषय परस्पर विपरीत नहीं होते, अपितु मात्र उनकी बोध स्थिति ही परस्पर विपरीत होती है। इसलिए किसी कार्य-क्षेत्र या विषय-क्षेत्र से विद्या-अविद्या का सम्बन्ध नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि अमुक कार्य-क्षेत्र मूलतः विद्या का है, शेष अविद्या के क्षेत्र है, वे स्वयं भ्रान्त हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई यह समझ ले कि धार्मिक कही जाने वाली क्रियाओं में माला, जप, पंचोपचार, यज्ञ, हवन, ब्रह्मभोज, दान आदि में प्रवृत्त रहना विद्या है और सामाजिक गतिविधियों, राजनैतिक हलचलों में भाग लेना अविद्या है, तो वह भ्रम में है। चाहे पहली कोटि की क्रियाएँ हों चाहे दूसरी, यदि उनमें यथार्थ बोध के साथ, दार्शनिक समय के साथ कोई प्रवृत्त होता है, तभी वह विद्या प्रेरित सक्रियता है, यदि यह उनके यथार्थस्वरूप को समझे बिना लिप्त रहता है, तो उसकी सारी सक्रियता अविद्या मूलक है। भले ही वह उन क्रियाओं में लगा हो, जो ब्रह्मविद्या का क्षेत्र मानी जाती हैं यानी भले ही कोई व्यक्ति शास्त्रों के पठन-पाठन, योग आदि पर प्रवचन, देव-चर्चा आदि में प्रवृत्त रहा आये, किन्तु यदि वह लोकेषणा, वितेषणा आदि से प्रेरित होकर यह सब कर रहा है, तो वह अविद्या की उपासना कर रहा है। विद्या में रत दीख रहा होने पर वह अन्धकार में ही भटक रहा है। अनात्मतत्वों को आत्म-दर्शन का आधार मान बैठना अस्मिता मूलक अविद्या है, विद्या नहीं।

नाशवान शरीर आदि को ही अपनी आत्मसत्ता समझ कर, फिर उनके नाश से मानो हमारी सम्पूर्ण सत्ता ही नष्ट हो जाएगी, ऐसा भय अभिनिवेश कहलाता है। इस प्रकार अस्मिता और अभिनिवेश चित्त-मन के सूक्ष्म दोष हैं, जो अविद्याजन्य हैं।

दैनन्दिन जीवन में ऊपर उभरकर आने वाले मन को दो प्रधान दोष हैं—राग और द्वेष। महर्षि पातञ्जलि ने इनकी यह व्याख्या की है—

‘‘सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी दोषः।’’

(योगशास्त्र २/७-८)

अर्थात्-सुखानुशयी क्लेश वृत्ति राग है और दुःखानुशयी क्लेश वृत्ति द्वेष है।

दोनों ही संवेदन-अनुभूतियों का यथार्थ स्वरूप न जानने के परिणाम हैं। इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्मुखी हैं। जब इन्द्रियों को उनके वांछित विषय उपलब्ध होते हैं, तो उन्हें स्वभावतः सुखानुभूति होती है। जैसे स्वादिष्ट भोजन रसना को, सुन्दर दृश्य आँखों को सुहानी ध्वनियाँ, मीठी बातें, संगीत आदि कानों को, सुगन्ध नाक को, मृदुल स्पर्श त्वचा को सुखानुभूति देता है। अनुभूतियों के ये सन्देश मन ही बुद्धि के समक्ष ले जाता है और बुद्धि में पूर्व संचित वासना-संस्कारों को उससे क्षणिक तृप्ति का अनुभव होता है। इनसे सुखानुभूतियों के इन साधनों में स्पृहा, तृष्णा और लोभ का भाव जड़ जमा लेता है, यही राग है। यह राग-वृत्ति एक दुःसह चक्र की जन्म देती है। विषयानुभूतियाँ तो क्षणिक होती हैं और मन अपनी चंचलता के कारण एक से दूसरे विषय की ओर दौड़ता रहता है। जिधर मनोयोग होता है, उधर ही इन्द्रियाँ भी सक्रिय होती हैं। मन की निरन्तर चपलता का कारण अन्तःकरण में संस्कार रूप में जड़ जमाये बैठी करोड़ों वासनाएँ हैं, जो कालक्रम तथा संयोग सुविधा से उदित होने और प्रबल हो उठने की ताक में ही रहती हैं। उनसे प्रेरित मन जिस विषय में दौड़ता है, इन्द्रिय चेष्टाएँ उधर ही अभिमुख हो जाती हैं और विषयास्वादन की प्रक्रिया सम्पन्न होने लगती है। दूसरी ओर प्रत्येक विषयानुभूति मन पर एक आसक्तिजनक संस्कार छोड़ जाती है। इस संस्कार से प्रेरित मन पूर्वानुभवजन्य आसक्ति भाव के आधार पर उन्हें पाने के ताने-बाने उस समय भी बुनता-रचता रहता है, जब वह विषय सामने उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार वासना-संस्कार से विषयों में प्रवृत्ति और विषयानुभूति से वासना-संस्कार का राग-चक्र सतत चलता रहता है। राग मन को अवश और विवश बनाता है। जिसके प्रति राग होता है, उधर ही इच्छा और संकल्प बरवस दौड़ते रहते हैं। उसे पाने की ललक मन में उठती रहती है, यही स्पृहा है, उसके बिना अतृप्ति का अनुभव होता रहता है, जैसे पानी की प्यास लगने पर पानी के बिना अतृप्ति का अनुभव होता है। यह प्यास या अतृप्ति ही तृष्णा है। तृष्णा, लोभ उत्पन्न करती है। विषय प्राप्ति की बलवती इच्छा ही लोभ है। वह इच्छा अपनी प्रबलता के कारण हित-अहित, उचित-अनुचित का विवेक-विचार अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न करके रख देती है। राग की प्रबलता में उस क्षण बुरा भी बहुत भला लगने लगता है, अनुचित ही सर्वथा वांछनीय और अधर्म

ही आवश्यक धर्म लगने लगता है। असुखकर पदार्थ ही अतिशय सुखद प्रतीत होने लगते हैं।

राग की तृप्ति में, विषय सुख की प्राप्ति में जो बाधक प्रतीत होता है, उस पर प्रतिघात करने की, उसे विनष्ट कर देने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसके प्रति मानसिक रोष एवं क्षोभ उत्पन्न होता है। यही सब द्वेष के लक्षण हैं। इनसे यद्यपि चित्त, मन जलता-तपता रहता है और दुःख पाता रहता है, किन्तु द्वेष, दुर्भावना की तीव्रता व्यक्ति को उसी में सुख का भ्रम पैदा करती रहती है।

राग और द्वेष के ही प्रकट रूप काम एवं क्रोध हैं। अधिकाधिक संग्रह का लोभ, जिस पर अपना स्वत्व नहीं, उसे भी अधिपत्य में करने की चोरी, छीना-झपटी, अपहरण आदि की वृत्ति, राग का ही परिणाम है। राग-द्वेष ही छल-कपट, ईर्ष्या-निन्दा, असत्य, अनुदारता, असहिष्णु कुटिलता, कृतघ्नता, कटुता, कायरता एवं पशुता को जन्म देते हैं तथा मनुष्यत्व का हरण कर लेते हैं। इसी प्रकार अविद्या के तामसिक परिणाम प्रमाद, आलस्य, अपवित्रता आदि दुर्गुणों के रूप में सामने आते हैं। यही मन के दोष हैं जो निकृष्ट आचरण की प्रेरणा देते तथा कुसंस्कारों को स्थायी बनाते रहते हैं। दूषित मन प्राण-शक्ति को अधोगामी बनाता है। साथ ही बुद्धि को कुतर्क-परकता, कुटिलता और कुविचार-प्रेरणा से भरता रहता है।

अतः आत्म-शुद्धि के आकांक्षी प्रत्येक मनुष्य को अन्तःकरण के इन सभी दोषों को समझकर इन्हें निकाल फेंकने के लिए निरन्तर प्रयास करना चाहिए। इसी अभ्यास का नाम साधना है।

इन दुष्प्रवृत्तियों के मूल स्वरूप को तथा उनके आधारभूत आर्कषणों की क्षणिकता और हानि उत्पादकता को समझकर उनसे विरत होना ही वैराग्य है। इस तथ्य का पुनः-पुनः स्मरण, दुष्प्रवृत्तियों को समाप्त करने की प्रक्रिया का पुनः अनुशीलन तथा साथ-साथ आत्मा की दिव्यता के भाव के बार-बार चिन्तन, आत्म-ज्योति की निरन्तर धारणा के प्रयास का नाम अभ्यास है। अभ्यास वैराग्य की विविध साधना प्रणाली ही आत्म-शुद्धि की सामर्थ्य प्रदान करती है। यह सामर्थ्य उपार्जित करना और दोषों, दुष्प्रवृत्तियों को समाप्त कर शुद्ध विवेक को जाग्रत रखना ही परम पुरुषार्थ है।

अन्तःकरणों का मर्म स्थल अपनी दिशा बदले

मनुष्य की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं में मूलतः उसकी प्रेरक प्रवृत्तियाँ सन्निहित हैं। इच्छाओं का उफान जिस दिशा में उमड़ता है उसी ओर मस्तिष्क चल पड़ता है सोचने का ढर्रा उसी पटरी पर लुढ़कता है और बुद्धि उसी स्तर के साधन सरंजाम जुटाने का ताना-बाना बुनने लगती है। शरीर की क्रियाएँ उसी दायरे में अग्रसर होती हैं और साधन, सहयोग वातावरण उसी प्रकार के जुटने आरम्भ हो जाते हैं। अपने बनाये जाले में मकड़ी पूरी तरह फँस जाती है। मनुष्य अपनी इच्छाओं द्वारा विनिर्मित परिस्थितियों के जाल-जंजाल में जकड़ा रहता है। उसे इतना शारीरिक एवम् मानसिक अवकाश ही नहीं मिलता कि जीवनोद्देश्य की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम बढ़ा सके।

आकांक्षाओं का महत्व समझा जाना चाहिए और उनकी दिशा निर्धारण करने के सम्बन्ध में समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। मानवीय सुख-शान्ति और सामाजिक प्रगति की कुंजी यहीं छिपी पड़ी है। पिछले अन्धकार युग में हुए वैयक्तिक अधःपतन और सामाजिक दुर्गति का यदि तात्त्विक लेखा-जोखा लिया जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि लोगों के सोचने का स्तर घटिया बन गया और उनकी महत्वाकांक्षाएँ संकीर्ण प्रयोजनों में अटक कर विकृतियाँ ही विकृतियाँ पैदा करती रह गईं।

व्यक्ति यदि जीवनोद्देश्य को समझे, उसे पूरा करने की आकांक्षा जागृत करे तो हर स्थिति का व्यक्ति आदर्शवादिता की दिशा की काफी दूर तक चल सकने का अवसर प्राप्त कर सकता है। इच्छाएँ सोचने को प्रेरित करती हैं और मस्तिष्क वह जादू का पिटारा है कि जिधर चलेगा उसी प्रकार के साधन और अवसर प्राप्त कर लेगा। यदि विलासी और संग्रही बनने की अभिरुचि भड़क उठे तो व्यक्ति उन्हीं के लिए अहर्निश सोचेगा और करेगा। पिछले दिनों यही होता रहा है। व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थों की परिधि में ही अपने को सीमाबद्ध रखता रहा है और लोभ, मोह को परमप्रिय विषय बनाये बैठा रहा है और काम, क्रोध की आग बुझाने के सरंजाम इकट्ठे करता रहा है। यह केवल नर-पशु जैसा जीवन क्रम ही प्रदान कर सके हैं। यह लालसायें जब भड़कती हैं तो अपनी उग्रता का कारण मानवीय मर्यादाओं का तोड़-फोड़कर रख देती हैं। नैतिकता को कोई मूल्य उस प्रवाह के सम्मुख टिक नहीं पाता। किसी भी प्रकार अपनी हविस पूरी करने की उतावली इतनी बेचैनी उत्पन्न

करती है कि नीति और सदाचार, न्याय और औचित्य का ध्यान ही नहीं रहता। तृष्णाओं से संव्रस्त वासनाओं से पीड़ित, अहंकार से उन्मत्त व्यक्ति जो कुछ भी न कर डाले वही कम है। पाप और अपराध करने का दुस्साहस इसी आवेग एवं आक्रोश में किया जाता है। यदि व्यक्ति का आकांक्षा केन्द्र तृष्णाओं और वासनाओं की परिधि में सीमित हो गया है और उन चिन्मारियों को लगातार पोषण मिलता रहा है तो क्रमशः उनकी उग्रता बढ़ती चली जायेगी और उन्हें पूरी करने के लिए अनैतिक आचरण अपनाने का लोभ संवरण न किया जा सकेगा। हविस का मारा व्यक्ति जो भी कर बैठे कम है।

इच्छाओं का केन्द्र यदि पशु प्रवृत्ति से भरा रहे और मनुष्य अपने शारीरिक सुखों को पाने, अहंकार को सँजोने का लालच को बढ़ाने में लगा रहे तो उस संदर्भ में कुछ भी अनर्थ करने में तत्पर हो सकता है। अनर्थ न भी करे तो अपनी उसे उधेड़बुन में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से इतना व्यस्त तो रहेगा ही कि उत्कृष्टता की दिशा में कुछ सोचने या करने के लिए उसे अवसर ही न मिले यह भी एक बड़ी हानि है। कूकर-शूकरों की तरह यदि मनुष्य जीवन को यों ही पेट और प्रजनन के लिए बर्बाद कर दिया जाय तो मानवीय गौरव की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ी क्षति ही कही जायेगी। इस स्तर के नागरिक जिस देश, समाज के होंगे वह निरन्तर दुर्बल होता चला जायगा। व्यक्तित्व का हित और उत्कर्ष आदर्शवादी विचारणा और कार्य पद्धति पर निर्भर है। जो लोग नीचा सोचते और ओछा करते हैं वे सम्पन्नता एकत्रित कर लेने पर भी किसी की या अपनी आँखों में अपनी इज्जत अक्षुण्ण नहीं रख सकते। कोई बड़ा काम नहीं कर सकते और मूर्धन्य, प्रामाणिक एवं गण्यमान्य लोगों की पंक्ति में नहीं बैठ सकते। धन, शिक्षा, बुद्धि-कौशल, स्वास्थ्य, सौन्दर्य में कुछ प्रगति कर लेने पर भी उनके व्यक्तित्व निखर न सकेंगे और उनमें आत्मबल की न्यूनता ही बनी रहेगी। ऐसे व्यक्ति स्वयं अशान्त रहते हैं, सम्बद्ध समीपवर्ती लोगों को विक्षुब्ध करते हैं और जहाँ रहते हैं वहीं अवांछनीय प्रवृत्तियाँ पैदा करते हैं। व्यक्तिगत रूप से वे कुछ सफलताएँ प्राप्त कर भी लें तो वे अपनी ऐसी उपयोगिता या महत्ता सिद्ध नहीं कर सकते हैं, जिनके आधार पर राष्ट्र या समाज को बल मिले।

समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है। राष्ट्र प्रजाजनों की सम्मिलित क्षमता का ही नाम है। जहाँ जैसे नागरिक होंगे, वहाँ की सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितियाँ वैसी ही बन जायेंगी। अस्तु, यदि सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रगति की बात सोचनी हो तो सबसे अधिक ध्यान नागरिकों के

व्यक्तित्व का निर्माण करने की दिशा में दिया जाना चाहिये। इसके बिना बालू की दीवार की तरह निर्माण के लिए किये गये सारे प्रयत्न बात की बात में डह जायेंगे। दुर्बल चरित्र और निकृष्ट मनोवृत्ति के मनुष्य कोई ऊँचा काम कर सकना तो दूर अपने पैरों आप खड़े नहीं रह सकते और जिनके साथ रहते हैं उन्हें चैन से नहीं रहने दे सकते। जो स्वयं ही समस्या बने हुए हैं वे दूसरों की समस्याएँ क्या हल करेंगे? जो स्वयं खड़े तक नहीं रह सकते वे राष्ट्र को क्या उठावेंगे? जिनका मुँह खुद ही काला हो रहा है वे देश का मुख उज्ज्वल कैसे करेंगे? व्यक्तित्वों को सही बनाया जाना और ऊँचा उठाया जाना, सामूहिक प्रगति और विश्व शान्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। यह व्यक्ति निर्माण कार्य धन के अभिवर्धन, सुविधाओं के आधिक्य, शिक्षा के बाहुल्य शरीर के परिपोषण अथवा पदवी प्राप्त करने के आधार पर नहीं मनोवृत्ति की उत्कृष्टता के आधार पर सम्भव होता है। गुण, कर्म, स्वभाव जितने परिष्कृत होंगे व्यक्ति उतना ही समुन्नत माना जायेगा।

यह विशेषताएँ अनायास ही नहीं उपज पड़ती, उनके मूल में उत्कृष्ट अभिलाषा एवं प्रखर अभिरुचि की आवश्यकता होती है। चाहने को तो लोग न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं सोचने को तो न जाने क्या-क्या सोचते रहते हैं पर उन्हें शेखचिल्ली के सपने मात्र ही कहा जा सकता है। कामनाओं और कल्पनाओं से दिल बहलाया जा सकता है। पर प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। दुनिया में ऐसा कोई कल्पवृक्ष नहीं जिसके नीचे बैठकर पलक मारते मनोकामनाएँ पूरी की जा सकें। प्रगति का पथ अति कठोर और अति संघर्षमय है। उस पर केवल साहसी, धैर्यवान और मनस्वी ही चल सकते हैं। जो जरा-सी सुविधा मिलने पर अहंकार से उन्मत्त हो उठते हैं और जरा-सी असफलता मिलने या कठिनाई आने पर निराशा के गर्त में गिरकर सिर धुनने और रोने चिल्लाने लगते हैं, वे अध-पगले लोग न तो जीवन का स्वरूप समझते हैं न उसका मूल्य महत्व। जीवन संघर्ष का ही दूसरा नाम है। प्रगति प्रवल प्रयत्नों पर निर्भर है। सफलताओं की बैजन्ती पुरुषार्थी ही पहनते हैं। मुसीबतों में हँसते रहते और सघन अन्धकार में उज्ज्वल भविष्य की आशा किरणें ढूँढ़ना जिनकी प्रकृति में सम्मिलित है, उन्हीं को सच्चे अर्थों में प्रतिभाशाली, प्रखर व्यक्तित्व सम्पन्न कहा जा सकता है। ऐसे ही लोगों का जीना सार्थक है। दूसरे तो धरती पर बोझ बढ़ाने के लिए मात्र जीते भर हैं।

विकासवान व्यक्तित्व की आधारशिला मनुष्य की आंतरिक अभिलाषाओं और आकांक्षाओं के ऊपर निर्भर

रहती है। वस्तुतः यही केन्द्रबिन्दु वह सार तत्व है जिसे अहम्-ईगो-व्यक्तित्व या अध्यात्म कहते हैं। मनुष्य वस्तुतः क्या है। यदि उसकी असलियत परखनी हो तो उसके अन्तरंग में घुसकर यह ढूँढ़ना होगा कि वह सचमुच चाहता क्या है। सामाजिक दबाव या लोकलाज के कारण बहुधा बाहर से वह प्रदर्शित किया जाता है। वह कहा जाता है, जो सामाजिक सम्मान बनाये रहे। वास्तविक इच्छाएँ कई बार इस बाह्य प्रदर्शन से सर्वथा प्रतिकूल होती हैं। कथनी और करनी का अन्तर अक्सर नेताओं, धर्मध्वजियों और दूसरे ख्याति नामा व्यक्तियों में देखा जाता है, वे आदर्शों और सिद्धान्तों की लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकते और लच्छेदार प्रवचन करते देखे जाते हैं पर जब उनकी मनोदशा तथा करतूतों का नग्न स्वरूप छन-छनकर बाहर आता है, तो उस सड़े मवाद की दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है। कथनी और करनी का यह जमीन-आसमान जैसा अन्तर यह बताता है कि बाहर से आदमी कुछ भी कहता बताता रहे, असल में वह वही रहेगा जो स्वरूप अन्तरंग में विनिर्मित किये बैठा है। यह अन्तरंग की अभिलाषाएँ ही जीवन का सार तत्व हैं इसी बीज के अनुरूप परिस्थितियों के अंकुर उगते, और साधनों के पते जुटते हैं और उन्हीं के अनुरूप क्रियाकलापों के पुष्प और परिणामों के फल सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं। एक शब्द में यों कह सकते हैं कि आंतरिक अभिलाषाएँ ही जीवन का सर्वस्व हैं। ये जिधर बहेगी उधर ही मन, शरीर कर्तृत्व और वातावरण सहज ही बढ़ता, ढलता चला जायेगा। इस प्रवाह के आगे कोई अवरोध ठहर नहीं सकता। समस्त प्रतिकूलताओं को चीरता हुआ वह प्रवाह अपने लिए रास्ता बना लेता है और उन साधनों को प्राप्त कर लेता है उन स्थानों तक पहुँच जाता है। जिनकी कि प्रारम्भिक स्थिति में कल्पना कर सकना भी कठिन था।

नूतन विज्ञान को हमें इसलिये समझना चाहिए कि युग-निर्माण आन्दोलन इसी मर्मस्थल को छूता है। उसका आरम्भ यहीं से होता है। हम साधनों का निर्माण करने नहीं चले हैं क्योंकि अपनी दृष्टि में वे बार-बार झड़ने-उगने वाले पत्र, पल्लव मात्र हैं। निकृष्ट मनोभूमि के रहते अच्छी से अच्छी परिस्थितियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं और देखते-देखते पलायन कर जाती हैं, इसके विपरीत उत्कृष्ट मनोभूमि गई-गुजरी परिस्थितियों में भी आनन्द, उल्लास का बाहुल्य अनुभव करती है और क्रमशः अनुकूल साधनों को जुटाती चली जाती है। अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ प्रजा की भौतिक सुविधाएँ बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं अपना उनसे कुछ विरोध नहीं, वह सब भी चलते ही रहना चाहिए। पर अपनी इस मान्यता की हमें

तनिक भी आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति की अन्तरंग उत्कृष्टता बढ़ाई जानी चाहिए इसके बिना कुबेर जैसी सम्पन्नता और रावण जैसी समृद्धि भी दो कौड़ी की सिद्ध होगी। हम यह नहीं मानते कि सम्पन्नता बढ़ने से आन्तरिक उत्कृष्टता बढ़ती है। यदि ऐसा होता तो आज के श्री मंत लोग भावनात्मक दृष्टि से महामानवों जैसे होते और उनके कर्तृत्व लोक-मंगल की समस्त आवश्यकताओं को सहज ही पूरा कर सकते। वह गरीब समझे जाने वाले सन्त और ऋषि असहाय और निरर्थक सिद्ध हुए होते पर होता इससे बिल्कुल विपरीत है। साधन ही व्यक्ति संसार की महानतम सेवाएँ कर सके, इतिहास का पन्ना-पन्ना साक्षी देता है और सम्पन्न राजा-रईसों, अमीर-उमरावों ने कितने घृणित उदाहरण प्रस्तुत किये इसकी मर्मभेदी कथा गाथा पर भी देर तक पर्दा नहीं डाला जा सकता। चाटुकारों की प्रशंसा निन्दा उड़ती हुई बदली की तरह है। मान पत्र अभिनन्दन ग्रन्थ किसी की महत्ता को नहीं बढ़ाते वरन् उल्टे उपहासास्पद बनाते हैं। असलियत सात पर्दे फाड़कर झाँकती है। व्यक्ति का अन्तरंग जैसा कुछ होगा उसी स्तर की प्रबल प्रेरणाएँ उठती रहेंगी और जीवन उसी दिशा में अग्रसर होता चला जायेगा।

नृतत्व विज्ञान के यह तत्व हमें बताते हैं कि विश्व शान्ति के लिए राष्ट्रों के विकास और राष्ट्रों के विकास के लिए व्यक्तित्वों के विकास अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। व्यक्तित्व-आकांक्षा जिस आधार पर विकसित होते हैं। अन्तरंग की ललक ही जीवन दिशा का निर्धारण करती है इसलिए हमें जन-इच्छाओं को परिष्कृत करने की दिशा में सारा ध्यान केन्द्रित और प्रयत्नों को समवेत करना चाहिए। आज का मनुष्य बाहर से कुछ भी बकता या बनता हो भीतर से बहुत ही लोभी, स्वार्थी, संकीर्ण, अनुदार और कामुक प्रवृत्ति का बन गया है। यदि पोस्टमार्टम करते चलें तो भावना शरीर का शवच्छेद लगभग एक ही प्रकार का निष्कर्ष प्रस्तुत करेगा। हर आदमी अमीरी आधार पर विलासिता, कामुकता और अहमन्यता का मजा उठाने के लिए व्याकुल है। उसे ऐश चाहिए, शान-शौकत चाहिए, वाहवाही चाहिए, इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं चाहिए। यह चीजें उसे अति विशाल मात्रा में और अति शीघ्र चाहिए इसलिए उचित-अनुचित के झगड़े में पड़ने को भी उसे फुरसत नहीं। अनुचित रीति से अन्यायपूर्वक यदि अमीरी तथा उसके साथ जुड़ी सुविधाएँ उसे मिलती हैं तो उसे इसमें जरा भी ऐतराज नहीं। यों घर गृहस्थी भी उसके साथ है इसलिए अपनी विलासिता में उन्हें भी मजबूरी से शामिल करना पड़ता है। कमाते हुए जो जमा हो जाता है उसे न

तो लोक मंगल के लिए दान करने जैसा छाती पर पत्थर बाँधा जा सकता है और न फैका जा सकता है। ऐसी दशा में एक ही रास्ता बच जाता है कि मरते-मरते जो बच जाय उसे बेटे, पोते, साले, जेँवाई खाये/बँटवारे के लिए एक-दूसरे का सिर फोड़े और उस हराम की कमाई को बेरहमी के साथ उड़ाये फूँकें। इसी धुरी पर आज के व्यक्ति का सारा जीवन क्रम घूम रहा है। काम करने के तरीके अलग हो सकते हैं पर मनोदशा का प्रवाह एक ही दिशा में है। तृष्णा और वासना, लोभ तथा मोह इन चार को ही हर किसी ने अपना ज़िगरी दोस्त मान लिया है। पाँचवें के लिए वहाँ गुज़ायश नहीं।

यों लोग परमार्थ और पूजा-पाठ की चिन्ह पूजा करते भी देखे जाते हैं पर उनकी असलियत को जब परखा जाता है, तब हँसी रोके नहीं रुकती। परमार्थ का मतलब सिर्फ इतना रह गया है कि लोग किसी दुष्ट दुरात्मा को धर्मात्मा या उदार समझने के भुलावे में डाले जा सकें। इस भुलावे के लिए जितनी कुछ विज्ञापनबाजी की जा सकती हो उसी धूर्तता का नाम परमार्थ है। तथाकथित 'पुण्य' करने से पूर्व मनुष्य हजार बार सोचता है कि कम से कम खर्च में बड़े से बड़ा धर्मात्मा समझा जाने की तरकीब क्या हो सकती है ? जो तरकीब ज्यादा उपयोगी दीखती है उसी को अपनाया जाता है। बिना विज्ञापन कराये कोई एक कौड़ी या एक घड़ी खर्च करना नहीं चाहता। निरर्थक, निकम्मी, निष्प्रयोजन इमारतें रोज बनती चली जाती हैं। किसी का नाम मन्दिर, किसी का धर्मशाला, किसी का क्या रखा होता है। उनके पर लगे कीर्ति बोधक पत्थर लालाजी की धर्म ध्वजा फहराते हैं। यह कोई नहीं सोचता कि इनसे क्या वस्तुतः कुछ लाभ होगा? तीर्थयात्रा, ब्रह्मभोज, कीर्तन, कथा, भागवत कराने वालों, बन्दरों को लड्डू खिलाने वालों के मनो को चीरकर देखा जाय तो एक ही चीज मिलेगी कि देखने वाले उन महाशय को धर्मात्मा समझें। संस्थाओं को दान देते हुए, उनके एकाधिकारी बनते हुए, चुनावों में खड़े होते हुए लोग इन्हीं कामनाओं में सिर से पैर तक डूबे पाये जाते हैं। बेचारे परमार्थ का पल्ला जरूर पकड़ते हैं पर वह गरीब रोक रह जाता है और सोचता है यदि मुझे बदनाम न किया जाता और इस घृणित रूप में प्रस्तुत न किया जाता तो ज्यादा अच्छा होता।

पूजा-पाठ की दुर्दशा देखकर तो रोना आता है। हर व्यक्ति लम्बे-चौड़े भौतिक लोभों की क्रमना सँजोकर वेमन से थोड़ी-सी टंटघंट करता है और पल-पल पर अति बेचैनी के साथ यह देखता है कि मनोकामना पूर्ण होने में अब कितने मिनट और लगेंगे। यह कोई प्रश्न

नहीं कि मनोकामना अपनी योग्यता और मेहनत के अनुरूप माँगी जा रही है या नहीं। यह कोई प्रश्न नहीं कि मनोकामना नैतिक है या अनैतिक। देवता को रोली, चावल, धूप, दीप, फूल, प्रसाद, खा लेने के बाद यह अधिकार कहाँ रह जाता है कि भक्त की मनोकामना पूर्ण करने में देर करे? यदि देर होती है तो देवता की खैर नहीं और पूजा-पाठ के जंजाल में कोई क्यों समय खराब करे? इसकी किसी को कोई गरज नहीं। यदि देवता दिव्य भावना ही देते हों तो वे अपने लोक को चले जायें और किसी के रोली-चावल खाने की जुर्रत न करें और प्रशंसा सुनने या नाम जपाने का लोभ संवरण करके चुपचाप अपने घर चले जायें। यहाँ हर आदमी को पैसा चाहिए, विलासिता चाहिए, बीबी, बेटा चाहिए, पदवी चाहिए, आत्मकल्याण कहने सुनने भर के लिए ठीक है पर वस्तुतः वैसी निरर्थक वस्तु से किसी को क्या लेना-देना? पूजा का अर्थ मनोकामना की पूर्ति यदि नहीं हो सकता तो आज का व्यक्ति उस जंजाल को दूर से ही नमस्कार करेगा, उपहास करेगा और नास्तिक रहना अच्छा समझेगा। जो पूजा करता है उसकी मनोभूमि उसी घटिया स्तर की पाई जा सकती है। वह देवत्व का अवतरण अपने व्यक्तित्व में करने के लिए साधना कर रहा होगा यह सोचना आज की स्थिति में दिवा स्वप्न देखने के ही बराबर है।

जब परमार्थ का ढोल पीटने वालों और पूजा का ढोंग रचने वालों, जन नेतृत्व का दावा करने वालों और मूर्धन्य स्थानों पर जमे हुए लोगों की कथनी और करनी में इतना अन्तर है, मनोभूमि की यह दयनीय दुर्दशा है, तो उस सामान्य व्यक्ति के बारे में क्या कहा जाय तो केवल पेट पालने और प्रजनन की प्रवंचना से आगे की कुछ बात सोचता ही नहीं, इससे अधिक कुछ करने का जिसका मन नहीं है, उससे तो नर-पशु के क्रिया कलाप से अधिक की आशा क्या की जा सकती है? इसी को कहते हैं लोक मानस का अवसाद। मनुष्य ने यदि आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को तिलांजलि दे दी तो वह फिर नर पशु मात्र ही शेष रह गया। अमीरी विद्वता शरीर-शोभा चातुर्य कला-कौशल सत्ता आदि सम्पदाएँ प्राप्त कर लेना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, यह कई बार बिना पुरुषार्थ अन्धे के हाथ बटेर की तरह उत्तराधिकार में अथवा भाग्यवश भी मिल जाती है। मानवीय गौरव की सद्भाव सम्पन्न विचारणा और अनुकरणीय सत्त्ववृत्तियों पर निर्भर है। महामानवों और नर-रत्नों का मार्ग जिसने अपनाया उसी का जीवन धन्य है। आत्म-शान्ति केवल उसी को मिलेगी और लोक श्रद्धा का भाजन अनन्त काल तक वही रहेगा। ईश्वर के

सम्मुख अपनी सफेद चादर लेकर ऐसे ही लोग जा सकते हैं, मनुष्य जीवन कितना बड़ा ईश्वरीय अनुदान है, इसका अनुभव केवल वे ही कर सकते हैं जिनने माननीय आदर्शों को प्रमुखता दी और अनेक विघ्न बाधाओं के रहते गरीबी और उपहास का कष्ट पग-पग पर सहते हुए जिसने अपने गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का समावेश किया और कर्तृत्व में महानता भर ली उसी विभूतिवान को सराहा जायेगा। उसी का नर तन धारण सार्थक माना जायेगा।

यह सब कैसे हो सकता है? उसका उत्तर एक ही है कि अन्तरंग की आकांक्षा मर्मस्थल में आदर्शवादिता की उमंग पैदा की जाय। यह मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, सत्संग और प्रेरणाप्रद वातावरण के सम्पर्क में रहने से सम्भव हो सकता है। इन साधनों की सुविधा सर्व साधारण को मिल सके इसके लिये हमें सामर्थ्य भर प्रयत्न करने चाहिए। शिक्षा और कला में उन तत्वों का समावेश करना चाहिए, जो मानवीय अन्तःकरण के मर्मस्थल को छूकर उसकी आकांक्षाओं को निकृष्टता के स्तर से उबारकर उत्कृष्टता की भूमिका में उभरने का प्रकाश, प्रोत्साहन और साहस प्राप्त कर सकें। यही एक मार्ग ऐसा है। जिस पर चलकर व्यक्ति मनुष्यता के महान् गौरव की रक्षा कर सकने योग्य गतिविधियों का निर्धारण कर सकता है।

अन्तरंग में मानवता को गौरवान्वित करने वालों रीति-नीति और कार्य पद्धति अपनाने की आकांक्षा जगे और उमंग उठे तो मन, मस्तिष्क, समय, श्रम सभी उस दिशा में मुड़ चलें और साधन, सुविधा, परिस्थिति, सहयोग आदि सारे सरंजाम उसी स्तर के सहज ही जुटने लगें। जो लोग निन्दा, व्यंग, उपहास, लांछन एवं अवरोध उत्पन्न करने में आज लगे हुए हैं वे कल अपनी हार मान लें और पत्थर से सिर फोड़ना छोड़कर उस अतिमानवी साहस के चरणों पर श्रद्धा के सुमन बिछाने लगें। इतिहास यही बताता है कि महानता के पथ पर कदम बढ़ाने वालों का सबसे अधिक विरोध उनके तथा कथित कुटुम्बियों, सम्बन्धियों और मित्रों ने ही किया है। उन्हें लगता है कि श्रेष्ठता की दिशा में चलने वाले का मन, श्रम और धन कुछ न कुछ उन कार्यों में लगेगा जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विश्व मानव की सर्वांगीण प्रगति में आश्चर्यजनक सहायता कर सके। व्यक्ति जब अपनी मनोदशा और गतिविधियाँ परिष्कृत स्तर की बना लेता है तो उसका प्रत्येक कर्तृत्व न केवल उसकी सुख-शान्ति और प्रगति में सहायक होता है वरन् देश, धर्म, समाज, संस्कृति और विश्व-शान्ति के लिए हर प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है। जो अपने को आकांक्षाओं, वासना, तृष्णा और लोभ-मोह के जंजाल से

निकाल लेता है। लोकेषणा, पुत्रेषणा, वितेषणा की पिशाचिन से पल्ला छुड़ा लेता है। तो जीवन निर्वाह के लिए उसे बहुत हाथ-पैर नहीं पीटने पड़ते, न बहुत सिर खपाना पड़ता है। सारी हाथ-हाथ, चिन्ता, उद्विग्नता, बेचैनी और खीज बात की बात में शान्त समाप्त हो जाती है। जीवनयापन की वास्तविक आवश्यकताएँ वस्तुतः बहुत स्वल्प हैं। आधा सेर अनाज, दस गज कपड़ा, एक चारपाई, छोटा बिस्तर, रहने की छाया जितनी सामग्री जुटाने के लिये किसी को बहुत समय लगाने और अहिर्निश कोल्हू के बैल की तरह जुते रहने या अशान्त, उद्विग्न रहने की जरूरत नहीं पड़ती। शरीर की आवश्यकतायें स्वल्प हैं, तीन-तीन फुट के दो हाथ-छै इन्च की उदर स्थली को आसानी से भर सकते हैं। मस्तिष्क में इतनी बुद्धि जानवर को भी मिली होती है कि ऋतु प्रभाव से बचने के लिए निवास आदि की सुविधा उत्पन्न कर ले। परिवार यदि अनावश्यक रूप से बढ़ाया न जाय। पत्नी को गुड़िया बनाने के स्थान पर जीवन के हर क्षेत्र में कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करने वाली सहचरी बनाया जाय तो कोई कारण नहीं कि वह परिवार के निर्वाह से लेकर निर्माण तक में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत न कर सके। इस प्रकार पुरुष का बहुत-सा बोझ जो इन दिनों असह्य जैसा प्रतीत होता है, सुव्यवस्था और दूरदर्शिता की रीति-नीति अपनाने पर बात की बात से सरल हो जाता है। परिवार बनाना या उसका निर्वाह करना कठिन नहीं। कठिन वह फुहड़पन है जिसके आधार पर घर के हर सदस्य को विलासी, अपव्ययी, अहंकारी, स्वार्थी और कामचोर बनाकर रख दिया जाता है। ऐसे परिवार आदि से अन्त तक सिर दर्द ही बने रह सकते हैं और उनके द्वारा उत्पन्न होती रहने वाली असाध्य गुत्थियों को सुलझाने में मोहग्रस्त व्यक्ति सारी जिन्दगी मरते खपते रह सकते हैं।

आदर्शवादी विचारधारा व्यक्ति को प्रबल प्रेरणा इस बात की देती है कि वह इस सुर दुर्लभ मानव-जीवन का स्वस्थ प्रयोजन, उद्देश्य और उपयोग समझे और तदनु रूप अपनी गतिविधियाँ निर्धारित करे। विश्व मानव की जनता जनार्दन को ईश्वर का स्वरूप माने और उसकी पूजा के लिये अपनी बौद्धिक और भौतिक विभूतियों को अधिकाधिक परमार्थ में समर्पित करने के लिये व्याकुल हो उठे। आज तो किसी के मन में उत्कृष्टता की भावना उत्पन्न होती है, तो वह लकड़ी की माला घुमाने और रामधुन की तोता रटन के जाल-जंजाल में फँसकर बर्बाद हो जाती है। परमार्थ का मन आया तो पण्डा-पुजारियों के जाल-जंजाल में फँसकर अपनी हजामत बनवा ली अथवा धर्मात्मा प्रसिद्ध होने के लिये सस्ते हथकण्डे अपनाकर

झूठी वाहवाही एवं मिथ्या आत्म-प्रवचना से मन बहला लिया। इससे आगे बढ़ना हो ही नहीं पाता, जबकि सच्चा धर्म, सच्चा अध्यात्म और सच्चा जीवन दर्शन यहाँ से बहुत आगे चलकर आरम्भ होता है। व्यक्तिगत जीवन की निर्मलता कठोर कर्तव्यनिष्ठा, गुण, कर्म, स्वभाव का प्रखर परिष्कार, धवल स्वाभिमान, प्रचण्ड पुरुषार्थ, बिना दाग-धब्बे की ईमानदारी, मन और वचन की एकता, सच्चाई और सज्जनता भरा व्यवहार आदि सदगुणों के साथ जीवन-साधना आरम्भ होती है। यह तथ्य सर्व साधारण को समझ में आ जाय तो ईश्वर को जाल में फँसाने की तरकीबें सोचने की अपेक्षा लोग सीधे सच्चे मार्ग पर चलें और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर लें।

इसी प्रकार महत्वाकांक्षाओं को तृष्णा, वासना, लोभ और मोह के पाप, पिशाचों से बचाकर लोक मंगल के लिये बड़े से बड़ा त्याग बलिदान, पुरुषार्थ और अनुदान देने में लगाया जा सके तो सामान्य स्तर का मनुष्य भी धीरे-धीरे इतने अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता रह सकता है कि उसका लेखा-जोखा तथाकथित सन्त-महात्माओं से हजारों गुना अधिक आगे निकल जाय। जब मनुष्य लेने की लिप्सा में डूबा रहता है, तो उसे अपने चारों ओर अभाव और दारिद्र्य ही घिरा दीखता है, पर जब वह अपनी मनोदशा देने में रस लेने वाली बना लेता है तो धन न रहते हुए भी अपनी शारीरिक, मानसिक सम्पदायें इतनी बहुमूल्य दीखने लगती हैं, जिनके आधार पर लोग मंगल के लिए बहुत कुछ किया जा सकना सम्भव हो सके। वस्तुतः मानव जाति की ठोस और महत्वपूर्ण सेवायें भावनात्मक समर्थता द्वारा ही सम्भव हुई हैं। धनी अपना ढिंढोरा पिटवाने का ताना बाना बुनने में ही उलझते-सुलझते मर गये वे कुछ कहने लायक काम न कर सके। बड़े काम न धन से होते हैं और न साधनों से। उनके लिये प्रचण्ड अन्तःप्रेरणा और भाव भारी उमंग आवश्यक होती है, उसे उपलब्ध करना केवल उनके लिए सम्भव है जिनने त्रिविध ऐषणाओं से अपना पल्ला छुड़ा लिया और विश्व मानव के चरणों में आदर्शवादिता उत्कृष्टता के-त्याग और बलिदान के-श्रद्धा सुमन चढ़ाने का साहस और मनोबल एकत्रित कर लिया।

नव निर्माण के लिये उत्कृष्ट भाव सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है। लक्ष्मी और विद्या न होने से किसी को रंज नहीं करना चाहिए और न निराश होना चाहिए जो लालसाओं, लिप्साओं को जीत सकें, जो देश के अन्य नागरिकों की तरह पेट भरने को तन ढकने में सन्तुष्ट हो सकें, जो अपनी ममता बेटे पर बखरेने की अपेक्षा लोग मंगल के लिए समर्पित कर सकें, वस्तुतः उन्हें ही नर-नारायण और पुरुष, पुरुषोत्तम कहा जा सकेगा

और उन्हीं के द्वारा विश्व के भावनात्मक नव निर्माण का महान अभियान सम्पन्न हो सकेगा। हमें इसी मर्म-स्थल को स्पष्ट करना चाहिए और जन मानस में सिर से पैर तक भरी हुई संकीर्ण स्वार्थ परता के जाल पर मानवता को गर्वोन्नत बनाने वाली महानता अपनाने की दिशा में मोड़ना चाहिये। यह मोड़ जितना सफल हो सका धरती पर स्वर्ग और मनुष्य में देवत्व के उदय का आज का स्वप्न अगले दिनों उतने ही सरलतापूर्वक साकार बना सकना सम्भव हो सकेगा।

व्यक्तित्व परिष्कार के निमित्त किये जाने वाले उपक्रम

आदतों का मतलब उन क्रियाकलापों से है, जिनका संचालन अचेतन से होता है। इस तरह के क्रियाकलापों में हमें बहुत अधिक जागरूक नहीं रहना पड़ता। जैसे ही समय और परिस्थितियाँ उपयुक्त और अनुकूल होती हैं, ये अपने आप होने लगती हैं।

आदतें अच्छी और बुरी दोनों तरह की होती हैं। अच्छी आदतों का मतलब, वे गतिविधियाँ, जो जीवन क्रम में सुसंबद्धता और सामंजस्य स्थापित करें। बुरी का मतलब जो इसे भौड़ा और कुरूप बनाएँ। उदाहरण के लिए जल्दी जागना, स्वाध्याय करना अच्छी आदतें हैं। इससे व्यक्तित्व अलंकृत होता, जीवन सँवरता है। ईर्ष्या, निन्दा, चुगली आदि की गणना बुरी और भद्दी आदतों में की जाती है। ये अपने लिए भी कष्टकर हैं व दूसरों के लिए भी। इसी तरह ये बड़ी भी होती हैं और छोटी भी। बड़ी का मतलब जिनका जीवन क्रम पर अधिक प्रभाव पड़े, जबकि छोटी का प्रभाव क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है। व्यक्तित्व के सही गठन के लिए जरूरी हैं इस पर ध्यान देकर क्या अच्छा है, क्या बुरा है इसे समझा जाय। उपयुक्त को बनाए रखना और अनुपयुक्त को निकाल फेंकना यह भी इसी के अंतर्गत आता है।

छोटा देखने पर भी यह काम बहुत महत्वपूर्ण और कठिन है, क्योंकि अधिकांशतया इनके सम्बन्ध में हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जो कुछ घट रहा है, उससे यह कहकर छुट्टी पा ली जाती है कि क्या करें आदत पड़ गई है, पर इस तरह की विसंगतियाँ समूचे जीवन के सौन्दर्य को नष्ट करने वाली होती हैं। इनमें से बड़ी आदतों को जो अवांछनीय हैं, उन्हें तो जिस किसी तरह दूरकर लिया जाता है, पर छोटी-छोटी अवांछित आदतें गैर-महत्वपूर्ण समझने के कारण पड़ी रहती हैं। इन्हें जिन्दगी भर ढोना पड़ता है। इतना ही नहीं, ये निरर्थक

और निरुद्देश्य चेष्टाएँ उपहासास्पद होने के साथ अपने व्यक्तित्व का वजन घटाती रहती हैं।

कुछ लोगों को शरीर के विभिन्न अंगों से तरह-तरह की निरर्थक क्रिया करने की आदत होती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे मानसिक अस्तव्यस्तता का चिन्ह माना है। बिना विचारे कुछ-न-कुछ करने की ऐसी निष्प्रयोजन चेष्टाएँ जिनके करने की कोई उपयोगिता अथवा आवश्यकता नहीं है, लगातार बार-बार करना यह सिद्ध करता है कि मन के साथ शारीरिक क्रियाकलाप का संबंध टूट गया है। काम करने के पूर्व उसके प्रयोजन को ध्यान में रखने की व्यवस्था असंबद्ध हो गई है। यह बहुत उपहासपूर्ण व दयनीय स्थिति है।

कुर्ते या कोट के सामने वाले बटन मरोड़ना, उँगलियाँ चटकाना, आँखें मिचकाना, हाथ में कोई चीज लेकर उसे मरोड़ना, खटखटाना, पेन या पेंसिल को मुँह में डालना, पिन से कान या दाँत कुरेदना, किसी के घर जाकर उसकी पुस्तकों या वस्तुओं को उलटना-पलटना, सिर खुजलाना, किसी के शरीर को धक्के देकर बात करना, बात करते समय दूसरे का हाथ पकड़ लेना आदि ऐसी हरकतें हैं, जो आदत में शामिल हो जाने के बाद अपने को तो बुरी नहीं लगती पर दूसरे लोग इन्हें बचकाना और बेतुका मानते हैं।

उपरोक्त हाथ-पैरों की हरकतों की तरह मुँह से भी कितने ही लोग ऐसी कितनी ही बेतुकी बातें करते रहते हैं। बात-बात में गालियाँ देना, किसी एक ही शब्द का हर बात में प्रयोग करना, असम्मान सूचक भाषा को प्रयोग में लाना, अकारण निन्दा, चुगली करना, तम्बाकू-पान के कारण अथवा ऐसे ही जहाँ-तहाँ जल्दी थूकते रहना, जोर-जोर से बोलना जल्दी-जल्दी अथवा अस्पष्ट भाषा में बोलना, इस तरह बोलना कि मुँह से थूक उड़े, होठों के अगल-बगल में थूक जमा कर लेना अथवा दाँतों से थूक के तार उठाना, खाते समय चप-चप की आवाज करना, घूमते-फिरते गाना, जब-तब गाने लगना, अपनी शेखी बघारते रहना, बात को बहुत ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर कहना, आदि ऐसी बुरी आदतें हैं, जिनकी गणना अशिष्टता के अंतर्गत की जाती है। ऐसे व्यक्तियों को असंस्कृत, असभ्य श्रेणी में गिना जाता है।

प्रख्यात मनोविद् ए. एच. एन्डरसन ने “क्रिएटिविटी एण्ड इट्स कल्टीवेशन” नामक अपनी कृति में कहा है कि बुरी आदतें तभी पड़ती हैं, जब मानसिक स्थिति आवेशग्रस्त हो। इसी अस्त-व्यस्त स्थिति में निरीक्षण-नियंत्रण को ध्यान में रखने की बात भुला दी जाती है। साधारण बुद्धि के लोग अपने काम-धंधे में

निरीक्षण-नियंत्रण की आवश्यकता समझते हैं व इसे बनाए रहते हैं, पर न जाने क्यों लोग अपनी आदतों हरकतों के बारे में असावधानी बरतते हैं और आवेश में कुछ न कुछ करने का जो उत्साह उमड़ता है, उसे मर्यादित करने की बात भुला बैठते हैं, फलतः उन्हें उपहासास्पद और छिछरा बनना पड़ता है। इससे अपनी ताकत बरबाद होती है, दूसरे उसे असामाजिकता अशिष्टता मानकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। इस असम्मान के कारण उन्हें अप्रामाणिक, असावधान अव्यवस्थित कर दिया जाता है। दूसरे लोग उनके हाथ में कोई जिम्मेदारी का काम देने में हिचकते हैं, सोचते हैं। जो अपनी आदतों को सुधार-सँवार नहीं सकता, वह भला किसी बड़े काम को कैसे पूरा कर सकेगा ? उससे सहयोग-सदुपयोग की बात कैसे बन पड़ेगी ?

व्यवस्थित करने की कला का महत्व हर क्षेत्र में है, जीवन-जीना तो एक बहुत बड़ी कला है। इसका क्षेत्र बहुव्यापी है। इसका उपयोग इस दिशा में तो सक्रियतापूर्वक किया ही जाना चाहिए कि अपनी आदतें बिगड़ने न पाएँ। असावधानी ही है, जिसके कारण निरर्थक और अनर्थ पैदा करने वाली हरकतें हमारे स्वभाव का अंग बन जाती हैं और इतनी गहरी जड़ें जमा लेती हैं कि इनका हटना-मिटना बहुत कठिन लगता है। अनुसन्धानकर्त्ताओं ने इस सन्दर्भ में गहन खोजें की हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ई. डब्ल्यू. सिनोट ने अपनी रचना “द क्रिएटिव नेस ऑफ लाइफ” में मानवी आदतों का अच्छी तरह विवेचन किया है। उनके अनुसार इसके लिए समूचे जीवनक्रम को जागरूक होकर देखना होगा। सामान्यतया हमारी सारी गतिविधियाँ मन के अवचेतन व अचेतन क्षेत्र से संचालित होती हैं। उनकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर कोई विचार नहीं किया जाता। इसके लिए जरूरी है जागरूक होना। यह सम्भव है कि एक दिन में सारे क्रियाकलापों का जायजा न लिया जा सके। इसके लिए पूरे दिन की गतिविधियों को सुविधानुसार समय के अनुरूप कई हिस्सों में बाँट लेना होगा। बाद में प्रतिदिन एक हिस्से को गहराई से देखा जा सकता है। समूची स्थिति को समझ लेने के बाद ही सारे क्रिया-कलापों का विश्लेषण कर पाना संभव है।

सोवियत मनोवैज्ञानिक एस. एल. रूबिनस्टीन ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक “द इमिडेट टास्क ऑफ साइकोलॉजिकल इन्वेस्टीगेशन ऑफ थिंकिंग” में बताया है कि उक्त विश्लेषण का मतलब है सही गलत को जानना। यह काम इतना सरल नहीं है। रूबिन स्टीन के एक शिष्य एम. एम. मातयुश्किन ने भी प्रमाणित किया है कि यह काम अपने आप नहीं हो जाता। इसे करने

के लिए जरूरी है कि अपने सभी क्रिया-कलापों के प्रति तटस्थ भाव रखा जाय। सही आदतें वे हैं, जिनकी हमारे व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता और आवश्यकता है, जो हमारे विकास व प्रगति के लिए सहायक हैं। गलत वे हैं जिनकी इस तरह की कोई जरूरत नहीं है। उल्टे उनसे शारीरिक-मानसिक शक्तियों का क्षरण भर होता है। जब तक इन त्रुटियों को खुद भली-भाँति जान नहीं लिया जाता, तब तक इनका निवारण संभव नहीं। जान लेने के बाद ही बुरी आदतों से छुटकारा पाना सम्भव बन पड़ेगा। आदतों के इस तरह सुव्यवस्थित करने की रीति-नीति को मनोवैज्ञानिक भाषा में इनका समाकलन कहा जा सकता है।

खराब आदतों को हटाने के प्रयास का मतलब है, अवचेतन मन की पुरानी लिपियों को मेटकर नई लिपियों को लिखना क्योंकि यहीं पर आदतों का समूह होता है, जो जाग्रत अवस्था में एक ही सूचनाओं, आवेशों या संवेदनों के एक यंत्रवत् में ऊपर आ जाती हैं।

अतएव जब भी ये उभरें उन्हें सप्रयास रोककर यह अनुभव किया जाय कि यह औचित्यपूर्ण नहीं है। धीरे-धीरे पर निरंतर किया गया यह प्रयास पुरानी लिखावट को मेटकर नई इबारत लिखने वाला होगा। परिणामस्वरूप हरकतें भी शिष्ट व शालीन होंगी। इस प्रकार की गई आदतों की सुव्यवस्था न केवल जीवन को दिशापूर्ण व उपयोगी बनाएगी, बल्कि इससे हमारा व्यवितत्व और अधिक निखर-सँवर सकेगा।

असंस्कृत अचेतन से सुसंस्कृत

अतिचेतन की ओर

व्यक्ति और परिवेश दोनों ही परस्पर गहनता से जुड़े हुए हैं। प्रथम के क्रियाकलाप द्वितीय को प्रभावित करते हैं, द्वितीय की हलचलें प्रथम में उद्वेलन उत्पन्न करने वाली होती हैं। मनीषियों ने व्यक्ति के क्रियाकलापों को द्विविध रूपों में स्पष्ट किया है। प्रथम जिनका केन्द्र उसका स्व का अन्तःकरण होते हुए परिधि स्वयं का ही जीवन होता है, इन्हें आचरण की संज्ञा दी गई है। दूसरे में केन्द्र तो उसका अन्तःकरण होता है, जबकि परिधि में समूचा परिवेश समाहित होता है। ऐसे क्रियाकलापों को व्यवहार के अन्तर्गत परिभाषित किया गया है।

श्री अरविन्द इन द्विविध स्वरूपों का सम्मिलित स्पष्टीकरण करते हुए अपनी कृति “सिथेसिस ऑफ योग” में कहते हैं कि “मानव वैयक्तिक और सामाजिक जगत तथा विश्व में आत्मभिव्यक्ति के लिए मन, जीवन और शरीर को प्रयोग करने वाली एक आत्मसत्ता है।”

महर्षि अपनी प्रमुख दार्शनिक कृति “द लाइफ डिवाइन” के प्रथम भाग में व्यक्ति एवं परिवेश के सम्बन्धों को समझाते हुए कहते हैं कि “सृष्टि के दृष्टिकोण से व्यक्ति चेतना शक्ति का केन्द्र-बिन्दु है। वह समस्त विश्वमय चेतना का केन्द्र है।”

यह केन्द्र और परिधि दोनों ही परस्पर घनीभूत संबद्ध हैं। परिधि की विकृति केन्द्र च्युति का कारण बन सकती है एवं केन्द्र च्युति परिधि में गड़बड़ियों का। यदि इसी अवास्तविक स्थिति को वास्तविक मान लिया जाय तो गड़बड़ियों का सिलसिला लगातार चलता रहेगा। श्री अरविन्द बताते हैं कि शरीर, मन व आत्मा के त्रिआयामी व्यक्तित्व में केन्द्रीय आयाम आत्मा है। यह वास्तविक केन्द्र भी है। किन्तु आत्मा भी वास्तविक एवं प्रच्छन्न है। यह प्रच्छन्न आत्मा जिसे वह कामनामय आत्मा (Desire Soul) कहते हैं, हमारी प्राणात्मक वासनाओं, उद्देश्यों, सौंदर्य की अनुभूतियों के पीछे है। यही हमारी अहंकरात्मक सत्ता का आधार है, जबकि यथार्थ आत्मा चैत्य सत्ता है। केन्द्र च्युति की स्थिति में हमारा जीवन इसी उपरोक्त अहंकार सत्ता से संचालित होता है।

व्यक्ति का यह अन्तराल बड़ा गहन है। मन का भीतरी भाग जिसे फ्रायड अचेतन कहते हैं, मानव में बर्बर बालक-पशु का प्रतिनिधि बताते हैं। युग की खोजों के अनुरूप यह व्यक्तिगत भी है और सामूहिक भी। व्यक्तिगत अचेतन में फ्रायड के अघोचेतन व अचेतन सम्मिलित हैं। उसमें वे अनुभव हैं, जो भूले और दमित किये जा चुके हैं। सामूहिक अचेतन में मूल प्रवृत्तियाँ आदिम विचार और प्रतीक आते हैं।

फ्रायड व युंग के इस अचेतन को श्री अरविन्द अवचेतन कहते हैं। उनके अनुसार यह स्तर सभी परिवर्तनों का विरोध करने के साथ आलस्य, दुर्बलता, अस्पष्टता एवं अज्ञान को सतत् स्थिर रखना चाहता है। इसी के कारण यथार्थ वस्तुओं के आधार अतिचेतन का प्रवाह रुका रहता है।

व्यक्ति के व्यवहार, सामाजिक संरचना, परिवेश के प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से युंग के सामूहिक अचेतन की खोज अत्यन्त उपादेय है। परिवेश से प्राप्त उद्दीपनों से व्यक्ति का मानस प्रभावित होता है। यदि ये उद्दीपन अवचेतन के पाशविक संस्कारों को उत्तेजित करते हैं तो व्यवहार भी तदनु रूप होना स्वाभाविक है। यदि इन उद्दीपनों ने अतिचेतन को उद्दीपित किया है, तो मानव जीवन की उच्चतर प्रक्रियाओं, कला, धर्म, साहित्य आदि के रूप में व्यवहार की अभिव्यक्ति होती है।

चिन्तन और व्यवहार की गति अपने आगोश में सबको समेटती जाती है। विगत इतिहास के उन कालों में जिन्हें स्वर्णिम युग कहा गया है, इन्हीं अतिचेतन की प्रक्रियाओं द्वारा जीवन का संचालन रहा है, जबकि नरसंहार के काल में अवचेतन का पशु प्रतिनिधि प्रभावी रहा है। मनोविज्ञान की नवविधा “हिस्टोरिका साइकोलोजी” में समूचे इतिहास की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद प्रतिपादन किया गया है कि ये घटनाएँ कुछ व्यक्तियों के प्रभावी अवचेतन का ही परिणाम थीं।

वर्तमान के परिपेक्ष्य में किया गया अध्ययन स्पष्ट करता है कि सामाजिक परिवेश से मिलने वाले उद्दीपन व्यक्ति में इन्हीं अवचेतन के संस्कारों को भड़काने वाले सिद्ध हो रहे हैं। सिनेमा में नग्न नर्तन की भरमार, ब्यू फिल्मों का पकड़ता जोर अश्लील विज्ञापन व्यक्ति के अतिचेतन के प्रवाह को रोककर उसे मनुष्य से पुनः पशु में परिवर्तन कर रहे हैं। ‘मनुष्य रूपेण भृगाश्चरन्ति’ की उक्ति अपनी सार्थकता की अभिवृद्धि करती जा रही है।

मनुष्य अपनी स्वार्थपरता संकीर्णता की शृंखला से आबद्ध होता जा रहा है। इसी आबद्धता ने ही सब कुछ एक साथ प्राप्त कर लेने की प्रवृत्ति जाग्रत की है, जो अपनी अभिव्यक्ति भारी भरकम उद्योगों, उत्खनन केन्द्रों, वनों के नाश आदि के रूप में कर रही है। स्वाभाविक ही इससे केन्द्रीकरण हुआ है। यह केन्द्रीकरण प्रत्येक क्षेत्र में है। मनुष्य शहरों में केन्द्रित हो रहे हैं। धन कुछ थोड़े से धनिकों की तिजोरियों में केन्द्रित हो रहा है।

केन्द्रीकरण की इस च्युति ने सामाजिक परिवेश की ध्वंसता के साथ पर्यावरण को भी ध्वस्त किया है। वायु, जल, ध्वनि, प्रदूषण की बात सर्वत्र सुनी जा रही है। सर्वत्र प्रदूषण की ही अभिवृद्धि है। प्रदूषण की वृद्धि व्यक्ति के चेतन मन में तनाव तथा अचेतन के अवशेषी संस्कारों में उद्दीपन उत्पन्न कर रही है। अचेतन के सामूहिक होने से यह महामारी सरलता से एक-दूसरे में फैलती जा रही है। फलस्वरूप समाज में हिंसा, मनोरोग, अपराध, आतंक पनप रहे हैं। साथ ही विकृत मानसिक स्थिति पर्यावरण को और भी अधिक विकृत कर रही है। इस तरह व्यक्ति, समाज और पर्यावरण के मध्य अभिक्रियाएँ अपनी गति पकड़ती जा रही हैं।

व्यक्ति समाज और परिवेश की पारस्परिक सम्बद्धता की उपेक्षा किये जाने के कारण किए जा रहे शान्ति प्रयास अस्थायी व कमजोर सिद्ध होते जा रहे हैं। जनमानस को परिवर्तित करने के लिए आवश्यक अवचेतन के उद्दीपकों को बहिष्कृत करना जरूरी है, जिसके लिए व्यक्ति नहीं समाज व उसके संचालक उत्तरदायी हैं। साथ

ही पर्यावरण को भी समृद्ध करना होगा। जिसकी मानव समाज एक इकाई है। पर्यावरण की इकाई मनुष्य परिकर है तथा इसकी इकाई व्यक्ति है।

इन संबंधों की अभिन्नता को समझने तथा मानव मन की जटिलता को समझ अतिचेतन के रुके प्रवाह को प्रवाहित करने से दिशा बदल सकती है। क्योंकि जिस प्रकार अचेतन सामूहिक है, उसी तरह क्रांतिचेतन भी। यह बदली हुई दिशा मनुष्य व समाज को अवगति से प्रगति की ओर ले जाने वाली होगी।

अन्तः का परिमार्जन-परिष्कार

अन्धकार का निराकरण अथवा प्रकाश का प्रज्ज्वलन दोनों एक ही बात है। कहने का ढंग भर अलग है। अस्वस्थता का निवारण अथवा आरोग्य का सम्बर्धन यह कहने की शैली भिन्नता भर है। दरिद्रता का समापन एवं सम्पन्नता का आगमन यह देखने-सुनने में ही दो बातें प्रतीत होती हैं, पर वस्तुतः हैं एक ही।

आत्मा स्वयं पवित्र है। ईश्वर का अविनाशी अंश होने के कारण उनमें तत्त्वतः अपवित्रता जैसी कोई वस्तु है नहीं। इस संसार के वातावरण में आच्छादित अवांछनीयता ही जब उसके ऊपर आवरण डाल लेती है, तभी उसमें कुरूपता दृष्टिगोचर होने लगती है। सूर्य-चन्द्र के ऊपर ग्रहण लगने या बदली कुहरा छा जाने से उनकी छवि धूमिल हो जाती है। पर मूलतः सूर्य-चन्द्र वैसे हैं नहीं, आवरण हटते ही वे अपने मूल रूप में प्रकाशवान दिखने लगते हैं।

मनुष्य में अनेकों अभाव एवं विकार दीखते हैं। यह उसके ऊपर किसी ने थोपे नहीं हैं। यह अनाचरण एवं भटकाव की प्रतिक्रिया मात्र हैं। यदि इस संकट एवं झंझट से उबरा जा सके तो उस आनन्द की प्राप्ति के लिए कुछ अलग से अतिरिक्त प्रयास करना नहीं पड़ता।

असंयम न बरता जाय तो दुर्बलता, रुग्णता के कुचक्र में फँसने जैसी कोई बात है नहीं। सृष्टि के समस्त प्राणी जन्मते-मरते तो हैं, पर बीच में रुग्णता के जाल में नहीं फँसते। यदि रोग स्वाभाविक रहे होते, तो समुद्र के जल-चर, वन्य पशु एवं घोंसलों में रहने वाले पक्षियों को आधि-व्याधियों से घिरा देखा जाता और उन सबके लिए डाक्टरों की, अस्पतालों की भी सृष्टा को व्यवस्था करनी पड़ती। मनुष्य जैसे बुद्धिमान प्राणी को अस्वस्थता घेरती नहीं। यह उन्हें असंयम की कुंकुम पत्री भेजकर आग्रहपूर्वक न्योता बुलाता है। यदि बिगाड़ को सुधार लिया जाय तो मनुष्य पूर्णायुष्य प्राप्त करे और रुग्णता से कराहते दुर्दिनों में समय न गुजारे।

हँसने की कला केवल मनुष्य के हिस्से में आई है। सौन्दर्य बोध केवल उसी को हो सकता है। सहकारिता का कौशल हर किसी को आता है। मनःक्षेत्र का सन्तुलन बनाये रखकर वह हर परिस्थिति के साथ तालमेल बिठा सकता है और हर घड़ी हँसती-हँसाती जिन्दगी जी सकता है। यह सारे उपहार उसे जन्मजात रूप में मिले हैं। इतने पर भी यदि किसी को कुढ़ता-कुढ़ाता, रोता-रुलाता, डरता-डराता देखा जाय तो समझना चाहिए कि अत्यन्त मूल्यवान मानस तन्त्र प्राप्त करने का सुयोग होते हुए भी उसे उसका प्रयोग करना नहीं आया। अनाड़ी ड्राइवर कीमती मोटर को भी किसी पेड़ से टकराने और खड्ड में धकेलने की दुर्घटना करते देखे गये हैं। इन वाहनों की बनावट को दोष देना व्यर्थ है। सड़क को कोसने से भी लाभ नहीं। गलती ड्राइवर की ही दुर्घटनाओं में होती है।

परिवार हर मनुष्य को मिला हुआ एक छोटे नन्दन वन जैसा सुरम्य उद्यान है। उसके बीच रहकर आनन्दित, उल्लसित, गद्गद और प्रगतिशील परिस्थितियों में रहा जाता है। इस स्थिति में व्यवधान क्यों पड़ता है ? बचपन की सौम्य सात्विकता और भोलेपन की प्रकृति प्रदत्त सुषमा गँवा देने से। चिड़ियाँ अपने अण्डे बच्चों वाले घोंसले में कलोल करती हैं, तो हम परिवार की मधुरता, मृदुलता क्यों गँवा देते हैं ? माता वात्सल्य, पत्नी का समर्पण, भाई-बहनों का साहचर्य, बच्चों की खिलौनों जैसी शोभा यदि हमें उल्लसित नहीं कर पाती, तो समझना चाहिए कि अपने अन्तराल के स्नेह स्रोत सूख गये।

मनुष्य दरिद्र क्यों होता है ? हाथी और गैंडे जैसे बहुत खाने वालों के लिए भरपेट भोजन सदा उपलब्ध होता रहता है, फिर दो मुट्ठी अनाज खाने वाले और दस गज कपड़ा लपेटने वाले के दस अंगुलियाँ वाले दो अतिरिक्त हाथ क्यों उसका पेट नहीं भर पाते ? क्यों वह अभावग्रस्त, दरिद्र रहता है ? इसमें आवश्यकता से असंख्य गुनी चाहना पीठ पर लादे फिरना ही एकमात्र कारण है। तृष्णा एक आग है, जो निरन्तर ईंधन डालते रहने पर भी बुझती नहीं, वरन् अधिकाधिक प्रदीप्त होती जाती है। ऐसे ही निरर्थक जाल-जंजाल है, जिनमें मनुष्य निरन्तर मकड़ी के जाले की तरह स्वयं ही बुनता और स्वयं ही फँसता रहता है। रेशम के कीड़े को कोटों में कौन बन्द करता है ? मेढ़क को कुएँ में कौन पकड़कर लाता और धकेलता है ? मनुष्य अभागा स्वयं ही अपनी हथकड़ी-बेड़ी कसता और बन्दीगृह में ताला डालकर चाबी जब में डाले फिरता है। कहता है कोई इसमें से छुड़ाये तो बड़ा अनुग्रह हो।

कमरा रोज झाड़ना पड़ता है। पहनने वाले कपड़े रोज धोने पड़ते हैं। दौत मौजने की नित्य आवश्यकता पड़ती है। स्नान भी दैनिक कृत्य है। इस वातावरण में गन्दगी चारों ओर उड़ती रहती है। वह बिना प्रयत्न के ही सर्वत्र जमती रहती है। यदि इसे नित्य न धोया-बुहरा जाय तो कुछ ही समय में गन्दगी के ढेर लग जायेंगे। यह सफाई ही साधना है। वातावरण में सत् कम है और असत् बहुत। अर्थ कम है अनर्थ बहुत। इसलिए यह सतर्कता बरतनी पड़ती है कि अशुभ का अनावश्यक आच्छादन अपने शुभ को आच्छादित न कर ले। इस सतर्कता का नाम ही साधना है।

ईश्वर को किसी की प्रशंसा, स्तुति, मनुहार नहीं चाहिए। उसकी समग्र प्रशंसा कोई कर भी नहीं सकता। समुद्र में एक चुल्लू डाल देने से उसकी क्या तो अभिवृद्धि होगी और क्या प्रसन्नता ? इसी प्रकार भेंट-उपहार का कोई कुछ अनुदान प्रस्तुत करे। पंचोपचार, षोडशोपचार के अनुरूप धूप, दीप, पुष्प, चन्दन, अक्षत आदि समर्पित करें, तो उसे पाकर भगवान कैसे समझें कि यह बड़ी अनुकम्पा कर रहा है और भक्ति-भाव का परिचय दे रहा है। प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि को मानसिक व्यायाम कहा जा सकता है। उसके सहारे मन की एकग्रता एवं इच्छा-शक्ति की अभिवृद्धि हो सकती है। इसलिए इन्हें भी दण्ड-बैठक, कुश्ती, कबड्डी, जैसे शारीरिक व्यायाम के समतुल्य माना जा सकता है। इन्हें कैसे माना जाय कि आत्मबल बढ़ाने में वे सहायक हो सकते हैं और पवित्रता एवं प्रखरता बढ़ा सकते हैं।

स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन, कथा-कीर्तन आदि के सहारे जीवनचर्या में सतो गुण बढ़ाने का मार्गदर्शन मिलता है। पर उसका कहना, सुनना ही पर्याप्त नहीं। उस राह पर चलना भी तो चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हमारे चिन्तन और चरित्र का प्रवाह निरन्तर उत्कृष्टता के मार्ग पर चले। आचरण में अधिकाधिक आदर्शवादिता और पुण्य परमार्थ की गतिविधियों का समावेश बढ़े। यह दिन भर में घण्टे आध घण्टे की चिन्ह पूजा नहीं है। उस मार्ग पर निरन्तर चला जाना चाहिए। भूल न होने पाये, कुसंस्कारों का आक्रमण चढ़ न दौड़े, इसका निरीक्षण, परीक्षण हर घड़ी चलना चाहिए। साधना इसी का नाम है। इसमें अपने आपको साधा जाता है। ईश्वर को लुभाने या उसके सम्मुख चित्र-विचित्र क्रिया-कृत्य करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। परब्रह्म इस निखिल ब्रह्माण्ड के सुचारू रूप से संचालन में निमग्न है। उसे किसी भक्त पर पुष्प वर्षा करने, दौलत के थैले भेजने या वरदान, अनुदान देने की न तो आवश्यकता अनुभव होती है और न ही इच्छा उठती है। वह स्वयं जिस

प्रकार नियमबद्ध होकर कार्यरत रहता है, उसी प्रकार अपने अनुयायियों से भी आशा करता है कि वे निर्धारित अनुशासन का पालन करेंगे।

उच्च पद की उपलब्धि के लिए आवश्यक योग्यता अर्जित करने की परीक्षा प्रतियोगिता में खरा सिद्ध होने की आवश्यकता पड़ती है। इससे कम में काम चलने वाला नहीं है। परीक्षक अथवा नियुक्ति कर्ता की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पूजा-अर्चना करने से योग्यता सिद्ध करने की अनिवार्यता से बचा नहीं जा सकता। ईश्वर का कई बार नाम लेने पर किसी की भी भक्ति प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। ईश्वर के दरबार में चापलूसी या भेंट-पूजा की मनुहार करने मात्र से अपना उत्कृष्ट सिद्ध कर लेने में आज तक किसी को भी सफलता नहीं मिली है। फिर सत्ता रास्ता ढूँढ़ निकालने की प्रवचना में हमी क्यों अपना समय बर्बाद करें।

मल-मूत्र में सना हुआ बच्चा माता की गोद में चढ़ने, दूध पीने के लिए चाहे कितना ही क्यों न मचल रहा हो, पर वह असीम प्यार करने पर भी तब तक उसे दूर ही रखती है, जब तक धो-पोंछकर उसे भली प्रकार साफ-सुथरा नहीं कर लेती। भगवान की भी रीति-नीति यही है। उनके भक्त को उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श चरित्र का परिचय देना चाहिए। इसमें अनाचार से हाथ खींचना पड़ता है। लोगों को यह कठिन प्रतीत होता है। सरल यह लगता है कि अनाचार से मिलने वाले लाभों को दोनों हाथों से समेटते रहें और पूजा-पाठ की चित्र-विचित्र चिन्ह पूजा करके भगवान को भी बहकाते-फुसलाते रहें। दोनों हाथ लड़्डू भरे रहने की यह विडम्बना मात्र मन को बहकाने भर के काम आती है। ईश्वर भक्तों को वाल्मीकि, विल्व मंगल, अंगुलिमाल, अम्बपाली की तरह अपनी जीवनधारा बदलनी पड़ती है। भागीरथ, हरिश्चन्द्र और दधीचि की तरह सत्प्रयोजनों के लिए बढ़-चढ़कर त्याग बलिदान की आवश्यकता अनुभव करनी पड़ती है। सो भी ऐसा त्याग-बलिदान नहीं, जिसकी परिधि काय कष्ट और कर्मकाण्डों की सीमा तक अवरुद्ध होकर रह गयी हो।

वासना, तृष्णा और अहंता से हमारे तीनों शरीर मलीन होते हैं। वासना स्थूल शरीर को, तृष्णा सूक्ष्म शरीर को और अहंता कारण शरीर को हेय बनाती है। इन मलीनताओं का परिशोध करना ही साधना का उद्देश्य है। जो इन सही मार्ग पर चलते हैं, वे अध्यात्म साधना के अनुरूप ऋद्धि-सिद्धियों से भरा-पूरा सत्परिणाम भी प्राप्त करते हैं।

वृत्तियों का परिमार्जन, व्यक्तित्व का उदात्तीकरण

स्वच्छ दीखने के दो तरीके हैं—अस्वच्छता को ढक देना या उसे साफ कर देना। आवरण चढ़ाने से अन्तर इतना ही आयेगा कि निहित गंदगी बाह्य दृष्टि से ओझल बनी रहेगी। इतने पर भी उसकी सत्ता अपने स्थान पर यथावत् रहती और मौक़ पाते ही आवरण हटते ही अपना परिचय पूर्ववत् देने लगती है।

मनुष्य की यह आम आकांक्षा होती है कि वह दूसरों की नज़रों में सम्मानित दीखे और सुसंस्कृत कहलाये। इसके लिए एकमात्र तरीक़ा यही है कि व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो और उसे इतना प्रामाणिक, प्रखर और परिष्कृत बनाया जाय कि सौरभ बिखरने वाले फूलों की ओर जिस प्रकार भौरे खिंचते चले आते हैं, वैसे ही लोगों की श्रद्धा और सहायता अनायास मिलती चले। यह किंचित कठिन प्रक्रिया है। इन दिनों लोग पुरुषार्थ प्रधान ऐसे कार्यों से प्रायः बचना चाहते हैं और किसी ऐसे सरल संस्करण की तलाश में रहते हैं, जो आसान हो एवं सुविधाजनक भी, साथ ही देखने में भी ऐसा न लगे, जिससे जल्द ही उसके असल की नकल होने का अनुमान लगता हो। व्यक्तित्व के संदर्भ में ऐसा उपाय यही हो सकता है कि बुराई पर आकर्षक पर्दा डाल दिया जाय और सज्जन एवं सरल होने का प्रदर्शन किया जाय। ऐसे में कई बार व्यक्तित्व की पहचान में धोखा हो जाता है और बुरे के अच्छे होने का भ्रम होने लगता है।

मानवी व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं—भावना, विचारणा और व्यवहार। इनमें से व्यवहार शारीरिक प्रवृत्ति है, जबकि विचारणा मानसिक वृत्ति है। इन दोनों का संबंध स्नायु तंत्र से है, किन्तु भाव-संस्कार का संबंध स्नायु संस्थान से नहीं होता, वह चेतना का विषय है, अतएव उसके परिष्कृत करने की ज़रूरत पड़ती है। यही कारण है कि जब ईर्ष्या, राग, द्वेष, घृणा आदि संवेगात्मक तत्वों के नियन्त्रण की बात आती है, तो शरीर विज्ञानी और मनोविज्ञानी स्वयं को असहाय महसूस करने लगते हैं और यह बता पाने में असमर्थ साबित होते हैं कि शरीर मन के किन हिस्सों द्वारा किस प्रकार इनका संचालन-उत्पादन होता है, अब तक मन के सम्बन्ध में क़ाफ़ी शोधें मनोविज्ञान क्षेत्र में हो चुकी हैं और मस्तिष्क के बारे में भी अगणित अनुसन्धान शरीरशास्त्री कर चुके और कर रहे हैं, पर उक्त दोनों विधाओं के विशेषज्ञ यह

सुनिश्चित कर पाने में एक प्रकार से विफल ही रहे हैं कि आखिर मन-मस्तिष्क में से कहाँ किस अंग में ठीक-ठीक इनकी अवस्थिति है ? जबकि अध्यात्मवेत्ता इनका अवस्थान-स्थान भी बताते और उन्हें प्रभावित करने की पद्धति भी सुझाते हैं, कहते हैं इनका यदि उदात्तीकरण हो जाय, तो हर हर किसी के लिए ईर्ष्या को उत्फुल्लता में, राग को विराग में, द्वेष को सहयोग में और घृणा को प्रेम में बदल पाना सम्भव हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नियन्त्रण की प्रणाली स्थूल शरीर के ज्ञान-तंतुओं की क्रियाओं तक ही सीमित है। इसके आगे जो कुछ होता है वह प्राकृतिक और संस्कारगत है एवं चेतना से संबद्ध है। इसका उदात्तीकरण अथवा शोधन ही हो सकता है, रूपान्तरण का इसके लिए अन्य कोई दूसरा तरीक़ा नहीं। इस प्रकार नियन्त्रण और रूपान्तरण बदलाव की यह दो पद्धतियाँ हैं। हम इन दोनों को भली-भाँति समझें और एक के स्थान पर दूसरे को प्रयुक्त न करें। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। नियन्त्रण के क्षेत्र में शोधन को न लायें और शोधन की जगह नियन्त्रण का प्रयोग न करें। यह यदि सही-सही सम्पन्न हुआ तो फिर शोधन के उपरान्त नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं रह जायेगी इतना सुनिश्चित है।

देखा गया है कि व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में स्वयं को बदलना चाहता है, बुराइयों को छोड़ना चाहता है, वासनाओं को त्यागना चाहता है, आदतों को परिवर्तित करना चाहता है, किन्तु लाख कोशिशों के बावजूद उसे असफलता ही हाथ लगती है। तात्कालिक सफलता तो इसमें मिलती देखी गई है, पर वह चिरस्थायी नहीं होती। कारण की तलाश करने पर यही ज्ञात होता है कि जो प्रयास किये गये, वह कायिक अथवा मानसिक स्तर के उथली परत मात्र के थे, इस स्तर पर मात्र नियन्त्रण ही सम्भव है, रूपान्तरण नहीं। जहाँ नियन्त्रण होगा, वहाँ उसके हटने-घटने की सम्भावना भी बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में दुष्प्रवृत्तियों को बार-बार सिर उठाने का अवसर मिलता रहता है। इसलिए सुधार-संशोधन संबंधी नियन्त्रण की पद्धति अपूर्ण एवं अधूरी है। इसकी तुलना में यदि उदात्तीकरण को अपनाया गया तो इससे सम्पूर्ण एवं चिरकालिक रूपान्तरण होता तथा समस्या का स्थायी समाधान मिलता। कारण है कि हमारी अधिकांश प्रवृत्तियों का संबंध संस्कार-चेतना से है। जब उसका परिमार्जन किया जाता है, तो उससे सम्बन्धित समस्त चेष्टाओं का उदात्तीकरण हो जाता है। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान इतनी गहराई में उतरकर वास्तविक निमित्त को नहीं समझ पाने के कारण ही बार-बार विफल रहते देखे जाते हैं।

कामशास्त्र के बारे में शरीरवेत्ता स्खलन को रोक लेना ही सर्वोपरि मानते और उतने से ही ब्रह्मचर्य की अखंडता स्वीकार कर लेते हैं। मनःशास्त्री उस पर दमन के द्वारा विजय प्राप्त करने की बात कहते हैं। ज्ञातव्य है कि कुचलने का यह तरीका हर जगह सफल नहीं होता। 'काम' स्वयं में एक प्रचंड ऊर्जा है। शक्तिशाली ऊर्जा को बहुत समय तक दमित-नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। यदि किया गया, तो ऐसी विस्फोटक स्थिति पैदा होगी, जो व्यक्ति को सनकी, उन्मादी, पागल स्तर का बना देगी। इसलिए उस ऊर्जा का रूपान्तरण होना चाहिए। यह रूपान्तरण किस प्रकार का, कैसा हो ? मनोवेत्ता यह बता पाने में नाकामयाब रहे, जबकि अध्यात्मवादियों के पास इसका सुनिश्चित उत्तर है। उनका कहना है कि यदि इस वासना के आवेग को सात्विक भावना में, ईश्वरीय, अनुराग में बदल दिया गया तो फिर 'काम' के सताने का सवाल ही पैदा नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञानियों के काम-दमन का प्रतिवाद करते हुए वे कहते हैं कि इस रीति से मन प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से बराबर उस ओर ही लगा रहता है और जिसका अनवरत स्मरण हो रहा हो, उस ओर से मन भला कैसे हट सकता है ? निश्चय ही इस नियन्त्रण के माध्यम से काम-विकार का उद्दीपन ही होता रहता है। इस सूक्ष्मशास्त्र को न समझ पाने के कारण ही मनोविज्ञान का यह सूत्र कारगर न हो सका। अध्यात्म में इसकी दिशा मोड़कर ईश्वरोन्मुख कर दिया जाता है। इसलिए सामान्यजन में जो ऊर्जा काम-विकार उत्पन्न करने में खर्च होती रहती है, वही शक्ति भगवत् परायण व्यक्ति में स्वतः ही रूपान्तरित होकर उच्चस्तरीय बनती रहती है, अतएव वहाँ वासना के सताने की बात तो दूर उसकी स्मृति तक नहीं उभरती। यही वास्तविक रूपान्तरण है।

उदात्तीकरण और नियन्त्रण के बीच उपरोक्त अन्तर और उनकी सीमाओं को समझ लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक स्तर पर जो हमारी चेष्टाएँ और क्रियाएँ होती हैं तथा मानसिक स्तर पर जैसा हमारा चिन्तन होता है, वह सब विशुद्धतः उन्हीं-उन्हीं स्तरों से संबंधित होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनका न्यूनाधिक लगाव भाव-संस्थान की संस्कार-चेतना से भी होता है। इसलिए मानवी चेष्टाओं को शुद्ध करने की जहाँ बात आती है, वहाँ उसके चित्तगत संस्कारों को भी ध्यान में रखना होगा। कारण कि मनुष्य ८४ लाख योनियों की लम्बी यात्रा के उपरान्त यह शरीर धारण करता है, इसलिए चित्त में उनके भी सूक्ष्म संस्कार विद्यमान रहते हैं। जिस-जिस योनि के जैसे-जैसे संस्कार मानवी अंतराल में जमे रहते हैं, वैसी ही उनमें प्रवृत्तियाँ

दिखाई पड़ती हैं। इस आधार पर व्यक्तित्व भेद की व्याख्या भी अत्यन्त सरल हो जाती है और यह बताया जा सकता है कि यदि किसी में क्रोध, किसी में घृणा, किसी में प्रेम तत्त्व प्रबल है, तो ऐसा क्यों है ? मनोविज्ञान की इस संबंध में जो व्याख्याएँ हैं, वह अत्यधिक दुरूह हैं और अधूरी भी, क्योंकि व्यवहार की व्याख्या वहाँ परिस्थिति के आधार पर की जाती है। यदि किसी व्यक्ति में घृणा की अधिकता है, तो इस बारे में उसका कहना है कि चूँकि उसे ऐसे किसी वातावरण में रहना पड़ा हो, जहाँ, तिरस्कार, अपमान, घृणा बड़े पैमाने पर मिला हो अथवा बचपन में माता-पिता, भाई-बहन से फटकर मिलती रही हो, तो इसका परिणाम उसमें घृणा की उत्पत्ति के रूप में सामने आ सकता है। प्रेम, भय, क्रोध जैसी मानवी प्रवृत्तियों की व्याख्या, व्यवहार मनोविज्ञानी इसी प्रकार करते और कहते हैं कि परिस्थिति और समाज से वह जैसा कुछ सीखता है, वैसा ही बनता और विकसित होता चला जाता है। चूँकि व्यक्ति को समाज में पग-पग पर इन मनोवैज्ञानिक तत्वों से पाला पड़ता है, अतः उसमें ये सभी तत्व विकसित हो जाते हैं। घृणा-प्रेम के सन्दर्भ में व्यवहार मनोविज्ञान का यही निष्कर्ष है। इसके आगे उसके पास और कोई समाधान नहीं, किन्तु मानवी व्यवहार इतना सरल कहीं ? वह इतनी जटिलताओं से भरा हुआ है कि केवल परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में उसकी न तो व्याख्या हो सकती है, न हल हो सकता है, किन्तु यदि उसे हम क्रमशः व्यवहार जगत से विचार जगत, विचार जगत से भाव और संस्कार जगत तक ले जाएँ और चिन्तन करें कि ऐसा व्यवहार हुआ तो इसका कारण क्या है ? तो अंततः हम संस्कार जगत के उस मूल बिन्दु पर पहुँचेंगे, जहाँ आकर मानवी आचरण को एक परिभाषा, सर्वांगपूर्ण व्याख्या तथा सर्वांगपूर्ण समाधान मिल जाता है। जब व्यवहार का उद्गम ज्ञात हो जाय, तो आदतों को बदल पाना सरल हो जाता है।

वस्तुतः हम जो कुछ भीतर हैं, वही बाहर अभिव्यक्ति करते रहते हैं। हमारी संस्कार-चेतना शुद्ध अथवा मलिन जैसी होती है, आदतों के द्वारा, आचरण के द्वारा वह उन्हीं रूपों में प्रकट और प्रत्यक्ष होती रहती है। जो स्वभाव का निर्माण होता है। प्रकृति यदि हेय और निम्नस्तरीय है, तो इसके लिए भी अंतराल की वह भूमि ही जिम्मेदार है और वह यदि उच्चस्तरीय है, तो उसका भी निमित्त वही है। व्यक्तित्व का सारा ढाँचा उसी से निर्मित है, अतः व्यक्तित्व को बदलने के लिए उसे उत्कृष्ट बनाने के लिए हमें उसी संस्थान को परिमार्जित और परिष्कृत करना होगा। इसके लिए एकमात्र उपचार आध्यात्मिक ही है। जप, तप, व्रत, उपवास, ध्यान आदि

कुछ ऐसे साधन हैं, जिनका यदि नियमित अभ्यास किया जाता रहे, तो यह उस अपरिष्कृत आंतरिक भूमि पर सुनिश्चित असर डालते और गंदगी को आवृत्त करने की बजाय निकाल-बाहर करते हैं। आचरण संबंधी अस्वच्छता को दबाने की तुलना में मिटाना ही उत्तम होगा। रूपान्तरण और उदात्तीकरण का यही एकमात्र आधार है। व्यक्तित्व संपन्न इसी के द्वारा बना जा सकता है। अपनाया इसे ही जाना चाहिए।

शरीर का ही नहीं आत्मा का भी ध्यान रखें

मानव का निर्माण जड़ एवं चेतन दोनों के युग्म से हुआ है। जब तक शरीर में चेतना है, तब तक हमारी सभी इन्द्रियाँ क्रियाशील हैं और शरीर में हलचल है, लेकिन जिस क्षण चेतना या आत्मा शरीर से अलग हो जाती है। शरीर मिट्टी का ढेला मात्रा ही रहता है। कोई स्पन्दन, कोई क्रिया, कोई सार्थकता नहीं रह पाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर एवं आत्मा का संयोग जहाँ जीवात्मा में विराट् शक्ति का स्रोत है, वहीं आत्मा से रहित शरीर का कोई मूल्य नहीं। उल्टे वह भय का कारण बन जाता है और उसे हम घर से शीघ्र ही बाहर निकालते हैं, फिर जलाने का प्रबन्ध करते।

अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हम अपने शरीर के सुख-साधन जुटाने में खर्च करते हैं और इन्द्रियजन्य भोगों में मरते-खपते रहते हैं। लेकिन मृत्यु के समय तक भी हम अपनी वासनाओं, तृष्णाओं एवं लिप्साओं को तुष्ट नहीं कर पाते।

सन्तुष्ट आत्मा जिसके लिये हमने कभी नहीं सोचा, दीनवस्था में रोती-कलपती रहती है और असन्तुष्ट होकर शरीर से अलग होती है।

आत्मा परमात्मा का अंश है। जिन भोगों से शरीर को आनन्द मिलता है, उन्हीं से आत्मा को भी मिले, आवश्यक नहीं। जिस क्षण से हम इस दुनिया में आते हैं, उससे लेकर मृत्यु तक आत्मा हमारे शरीर में उपस्थित है। शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की क्षमता, विशेषता एवं क्रिया-कलाप के बारे में बहुत-सी बातें जानते हैं और अधिक जानने का प्रयास करते हैं। लेकिन अपने ही अन्दर छिपी आत्मा को जानने, पहचानने, समझने एवं विकसित करने की बात हम नहीं सोचते।

शरीर को पुष्ट बनाने के लिए हम व्यायाम, आहार और देख-भाल के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। यदि शरीर के किसी अंग में पीड़ा या कमी आये तो हम उसकी चिकित्सा करते हैं और उसकी शक्ति पुनः वापस आ जाय इसके लिए हम अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करते

हैं। यदि रोग मुक्त हो गये तो हमें प्रसन्नता होती है, इसके लिये परमात्मा को धन्यवाद देते हैं।

परन्तु अपने आत्मा की पीड़ा पर हम कभी ध्यान नहीं देते। वह रोती है, कलपती है। क्षत-विक्षत होकर तड़पती है। लेकिन उसका कभी हम ख्याल नहीं करते, क्योंकि शरीर को ही सब कुछ मान बैठे हैं। जब तक अपनी मूल आस्थाओं में हम हेर-फेर, परिष्कार नहीं करेंगे तब तक हमें सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जीवन के समग्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम शरीर एवं आत्मा दोनों के समन्वित विकास, परिष्कार एवं तुष्टि-पुष्टि का दृष्टिकोण बनावें। एक को ही सिर्फ विकसित करें और एक को उपेक्षित करें—ऐसा दृष्टिकोण अपनाने से सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। सिर्फ आत्मा का ही परिष्कार एवं विकास करें और शरीर को उपेक्षित करें इससे भी अपना कल्याण नहीं हो सकता। शरीर की उपेक्षा से आत्मा को पीड़ा होना सम्भव है। उसी प्रकार जब आत्मा को कष्ट पहुँचता है, तो मन दुःखी होकर शरीर को प्रभावित करता है।

शरीर की शक्ति सीमित है। लेकिन आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति इसे शक्ति का अकूत भण्डार बना देते हैं।

जिन्होंने अपनी आत्मा को दीन-हीन स्थिति में रखा है और उसकी प्रचण्ड शक्ति से परिचित नहीं हैं, वे मुर्दों जैसा जीवन जीने के लिए मजबूर होते हैं। वे शारीरिक सामर्थ्य रहते हुए भी बड़ी गयी-जुगरी स्थिति में रहते हैं और निराशा, चिन्ता एवं निरर्थक जीवन बिताते रहते हैं, जबकि अपाहिज, अपंग, क्षीणकाय, रुग्ण एवं दुर्बल व्यक्तियों ने भी अपने आत्मबल के द्वारा ऐसे कार्य सम्पादित किये हैं, जिनसे वे इतिहास में अमर हो गये हैं। सैकड़ों लोगों के लिए वे प्रेरणा के स्रोत बने हैं। उनकी गाथायें कितनों में आशा, विश्वास एवं प्रेरणा का संचार करती हैं।

विलक्षण, अद्भुत प्रेम का

रसायन शास्त्र

न्यूयार्क स्टेट साइकेट्रिक इन्स्टीट्यूट के संचालक डॉ. माइकेल आर. लैवाबिट ने 'दि केमिस्ट्री ऑफ लव' पुस्तक में बताया है कि भावनाओं में जड़ पदार्थों को भी चेतन कर देने की शक्ति है और प्रेम समस्त भावनाओं का मूल स्रोत है इसलिए यह कहना अत्युक्ति नहीं कि स्नेह-सद्भावनाएँ न केवल चेतन तत्व को ही प्रभावित करती हैं, वरन् जड़वत् समझे जाने वाले शरीर की रासायनिक-प्रक्रिया पर भी समान रूप से असर डालती हैं।

घृणा और ईर्ष्या के भाव उत्पन्न होने पर शरीर के अंग-अवयवों में एक विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया होने से व्यक्ति में निष्क्रियता, नीरसता और निजीवता जैसी स्थिति का आभास होने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति के शरीर से 'एम्फेटेमीन' नामक एक विशेष प्रकार का रसायन शरीर में संचित हो उठता है। यह "एम्फेटेमीन" कहाँ से आता है? इसका उद्गम स्रोत किस स्थान पर हो सकता है? एनटोमी के आधार पर इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। शरीर की सूक्ष्म रचना के पहलुओं पर ही विचार करना होगा।

शरीर विज्ञानी तो बस इतना भर जानते हैं कि मानवी मस्तिष्क में फिनाइल, ईथाइल, अमीन यानी पी. ई. ए. नाम का एक तरल पदार्थ बड़ी ही न्यूनमत मात्रा में मस्तिष्क के अन्तर्गत समाविष्ट रहता है, जिसकी रासायनिक संरचना 'ब्रेन एम्फेटेमीन' से मिलती-जुलती प्रतीत होती है। मनोविकारों से ग्रसित व्यक्ति के मूत्र में इस पी. ई. ए. एवं एम्फेटेमीन की उपस्थिति स्पष्टतः देखी जा सकती है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ के मनःशास्त्री डा. रिचार्ड विट के मतानुसार हिस्टीरोइड डिस्फोरिया एक ऐसा मनोरोग है जो व्यक्ति में ईर्ष्या-द्वेष और मनोमालिन्य के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है और रोगी के मूत्र परीक्षण में पी. ई. ए की मात्रा भी स्फुट दृष्टिगत होती है। चूहों तथा बन्दरों पर किये गये परीक्षणों से यह तथ्य सामने आया है कि उनमें स्नेह-सद्भाव, पारस्परिक प्रेम का वातावरण विनिर्मित करने पर ही उक्त प्रकार के रसायनों को दूर कर सकना संभव है। यद्यपि वैज्ञानिक बुद्धि ने व्यक्ति में प्रेम-भाव जागृति के लिए "मोनोमाइन ऑक्सीजन इन हीबीटर्स", जैसे कृत्रिम उपाय उपचारों को भी ढूँढ़-खोज में काफी उत्सुकता दिखाई है फिर भी उस स्तर की स्थायी सफलता पाने में अभी असफलता ही हाथ लगी है।

"न्यूयार्क स्टेट साइकेट्रिक इंस्टीट्यूट ऑफ डिप्रेशन इवेल्यूएशन सर्विस" के विशेषज्ञ तथा सुप्रसिद्ध मनःशास्त्री डोनाल्ड एफ. क्लेन ने 'हिस्टीरोइड डिस्फोरिया' नामक रोग की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति के मनोभावों में विद्यमान ईर्ष्या और घृणा रूपी राक्षस को ही बताया है और कहा है कि यही शरीर के स्वाभाविक विकास क्रम में गतिरोध उत्पन्न करते और विभिन्न प्रकार की आधि-व्याधियों का न्यौत बुलाते हैं। लगभग ऐसा ही मन्तव्य "माइण्ड एण्ड मैटर" के लेखक तथा मूर्धन्य मनःचिकित्सक जे. ए. मिलीगन का है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि दाम्पत्य जीवन में स्नेह-सौहार्द

का अभाव ही "हिस्टीरायड डिस्फोरिया" रोग का मूल कारण है।

चिकित्सक द्रव्य के अनुसार इस रोग में कदाचित ही कोई औषधि प्रभावी सिद्ध होती है। उनका कहना है कि इस रोग का उपचार औषधि में नहीं वरन् रोगी का भावनात्मक स्थिति में सन्निहित है। उसके अन्तर्गत से द्वेष-दुर्भावों को निकालकर उसके जगह सद्भावों का समावेश कर इस व्याधि का सफल उपचार किया जा सकना संभव है। आज बहुसंख्य व्यक्ति इसी व्याधि से पीड़ित बेचैन, उद्विग्न हैं। उनका उपचार दुःखों को बाँटकर प्यार द्वारा किया जा सकता है।

अचेतन का परिष्कार ही

परम लक्ष्य

शरीरगत भली-बुरी विशेषताओं के लिए अब मनःस्थिति को ही प्रधानतया उत्तरदायी ठहराया जाता है। भौतिक जीवन की सफलताओं के लिए भी उसी को आधारभूत माना जाता है। यही सामान्य दीखते हुए भी असामान्य निष्कर्ष है। पिछले दिनों परिस्थितियों एवं साधनों को मनुष्य की प्रगति अवगति का कारण माना जाता था। उत्थान-पतन का निमित्त दूसरों के सहकार एवं अपकार को समझा जाता था। कई बार शारीरिक स्थिति को ही सफलता-असफलता का श्रेयाधिकारी ठहराया जाता था। अब वैसी स्थिति नहीं रही। मनःशास्त्रियों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्तित्व के प्रायः सभी क्षेत्र मानसिक स्थिति से प्रभावित होते हैं अस्तु यदि किसी को अपनी गई-गुजरी स्थिति सुधारनी है और महत्वपूर्ण प्रगति करनी है तो मुरझाये पेड़ के पत्ते धोने की अपेक्षा उसकी जड़ में पानी लगाना चाहिए। अस्त-व्यस्त मनःस्थिति को सुव्यवस्थित बनाना चाहिए।

बुद्धि के केन्द्र चेतन मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के लिए स्कूल, कालेजों एवं अन्य ज्ञान-संस्थानों का प्रबन्ध है पर अब जाना यह गया है कि बुद्धिमत्ता से अधिक महत्वपूर्ण है-आदतें। आदतों के सही होने पर स्वल्प बुद्धि से भी व्यवस्थित रीति-नीति अपनाकर उन्नति के उच्चशिखर पर पहुँचा जा सकता है। इसके विपरीत तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति भी बुरी आदतों का शिकार बनकर समय और शक्तियों का अपव्यय करता है और घाटा उठाता तथा असफल रहता है। अब नई शोध का विषय है-अतीन्द्रिय विज्ञान। जिसे पाश्चात्य देशों में परा-मनोविज्ञान कहा जाता है। इन अनुसंधानों में ऐसी घटनाओं की प्रमाणिकता जाँची जाती है, जो प्रकृति के सामान्य घटनाक्रम एवं मनुष्य के साधारण साधनों से भिन्न

प्रकार की होती है। मानवी चेतना पर अवतरित होने वाली अद्भुत जानकारीयों का स्रोत कहाँ है ? वे किस आधार पर घटित होती है? वे अनायास ही व्यक्ति विशेष पर ही घटित होती हैं या प्रयत्नपूर्वक वैसी स्थिति पैदा की जा सकती है? यह ऐसे ही अनेक प्रश्नों की शृंखलाएँ सामने प्रस्तुत हैं, जिनके समाधान खोजने के लिए परा मनोविज्ञान क्षेत्र के अनुसंधानकर्ता प्रयत्नशील हैं।

इस प्रयास में अभी बहुत थोड़े ही निष्कर्ष निकल सके हैं। जो जानना बाकी है उसे देखते हुए सफलताओं को नगण्य ही कहा जा सकता है। फिर भी कुछ निष्कर्ष ऐसे हैं, जिनके आधार पर अतीन्द्रिय क्षमता के कारणों पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। यह माना गया है कि मस्तिष्क का अचेतन क्षेत्र शरीर संचालन की गति-विधियों का सूत्रधार तो है, पर उसकी सामर्थ्य उतने तक ही सीमित नहीं है। मन की दोनों परतों को जितनी मात्रा में विकसित होने का अवसर मिलता है, उतना ही वे व्यक्तित्व को अधिकाधिक प्रतिभासम्पन्न बनाती हैं और सफलताओं के नये-नये द्वार खोलती हैं। व्यक्तित्व के समग्र विकास में शरीरगत समर्थता की तुलना में मानसिक बलिष्ठता की भूमिका असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी होती है। मनोबल सम्पन्न मनुष्य दुर्बल और रुग्ण होते हुए भी अपनी प्रखरता बनाये रह सकता है और उसी स्थिति में ऐसा कुछ करता या कराता रह सकता है, जिसे आश्चर्यजनक एवं सराहनीय कहा जा सके। इसके विपरीत शरीर से बलिष्ठ एवं सुगठित होते हुए भी मनोबल की दृष्टि से गये-गुजरे लोग सुविधा-साधनों के रहते हुए भी गई-गुजरी स्थिति में दिन कटते, पग-पग पर असफल होते और उपहासास्पद बनते देखे जाते हैं। दैनिक जीवन की अधिकांश सफलताएँ प्रायः विकसित मनःस्थिति की ही प्रतिक्रिया होती हैं। आदतें और कुछ नहीं अन्तर्मन की वर्तमान दृढ़ता ही उनका निर्माण करती हैं। इसी को व्यक्तित्व कहते हैं। प्रगति और अवगति इसी पृष्ठभूमि पर निर्धारित रहती है।

कुछ समय पूर्व बीमारियों के कारण रोग-क्रीटाणुओं के आक्रमण संग्रहीत विजातीय द्रव्य एवं अमुक अवयवों की टूट-फूट आदि माने जाते थे और इन्हीं को निरस्त करने लिए चिकित्सकों द्वारा उपाय उपचार किये जाते थे। अब गहराई तक जाने पर यह निष्कर्ष निकला है कि यह कारण गौण और अचिन्त्य चिन्तन का मानसिक विकृतियाँ प्रधान कारण हैं। अब मनोविकारों को न केवल मस्तिष्कीय रोगों का वरन् शारीरिक रोगों का भी सर्वोपरि कारण माना जा रहा है। यह पाया गया है कि मनोबल सम्पन्न, साहसी और सन्तुलित व्यक्ति सामान्य अथवा घटिया शारीरिक स्थिति में निरोगों की तरह काम करता और

प्रसन्नचित रहता है। जबकि अस्त-व्यस्त मनःस्थिति वाला अकारण ही गिरी-मरी स्थिति में पड़ा रहता है। कितने ही दर्द एवं रोग ऐसे होते हैं, जिनकी जड़ शरीर में नहीं मन में होती है। शरीर की जाँच-पड़ताल करके डाक्टर कहता है, इसमें कोई रोग नहीं है, पर रोगी अपने को रुग्ण एवं पीड़ाग्रस्त अनुभव करता है। ऐसी बीमारियाँ विशुद्ध मानसिक रोग होने पर भी उतनी ही कष्टकारक होती हैं, जितनी कि वास्तविक रुग्णता।

आँखों की चमक, चेहरे का आकर्षण, होठों पर नाचती मुस्कराहट, वाणी में प्रभाव जैसे व्यक्तित्व को मनोरम बनाने वाली विशेषताएँ शारीरिक गठन पर नहीं मानसिक उत्साह पर निर्भर रहती हैं। रङ्गरूप की दृष्टि से सुन्दर दीखने वाले व्यक्ति भी मानसिक अस्त-व्यस्त होने पर उपेक्षणीय एवं उपहासास्पद बने रहते हैं। प्रथम दर्शन में जो आकर्षक प्रभाव उत्पन्न हुआ था, वह सम्पर्क में आने और व्यक्तित्व का परिचय मिलने के साथ ही समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत काले, कुरूप मनुष्य भी आंतरिक उत्साह के कारण बड़े तेजस्वी एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं, उनकी कल्पना, सूझ-बूझ, वाणी, आकांक्षा, स्फूर्ति, साहसिकता एवं उमङ्ग देखकर हर किसी को सम्पर्क में आने की इच्छा होती है। ऐसे लोगों के सान्निध्य में हर कोई प्रसन्नता अनुभव करता है। आरोग्य से लेकर आकर्षण तक शरीर की सभी विशेषताएँ मनोबल पर निर्भर रहती हैं। सक्रियता से लेकर सफलता तक का सारा क्षेत्र मनःस्थिति से ही प्रभावित पाया जाता है।

मनोबल भी यान्त्रिक विद्युत की तरह ही एक प्रभावशाली तत्व है। उसका प्रभाव मनुष्यों एवं दूसरे प्राणियों पर होते हुए आये दिन देखा जाता है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने सीमीपवर्ती लोगों को किस प्रकार अपना अनुचर बनाता है, उसका प्रमाण सर्वत्र उपलब्ध होता है। अन्य प्राणियों को प्रभावित करने में भी कुछ मनस्वी लोग असाधारण रूप से सफल होते हैं। सरकस में पशुओं के शिक्षक क्रूर प्रकृति के हिंस्र प्राणियों को भी दुलार-फटकार के सहारे प्रशिक्षित करते और उन्हें कठपुतली की तरह नचाते हुए देखे जाते हैं। महावत का कहना हाथी मानता है और मनस्वी घुड़सवार के पीठ पर पहुँचते ही अड़ियल घोड़ा भी सीधा हो जाता है। कितने ही लोग भिन्न प्रकृति के प्राणियों की जन्म-जात द्वेष बुद्धि को स्नेह सहयोग के बदल देते हैं। ऋषियों के अप्रमों में सिंह और गाय में साथ रहने की बात प्रसिद्ध है। अभी भी कहियों ने कुत्ते बिल्ली इस प्रकार पाले होते हैं। वे सहोदर भाई-बहिन की तरह रहते हैं। इटली का एक किसान अपनी मुर्गियों के फार्म की

रखवाली पालतू बिल्लियों से करता था। कुत्ते और मनुष्यों की मित्रता एवं बफ़ादारी के जो अनेक प्रसङ्ग सुने जाते हैं, उसमें पालने वालों का मानसिक प्रभाव ही प्रधान रूप से काम करता है। पूरे परिवार में किसी व्यक्ति विशेष के साथ अतिरिक्त लगाव रखने वाले पालतू पशु वस्तुतः किसी की मनःस्थिति में प्रभावित हुए होते हैं।

ज्ञान-सम्पदा का अपना महत्व है। बौद्धिक तीक्ष्णता के लाभ और चमत्कार सर्वविदित हैं, पर यदि आदतों का मूल्यांकन किया जा सके तो प्रतीत होगा कि उनका वजन मस्तिष्कीय तीक्ष्णता की सम्मिलित उपलब्धियों की तुलना में भी भारी पड़ता है। बुरी आदतें क्षति पहुँचाती हैं, उसकी भरपाई अन्य विशेषताओं में नहीं हो सकती। आलस्य को ही लें, वह देखने में छोटी-सी बुराई है पर उसकी प्रतिक्रिया हर काम को अधूरा अस्त-व्यस्त और अनकिया हुआ पड़ा रहने के रूप में सामने आती है। फलतः सुयोग्य और साधन-सम्पन्न व्यक्ति भी अपनी अकर्मण्यता के कारण पग-पग पर असफल होते रहते हैं। ऐसी बहुमूल्य प्रतिभाएँ जो बहुत कुछ कर गुजर सकती थीं और अपनी विशेषताओं के कारण चमत्कार उत्पन्न कर सकती थीं, वे आलस्य और प्रमाद की दल-दल में फँसे रहने के कारण अपङ्ग असमर्थों जैसी दयनीय स्थिति में पड़ी रहीं। इसके विपरीत कर्मनिष्ठ, श्रमशील नियमित और व्यवस्थित लोग स्वल्प बुद्धि एवं स्वल्प साधनों की सहायता से ही अभीष्ट प्रयोजनों में तत्परतापूर्वक लगे रहने के कारण उन्नति के उच्च शिखर तक जा पहुँचे। कटु स्वभाव, अधीरता, चटोरापन, नशेबाजी, फिजूलखर्ची, जैसी छोटी दीखने वाली आदतें धीरे-धीरे जितनी हानि पहुँचा देती हैं, उतनी भयङ्कर दुर्घटनाएँ एवं आकस्मिक विपत्तियाँ भी नहीं कर सकतीं। संसार के महामानव परिस्थितियोंवश यशस्वी नहीं हुए हैं और न साधन ही उन सफलताओं के कारण बने हैं। उस प्रखर मनस्विता ने ही उन्हें आगे बढ़ाया है, जो आदतों के रूप में चिन्तन तथा क्रिया-पद्धति को उच्चस्तरीय बनाये रही।

स्मरण रहे आदतों का सीधा सम्बन्ध अचेतन मन से है। उनका आरम्भ भले ही भले-बुरे चिन्तन से अथवा अनुकरण से होता है, पर जब वे जड़ें जमा लेती हैं, तो फिर उन्हें उखाड़ना कठिन हो जाता है। नशेबाजी के सम्बन्ध में प्रायः यही होता है। दुष्परिणामों को देखते, समझते हुए भी नशेबाज अपनी आदत के सामने एक प्रकार से विवश हो ही जाता है और छोड़ने की कल्पना-जल्पना करते रहने पर भी कुछ बन नहीं पड़ता। आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक एवं समाज सम्मान की अपार क्षति सहन करते हुए वह दम तोड़ देता है, पर उस आदत से पिण्ड छुड़ाने में अपने को

असमर्थ पाता है। यही बात अन्यान्य भली-बुरी आदतों के बारे में भी कही जा सकती है। हलक-फुलकी हो तो बात अलग है अन्यथा स्वभाव का अङ्ग बन जाने वाली गहरी जड़ें जमा लेने वाली आदतें व्यक्तित्व का अङ्ग बन जातीं और प्रगति अवगति का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध होती है।

आदतों का केन्द्र अचेतन मन है। उस क्षेत्र को यों सामान्य दृष्टि से उपेक्षित माना जाता है, पर वस्तुतः उसकी गरिमा बुद्धि-संस्थान से भी अधिक बढ़ी-चढ़ी है। विचार तो आदमी क्षणभर में बदल सकता है, पर स्वभाव को बनाना या बदलना उतना सरल नहीं है। चिन्तन का ढर्रा, इच्छाओं का रुझाना, विश्वासों का गठन, अभ्यास का पुनरावर्तन जैसे तत्व ही मिलकर स्वभाव का सृजन करते हैं और उसी को व्यक्तित्व के साथ में प्रसुटित होते देखते हैं। इस प्रकार अचेतन मन ही वस्तुतः सारे जीवन पर छाया हुआ मिलता है। आदतें तो अचेतन मन में रहती हैं, पर उन्हें पूरी करने के लिए योजना बनाना-व्यवस्था करना एवं समर्थन में तर्क गढ़ना प्रमाण ढूँढ़ना चेतन मन का काम है। समझने की सुविधा के लिए यह चेतन-अचेतन का विभाजन है वस्तुतः वह एक ही मनःतत्व की दुहरी क्रिया पद्धति है। एक ही व्यक्ति विद्वान और पहलवान, चित्रकार और साहित्यकार, वक्ता और नर्तक हो सकता है। देखने में यह क्रियाएँ एक-दूसरे से असंबद्ध लगती हैं, पर पेड़ में फूल और फल आने की तरह यह दुहरी-प्रक्रिया आसानी से चलती रह सकती है। मन वस्तुतः एक है। उसे स्थूल शरीर की सूक्ष्म संचालक शक्ति कह सकते हैं और समझने की सुविधा के लिए बिजली तथा मशीन के सहयोग से चलने वाली फैक्टरी का उदाहरण दे सकते हैं। शरीर को मशीन और मन को बिजली कहा जाए, तो यह उदाहरण ठीक ही होगा।

मन के दो भाग हैं एक अचेतन, दूसरा चेतन। अचेतन का काम आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष, पाचन-विसर्जन, रक्ताभिसरण, क्षुधा-पिपासा, निद्रा-जागृति जैसी व्यवस्थाएँ जुटाते रहना होता है। तरह-तरह की आदतें तथा आस्थाएँ भी उसी में जड़ जमाये बैठी रहती हैं और अविज्ञान रूप से जीवन-क्रम का परोक्ष संचालन करती रहती हैं। चेतन का काम इच्छा, ज्ञान और क्रिया का धारण तथा उनके सहारे आवश्यक व्यवस्थाएँ बनाते एवं जुटाते रहना होता है। अध्यात्म की भाषा में चेतन की बुद्धि और अचेतन को चित्त कहते हैं। इन्हीं दोनों के सहारे जड़ पदार्थों से बना पंचभौतिक शरीर चैतन्य सत्ता की तरह काम करता दीखता है।

यों शरीर यात्रा के लिए भी प्राणी चेतना को बहुत कुछ उपलब्धियाँ ब्रह्माण्ड चेतना से ही मिलती हैं किन्तु जब आत्मिक प्रगति की, चेतना के परिष्कृति एवं प्रखरता की बात आती है, तब तो उस ब्रह्माण्ड शक्ति सागर का, ब्रह्म सम्बन्ध का अधिक सघन सम्बन्ध चल पड़ता है। सामान्य शरीर यात्रा प्रकृति को स्वसंचालित विधि-व्यवस्था के सहारे ही चलती रहती है। उसके लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण, समाज सम्पर्क एवं स्कूली अध्ययन से काम चल जाता है, पर आत्मिक प्रगति की, चेतनात्मक प्रखरता की आवश्यकता अतिरिक्त रूप से साधना प्रयास करने पर ही सम्भव होती है। योगाभ्यास एवं तपश्चर्या की सारी विधि-व्यवस्था इसी प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुई है। कभी-कभी ऐसे अपवाद भी देखे जाते हैं कि बिना किसी साधना के चेतना का असाधारण विकास पाया गया है, पर वह अनायास दीखते हुए भी वस्तुतः पूर्व-जन्मों की संग्रहीत सम्पदा होती है। कुछ बालक जन्म से ही कुशाल बुद्धि होते हैं। कम आयु में भी उनकी प्रतिभा कई विषयों में वयस्कों जैसी विकसित होती है। कुछ बालक छोटी उम्र में गायक, वादक, वक्ता आदि विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। उन्हें कुछ विशेष प्रशिक्षण भी नहीं मिला होता है, पर लगता है अपने विषय में पारङ्गत हैं। यह उनके पूर्वजन्मों के संचित संस्कार होते हैं, जो अवसर पाते ही अपने आप उगते और बढ़ते मालूम होते हैं। वस्तुतः उनकी जड़ें पहले से ही विद्यमान होती हैं।

अचेतन का परिष्कार ही अध्यात्म भाषा में आत्मनिर्माण, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-बोध, आत्मोद्धार आदि नामों से पुकारा जाता है। सुसंस्कृत और अधःपतित मनुष्य में स्थूल दृष्टि से कोई बड़ा अन्तर नहीं होता। उनके शारीरिक अवयव एवं ज्ञान-कौशल आदि में बहुत कुछ समान रहते हुए भी प्रकृति में जमीन आसमान जितना अन्तर पाया जाता है। इन्हीं कारणों से उन्हें निन्दा-प्रशंसा का, सफलता-असफलता का भागी बनना पड़ता है।

अध्यात्म विज्ञान की यदि तात्त्विक समीक्षा की जाय तो प्रतीत होता होगा कि यह सारी प्रतिष्ठापना और घेराबन्दी अचेतन की पशु-प्रवृत्तियों के ऊँचा उठाकर मानवता की उच्चस्तरीय संस्कारित में बदलने के लिए ही खड़ी की गई है। तत्त्व दर्शन के आधार पर जिस दृष्टिकोण को आस्थाओं के रूप में हृदयङ्गम किये जाने पर जोर दिया गया है, वे अचेतन की दिशा धारा को परिष्कृत करने का उद्देश्य लेकर ही प्रतिष्ठापित की गई हैं।

आगत की झाँकी, अचेतन के झरोखे से

स्वप्न विद्या अध्यात्म विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग और मानव जीवन की एक अवस्था है, जिसका विकास-परिष्कार करके अचेतन मस्तिष्क के छिपी रहस्यमयी शक्तियों को जागृत किया और परोक्ष-जगत के रहस्यों को आसानी से समझा जा सकता है। इस तथ्य को उन घटनाक्रमों के माध्यम से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है, जिसमें भूत या भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास व्यक्तियों को स्वप्नों के द्वारा मिल जाता है। कभी-कभी तो भावी दुर्घटनाओं, प्राकृतिक आपदाओं का पूर्वाभास सामूहिक रूप से भी होता है। एक ही घटनाक्रम के दृश्य या प्रेरणा अनेक व्यक्तियों के अचेतन मस्तिष्क में स्वप्नावस्था में कौंध जाते हैं और उन्हें अपने जीवन रक्षा के लिए सचेत करते हैं। यह घटनायें बताती हैं कि चेतना के धरातल पर सभी मनुष्य एक-दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, तभी तो घटनाक्रम घटने के पूर्व ही उसके स्वरूप की, घटने के समय की जानकारी सामूहिक रूप से कइयों को स्वप्न में मिल जाती है। इस तरह की अनेक घटनाओं का वर्णन “द अनएक्स-प्लेड मिस्ट्रीज ऑफ माइंड स्पेश एण्ड टाइम” एवं “द एक्सपीरियन्सेज इन प्रोफेसीज” नामक पुस्तकों में विस्तारपूर्वक किया गया है।

ऐसी ही एक घटना वेल्स-इंग्लैण्ड के एक गाँव ‘एबरफेन’ की है, जहाँ लगातार पाँच दिनों की घनघोर वर्षा के कारण कोयले का एक विशाल पहाड़ अचानक धँस पड़ा और प्रबल वेग से बहने लगा। प्रवाह इतना तीव्र था कि गाँव का निकटवर्ती स्कूल उसमें देखते-देखते दब गया और उसमें उपस्थित डेढ़ सौ के करीब छात्र-छात्राएँ एवं शिक्षक सभी जीवित दफन हो गये। उन्हें निकलकर भागने तक का अवसर न मिला। इसके अतिरिक्त गाँव के आस-पास के अन्य घर भी उसमें दबकर नष्ट हो गये। कितने ही ग्रामवासी और उनके पशु इस आकस्मिक विपदा में फँसकर अपनी जान गँवा बैठे। खेतों में खड़ी फसल चौपट हो गयी। यह प्राकृतिक विपदा सन् १९६६ के अक्टूबर माह की २१ तारीख को सबेरे ९ बजकर १५ मिनट पर घटित हुई।

समीपवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को इस विभीषिका का पूर्वाभास बहुत पहले हो गया था। उसी स्कूल में पढ़ने वाली एक छात्रा एरिल जोन्स को घटना से दो दिन पूर्व ही स्वप्न में वह भयावह दृश्य दिख गया था। जोन्स ने अनुभव किया कि स्कूल अपने स्थान

पर है नहीं, उसकी जगह कोयले का एक बड़ा ढेर लगा हुआ है। उसने यह बात अपनी माँ से बतायी, पर उसके कथन को हँसी में टाल दिया गया। इसी प्रकार एक महिला ने स्वप्न में देखा कि एक काला पहाड़ बह रहा है, कुछ बच्चे चिल्लाते हुए दौड़ रहे हैं और कुछ उसकी चपेट में आकर अपनी जीवनलीला गँवा बैठे हैं। एक व्यक्ति को पूर्वाभास हुआ कि एक बच्चा टेलीफोन बुध की ओर भाग रहा है और कुछ अन्य लोग उसके पीछे दौड़ रहे हैं। सबके पीछे काले पानी का वेगवान प्रवाह गतिमान है। एक महिला ने यह दृश्य देखा कि उक्त स्कूल के कुछ विद्यार्थी अपनी स्कूली पोशाक में आसमान की ओर गमन कर रहे हैं, जबकि एक वृद्ध पुरुष को 'एबरफेन' शब्द स्वप्न में स्पष्ट और चमकदार अक्षरों में लिखा दिखाई पड़ा। इन सारी बातों का पता तब चला, जब समाचार पत्र वालों ने उक्त घटना से संबंधित पूर्वाभास का सर्वेक्षण किया। पाया गया कि एक महिला को दुर्घटना से दो सप्ताह पूर्व ही चीखते-चिल्लाते व काले पहाड़ के नीचे दबे हुए कुछ बच्चों का दृश्य स्वप्न में दिखा था। केण्ट निवासी एक युवक को पंद्रह दिन पूर्व इस घटना का पूर्वाभास हो गया था कि कोई दुर्घटना होने वाली है, जिसमें सैकड़ों लोग कालकवलित होंगे। इसी प्रकार वेल्स के एक अन्य स्कूल के अध्यापक अलेक्जेंडर वेन को घटना से संबंधित दृश्य कई दिनों तक लगातार दिखाई देते रहे। उसने इस आधार पर एक पेंटिंग भी बना ली थी। प्लायमथ की मनोविज्ञानी श्रीमती मिलडन को ध्यान की स्थिति में इस आपदा का आभास मिल गया था, जिसका उल्लेख उसने अपने पड़ोसियों से भी किया था। बाद में जब वही दृश्य टी. वी. पर दिखाया गया तो पड़ोसी हैरत में पड़ गये और कहने लगे कि यदि उन संकेतों को समझने का प्रयास किया गया होता तो निश्चय ही दुर्घटना से पूर्व लोगों को बचाया जा सकता था।

स्वप्नों के माध्यम से कई बार ऐसी षड्यंत्रकारी घटनाओं का भी पूर्वाभास हो जाता है, जिसमें अपने सगे संबंधियों या अन्यो द्वारा जान खतरे में पड़ने वाली होती है। ऐसा ही एक पूर्वबोध इंग्लैण्ड के 'मेरी ड्युडर' के शासनकाल के समय निकोलस विटन को हुआ था। उस समय निकोलस पेरिस में इंग्लैण्ड का राजदूत था। उसे एक दिन स्वप्न हुआ कि उसका भतीजा-टामस विट्टन स्वयं को एक ऐसे षड्यंत्र में फँसा रहा है, जिससे परिवार की प्रतिष्ठा को आघात पहुँच सकता है और उसका जीवन खतरे में पड़ सकता है। आरंभ में तो निकोलस ने कोई ध्यान न दिया, पर जब वही स्वप्न लगातार कई दिनों तक बराबर दिखता रहा, तो उसने

विशेष स्वप्न मानकर उसे गंभीरतापूर्वक लिया और इस आशय का एक पत्र महारानी को लिखकर यह निवेदन किया कि टामस को कुछ समय के लिए पेरिस से वापस बुलाकर उसे कारावास में रखा जाय। विषय की गंभीरता को समझते हुए ऐसा ही किया गया। उसे बंदी बना लिया गया। घटना इसके थोड़े दिनों के पश्चात् ही रानी के विरुद्ध चल रहे षड्यंत्र का पता चला, जिसमें टामस के कई साथियों को फाँसी की सजा दी गयी।

वस्तुतः इस तरह के पूर्वाभासपरक स्वप्न अचेतन की स्थिति में होते हैं, क्योंकि पूर्ण सचेतन स्थिति में मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्ध एक-दूसरे के समन्वय से काम करते हैं एवं एक की स्वतंत्रता पर दूसरे का अंकुश लगा रहता है। अतः कोई सार्थक दृश्य प्रस्तुत करने का उन्हें मौका नहीं मिलता, किन्तु जब व्यक्ति स्वप्न की अचेतन अवस्था में होता है तो दोनों के क्रियाकलाप स्वतंत्र होते हैं, फलतः यदा-कदा मन को भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की झलक झाँकी मिल जाती है। अपनी भावनाओं को परिष्कृत एवं चिन्तन-चरित्र को उदात्त बनाकर अचेतन मन का परिष्कार किया जा सके तो संभावित भविष्य की झलक-झाँकी प्राप्त कर सकना हर किसी के लिए संभव है।

अहन्ता के नागपाश से जीवन मुक्ति

आत्मा की आकांक्षाओं, मान्यताओं और भावनाओं को क्रियान्वित करने का भार मन को वहन करना पड़ता है। यह कार्यान्वयन की योजना बनाकर शरीर को देता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सहारे वह उन्हें चरितार्थ करता रहता है। यही है जीवनचर्या का सामान्य क्रिया-कलाप और विधि-विधान। प्रत्यक्ष कृत्य शरीर करता है इसलिए दोष अथवा श्रेय उसी को मिलता है पर यह भुला दिया जाता है कि शरीर जड़ पंच तत्वों का बना हुआ है। उसमें न सोचने की क्षमता है न करने की। रेल, मोटर साइकिल आदि यन्त्र वाहन अपनी मर्जी से भला-बुरा कुछ भी करने में असमर्थ रहते हैं। ड्राइवर ही उन्हें जहाँ-तहाँ घसीटे फिरते हैं। यही विधा जीवन क्रम में चरितार्थ होती है।

आत्मा का परिधान अन्तःकरण है। उससे चेतना प्रभावित है। समर्थ एवं परिष्कृत आत्माएँ साधना द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल लेती हैं फलतः व्यक्तित्व परिष्कृत स्तर का बनता है और मनुष्य कलेवर में देवत्व की आभा झलकती है। इनके विपरीत यदि तमोगुणी असुरता अन्तराल की गहराई तक चली जाय तो प्रवृत्ति एवं आकांक्षा अनुपयुक्त कामों में

२.१५६ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

रस लेती है और फिर तदनकूल प्रवृत्तियों का प्रवाह बहने लगता है।

आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों में वासना, तृष्णा और अहन्ता का असामान्य, उद्धत हो उठना, अनेकानेक दोष-दुर्गुणों का सृजन करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर यह छैः षड रिपु माने गये हैं। यही प्रमुख मनोविकार हैं। क्रियाओं से यही उभरते दीखते हैं, किन्तु वस्तुतः उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है उपरोक्त तीन दुष्प्रवृत्तियों का फलितार्थ ही उन्हें समझा जाना चाहिए।

अब अहन्ता पर विचार किया जाना चाहिए। यह अहंकार का दूसरा नाम है। व्यक्ति अपने को दूसरों की आँखों में वरिष्ठ प्रदर्शित करना चाहता है और उसके लिए अनेक तरह के संरंजाम जुटाता है। यों इसका सीधा सरल और सौम्य मार्ग है कि साधारण लोग गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से जीवन जीते हैं। षड ऋषुओं के चंगुल में बुरी तरह फँसे होते हैं। फलतः चिन्तन और चरित्र की दृष्टि से उनकी स्थिति नर-पशु नर-पामर या नर-पिशाच जैसी होती है। इन दुष्प्रवृत्तियों के श्रेय में कौन अग्रिणी रहा इसी की प्रतिस्पर्धा उनमें चलती रहती है। इसी हेय स्तर की सफलताओं को अपनी चतुरता, कुशलता एवं सफलता के नाम से दिखाते बखानते रहते हैं। औसत आदमी की अहन्ता इसी रूप में प्रकट होती है। दुष्ट, दुराचारी अपने अनीति कृत्यों को गौरव-गरिमा में सम्मिलित करते हैं और छल-प्रपंच की अनीति और आक्रमण की घटनाओं को अपनी विशिष्टता के रूप में देखते और दिखाते हैं।

यदि इस कुपन्थ को उलटकर सज्जनोचित शालीनता अपनाई जा सके तो वास्तविक प्रशंसा और प्रतिष्ठा का आधार बन जाती है। उतने भर से आत्म प्रतिष्ठा, आत्म गौरव एवं आत्मोत्कर्ष की स्थिति बन जाती है। लोगों का यह मिथ्या भ्रम है कि ओछे हथकण्डे अपनाकर येन-केन प्रकारेण अपनी महिमा का विज्ञापन किया जा सकता है और उससे लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करके अपने को वरिष्ठ सिद्ध किया जाता है। इस आधार पर प्रशंसा करने वाले दूसरे ही क्षण मुँह फेरते ही निन्दा करने में भी नहीं चूकते। सामने की चापलूसी और परदा हटते ही यथार्थता बखानने लगती है।

फैशन, सज-धज, अमीरों जैसे ठाट-बाट किसी दुर्बल पर आक्रमण, किसी सज्जन को ठगना, घर में विपुल सम्पदा जमा करना, चाटुकारों का मुँह मीठा करके अपनी प्रशंसा सुनना आदि करतूतें उद्धत अहन्ता वाले लोग करते रहते हैं और उसी में अपना ढेर सारा समय, श्रम, धन तथा चिन्तन गँवाते रहते हैं। इस आधार

पर जो प्रदर्शनात्मक प्रपंच खड़ा किया गया था। वह क्षणिक और अवास्तविक विडम्बना खड़ा करने के अतिरिक्त और किसी काम नहीं आता।

शृंगारिक वेश-विन्यास बनाने वाले, कीमती वस्त्र आभूषणों से लदने और तेल-फुनेन से मँहकने वाले लड़की-लड़के सोचते हैं कि वे जिस राह भी निकलेंगे उधर ही दर्शक उनकी कलाकरिता, सुन्दरता एवं सम्पन्नता को सराहेगें। पर होता उससे ठीक उलटा है। उनके चरित्र पर उँगली उठती है। दुराचार का आमन्त्रण देते फिरने वाला माना जाता है। फिजूल खर्च को अदूरदर्शी एवं बाल बुद्धि बचकना माना जाता है। शृंगारिकता हर किसी पर यही छाप छोड़ती है भले ही किसी अनुचित लाभ के लिए कोई मुँह सामने कुछ प्रशंसा के शब्द भले ही कह दे।

सादगी का सघन सम्बन्ध उच्चविचारों से है। गान्धी, ईसा, बुद्ध जैसों के परिधान सस्ते और स्वल्प थे। ऋषि और महापुरुष भी अपनी सज्जा औसत देश वासियों से अधिक मँहगी नहीं होने देते थे। यह शालीनता के परिधान हैं। इस प्रकार के आच्छादन से किसी की प्रतिष्ठा घटती नहीं वरन् बढ़ती है। मँहगे वस्त्र और मँहगे आभूषण धारण किये फिरने वालों को स्वांग नाटकों के प्रदर्शनकारी माना जाता है अथवा यह कहा जाता है कि पैसे को उपयुक्त कार्य में लगाकर सत्प्रवृत्तियों के समर्थन में लगाने की अपेक्षा मूर्खता द्वारा अपव्यय का कैसा कौतुक-कौतूहल किया जा रहा है। अहन्ता का सबसे घटिया प्रदर्शन साज-सज्जा की शृंगारिकता के रूप में ही होता है देखा जाता है।

समाज में फैली हुई बुराइयों में अपनी बुराई को बढ़-चढ़कर सिद्ध करने पर उस स्तर के लोग प्रशंसा करेंगे ही जेल में बन्द अपराधियों में से जो अपनी करतूतों का अधिक दिलचस्प या भयानक विवरण सुनाते हैं, उनकी बात सुनकर दूसरे लोग अवाक् तो रह जाते हैं, पर कभी अवसर पड़ने पर उनका साथ देने के लिए भूलकर भी तैयार नहीं होते। सोचते हैं ऐसे लोग किसी की भी हजामत बना सकते हैं। इनको कोई सगा सम्बन्धी नहीं होता। वो जिसके साथ मित्रता जोड़ते हैं पहले उसी को हलाल करते हैं।

दुष्कर्मों में दिखाई गई धूर्तता या निष्ठुरता किसी के लिए गौरव या प्रतिष्ठा की बात नहीं हो सकती। ऐसे लोगों पर दसों दिशाओं से घृणा और भर्त्सना बरसती है। रब्डी, भड्डा आपस में मीठी बातें करते हैं और आदान-प्रदान भी, किन्तु दोनों में से कोई किसी का मित्र नहीं होता। मौका पड़ने पर उन्हें मुँह मोड़ने में ही नहीं,

घात मारने में भी देर नहीं लगती है। दुर्जनों का संसार भर में न कोई प्रशंसक होता है और न सहयोगी। सज्जनता अपनाने वालों की मुँह आगे प्रशंसा भले ही न हो, भीतर से व्यक्ति उनके लिए श्रद्धा रखता है और साथ ही सहयोग की भावना भी। यह किसी प्रकार कम महत्व की उपलब्धियाँ नहीं हैं। महापुरुष सामान्य स्थिति में उँचा उठकर महान पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, इसमें सज्जनता के आधार पर उपलब्ध हुआ सम्मान और सहयोग ही प्रधान कारण होता है।

अपने मुँह मियाँ मिटतू बनने, शेखी बघारने को आत्मश्लाघा ग्रस्त मनोरोगी माना जाता है। सज्जनों का सुनिश्चित गुण है-नम्रता और विनयशीलता। उनकी सादगी देखते ही बनती है। महामना मालवीय जी को भारत सरकार ने “सर” की उपाधि दे रखी थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद “डाक्टरेट” स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया। पण्डित महासभा ने उन्हें पण्डित शिरोमणि की उपाधि दी थी। इन तीनों पदवियों को उन्ने अस्वीकृत कर दिया और कहा मेरे पिताजी ‘पण्डित’ की परम्परागत उपाधि दे गये हैं, उनका निर्वाह ही मुझे अत्यधिक भारी प्रतीत होता है फिर और उपाधियों से लदकर उन्हें वहन कर सकना मेरे लिए कैसे सम्भव होगा? यह नम्रता का एक उदाहरण है। इस कारण मालवीय जी की गरिमा घटी नहीं बढ़ी ही। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर जैसे सन्त अपना परिचय सामान्य लोगों की पंक्ति में ही खड़ा होकर देते रहे हैं। यदि उन्ने बड़प्पन को प्रशंसात्मक डींगें होंगी होती तो निश्चय रूप से वे विज्ञानों की दृष्टि में गये गुजरे समझे गये होते।

हम माया के बन्धन में कब तक

जकड़े रहेंगे

वेदान्त दर्शन संसार को माया बताया और संसार को स्वप्न कहता है, इसका अर्थ यह नहीं कि जो कुछ देखता है, उसका अस्तित्व ही नहीं अथवा जो सामने है वह झूठ है। वर्तमान स्वरूप एवं स्थिति में वे सत्य भी हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्म फल क्यों मिलते? पुण्य और तप तितीक्षा करने की क्या आवश्यकता होती? कर्तव्य और अकर्तव्य में क्या अन्तर होता? धर्मकृत्यों की क्या उपयोगिता रह जाती? और पापकर्मों से डरने, बचने की क्या आवश्यकता रहती?

माया का अर्थ वेदान्त ने इस अर्थ में किया है, जिसमें जो भाषित होता हो वह तत्त्वतः यथार्थ न हो। जगत को इसी स्थिति में-इसी स्तर का माना गया है। वह जैसा कुछ प्रतीत होता है, क्या वह वैसा ही है? इस

प्रश्न पर जब गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार में जो कुछ हम इन्द्रियों द्वारा देखते हैं, अनुभव करते हैं वह सब यथार्थ में वैसा ही नहीं होता। इन्द्रिय छिद्रों के माध्यम से मस्तिष्क को होने वाली अनुभूतियों का नाम ही जानकारी है। यह जानकारी तभी सत्य हो सकती है, जब वस्तुओं के यथार्थस्वरूप को सही रूप में इन्द्रियाँ समझ सकें। यदि वे धोखा खाने लगे तो मस्तिष्क गलत अनुभव करेगा और वस्तुस्थिति उलटी दिखाई पड़ने लगेगी।

नशा पी लेने पर मस्तिष्क और इन्द्रियों का संबंध लड़खड़ा जाता है, फलस्वरूप कुछ का कुछ अनुभव होता है। शराब के नशे में घुट व्यक्ति जैसा कुछ सोचता, समझता, देखता अनुभव करता है, वह यथार्थता से बहुत भिन्न होता है और भी ऊँचे नशे इस उन्मत्तता की स्थिति को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। डी. एल.स्केस. ए. सरीखे नवीन नशे तो इतने तीव्र हैं कि उनके सेवन के उपरान्त ऐसे विचित्र अनुभव मस्तिष्क को होते हैं जिनकी यथार्थता के साथ कोई संगति नहीं होती।

साधारणतया दैनिक जीवन में भी अधिक अनुभव से होते हैं, जिन्हें यथार्थ नहीं कहा जा सकता। सिनेमा के पर्दे पर जो दीखता है सही कहाँ है? एक के बाद एक आने वाली अलग-अलग तस्वीरें इतनी तेजी से घूमती हैं कि उस परिवर्तन को आँखें ठीक तरह समझ नहीं पाती और ऐसा भ्रम होता है मानो फिल्म में पात्र चल फिर रहे हैं। लाउडस्पीकर से शब्द अगल-अन्ध्र निकलते हैं और पर्दे पर तस्वीर के होठ अलग चलते हैं पर दर्शकों को ऐसा ही आभास होता रहता है मानो अभिनेताओं के मुख से ही वार्तालाप एवं संगीत निकल रहा है। प्रकाश की विरलता और सघनता भर पर्दे पर उतरती है पर उसी से पात्रों एवं दृश्यों का स्वरूप बन जाता है और मस्तिष्क या अनुभव करता है मानो यथार्थ ही वह घटनाक्रम घटित हो रहा है।

सिनेमा के दृश्य क्रम को देखकर आने वाला यह नहीं अनुभव करता कि उसे यांत्रिक जाल-जंजाल से ढाई-तीन घंटे उलझा रहना पड़ा है। उसे जो दुःखद, सुखद, रोचक, भयानक अनुभूतियाँ उतने समय होती रही हैं, वे सर्वथा भ्रान्त थीं। सिनेमा हाल में कोई घटनाक्रम नहीं घटा। कोई प्रभावोत्पादक परिस्थिति नहीं बनी, केवल प्रकाश यत्र या ध्वनि-यत्र अपने-अपने ढंग की कुछ हरकतें भी करते रहे। इतने भर से दर्शक अपने सामने अति महत्वपूर्ण घटना क्रम उपस्थित होने का आभास करता रहा, इतना ही नहीं उससे हर्षातिरेक एवं अश्रुपात

जैसी भाव भरा मनःस्थिति में भी बना रहा। इस इन्द्रिय भ्रम को माया कहा जाता है। मोटी दृष्टि से यह माया सत्य है। यदि सत्य न होती तो फिल्म उद्योग, सिनेमा हल, उसमें युक्त हुए यन्त्र, दर्शकों की भीड़ उनकी अनुभूति आदि का क्या महत्व रह जाता ? थोड़ी विवेचनात्मक गहराई से देखा जाय तो यह यन्त्रों की कुशलता और वस्तुस्थिति को समझ न सकने को नेत्र असमर्थता के आधार पर इस फिल्म दर्शन को मायाचार भी कह सकते हैं। दोनों ही तथ्य अपने-अपने ढंग से सही हैं। संसार चूँकि हमारे सामने खड़ा है, उसके घटनाक्रम को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए वह सही है किन्तु गहराई में प्रवेश करने पर वे दैनिक अनुभूतियाँ नितान्त भ्रमित सिद्ध होती हैं। ऐसी दशा में उन्हें भ्रम, स्वप्न या माया कहना भी अत्युक्ति नहीं है।

स्पष्ट है सभी दृश्य पदार्थ एक विशेष प्रकार के परमाणुओं का एक विशेष प्रकार का संयोग मात्र है। प्रत्येक परमाणु अत्यन्त तीव्र गति से गतिशील है। इस प्रकार हर पदार्थ अपनी मूलस्थिति में आश्चर्यजनक तीव्र गति से हरकत कर रहा है। पर खुली आँखें यह सब कुछ देख नहीं पाती और वस्तुएँ सामने जड़वत् स्थिर खड़ी मालूम पड़ती हैं। ऐसा ही अपनी पृथ्वी के बारे में भी होता है। भू-मण्डल अत्यन्त तीव्र गति से (१) अपनी घुरी पर (२) सूर्य की परिक्रमा के लिए अपनी कक्षा पर (३) सौर मंडल सहित महासूर्य की परिक्रमा के पथ पर (४) घूमता हुआ लट्टू जिस तरह उधर-उधर लहकता रहता है, उस तरह लहकते रहने के क्रम पर (५) ब्रह्माण्ड के फैलते-फूलते जाने की प्रक्रिया के कारण अपने यथार्थ आकाश स्थान को छोड़कर फलता स्थान पकड़ते जाने की व्यवस्था पर- निरन्तर एक साथ पाँच प्रकार की चालें चलती रहती हैं। इस उद्धत नृत्य को हम तनिक भी अनुभव नहीं करते और देखते हैं कि जन्म से लेकर मरण काल तक धरती अपने स्थान पर जड़वत् जहाँ की तहाँ पड़ी रही है। आँखों के द्वारा मस्तिष्क को इस संबंध में जो जानकारी दी जाती है और जैसी कुछ मान्यता आमतौर से बनी रहती है, उसका विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि हम भ्रम अज्ञान की स्थिति में पड़े रहते हैं और कुछ का कुछ अनुभव करते रहते हैं, यह मायाग्रस्त स्थिति कही जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

जल में सूर्य चन्द्र के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और लगता है कि पानी में वे प्रकाश पिण्ड जगमगा रहे हैं। हर लहर पर प्रतिबिम्ब पड़ने से हर लहर पर चन्द्रमा नाचता-धिरकता मालूम पड़ता है। रेल में बैठने वाले देखते हैं कि वे अपने स्थान पर स्थिर बैठे हैं केवल बाहर तार

के खंभे और पेड़ आदि भाग रहे हैं। क्या यह अनुभूतियाँ सत्य हैं?

रात्रि को स्वप्न देखते हैं। उस स्वप्नावस्था में दिखाई पड़ने वाला घटनाक्रम यथार्थ मालूम पड़ता है। देखते समय दुःख-सुख भी होता है। यदि यथार्थ में सन्देह होता तो कई बार मुख से कुछ शब्द निकल पड़ना, स्वप्नदोष आदि हो जाने की बात क्यों होती? जागने पर स्पष्ट हो जाता है कि जो सपना देखा गया था उसमें यथार्थ कुछ भी नहीं था। केवल कल्पनाओं की उड़ान को निद्रित मस्तिष्क ने यथार्थता अनुभव कर लिया। उतने समय की मूर्छित मनःस्थिति अपने को भ्रम-जंजाल में फँसाये रहकर वे सिर-पैर की उड़ानों में उड़ती रही।

अंधेरे में झाड़ी भूत जैसी लगती है, रस्सी का टुकड़ा साँप प्रतीत होता है, मरीचिकाएँ थल में जल का और जल में थल का भान करती हैं। यथार्थता से सर्वथा भिन्न अनुभूतियों का होना कोई अनहोनी बात नहीं है। आकाश में बहुत ऊँचे उड़ने वाले वायुयान छोटे पक्षी जैसे लगते हैं। पृथ्वी की अपेक्षा लाखों गुने बड़े और अपने सूर्य से हजारों गुने अधिक चमकदार तारागण नन्हे से दीपक की तरह टिमटिमाते दीखते हैं। क्या यह सारे दृश्य यथार्थ में वैसे ही हैं जैसे कि आँखें हमें अनुभव कराती हैं?

आँखों की तरह ही अन्य इन्द्रियों की बात है। वे एक सीमा तक ही वस्तुस्थिति का ज्ञान कराती हैं और जो बताती जताती हैं, उसमें से भी अधिकांश भ्रान्त होता है। बुखार आने पर गर्मी की ऋतु में शीत का और शीत में गर्मी का अनुभव होता है। मुँह का जायका खराब होने पर हर चीज कड़ई लगती है। जुकाम हो जाने पर चारों ओर बदबू का अनुभव होता है। पीलिया रोग होने पर आँखें पीली हो जाती हैं और हर चीज पीले रङ्ग की दिखाई पड़ती है। क्या यह अनुभूतियाँ सही होती हैं ?

जिस वस्तु का जैसा स्वाद प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य को जो नीम के पत्ते कड़ए लगते हैं, वे ऊँट को भी वैसे ही क्यों न लगते, वह उन्हें रुचिपूर्वक स्वादिष्ट पदार्थों की तरह क्यों खाता? खाद्य पदार्थों का स्वाद हर प्राणी की जिह्वा से निकलते रहने वाला अलग-अलग स्तर के रसों तथा मुख के ज्ञान-तन्तुओं की बनावट पर निर्भर होता है। भोजन मुँह में गया, वहाँ के रसों का संमिश्रण हुआ और उस मिलाप की जैसी कुछ प्रतिक्रिया मस्तिष्क पर हुई उसी का नाम स्वाद की अनुभूति है। खाद्य पदार्थ की वास्तविक रासायनिक स्थिति इस स्वाद अनुभूति से सर्वथा

भिन्न है। जो कुछ चखने पर अनुभव होता है वह यथार्थता नहीं है।

शरीर विज्ञानी जानते हैं कि काया का निर्माण अरबों-खरबों कोशिकाओं के सम्मिलन से हुआ है। उनमें से प्रतिक्षण लाखों मरती हैं और नई उपजती हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है और थोड़े ही दिनों में कुछ समय पूर्व वाली समस्त कोशिकाएँ मर जाती हैं और उनका स्थान नया ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह एक प्रकार से शरीर का बार-बार काया-कल्प होता रहता है। पुरानी वस्तु एक भी नहीं रहती उसका स्थान नये जीव कोष ग्रहण कर लेते हैं। देह के भीतर एक प्रकार श्मशान जलता रहता है और दूसरी ओर प्रसूति गृह में प्रजनन की धूम मची रहती है। इतनी बड़ी हलचल का हमें तनिक भी बोध नहीं होता और लगता है देह जैसी की तैसी रहती है। जिन इन्द्रियों के सहारे हम अपना काम चलाते हैं, उनमें इतना भी दम नहीं होता कि बाहरी वस्तुस्थिति बनाना तो दूर अपने भीतर की इतनी महत्वपूर्ण हलचलों का तो आभास दे सकें। ऐसी इन्द्रियों के आधार पर यथार्थ जानकारी का दावा कैसे किया जाय? जिस मस्तिष्क को अपने कार्य क्षेत्र-शरीर के भीतर होने वाले रोगों में क्या स्थिति बनी हुई है, इतना तक ज्ञान नहीं है और घर की बात को बाहर वालों से पूछना पड़ता है। वैद्य-डाक्टरों का दरवाजा खट-खटाना पड़ता है, उस मस्तिष्क पर यह भरोसा कैसे किया जाय कि वह इस ज्ञान को वस्तुस्थिति में हमें सही रूप में अवगत करा देगा।

ज्ञान जीवन का प्राण है। पर वह होना यथार्थ स्तर का चाहिए। यदि कुछ का कुछ समझा जाय उल्टा देखा और जाना जाय। भ्रम और विपर्यय हमारी जानकारी का आधार बन जाय तो समझना चाहिए वह ज्ञान प्रतीत होने वाली चेतना वस्तुतः अज्ञान ही है। उसमें जकड़े रहने पर हमें विविध-विधि त्रास ही उठाने पड़ेंगे, पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ेंगी। इसी स्थिति को माया कहते हैं। माया कोई बाहरी संकट नहीं मात्र भीतरी भ्रान्ति भरी मनःस्थिति ही है, यदि उसे सुधार लिया जाय, तो समझना चाहिए माया के बन्धनों से मुक्ति मिल गई। यह मुक्ति वस्तुतः हर किसी के करतलगत है।

माया अथवा भ्रम का निमित्त

अपरिष्कृत मनःचेतना

अमेरिका के कुछ वैज्ञानिकों ने एक परीक्षण के लिए किसी व्यक्ति को आपरेशन टेबल पर लिटाया और उसे कुछ मिनटों के लिए सम्मोहित कर सुला दिया,

जब वह सम्मोहन अवस्था में सो रहा था तो उसके गले पर एक छुरी चुभाई गई। उससे खून की एक बूँद छलक पड़ी। इसके बाद ही वैज्ञानिकों ने उसकी सम्मोहन निद्रा तोड़ दी और जगा दिया। यह सारा प्रयोग कुछ ही मिनटों में हो गया था और जितने समय तक वह व्यक्ति सोया वह तो कुछ ही सैकण्ड थे। उन कुछ ही सैकण्डों में उस व्यक्ति ने एक लम्बा सपना देख लिया था।

डा. रोशे ने उस स्वप्न का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन कुछ ही सैकण्डों में उस व्यक्ति ने एक आदमी की हत्या कर दी थी। वह महीनों तक लुकता-छुपता रहा था। अंततः पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उस पर हत्या का मुकदमा चला-मुकदमे का फैसला होने में दो ढाई साल लगे-जज ने उसे मृत्यु दण्ड की सजा सुनाई और उसे जब फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया तभी उसी क्षण नींद खुल गयी।

वैज्ञानिकों का कहना था कि इस प्रयोग में वह व्यक्ति पाँच-सात सैकण्ड ही सोया था और इस अवधि में उसके लिए वर्षों का घटना क्रम गुजर गया। यह प्रयोग आइंस्टीन के समय सिद्धान्त की सत्यता जाँचने के लिए किया जा रहा था। जिसके अनुसार समय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। दो घटनाओं के बीच की दूरी मात्र है जो कुछ भी हो सकती है, परन्तु मनुष्य को अपने ज्ञान व अनुभूति के आधार पर ही लम्बी अथवा छोटी लगती है।

तो क्या सचमुच समय कुछ भी नहीं है? सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक २४ घण्टे होते हैं। इन चौबीस घण्टों में हम कितने ही काम करते हैं। घड़ी अपनी चाल से चलती है, सूर्य अपनी गति से क्षितिज के इस पार से उस पार तक पहुँचता है। सब कुछ तो स्पष्टतः प्रतीत होता है परन्तु आइंस्टीन के अनुसार यह सब एक भ्रम मात्र है फिर तो सारा संसार ही भ्रम मात्र हो जायेगा।

वस्तुतः सारा संसार ही एक भ्रम है। वेदान्त दर्शन के अनुसार सारा जगत ही मायामय है। माया अर्थात् जो नहीं होने पर भी होता दिखाई दे। जिसका अस्तित्व नहीं है परन्तु भासित होता है। शंकराचार्य ने इस माया की परिभाषा करते हुए कहा है—“माया यथा जगत्सर्वमिदं प्रसूयते” अर्थात्-वही माया है जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है।

आइंस्टीन से पहले इन्द्रिय बुद्धि द्वारा होने वाले अनुभवों और प्रत्यक्ष जगत् को ही सत्य समझा जाता था। इसके पूर्व के वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि आप दौड़ रहे हों अथवा बैठे हों, जाग रहे हों या सोये हुए हों,

समय अपनी सीधी बैची रफ्तार से बराबर आगे बढ़ता है। परन्तु आइन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त ने इस मान्यता को छिन्न-भिन्न कर दिया है और यह सिद्ध हो गया है कि समय कुछ घटनाओं का जोड़ भर है। यदि घटनायें न हों तो समय का कोई अस्तित्व नहीं होता और घटनायें भी दृष्टा की अनुपस्थिति में अस्तित्व हीन होती हैं।

इस बात को कतिपय उदाहरणों द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। समय को मापने का सबसे बड़ा माप दण्ड घड़ी है। घड़ी में सेकण्ड का काँटा १२ से चलकर १२ तक पहुँचने पर, एक मिनट होता है, मिनट का काँटा इतनी दूरी तय कर लेता है तो मान लिया जाता है कि एक घण्टा हो गया और घण्टे का काँटा इतनी दूरी तय कर लेने पर आधा दिन आधी रात बता देता है अर्थात् १२ से १२ तक दूसरी बार पहुँचने पर २४ घण्टे या दिन पूरा हुआ मान लिया जाता है। आइन्स्टीन का कहना था कि घड़ी के काँटे की गति बढ़ा दी जाय तो यही २४ घंटे ३६ घण्टे में भी बदल सकते हैं और कम कर दी जाय तो २० या उससे भी कम, चाहे जितने हो सकते हैं। अर्थात् यह बात बेमानी है कि दिन २४ घण्टे का होता है अथवा उससे कम ज्यादा का।

इसी अनुसार घड़ी का यह समय विभाजन पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक परिक्रमा पूरी कर लेने वाली घटना को आँकने के लिये किया गया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पृथ्वी एक बार सूर्य की परिक्रमा कर लेती है तो २४ घंटे हो जाते हैं। लेकिन चन्द्रमा सूर्य की परिक्रमा करने में इससे भी अधिक समय लगाता है, मंगल उससे भी अधिक और शुक्र उससे भी अधिक तो पृथ्वी के २४ घण्टों में चन्द्रमा, मंगल या शुक्र का एक दिन नहीं होता है। वहाँ इससे अधिक समय में दिन-रात होता है। अर्थात् वहाँ के लिए दूसरे समय मापदण्ड निर्धारित करने पड़ेंगे।

आइन्स्टीन के अनुसार समय इसी प्रकार घटनाओं पर निर्भर करता है। सोये हुए व्यक्ति के लिए बाहरी जगत में भले ही पाँच मिनट का समय व्यतीत हुआ हो परन्तु वह जो स्वप्न देख रहा होता है, उसमें उन पाँच मिनटों के भीतर वर्षों की घटनायें घटित हो जाती हैं तो उसके लिए पाँच मिनट बीत गये यह कहना सही होगा अथवा यह कहना सही होगा कि वर्षों बीत गये।

यह व्यक्ति के अपने बोध (परसिप्शन) पर निर्भर करता है कि समय कितनी तेजी से अथवा धीमी गति से बीत रहा है। घटनाओं के अतिरिक्त समय का

अस्तित्व दृष्टा के बोध पर भी आधारित है। कई बार लगता है कि समय बिताये नहीं बीतता। दूर स्थान से अपने किसी अति आत्मीय स्वजन का दुःखद समाचार आया हो और वहाँ पहुँचना हो तो गाड़ी आने में दस मिनट की देरी भी घण्टों-सी लगती है क्योंकि व्यक्ति उस समय तनावग्रस्त, उद्विग्न मनःस्थिति में रहता है लेकिन किसी सुखद समारोह में भाग लेते समय, विवाह शादी के अवसर पर यह पता भी नहीं चलता कि समय कब बीत गया? उस समय व्यक्ति की बोध शक्ति, चेतना पूरी तरह तन्मय हो जाती और समय भागता-सा प्रतीत होता है।

इसके अनुसार एक मच्छर का कुछ घण्टों का जीवन भी उसके अपने लिए मनुष्य की पूरी आयु ७०-८० वर्षों के बराबर होता है। इतनी अवधि में ही वह बच्चा, जवान, बुढ़ा, सब कुछ हो जाता है और हमारे अनुसार थोड़े-से घण्टों तथा उसके अपने अनुसार सत्तर-अस्सी वर्ष की आयु पूरी कर मर भी जाता है। इसका कारण प्रत्येक जीव-जन्तु की अलग-अलग बोध शक्ति है और उसी के अनुसार समय सिमटता या फैलता है।

घटनाओं और बोधशक्ति के अतिरिक्त सापेक्षतावाद के अनुसार समय की चाल गति पर भी निर्भर करती है। आइन्स्टीन ने सन् १९०४-५ में सापेक्षता का यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि गति का न केवल समय पर वरन् जगह पर भी प्रभाव पड़ता है। उनके अनुसार गति जितनी बढ़ेगी समय की चाल भी उतनी ही घटती जायेगी। उदाहरण के लिए एक अन्तरिक्ष यान प्रकाश की गति के अर्थात् एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकण्ड की गति से चलता हो, तो उसमें बैठे व्यक्ति के लिए समय की चाल एक बड़ा सत्तर हजार हो जायेगी। अर्थात् प्रकाश की गति से चलने वाले यान में बैठकर कोई व्यक्ति नौ प्रकाश वर्ष (नौ वर्ष में प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से जितनी दूरी तय कर सकता है) दूर स्थित किसी तारे पर जावे और वहाँ से तुरन्त लौट पड़े तो इस यात्रा में अठारह वर्ष लगेगे। लेकिन उस यान में बैठे व्यक्ति के लिए यह समय अठारह वर्ष का सत्तर हजारवाँ भाग अर्थात् सवा दो घण्टे ही होगा।

ऐसा भी नहीं है कि पृथ्वी पर भी सवा दो घण्टे ही बीतेंगे। पृथ्वी पर तो वही अठारह वर्ष ही व्यतीत होंगे। उस व्यक्ति के सगे-सम्बन्धी भी अठारह वर्ष बूढ़े हो चुकेंगे। जिन बच्चों को वह १२-१३ वर्ष का छोड़ गया होगा वे ३०-३१ वर्ष के हो चुकेंगे। उसकी पत्नी

जो उससे २ वर्ष छोटी ३५ वर्ष की रही होगी वह बूढ़ी हो चुकेगी। किन्तु वह व्यक्ति जिस आयु और जिस स्थिति में गया होगा उसी आयु तथा उसी स्वास्थ्य का रहेगा। यानी उसकी आयु सवा दो घण्टे ही बीती होगी। यह भी कहा जा सकता है कि वह अपनी पत्नी से आयु में सोलह वर्ष छोटा हो जायेगा।

यह बात पढ़ने-सुनने में अनहोनी लगती है कि कोई व्यक्ति १८ वर्ष बाहर रहकर आये और जब लौटे तो ऐसे मानो कुछ घण्टे ही बाहर रहा हो। उसके चेहरे और शक्ल में भी कोई परिवर्तन न आये। उसे देखकर कोई यह भी न कह पाये कि इस बीच वह १८ वर्ष और बड़ा हो चुका है। लेकिन आइन्स्टीन ने प्रमाणों और प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है। सापेक्षता के इस सिद्धान्त को 'क्लाक पैराडाक्स' (समय का विरोधाभास) कहा गया है।

यद्यपि अभी कोई ऐसा यान बन नहीं सका है, जिसके द्वारा की गयी यात्रा से इस सिद्धान्त की सचाई को अनुभूत किया जा सके। परन्तु समय विरोधाभास के जो समीकरण आइन्स्टीन ने दिये उनके अनुसार अमेरिका के भौतिक शास्त्री जोजफ हागले और खगोलशास्त्री रिचर्ड किटिंग ने १९७१ में दो बार प्रयोग किये। उन्होंने अपने साथ चार परमाणु घड़ियाँ लीं। स्मरणीय है परमाणु घड़ी सेकण्ड के खरबवें हिस्से तक का समय सही-सही बता देती है। इन घड़ियों को लेकर उन्होंने सर्वाधिक तीव्र गति से उड़ने वाले यान द्वारा पृथ्वी की दो बार परिक्रमा लगायी। हाफले और किटिंग ने भूल-चूक से बचने के लिए हर तरह की सावधान बरती थी। प्रयोग पूरा करने के बाद उन्होंने पाया कि तीव्र गति के कारण परमाणु घड़ियों ने अन्तर बता दिया। वैज्ञानिकों ने घोषित किया कि आइन्स्टीन का क्लॉक पैराडाक्स सिद्धान्त सही था।

इस सिद्धान्त के अलावा घटनाओं और बोध पर निर्भर समय गति का सिद्धान्त तो पहले ही सिद्ध हो चुका है। सापेक्षता के ये समस्त सिद्धान्त वेदान्त की मूल मान्यताओं का समर्थन करते हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार यह विश्व और कुछ नहीं घटनाओं का जोड़ मात्र तथा घटनायें व्यक्ति की बोध, शक्ति, संकल्प चेतना का ही प्रतिफल हैं। विराट् ब्रह्म के संकल्प से, उसकी उपस्थिति मात्र से यह मायामय संसार उत्पन्न हुआ। मनुष्य यदि चाहे तो वह इस माया से मुक्त हो सकता है और सत्य का दर्शन कर सकता है। बशर्ते कि हम पहले से बनी बनायी घटनाओं को वस्तु जगत पर थोपना बन्द कर दें। तत्त्वदर्शियों ने इसी को साक्षी भाव की सिद्धि कहा है।

अन्तिम सिद्धान्त समय 'विरोधाभास' के अनुसार मायावाद की ओर पुष्टि हो जाती है, जिसमें व्यक्ति को असंग भाव के कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है। उस स्थिति को प्राप्त हुए बिना अन्तिम सत्य का पता लगाया ही नहीं जा सकता क्योंकि समय का बोध (आब्जेक्टिव टाइम) निरन्तर भ्रमित स्थिति बनाये रखता है। जैसे पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है परन्तु दिखाई यह देता है कि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है। चलती हुई रेलगाड़ी में से दूर तक देखने पर पेड़, वृक्ष टीले और पृथ्वी ही दौड़ती दिखाई देती है। उसी प्रकार सीमाबद्ध, अस्तित्व में ये सारी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

इन सब घटनाओं का साक्षी रहने वाला मायामुक्त अस्तित्व पहचाना जा सके तो वस्तुस्थिति का ज्ञान सहज ही हो सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मायामुक्त हो जाने से व्यक्ति अकर्मण्य, निष्क्रिय होकर बैठ जायेगा। सत्य की प्राप्ति कभी किसी क्षेत्र में अनर्थ नहीं करती। सत्य का ढोंग ही अनर्थ करता है। जब यह अनुभव हो जायेगा कि वस्तुतः तो यह सभी संसार एक क्रीडांगन है जहाँ एक ही चेतन सत्ता खेल रही है। यह जगत् अभिनयमय है, जहाँ प्रत्येक जीवात्मा को अपनी योग्यता प्रमाणित करने के लिए भेजा गया है तो अधिक प्रखरता से कर्म साधना हो सकेगी। प्राचीनकाल में ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से, साधना उपासना से इस भ्रम-जाल, मायामय संसार के सत्य को पहचाना था। विज्ञान भी अब उसी बिन्दु की ओर पहुँच रहा है। इसमें कोई संशय नहीं है कि सत्य को प्राप्त करने के लिए सच्ची लगन और जिज्ञासा से किसी भी क्षेत्र में प्रयास किया जाय अन्ततः पहुँचना एक ही बिन्दु पर होता है।

चित्तवृत्तियाँ सधें तो क्षमताएँ जगें

जो कुछ प्रत्यक्ष दिखा देता है, वही कम विलक्षण नहीं है। प्रत्यक्ष चेतन मस्तिष्क की उपलब्धियाँ ही चमत्कारी होती हैं। विद्वान, लेखक, वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक, व्यवसायी, कुशल राजनेता और सफल उद्योगपति अपने कुशल मस्तिष्क के आधार पर ही सफलता प्राप्त करते हैं। अपनी मस्तिष्कीय प्रतिभा से वह स्वयं का और दूसरों का कितना हित साधन करते हैं? यह किसी से छिपा नहीं है। इस प्रत्यक्ष और चेतन मस्तिष्क से भी अधिक रहस्यपूर्ण अचेतन मस्तिष्क है। अभी मनोविज्ञानी इस मस्तिष्क के क्रियाकलापों का केवल सात प्रतिशत भाग ही जान पाए हैं। शेष तो अज्ञात ही पड़ा है और जितना कुछ जाना जा सका है, वही इतना विलक्षण तथा रहस्यपूर्ण है, उसके आधार पर मानव को

२.१६२ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

अतिमानव और उसे विलक्षण शक्तियों से सम्पन्न करने की बात सोची जा रही है।

मनःशास्त्रियों के अनुसार चेतन की अपेक्षा अचेतन ही बहुत अधिक बलवान और समर्थ है। शरीर यात्रा की स्वसंचालित गतिविधियों के संचालन, नियंत्रण तथा परिवर्तन इस अचेतन मस्तिष्क द्वारा ही होता है। मनुष्य की अभिरुचि, प्रवृत्ति और आदत बहुत कुछ इसी अचेतन मस्तिष्क में जड़ें जमाये बैठी रहती हैं। मोटे तौर पर अभी इतना ही कुछ जाना समझा जा सका है। पर अब इस संबंध में मैटाफिजिक्स, परामनोविज्ञान, अतीन्द्रिय विज्ञान आदि कितने ही विज्ञान की धाराएँ आरम्भ हुई हैं और इन धाराओं में अचेतन मस्तिष्क के बारे में खोजबीन शुरू की है, उनसे निष्कर्षतः यह पाया गया है कि यह संसार का सबसे अधिक रहस्यमय, अद्भुत और शक्तिशाली यंत्र है।

इस दिशा में होती जा रही नई-नई खोजों के आधार पर यह कहा जा रहा है कि चेतन मस्तिष्क को शिथिल करके इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति को यदि अचेतन का विकास करने में लगाया जा सके तो व्यक्ति अपने शरीर और व्यक्तित्व में कायाकल्प जैसा परिवर्तन कर सकता है, वह अति दीर्घजीवी हो सकता है, अदृश्य जगत का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसमें चल रही हलचलों को मंद, शिथिल एवं परिवर्तित कर सकता है। इन संभावनाओं को भारतीय ऋषि-महर्षि न जाने कब से योग साधना द्वारा प्रत्यक्ष करते रहे हैं और उन्हें प्रत्यक्ष तथा प्रमाणित करने की अब भी पूरी गुँजाइश है, क्योंकि वह एक विज्ञान है जो प्रकृति के रहस्यों को अपने ढंग से सुलझाने में सुनिश्चित निष्कर्ष तक काफी समय पहले पहुँच चुका है। इन नियमों के अनुसार कोई व्यक्ति यदि अभी भी प्रयत्न करे तो उन नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर अभी भी इन संभावनाओं को साकार किया जा सकता है।

योग विज्ञान का मूल सिद्धान्त चितवृत्तियों का निरोध है। अर्थात् मस्तिष्क की आत्यंतिक सक्रियता को नियंत्रित करके उसकी चेतना शक्ति के अपव्यय को बचा लेना और उस बचे हुए अचेतन प्राण-प्रवाह को अचेतन के विकास में नियोजित कर देना। निस्संदेह यह एक पूर्ण विज्ञान सम्मत प्रक्रिया है और इसके लाभ अलौकिक उपलब्धियों के रूप में देखे जा सकते हैं। समाधि की स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति जब चितवृत्तियों को पूरी तरह चेतना में लय कर देता है, इस स्थिति में त्रिकलदर्शी और विश्व की जड़ चेतन सत्ता को प्रभावित

करने में समर्थ बन सकता है, इसमें न तो कोई आश्चर्य जैसी बात है और न ही यह कोई असंभव कल्पना है।

मनुष्य ऐसी कई अद्भुत क्षमताओं से वंचित है, जो विश्व के अगणित जीव-जंतुओं को प्राप्त हैं, इसका एक ही कारण है कि मनुष्य का केन्द्रीय स्नायु-संस्थान अतिशय सक्रिय है। इस अतिशय सक्रियता के कारण मानवी चेतन ऊष्मा अचेतन को दबा देती है और उससे शरीर-संचालन तथा अन्य मस्तिष्कीय गतिविधियाँ पूरी हो जाती हैं। वह ऊष्मा जो अचेतन को सक्रिय कर उससे अलौकिक और अद्भुत प्रयोजन पूरे करा सकती थी। एक प्रकार से कुंठित ही पड़ी रहती है। मनुष्य की अधिकांश शक्तियाँ चेतन मस्तिष्क को ही सार्यक रखने में खप जाती हैं इसलिये वह उन अलौकिक क्षमताओं से वंचित रह जाता है, जो अन्यान्य जीव-जंतुओं को प्राप्त रहती हैं। स्पष्ट है कि जीव-जंतु बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े रहते हैं उनका चिन्तन और चेतन शिथिल रहता है। इसका लाभ उनके अचेतन को मिलता है और वे योगियों जैसे कितने ही अद्भुत कार्य कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए कुत्तों की घ्राण शक्ति इतनी सूक्ष्म होती है कि वे व्यक्तियों के शरीर की गंध पहचान लेते हैं। उसी गंध के आधार पर भीड़-भाड़ में भी अपने मालिक को पहचान लेते हैं। दोषी और अपराधियों को पकड़वाने में प्रशिक्षित कुत्ते अपनी घ्राण शक्ति के कारण ही सफल होते हैं। जिस आधार पर वे चोरी का, चोरों का या अपराधी का पता लगाते हैं, वह उनके अधिक विकसित अचेतन मस्तिष्क से संबंधित घ्राण शक्ति ही होती है। चमगादड़ के ज्ञान-तंतु राडार क्षमता से सम्पन्न होते हैं, इस क्षमता के आधार पर वे विभिन्न वस्तुओं से निकलने वाली रेडियो तरंगों को भली भाँति पहचान लेते हैं और घोर अंधकार में अपने आस-पास की वस्तुओं का स्वरूप एवं स्थान समझकर बिना किसी से टकराये उड़ते रह सकते हैं। समुद्री मछली टारिस्कन अपने शरीरों से एक प्रकार की रेडियो तरंगें निकलती है। पानी के भीतर ही वे दूर तक फैलती हैं और इस क्षेत्र के जीव-जंतुओं से टकराकर उसी के पास वापस लौट जाती हैं। उनका अचेतन मस्तिष्क क्षण भर में यह जान लेता है कि कौन जीव, किस आकृति का, कितना दूर है? उसी आधार पर वह अपने बचाव तथा आक्रमण की योजनाबद्ध तैयारी करती है।

जीव विज्ञानियों की मान्यता है कि कई जीव-जंतुओं के अचेतन मन ने अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार अपने शरीर में ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न करली हैं, जो आरम्भ में नहीं थीं। मेढक की आँखें

पहले वैसी नहीं थीं। जैसी अब हैं। उनसे बहुत बाद में जल में प्रवेश करने पर गोताखोरों की तरह आँखों पर चढ़ाया जा सकने वाला विशेष प्रकार के चश्मे जैसा, आवरण विकसित किया है। रावन प्लांट और ग्रेट मूलर पौधों ने पशुओं द्वारा चरे जाने से अपनी रक्षा के लिये नोकदार काँटे विकसित किये हैं। तितलियों के बच्चे और रेशम के कीड़े अपने शरीर से रस निकालकर उस पर पत्तियाँ चिपका देते हैं और आत्म रक्षा की सुविधा उत्पन्न करते हैं। ये उदाहरण पशु-पक्षियों में पायी जाने वाली अपरिमित सामर्थ्य के हैं।

पशु-पक्षियों का जीव-जन्तुओं से यह सब क्रिया-कलाप कौन संपन्न कराता है? स्पष्ट ही वे क्रियाकलाप इन छोटे जीव-जन्तुओं का अचेतन मन ही कराता है। यदि अचेतन मन की सामान्य शक्तियों को चेतन मस्तिष्क की उत्तेजित ऊष्मा द्वारा नष्ट न किया जाय तो अन्य जीवों की तुलना में हजारों गुना अधिक विकसित मानवीय मस्तिष्क इतनी अधिक दिव्य विशेषताएँ अर्जित कर सकता है जितने में कि समस्त जीव-जन्तुओं की सम्मिलित अचेतन सत्ता से भी संभव नहीं हो सके।

योगी योग साधना द्वारा चेतन मस्तिष्क की अनावश्यक सक्रियता में नष्ट होने वाली ऊर्जा, को रोककर अचेतन को समर्थ बनाने में प्रयुक्त करते हैं। इस संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता है कि योग साधना विद्या-विलास या बौद्धिक विकास पर प्रतिबंध लगाती है। उसमें मानसिक उत्कर्ष, विद्याध्ययन, कला-कौशल और ज्ञानार्जन की पूरी छूट है। प्रतिबंध है तो केवल इस बात पर कि मनःक्षेत्र को उत्तेजित, विक्षुब्ध एवं अशांत न होने दिया जाय।

इस चरण में एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है। मन में उठने वाले विभिन्न संकल्पों को रोककर उसे केन्द्र पर स्थिर रखने का अभ्यास करना पड़ता है। इस एकाग्रता को आगे बढ़ाते हुए चित्त को जाग्रत अवस्था में ही संकल्पपूर्वक लय कर देने का नाम समाधि है इसके लिये प्रत्याहार ध्यान धारणा की भूमिकाएँ पार करनी पड़ती हैं। इन साधनाओं के द्वारा सचेतन बुद्धि-संस्थान की चिन्तन और संकल्प क्षमता को शिथिल करके, वहाँ लगे हुए चेतन को जब अचेतन के साथ जोड़ दिया जाता है तो उसकी वे दिव्य क्षमताएँ जाग्रत और सक्षम होना आरम्भ हो जाती हैं, जो अद्भुत, अनुपम और चमत्कारी ही कही जा सकती हैं। इस दिशा में जो जितनी सम्पन्नता प्राप्त कर लेता है वह उतना ही समर्थ और सिद्ध पुरुष बन जाता है।

आत्मिक ऊर्जा उत्पादन के लिए अनवरत संघर्ष

जीवन का चिन्ह है, ऊष्मा। शरीर जीवित है या मृतक इसकी मोटी किन्तु सुनिश्चित पहचान है शरीर का गर्म रहना। यदि वह पूरी तरह ठण्डा हो जाय तो समझना कि मृत्यु की सुनिश्चित स्थिति आ गई। इतना बड़ा शरीर तब एक अच्छा खासा इन्जन है। जब तक वह गर्म है, तब तक उसमें गति की सम्भावना है पर जब ठण्डा हो जाय तो लोह का एक टीला—कवाड़ा मात्र है। वह किसी दूसरे भार या डिब्बे को लेकर तो पीछे चलेगा, पहले अपनी स्थिरता तो बनाये रहे। जंग लगेगी, पुर्जे एक-दूसरे के साथ चिपक जायेंगे और बहुत दिनों तक ठण्डा पड़ा रहने के उपरान्त तो एक प्रकार उसका फिर से संशोधन करना पड़ेगा। शरीर के बारे में तो सो बात भी नहीं है। वह एक बार ठण्डा हुआ तो सदा के लिए उसका अन्त समझना चाहिए। गर्मी से ही उसके छोटे-बड़े कल-पुर्जे चलते हैं। यह गर्मी ही जीवन है। इसी को प्राण कहते हैं। देखना यह है कि यह गर्मी आखिर आती कहाँ से है। कया में ही नहीं संसार भर में उसका मूल उद्गम गति है। दूसरे शब्दों में इसे संघर्ष भी कहते हैं। गति से जो हलचल उत्पन्न होती है, उसी की परिणति ऊष्मा है। सूर्य यदि स्थिर रहता तो कबका ठण्डा हो गया होता। समुद्र-मन्यन से चौदह रत्न निकले थे। नर और नारी के प्रजनन अंग ऐसी ही घर्षण क्रिया में निरत होते हैं और एक आत्मा भ्रूण बनकर गर्भाशय में जा विराजती है। वहाँ वह कलल इतना तीव्र और इतना अधिक संघर्ष करता है जिसकी तुलना नहीं। मनुष्य जन्म का भौतिक इतिहास यही है।

जीवित रहने और प्रगति पथ पर अग्रसर होने, पुरुषार्थ क्षमता अर्जित करने के लिए प्रकृति प्रदत्त प्राण ऊर्जा में ही काम नहीं चल जाता उसे स्थिर रखने और बढ़ाने के लिए मनुष्य को निजी प्रयत्न भी करने पड़ते हैं। जीवन-संघर्ष इसी का नाम है। संघर्षशील समर्थ रहते हैं और जिनने उसमें आलस-अनख माना वे स्वयंमेव गल जाते हैं। मृतक शरीर को खाने के लिए गिद्ध, कौए, कुत्ते, शृगाल आदि तो फिरते ही रहते हैं। वे न आये तो माँस स्वयं सड़ने लगता है और उससे उत्पन्न हुए कीड़े स्वयं ही उसे खा पीकर बराबर कर देते हैं।

जीवन में ऊर्जा कैसे बनी रहे सामान्यतया तो निर्वाह साधन एकत्रित करने के लिए किया जाने वाला श्रम ही बहुत काम दे जाता है पर आन्तरिक प्राण ऊर्जा उत्पादित करने के लिए अवांछनीयता के प्रति संघर्ष भी

करना होता है। साधना का दूसरा नाम 'समर' है। भगवान के जितने भी अवतार हुए हैं। सभी ने अधर्म के विरुद्ध संघर्ष किया और कराया है। बोगी, तपस्वियों, महामानवों की जीवनचर्या में भी संघर्ष अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है। इसे वे धर्मयुद्ध कहते हैं। तप-साधना भी यही है। उच्चस्तरीय शक्ति का उत्पादन और अभिवर्धन इसी आधार पर सम्भव होता है। वह आध्यात्मिक पराक्रम एवं पुरुषार्थ प्रत्येक आत्मवान के लिए अनिवार्य है। गीताकार का एक ही लक्ष्य है—महाभारत के निमित्त संग्राम। राम ने विश्वामित्र यज्ञ रक्षा से लेकर खर-दूषण बध और लंका-दहन तक की प्रक्रिया में अपनी अधिकांश सामर्थ्य नियोजित रखी। अन्य अवतार और महामानव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से यही करते रहे हैं। यही करना होता है।

यह इतिहास गाथा का वर्णन नहीं है। प्रत्येक जीवन्त व्यक्ति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रक्रिया है, जिसे अपनाये बिना कोई चार नहीं। अर्जुन की भाँति इस धर्म क्षेत्र कुलक्षेत्र में प्रत्येक आत्मवान भगवद् भक्त को लड़ना पड़ता है। जिसे वे प्राणप्रिय मानते हैं, उसे हनुमान की तरह इसी प्रयोजन में धकेल देते हैं।

सदा किससे लड़ा जाव? लड़ाई के अवसर तो यदा-कदा आते हैं पर जीवन संग्राम के सम्बन्ध में वह बात नहीं है, उसमें अहिंसा लड़ना पड़ता है। यही तप है, यही योग है। यही साधना है यही परमार्थ एवं पुरुषार्थ है।

भगवान ने साधक को इसके लिए समुचित अवसर प्रदान किया है। उसकी व्यायामशाला अपने बालकों के लिए खुली ही रहती है। शिक्षक अर्जुनों को अर्जुनों से ही लड़ाते हैं। मल्लयुद्ध के लिए रोज बाहर के, रोज नये आदमी कहीं से आये। तैरना घर के तालाब में ही पड़ता है। विभिन्न प्रतिद्वन्द्वतायें- विभिन्न दौंव-पेच आपस में ही खींचने पड़ते हैं।

साधक के लिए तीन मोर्चे संग्राम के लिए हैं। सेना थल, जल और नभ आबुधों से सुसज्जित होती है और तीनों मोर्चों पर लड़ने का अभ्यास करती है। प्रवीणता प्राप्त करने वाले सेनापति का सम्मानास्पद पद प्राप्त करते हैं।

आध्यात्मिक धर्मयुद्ध के तीन मोर्चे हैं—वासना, तृष्णा और अहन्ता। इन्हीं को लोभ, मोह और औदित्य कहते हैं। वह लड़ने के लिए सदा चुनौती देते रहते हैं। छद्म रूप से इनका आक्रमण निरन्तर होता रहता है। सुरसा, ताड़का और सूर्पनखा की तरह इनका मायावी कुचक्र निरन्तर चलता रहता है। वस्तुस्थिति को देख और

समझ पाना दूरदर्शियों का ही काम है। अदूरदर्शी इन्हीं की भूल-भुलैया में भटकते और प्राण गँवाते रहते हैं।

आत्म-निरीक्षण की दिव्य दृष्टि आवश्यक है, इनका मायाचार देखने और समझने के लिए क्योंकि इनका सम्मोहन नागपाश ऐसा है, जिसमें बँधने वाले को उल्टा दीखता है। जल में थल और थल में जल प्रतीत होता है। हानि में लाभ और लाभ में हानि का भ्रम होता है। मृगतृष्णा और माया-मारीचिक में विभ्रमग्रस्त हिरनों को धक्का-खींच और निराशा के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। पर वे आरम्भ में समझते हैं। विपुल लाभ का आनन्द अति निकट है।

वासना का सार संक्षेप है जिह्वा और जननेन्द्रियजन्य सब कुछ मानकर उन्हीं के लिए निरन्तर मरते-खपते रहना। उन्हीं के स्वादों का चिन्तन करना। जब भी अवसर मिले चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की तरह अपने पैर और पंख फँसाने में आनन्द ही आनन्द का अनुमान लगाते रहना। चटोरापन पेट को बिगाड़ता और दुर्बलता, रुग्णता एवं अकाल मृत्यु को न्यौत बुलाता है।

जननेन्द्रिय का स्वाद ऐसा ही है जैसे पेड़ में गड़े करके उसमें से गोंद निकालते रहना और उसे खोखला बनाकर स्वत्व विहीन कर देना। काम सेवन की अति अर्थात् मस्तिष्क का सारा तत्व को असमय में ही समाप्त करना। निरन्तर ऐसे स्वप्न देखते रहना, जिनकी पूर्ति का व्यावहारिक रूप कोई बनता ही नहीं। कामुकताजन्य कल्पनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें शेखचिल्ली से अधिक उपहासास्पद दिवा स्वप्न देखना। मस्तिष्क पर छाये हुए उस उन्माद में मानवी मर्यादाओं का भी ध्यान नहीं रहता। माता, बहिन पुत्री के रिश्ते ही समाप्त हो जाते हैं, संसार की समस्त नारियाँ मात्र वेश्याएँ ही दीख पड़ती हैं।

वासना का विस्तार यों पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ जुड़ी हुई कुत्सा से है पर संक्षेप में उसे जिह्वा और कामुकता भी समझा जाय तो इनके स्वाद ऐसे हैं, जिन्हें विषपान के समतुल्य ही समझा जा सकता है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और अपने ही जबड़ों में निकलने वाले रक्त को चाटता हुआ अनुभव करता है कि सूखी हड्डी में षटरस व्यंजन भरे हुए हैं और वह किसी दूसरे का रक्तपान कर रहा है।

दूसरा आध्यात्मिक क्षेत्र का काम भी शत्रु-कांचन मृग मारीच है—तृष्णा का प्रलोभन। आवश्यकताएँ मुट्ठी भर और पाने को चाहना पहाड़ बराबर। कुबेर के समान सम्पत्ति बनाने-रावण जितना परिवार बढ़ाने की ललक निरन्तर लगी रहती है। हिरण्यकश्यपु और हिरणाक्ष की तरह इस संसार का सार-स्वर्ण-वैभव ही दीखता है। उसे

जैसे भी, जहाँ से भी जितना भी मिले एकत्रित किया जाय और उसे बुरे से बुरे दुर्व्यसनों में फुलझड़ी जलाने की तरह बर्बाद करते रहा जाय। यही है धन और परिवार की तृष्णा जो कितने ही साधन जुटा लेने पर भी तृप्त नहीं होती। सिकन्दर असीम सम्पदा का स्वामी था पर अपने को अतृप्त ही अनुभव करता रहा। इस प्रलोभन के लिए न जाने कितनों ने कितने प्रकार के कितनी मात्रा में कुकर्म किये पर आग में ईंधन डालने की तरह हविस बढ़ती गई। जब तक यह उन्माद छाया रहता है। व्यक्ति औचित्य और मर्यादा को पूरी तरह भूल जाता है।

हँसी की बात यह है कि मनुष्य की आवश्यकता मुट्ठी भर है। उसकी स्वाभाविक और आवश्यक पूर्ति दो घण्टे के दैनिक श्रम से भली प्रकार पूरी हो सकती है। औसत भारतीय जितना निर्वाह परिश्रमपूर्वक कमाने की बात सोचने वाले को न कभी दरिद्र सताता है न आकांक्षा की आग चिता की तरह जलाती है। परिवार छोटा रखा जाय और हर सदस्य को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी बनाया जाय तो ऐसे जैसी कमी किसी को भी न प्रतीत हो, जिससे मानसिक शान्ति और नीति मर्यादा सभी कुछ गँवाना पड़े और पाप का भारी पोटला सिर पर लादकर चौरासी के चक्र में घूमना पड़े।

तीसरी जादूगरनी है—अहन्ता। मल-मूत्र का गड़ढा चमड़ी की चमकीली पन्नी चिपकी होने के कारण अपने रूप, बल और पद पर न जाने कितना इतराती है? सज्जा-भृंगार में इतना पैसा और समय बर्बाद करता है कि उतने में विद्या का, परमार्थ का ईश्वर सान्निध्य का सन्तोषजनक उपार्जन हो सकता है। कीमती वस्त्र आभूषण, प्रसाधन लपेट पोतकर न जाने किसकी आँखों में धूल झौंकने किस पर रौब गाँठने का, किसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाता है? जबकि सच बात यह है कि हर व्यक्ति अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा है कि किसी अन्य को आँख खोलकर देखने भर की फुरसत नहीं है। सज-धज वाली बरात और सजा हुआ दुल्हा प्रदर्शन करके यह प्रयत्न किया जाता है कि नगर के सारे निवासी और सड़क पर चलने वाले दर्शक मात्र इसी मण्डली को देखते रहेंगे। मंत्र-मुग्ध होकर अपना भाग्य सराहेंगे। समझेंगे यही लोग संसार के सबसे बड़े अमीर हैं जो पैसे को कूड़े-कचरे की तरह उड़ाते रह सकते हैं। ईश्वर ही जाने यह कैसी विडम्बना है?

अभी अमीरी का ठाट-बाट दिखाकर जन-साधारण पर अपने अमीर होने की छाप छोड़ी जाती रही होगी। उन्हें पुण्यात्मा समझा जाता रहा होगा पर अब तो समय बिलकुल उलट गया। इन दिनों साम्यवाद की हवा बह रही है। जो अपनी अमीरी का जितना उद्धत प्रदर्शन करता है, उसे जितना ही बड़ा चोर ब्लेक मारकेटियर, जाल-साज

माना जाता है। कहा जाता है कि जिसने जितना धन जमा किया है, वह उतना ही बड़ा समाजद्रोही है। किसी ने उचित ढंग से पैसा कमाया है तो उसके इस पिछड़े समाज को ऊँचा उठाने में लगाने के हजार उपाय हैं। प्रदर्शन में उसे क्या बर्बाद किया जाय? भृंगार-सज्जा विवेकवानों की दृष्टि में कामुकता ओछेपन एवं मनचले स्वभाव की पर्यायवाची बन गई है। कोई जमाना रहा होगा, जब सज-धज और प्रदर्शन को देखकर लोग आकर्षित होते और सराहना करते थे। आज तो ठीक उलटी स्थिति है, यह बातें जहाँ जितनी मात्रा में चरितार्थ होती हैं वहीं उतनी ही घृणा बरसती और ईर्ष्या पनपती है।

इन तीन अवांछनीयताओं के बदले समाज से संसार से हमें क्या मिला? इसका निष्कर्ष निकालने पर अन्तः पतन और दुष्प्रवृत्ति का सम्मर्धन ही प्रतिफल दृष्टिगोचर होता है। इस पतन और पराभव को जो लोग न्योता बुलाते हैं उनके लिए और कुछ कहा जाय या नहीं। नासमझ और अदूरदर्शी तो निश्चित रूप से कहना पड़ेगा।

संघर्ष इन तीन से ही करने का है। यह बाहरी नहीं, है तो भीतरी पर अदृश्य और मायामय होने के कारण इनसे लड़ना अति कठिन है। यह अवसर देख-देखकर हमला करते हैं। जब भी मनुष्य को तनिक-सा असावधान पाते हैं। तभी अपने अस्त्र-शस्त्र चला देते हैं। अतएव हर घड़ी सतर्क रहना पड़ता है। सांसारिक युद्धों के कुछ काबदे, निष्पत्ति और कारण है पर यह दुष्ट तो ऐसे हैं जो अब मन आता है बिजली की तरह टूट पड़ते हैं और किया-धरा सब कुछ चौपट करके रख जाते हैं।

अध्यात्म जीने वाले को प्रचण्ड शक्ति और अजस्र ऊर्जा की आवश्यकता होती है, जिसके पास यह सम्पदा जितनी अधिक है वह उतना ही विभूतिवान है। इस उपलब्धि का एक ही मूल्य है। अन्तरंग को कलुषित करने वाली कुत्साओं का उन्मूलन।

देवत्व का अभिवर्धन-प्रवृत्तियों के शोषण से

व्यवहार विज्ञान पर विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय मनोविज्ञान जहाँ अचेतन की बहिरंग में प्रतिक्रिया को व्यावहारिक मनोविज्ञान नाम देता है—संस्कारों एवं अभ्यासजन्य प्रवृत्तियों की कर्म में परिणति को अपना मुख्य सिद्धान्त मानता है। वहीं पाश्चात्य जगत के विद्वान पशु प्रवृत्तियों को ही मुख्य मानते हुए किसी भी संवेगात्मक अनुभूति को व्यवहार का मूल कारण ठहराता है। इसे उन्होंने 'स्वभाव' प्रवृत्तियाँ (इंस्टिक्ट्स) कहा है।

सामान्य जीवधारियों में उनकी सहज वृत्तियाँ भूख, सुरक्षा और युवा होने पर विपरीत लिंगी साथी की आवश्यकता इन तीन के ही इर्द-गिर्द चक्कर काटती रहती हैं प्रकृति प्रेरणा से वे यह कार्य सहज ही करते रहते हैं। उन्हें इनके पीछे किसी विशेष प्रयोजन का भान नहीं होता। प्रकृति ने भूख-प्यास, प्रजनन आदि की आवश्यकताओं में ऐसा आकर्षण पैदा करके रखा है कि मानव के अतिरिक्त प्रायः सभी प्राणी उस प्रवाह में अपने जीवन की इतिश्री कर देते हैं उनकी जीवनचर्या इसी परिधि के अन्तर्गत गतिशील रहती है, प्रकृति की सहज प्रेरणाओं से संचालित होती देखी जाती है। सामान्य मनुष्यों के क्रिया-कलाप भी इसी श्रेणी के होते हैं। उनके चिन्तन और कर्तृत्व में इन्हीं सहज क्रियाओं का ताना-बाना चलता रहता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसन्धानों से पता चलता है कि वस्तुतः जिन प्रवृत्तियों या क्रियाओं को 'मूल प्रवृत्तियाँ' कहा गया था वे सब स्थायी रूप से वैसी ही नहीं रहतीं, उनमें परिवर्तन भी सम्भव है। पहले यह समझा जाता था कि बिल्ली में चूहे को मारने की मूल प्रवृत्ति है इसलिए वह चूहों का शिकार अचूक ढंग से कर लेती है। किन्तु 'जेड. वाई. क्यो' महोदय ने अपने अनुसन्धानों से सिद्ध कर दिया है कि बिल्ली के जो बच्चे चूहों के साथ पाले जाते हैं और उन्होंने अपनी माता बिल्ली को चूहे मारते हुए नहीं देखा वे चूहों के साथ खूब खेलते एवं स्नेह प्रदर्शित करते हैं। इसका विवरण उन्होंने 'जर्नल ऑफ कम्पेरेटिव साइकोलॉजी' वाल्यूम २ में 'रिसपान्स टू दी रैट' नामक शीर्षक में प्रस्तुत किया था।

मूल प्रवृत्तियों के बारे में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों में कुछ मतभेद हो सकता है किन्तु एक तथ्य सभी स्वीकार करते हैं कि प्राणियों के जीवन के लिए विभिन्न आवश्यकतायें होती हैं उन्हीं के लिए वे चेष्टा करते हैं और पूर्ति होने पर तृप्ति या सन्तुष्टि अनुभव करते हैं उन्हें नाम चाहे जो भी दिया जाय। शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। अस्तु भोजन की आवश्यकता पूर्ति सभी जीवधारियों को समान रूप से तृप्तिदायक होती है। पशु-पक्षियों एवं अन्य प्राणियों की आवश्यकताएँ दैहिक सुरक्षात्मक होती हैं बहुत से जीवधारी अपनी सुरक्षात्मक आवश्यकता के कारण ही सामूहिक रूप से झुण्डों में रहते और परस्पर मैत्री भावना रखते पाये जाते हैं।

मनुष्य को भी प्रारम्भ में सुरक्षा की आवश्यकता के लिए ही समूह में रहना पड़ा, इस सामूहिकता की भावना से वह विकसित होता चला गया और आज उसकी

बौद्धिक क्षमताएँ उसी का परिणाम हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'मेस्लो' महोदय ने मनुष्य की आवश्यकताओं को कई श्रेणियों में वर्गीकृत किया है। उनके अनुसार मनुष्य के विकसित स्तर के साथ-साथ उसकी आवश्यकताओं का स्तर भी विकसित होता जाता है। उन्होंने कहा है कि 'शारीरिक एवं सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ तो प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं। उसके उपरान्त प्रेम, आदर, जानने व समझने और आत्म-वास्तविकरण की आवश्यकताएँ अनुभवों की वृद्धि के साथ बढ़ती जाती हैं। व्यक्तियों की आवश्यकताओं की समानता उनके समान अनुभवों और विभिन्नता अनुभवों की विविधताओं के कारण होती है।'

आधे से अधिक मानवी प्रवृत्तियाँ अनुकरण की परिणाम होती हैं बच्चे तो अधिकांश दूसरों को देखकर ही भली-बुरी आदतों को सीखते हैं और अभ्यास होने पर उनकी भी वैसी ही आदतें विनिर्मित हो जाती हैं। प्राणी जो आचरण अभ्यास में लाता है उसके प्रति लगाव (आसक्ति) हो जाता है। इस सन्दर्भ में खरगोशों और पक्षियों पर किये अनुसन्धानों से पता चलता है कि खरगोश अपने बिल के एक निश्चित कोने में ही मल-विसर्जन करते हैं। पक्षी अपने घोंसले निश्चित स्थानों पर ही बनाते हैं। सामान्य मनुष्य भी जिस स्थान विशेष में रहते हैं, उस स्थान से उनका लगाव हो जाता है और घुमकड़ लोगों को अपना स्थान बदलने में ही आनन्द आता है व अपने आचरण एवं अभ्यास से उसी तरह की अपनी वृत्ति बना लेते हैं फिर उनके जीवन पर्यन्त स्थान परिवर्तित करते रहने में ही प्रसन्नता होती है।

मनःशास्त्रियों का कहना है कि दो विपरीत प्रवृत्तियों में जिसे विकास का पहले अवसर मिल जाता है वही व्यक्ति पर हावी हो जाती है और वह तदनु रूप आचरण का अभ्यस्त हो जाता है। प्रायः देखा जाता है कि बहुत से बच्चे कुत्ते को देखकर भयग्रस्त हो जाते हैं और बहुत से उनसे खेलने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इस भिन्नता के मूल में उनके प्रारम्भिक अनुभव ही उत्तरदायी होते हैं। जिस बच्चे ने पहली बार कुत्ते को क्रोधित, भौकती अवस्था में देखा होगा उसके मन में कुत्ते के प्रति भय की वृत्ति बैठ गयी। दूसरी ओर जिन बच्चों को पहली बार कुत्ते के साथ खेलने का अवसर मिला, उसकी दुम कान पकड़कर किलकारियाँ करते रहे उनमें पहले से विपरीत अर्थात् प्रेम की भावना घर कर गयी। फिर तो बच्चे कुत्ते के भूँकने पर भी अपनी उसी प्रेमवृत्ति का परिचय देते हैं, डरते नहीं देखे जाते।

कुछ मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि अभ्यास में लाये गये आचरण अथवा अभ्यास से परिपक्व आदतें ही

प्राणियों की स्वयंभू प्रवृत्तियों की तरह काम करने लगती है। उनका कहना है कि प्रवृत्तियों के विकास की एक निश्चित अवधि होती है जिसके पश्चात् वे सक्रिय नहीं हो पातीं जैसे-बच्चे की प्रवृत्ति माँ के स्तनों से चूसकर दूध पीने की होती है, पर यदि जन्म के बाद कुछ दिनों तक बच्चे को माँ से अलग रखा जाय तो उसकी यह वृत्ति निष्क्रिय हो जाती है, फिर उसे चूसकर दूध पीने में अत्यधिक अस्वाभाविकता लगती है।

यदि उनकी विवेक, बुद्धि और संकल्प जागृत हो जाय तो इन दुर्व्यसनों से छूटते देर नहीं लगती उल्टे इनके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है तथा अपने उदाहरण से अन्यो को भी इन दूषित प्रवृत्तियों से छूटने में सहायता प्रदान करते हैं। इस तथ्य को सभी मनःशास्त्री स्वीकार करते हैं कि मानवी विवेक एवं मनोबल प्रवृत्तियों को बदल देने में सक्षम हैं। मूल प्रवृत्तियों का परिशोधन परिष्कार करके ही मानव से महामानव, देव मानव बना जा सकता है। कुछ सहज वृत्तियाँ तो निश्चित रूप से मनुष्य में जन्मजात पायी जाती हैं। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध व्यावहारिक मनोविज्ञानवेत्ता डॉ. वाट्सन का कथन उल्लेखनीय है।

मनुष्य को ऐसी मानसिक विशेषता मिली हुई है कि वह उचित-अनुचित, लाभ-हानि का विचार कर सकता है और विचार मन्थन से मुक्ति संगत औचित्यपूर्ण निष्कर्ष निकालकर उन्हें ग्रहण कर सकता है। इसी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता या विवेकशीलता के आधार पर प्रदत्त प्रवृत्तियों को विकसित एवं परिष्कार करके मानव-जीवन को उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। सामान्य मनुष्य से महामानव स्तर तक वे ही पहुँचे हैं जिन्होंने अपनी प्रवृत्तियों को शोधित एवं परिष्कृत कर लिया। अस्तु मूल प्रवृत्तियों को औचित्य एवं विवेक की कसौटी पर कसकर अपनाने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। यही भारतीय मनोविज्ञान की विशेषता रही है कि उसने देवत्व को मुख्य माना है, विकासवाद की चरम सीमा को महामानव बनना माना है। यही वास्तविक मानवी प्रगति का स्वरूप है, वह नहीं जो पारम्परिक मनोविज्ञानवेत्ता सदा से कहते चले आ रहे हैं।

नर-वानर देव मानव कैसे बने ?

अन्न के दाने मोटेतौर पर पेट भरने के काम आते हैं। उन्हें पीसकर आटा बनाया जाता है। आटे की रोटियाँ बनती और पेट में जाती हैं। पेट में पचने के बाद वह मल बनता और कचरे के ढेर में फेंक दिया जाता है। यही है उसकी सामान्य नियति।

किन्तु उसकी सत्ता को इतने तक ही परिसीमित मान बैठना भूल होगी। गंभीर पर्यवेक्षण करने पर उसके अन्य गुण भी प्रकट एवं और प्रत्यक्ष होते हैं। उसके अदृश्य अन्तराल में एक ऐसी क्षमता भी होती है जिसका प्रयत्नपूर्वक जागरण करने से वह निष्क्रिय से सक्रिय, निर्जीव से सजीव होने लगती है। बीज की तरह से प्रयुक्त किये जाने पर अपने आकार की वृद्धि करता है। उसके जीवन तत्त्व बढ़ जाते हैं। उर्वर भूमि का अंश सोखता है और अपने कलेवर के एक कक्ष से अंकुर फोड़ता है।

खाद पानी की अनुकूलता होने पर वह अंकुर बढ़ता है। पौधे के रूप में विस्तार करता है। उसे यदि पशु-पक्षियों द्वारा चर न लिया जाय तो क्रमशः बढ़ता ही रहता है। बढ़ोत्तरी दीर्घकाल तक चलती ही रहती है। समयानुसार परिपक्वता आती है और प्रौढ़ता प्राप्त वृक्ष फूलना-फलना आरंभ कर देता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती ही रहती है, जब तक कि उसका अन्तकाल नहीं आ जाता।

फूल वातावरण को सुवासित करते हैं, अपनी सुन्दरता से उधर से गुजरने वालों का मन मोहते हैं। तितलियों, मधु-मक्खियों और भ्रमरों के लिए उपयोग का, आकर्षण के केन्द्र बनते हैं। इसके उपरान्त उनके फलित होने की बारी आती है। फल पक्षियों-मनुष्यों का आहार बनते हैं। उपभोक्ताओं के पोषण का निमित्त कारण बनते हैं। उन फलों के मध्य में एक या अनेक ऐसे बीज होते हैं, जो परिपक्व होने पर वैसी ही सृष्टि आरंभ कर देते हैं, जैसी कि उनके पिता, पितामह ने वंशवृद्धि के लिए अपने को प्रस्तुत, समर्पित किया था। इन बीजों में से हर एक में अपने पूर्वजों की भाँति प्रत्यक्ष और परोक्ष गुण होते हैं। प्रत्यक्ष में उनका उपयोग साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति में हो जाता है। परोक्ष रूप से उनमें अपने को विकसित करने की, आकार की विशालता धारण करने की क्षमता होती है। इतने पर भी यह निश्चित नहीं कि प्रत्येक बीज वृक्ष बन ही सकेगा। यदि उसका उपयोग सामान्य रीति से हुआ तो वह किसी प्राणी का आहार ही बन सकता है। चलते-चलाते दुर्गन्धित कचरे के रूप में ही परिणत हो सकता है। असामान्य स्तर प्राप्त करके वृक्ष रूप में विकसित होना उसका सौभाग्य है। इस स्थिति में वह भी अपना मूल्य असंख्य गुना बढ़ा लेता है। छाया, ईंधन, प्राणवायु, भू-संरक्षण, भवन बनाने का माध्यम आदि के रूप में अपना गौरव प्रदर्शित करता है। उद्यान के रूप में धरती की शोभा बनता है। इतनी प्रगति तभी हो पाती है जब बीज की अन्तर्निहित क्षमता को विकसित करने का अवसर मिले। उपेक्षित रहने पर तो वह सड़,

घुन जाता है और अपनी सामान्य उपयोगिता तक खो बैठता है। उसका बाजारू मूल्य एकाकी और सामान्य रहने पर नगण्य बनकर ही रह जाता है।

मनुष्य का सामान्य स्वरूप तुच्छ है। वह हाड़, माँस का चलता-फिरता, बोलता, सोचता पिटाया भर है। उसका जीवन इस कुचक्र की धुरी पर घूमता रहता है कि जीवित रहने और वंश परम्परा को बनाये रखने के लिए श्रम करे, समय लगाये। बहुत हुआ तो दूसरे से अधिक समझा जाने की महत्वाकांक्षाओं में से किसी को चुने, अपनाये और उनके निमित्त असाधारण प्रयास करते हुए उस विधा को भी अपनाये जिसे अन्याय, अपराध, कुकर्म, पाप आदि नामों से जाना जाता है। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति इसके बिना हो नहीं सकती। ऊँचा भवन बनाने के लिए समतल भूमि ही उपयुक्त पड़ती है। ऊबड़-खाबड़ भूमि पर भवन नहीं बन सकता। इसी प्रकार महत्वाकांक्षाएँ जो शरीर के साथ जुड़ी रहती हैं, मनःक्षेत्र में संस्कारों का भवन नहीं बनने देतीं। लिप्सा, वासना, तृष्णा, अहंता से कुछ प्रसन्नता शोभा शरीर को ही प्राप्त होती है। इस एक पक्षीय बढ़ोतरी में आत्मा की तो उपेक्षा ही होती रहती है। उसे वह अवसर मिल नहीं पाता जिसके आधार पर सुर दुर्लभ मनुष्य जन्म की घरोहर का सही उपयोग बन पड़े। अपूर्णता दूर करने का पुरुषार्थ और परमार्थ संचय का पुण्य ही आत्मा की तुष्टि-पुष्टि और शान्ति का आधार है। पर उसे कर पाने का अवकाश ही कहाँ मिलता है? सारतत्त्व को आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ ही निगल जाती हैं। खिलवाड़ में ही आयुष्य खप जाती है। वैसा कुछ बन नहीं पड़ता जिसे महत्त्वपूर्ण कहा जा सके।

जीवन सम्पदा को पशु-प्रवृत्तियों में, पेट प्रजनन में, समाप्त कर देने का तात्पर्य है कि उसकी स्थूलता ही कार्यान्वित होती रहे। सूक्ष्मता को विकसित होने का अवसर नहीं मिला। बीज का स्थूल कलेवर किसी का आहार भर बनता है। अपना श्रेय सम्पादित करने की गरिमा का उसे दर्शन भी नहीं हो पाता। इसे दयनीय और दुर्भाग्यपूर्ण नियति ही कहा जा सकता है। जिसका अन्त कचरे के रूप में हो उसे अभाग्य नहीं तो और क्या कहा जाय ?

सौभाग्य का उदय उस स्थिति से आरंभ होता है जिसमें बीज को अपनी अन्तरंग क्षमता को विकसित करने का अवसर मिले। यह उपलब्धि तब हस्तगत हो जब अन्तर्मुखी बन जाय। अन्तरंग क्षमताओं को समझा और उभारा जाय। मूढ़ता छाई रहे तो यह निरीक्षण पर्यवेक्षण किस प्रकार संभव हो सके।

प्रत्यक्षतः मनुष्य नर वानर है। उसका शरीर कुदकता और मन फुदकता रहता है। इस उछल-कूद की बाल-क्रीड़ा में ही समय बीत जाता है और जीवन का मृत्यु की गोद में अन्त होता है। इसके उपरान्त अन्धकार ही अन्धकार। अवशेषों को भी दुनिया की हलचलें कुछ ही समय में समाप्त कर देती हैं। न कुछ अपने लिए बन पड़ता है और न दूसरों के निमित्त ऐसा कुछ हो पाता है, जिसे अभिनन्दनीय और अनुकरणीय कहा जा सके।

सामान्य तक सीमाबद्ध रहना मनुष्य का अविवेक और दुर्भाग्य है। हीरक को कँच के समान कौड़ी मोल का बना देने के समान है, समझदारी का उदय आरंभ तब माना जाना चाहिए जब अन्तर्निहित क्षमता को समझने और जानने का सुयोग तलाशा जाय। आहार बनने और कचरे में अन्त करने की अपेक्षा बुद्धिमत्ता इसमें है कि बीज बनकर उगने और वृक्ष बनने का महत्त्व समझा और विधान अपनाया जाय। बड़प्पन इसी में है, सुयोग और सौभाग्य भी इसी दिशा-धारा के साथ जुड़ता है। यह अवसर हर किसी के हाथ में है कि वह अपने अन्तरंग को विकसित करके देवोपम श्रेय प्राप्त करे या कचरे की दुर्गति का चयन करे।

बीज अचेतन है, उसकी स्वेच्छा का कोई मूल्य नहीं। मालिक ही उसका जैसा चाहे उपयोग कर सकता है, किन्तु जीवात्मा को यह विशिष्टता प्राप्त है कि वह इच्छानुसार जिस भी दिशा को अपनाये। इच्छित मार्ग पर चले। अपनी नियति को भली-बुरी चाहे जैसी बनाये। सुयोग या सदुपयोग इसी में है कि जीवन को चंदन-वृक्ष, कल्प-वृक्ष की तरह विकसित, सुन्दर और सौभाग्य सम्पन्न यशस्वी बनाया जाय।

आनन्द कहाँ ? अपनी ही मुठ्ठी में

भगवान् बुद्ध से एक बार श्रेष्ठि सुमन्तक ने पूछा—“भन्ते ! अक्षय आनन्द की प्राप्ति का क्या उपाय है ?” इस पर तथागत ने उत्तर दिया—“इच्छाओं का त्याग करना।” प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने के लिए जिज्ञासु ने पूछा—“बिना इच्छा के कोई कर्म तक नहीं हो सकता, फिर इच्छा न रहने से तो निष्क्रियता छा जायेगी और निर्वाह तक कठिन हो जायेगा।

भगवान् ने विस्तार से बताया कि इच्छा त्याग से तात्पर्य बुद्धि एवं कर्म का परित्याग नहीं, वरन् व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को छोड़कर आदर्शों के लिए काम करना है। शरीर रक्षा, परिवार पोषण एवं सामाजिक सुख-शान्ति का ऊँचा उद्देश्य रखकर जो काम किये जायेंगे उनमें

स्वार्थान्धता नहीं रहेगी न उनके लिए दुष्कर्म करने पड़ेंगे। सामर्थ्य भर प्रयत्न करने पर जितनी सफलता मिलेगी, उसमें सन्तोष रखते हुए आगे का प्रयास जारी रखा जायेगा। यही है इच्छाओं का त्याग। जिनमें किन्हीं आदर्शों का समावेश नहीं होता-लोभ और मोह की पूर्ति ही जिनका आधार होता है वे ही हेय और त्याज्य मानी गई हैं।

ईमानदारी के साथ सदुद्देश्य लेकर मनोयोगपूर्वक श्रम किया जाय, यह कर्तव्य है। कर्तव्य कर्म करने के उपरान्त जो प्रतिफल सामने आये उससे प्रसन्न रहने का नाम सन्तोष है। सन्तोष का यह अर्थ नहीं है कि जो है उसी को पर्याप्त मान लिया, अधिक प्रगति एवं सफलता के लिए प्रयत्न ही न किया जाय। ऐसा सन्तोष तो अकर्मण्यता का पर्यायवाचक हो जायेगा। इससे तो व्यक्ति दरिद्र रहेगा और समाज पर पिछड़ापन छाया रहेगा। पुरुषार्थ भरे उपार्जन में से व्यक्ति की प्रतिभा निखरती है और समाज की समृद्धि बढ़ती है।

दार्शनिक जैरोल्ड की परिभाषा के अनुसार सन्तोष निर्धनों का निजी बैंक है, जिसमें पर्याप्त धन भरा रहता है। जॉर्ज इलियट का मत भी इसी से मिलता-जुलता है। वे कहते थे—“असंतोषी कभी अमीर नहीं हो सकता और संतोषी के पास दरिद्रता फटक नहीं सकती।” उदार और दूरदर्शी मस्तिष्कों में संतोष का वैभव प्रचुर मात्रा में भरा रहता है। आनन्द की तलाश करने वालों को उसकी उपलब्धि सन्तोष के अतिरिक्त और किसी वस्तु या परिस्थिति में हो ही नहीं सकती। सुकरात ने एक बार अपने शिष्यों से कहा था—“संतोष ईश्वर प्रदत्त सम्पदा है और तृष्णा अज्ञान के असुर द्वारा थोपी गई निर्धनता।”

परिणाम को आनन्द का केन्द्र न मानकर यदि काम को उत्कृष्टता की प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाय तो सदा उत्साह बना रहेगा और साथ ही आनन्द भी। कलाकार ब्राउनिंग कहते थे—“हम किसी काम को छोटा न मानें वरन् जो भी काम हाथ में है उसे इतने मनोयोग के साथ पूरा करें कि उसमें कर्ता का व्यक्तित्व बोलने लगे। ऐसे कार्य अपने कर्ता के लिए श्रेय और सम्मान का कारण बनते हैं, भले ही वे अधिक महत्त्वपूर्ण न हों।” मनस्वी रस्किन की उक्ति है—“काम के साथ अपने को तब तक रगड़ा जाय जब तक कि वह संतोष की सुगंध न बखेरने लगे।” वाल्टेयर ने लिखा है—“किसी काम का मूल्यांकन उसकी बाजारू कीमत के साथ नहीं, वरन् इस आधार पर किया जाना चाहिए कि उसके पीछे कर्ता का क्या दृष्टिकोण और कितना मनोयोग जुड़ा रहा है।” अब्राहम लिंकन का यह कथन कितना तथ्यपूर्ण है जिसमें उन्होंने

कहा था—“हम जिस काम में जितना रस लेते हैं और मनोयोग लगाते हैं वह उतना ही अधिक आनन्ददायक बन जाता है।”

आनन्द के लिए किन्हीं वस्तुओं या परिस्थितियों को प्राप्त करना आवश्यक नहीं और न उसके लिए किन्हीं व्यक्तियों के अनुग्रह की आवश्यकता है। वह अपनी भीतरी उपज है। परिणाम में संतोष और कार्य में उत्कृष्टता का समावेश करके उसे कभी भी कहीं भी और कितने ही बड़े परिमाण में पाया जा सकता है।

मनःशक्ति संवर्धन में योग निद्रा का उपयोग

मानसिक विकास में एक अति उपयोगी प्रयोग है, मनःसंस्थान को शिथिल कर देना। शरीर का पूर्ण शिथिलीकरण, प्रकृति-प्रदत्त निद्रा, उसी के सहारे मनुष्य अपनी जीवनचर्या सम्पन्न करता और अगले दिन के लिए कार्यकारी शक्ति प्राप्त करता है। निद्रा में व्यवधान पड़ने पर मनुष्य अशक्त एवं विक्षुब्ध दिखाई पड़ता है नींद न आने की बीमारी लगातार चलती रहे तो उसकी परिणित पागलपन में हो सकती है। जिन्हें गहरी निद्रा आती है वे सामान्य आहार-विहार उपलब्ध होते हुए भी नीरोग और बलिष्ठ बने रहते हैं। मानसिक क्षमता भी उनकी बढ़ी-चढ़ी रहती है। अधिक गहरी निद्रा जिसे प्रसुप्ति कहते हैं, दुर्बलों और रोगियों को जीवन प्रदान कर सकती है। आहार और निद्रा दोनों वर्गों की उपयोगिता लगभग समान अवसर की ही मानी जा सकती है।

मनःसंस्थान की उच्चस्तरीय परतों को निद्रा का अपना महत्त्व है। यदि उसे उपलब्ध किया जा सके तो इस दिव्य संस्थान को अधिक स्वस्थ एवं अधिक समर्थ बनने का अवसर मिल सकता है।

मन की दो प्रमुख परतें हैं, एक सचेतन दूसरी अचेतन। सचेतन ही सोच-विचार करता है और वह रात्रि को नींद में सोता है। अचेतन को कार्य संचालन की समस्त स्वसंचालित गतिविधियों की व्यवस्था बनानी पड़ती है। श्वाँस-प्रश्वाँस, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, जैसी क्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं और उन्हीं के आधार पर शरीर का निर्वाह होता है। यह सब कुछ अचेतन की गतिविधियों पर निर्भर है। रात को सचेतन के सो जाने पर भी अचेतन क्रियाशील रहता है और स्वप्न देखने, करवट बदलने, कपड़े ओढ़ने, हटाने जैसे कृत्य कराता रहता है।

अचेतन की थकान दूर करने और विश्राम देने के उद्देश्य से ही मृत्यु होती है। मरने और उसके बाद पुनः जन्म लेने के मध्य में जो समय मिलता है उसे 'चिरनिद्रा' नाम दिया गया है। स्वर्ग-नरक जैसी अनुभूतियों का रसास्वादन उसी अवधि में मिलता रहता है।

प्रत्यनपूर्वक यदि अचेतन को थोड़ा या अधिक समय का उथला या गहरा विश्राम दिया जा सके तो मानवी चेतना को बहुत राहत मिलती है। इस विश्राम से उसे थोड़ी-सी अवधि में ही नई स्फूर्ति प्राप्त होती है, साथ ही सचेतन के दबाव से दबे रहने वाले अन्तराल को भी अंकुरित विकसित होने का भ्रवसर भी मिलता है। अन्तराल का विकास ही प्रकारान्तर से आत्मशक्ति का उद्भव अभिवर्धन कहा जा सकता है।

योग निद्रा के छोटे-बड़े अनेक स्तर हैं। बड़े स्तर को समाधि कहते हैं। यह निर्विकल्प, संकल्प रहित और सविकल्प-संकल्प सहित दो स्तर की होती है। सविकल्प का परिणाम भौतिक और निर्विकल्प का आध्यात्मिक उपलब्धियों के रूप में सामने आता है। योगनिद्रा स्वल्पकालीन होती है और समाधि चिर-दीर्घकालीन। दोनों ही परिस्थितियों में मन को अधिक शान्त एवं निष्क्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

ध्यान योग के द्वारा इस स्थिति को प्राप्त किया जाता है, विचार संकल्प पूर्णतया समाप्त तो नहीं हो सकते पर उन्हें किसी एक केन्द्र पर नियोजित करके बिखराव के दबाव के मनःसंस्थान को मुक्त रखा जा सकता है। इतने से ही मनःक्षेत्र के जागरण एवं विकास में असाधारण योगदान मिलता है।

पाश्चात्य देशों में इस दिशा में जो प्रयोग किये जाते हैं, उन्हें सम्मोहन क्रिया के नाम से जाना जाता है। इसमें स्वसंकेतों द्वारा आत्मविश्वास का और सम्मोहन द्वारा दूसरों को अर्धमूर्च्छित या मूर्च्छित करके सुधार उपचार का प्रयत्न किया जाता है। ध्यान योग मेडिटेशन के नाम से अब यह सर्व साधारण की जानकारी का विषय बनता जा रहा है। उसका उपयोग प्रायः शारीरिक और मानसिक रोगों के निवारण में हो रहा है। प्राचीनकाल के आध्यात्मवेत्ता उस प्रक्रिया को आत्मबल संवर्धन के लिए करते थे। उन दिनों चिकित्सा उपचारों की आवश्यकता बहुत ही स्वल्प मात्रा में पड़ती थी। संयम और संतुलन के परिपालन से इन दिनों रोग कम ही होते थे, जो वे रक्त शुद्ध रहने के कारण सामान्य जड़ी-बूटियों के उपचार से ही अच्छे हो जाते थे। परिचित मस्तिष्क से ऊपर एक और दिव्य चेतना स्रोत है, जहाँ चितशक्ति निवास करती

है। मनोवैज्ञानिक इसे अचेतन कहते हैं। "सुपर ईगो" के रूप में इसी की विवेचना की जाती रही है। यह देवलोक, अतीन्द्रिय चेतना का केन्द्र एवं ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डार माना गया है। इस क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाला अलौकिक, असाधारण अतिमानव एवं सिद्ध पुरुष बन सकता है।

जब अचेतन जागता है, तब प्रबुद्ध मस्तिष्क सोता है और जब प्रबुद्ध मस्तिष्क जागता है तब अचेतन सोता रहता है। दोनों एक साथ कार्यरत नहीं रह सकते। योग निद्रा उत्पन्न करके पूर्ण या आंशिक समाधि में जाया जा सकता है और अतिमानवी अनुभूतियों के क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता है। यदि चेतन मस्तिष्क पूर्ण सजग रहे और तर्क बुद्धि के साथ निद्रित न होने का संकल्प किये रहे तो आध्यात्मिक जाग्रति असंभव है। जाग्रत मन को निद्रित करके ही अचेतन को आध्यात्म भूमिका में कुछ अधिक योगदान दे सकने योग्य बनाया जा सकता है।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की चार अवस्थाएँ प्रबुद्ध मन की स्वाभाविक चंचलता को निग्रहीत करके एकाग्रता के केन्द्र बिन्दु पर रोके रखने के लिए हैं। इनमें जितनी सफलता मिलती जाती है, मस्तिष्क शान्त और समाहित होता चला जाता है साथ ही चित्त शक्ति का जागरण आरम्भ हो जाता है। मानवी संकल्प बल न केवल बाह्य प्रयोजनों में वरन् अपने शरीर की अनिवार्य गतिविधियों को इच्छानुसार नियन्त्रित करने में सफल भी हो सकता है। समाधि स्थिति की प्राप्ति द्वारा कई प्रकार के लाभ उठाये जा सकते हैं।

(१) प्रबुद्ध मस्तिष्क को गहरा विश्राम देकर उसे अधिक स्वस्थ, सक्रिय एवं बुद्धिमान बनाया जा सकता है। (२) अचेतन मस्तिष्क को जाग्रत करके उसकी अतीन्द्रिय क्षमता बढ़ाई जा सकती है और चमत्कारी सिद्ध पुरुषों की देव भूमिका में पहुँचा जा सकता है। (३) शरीर की गतिविधियाँ रोक सकने में समर्थ संकल्प बल की आग में संसार की कठिनाइयों को गलाया जा सकता है। जो कठिन हैं, उन्हें सरल बनाया जा सकता है- एवं दूसरों को आध्यात्मिक योगदान देकर सुखी बनाया जा सकता है। (४) दीर्घजीवन का उद्देश्य पूरा करने के लिए कायाकल्प का रहस्यमय अमृत पाया जा सकता है। विज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि यदि मनुष्य को चिरनिद्रा में सुलाया जा सके तो उसे रोगों और थकान के पंजों से छुड़ाकर नवजीवन प्रदान किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान ने 'शीतनिद्रा' के रूप में समाधि से मिलती-जुलती एक विधि ढूँढ़ निकाली है। विज्ञानी डेल

कारेण्टर के अनुसार मनुष्य को ठण्डा करके गहरी सुषुप्तावस्था में पहुँचाया जा सकता है।

शीतनिद्रा के कारण भौतिक हों या हिप्नोटिज्म स्तर के, मानसिक हों अथवा समाधि स्तर के—आध्यात्मिक हों हर स्थिति में सर्वतोमुखी विश्राम एवं शांत, एकग्र समाधान की आवश्यकता अति महत्वपूर्ण समझी जाती रहेगी। उसे प्राप्त करके हम अतीन्द्रिय शक्ति सम्पादन से नये क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं।

योग निद्रा का तात्पर्य है चेतना का प्रवाह शरीर निर्वाह की दिशा में हटाकर अन्तःक्षेत्र की ओर मोड़ देना। सूखे खेत में पानी भरने पर उसमें हरियाली उगने का उपक्रम आरम्भ होता है। इसके दो लाभ होते हैं, एक तो उच्चस्तरीय क्षमता का अभिवर्धन, दूसरे निकृष्ट कुसंस्कारों का निराकरण। दोनों कार्य एक साथ चलने लगते हैं। प्रकाश बढ़ता है तो अन्धकार अनायास ही अपना स्थान छोड़ता है।

मानसिक तनाव एवं विक्षोभ के कारण व्यक्तित्व को अपार हानि होती है। यह उद्विग्नता और कुछ नहीं, अन्तराल की असमर्थता भर है। यह असमर्थता और कुछ नहीं, समुचित विश्राम न मिलने की प्रक्रिया है। यदि इस कुचक्र को तोड़ा जा सके तो मनःक्षेत्र को अभिनव परिपोषण मिल सकता है और उसकी सामान्य तथा असामान्य क्षमताओं का नये सिरे से विस्तार हो सकता है। कहना न होगा कि अन्तःक्षेत्र का यह लाभ भौतिक क्षेत्र की समस्त सफलताओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। मनःक्षेत्र के विकास को लक्ष्य रखकर किये जाने वाले किसी भी प्रयास को अति दूरदर्शिता पूर्ण कहा जा सकता है।

मनःक्षेत्र का बिखराव रोकने की प्रक्रिया ही ध्यानयोग है, इसके द्वारा सामर्थ्य की खपत जो बचत होती है उसका अधिकांश लाभ मस्तिष्क के उस क्षेत्र को मिलता है जिसे ब्रह्मचक्र, ब्रह्मरंध्र, सहस्रार आदि नामों से पुकारते हैं। यह इस क्षेत्र में अवस्थित दो अति महत्वपूर्ण ग्रन्थियों की समन्वित प्रक्रिया का भ्रम है। आज्ञाचक्र इसी को कहते हैं। ध्यानयोग की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में एक रुचिकर वैज्ञानिक तथ्य है कि इस दौरान मस्तिष्क का सक्रिय भाग तुरन्त पीनियल एवं पीटुटरी ग्रन्थियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह इनकी हारमोन्स स्राव करने की क्षमता में होने वाले परिवर्तनों से परिलक्षित होता है। ये दोनों ही स्थूल ग्रन्थियाँ अध्यात्म की दृष्टि से बड़ी रहस्यमय हैं। दोनों ही ऐसे रस का स्राव करती हैं, जो हमारी चेतना के स्तर को प्रभावित करते हैं।

पीनियल ग्लैंड को दार्शनिकों, रहस्यवादियों ने 'तीसरा नेत्र' एवं आत्मा का स्थान कहा है। हमारे प्रमुख सूक्ष्म शक्ति केन्द्रों में यह एक है तथा आध्यात्मिक विकास हेतु महत्वपूर्ण ग्रन्थि है। उच्च शक्तियों से सम्बन्ध जोड़ने में यह सहायक है। इसका पूर्ण जागरण हमारी चेतना को भावनात्मक और बौद्धिक स्तर से ऊपर उठाकर और अधिक सूक्ष्म जगत में ले जाता है।

पीटुटरी ग्लैंड को तो शरीर का सम्राट कहा जा सकता है। इस ग्रन्थि में स्नायु संस्थान एवं हारमोन संस्थान की परस्पर प्रक्रिया से ही रसस्राव होता है। सारे शरीर की अन्य हारमोन ग्रन्थियाँ चयापचयी एवं भावनात्मक प्रतिक्रिया को पीटुटरी प्रभावित करती है।

यह अनन्त विस्तृत परम चेतना का प्रवेश द्वार है। यह भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों का मिलन बिन्दु माना गया है। ध्यान साधना द्वारा इस ग्रन्थि को नियन्त्रित नियमित कर मनुष्य अपने स्थूल-सूक्ष्म एवं आत्मिक आवरणों का परिमार्जन कर सकता है, पूर्ण मानव बन सकता है।

जब भी कोई योगनिद्रा का अभ्यास करता है प्रत्येक बार शक्ति प्रवाह ब्रेनसर्किटों के मध्य नये सम्बन्ध स्थापित करता है। मस्तिष्क के अन्धेरे, निष्क्रिय क्षेत्र को प्रकाशित एवं सक्रिय करता है। यह हमारी चेतना को बाह्य जगत के उसके पूर्ण व्यवसाय से अलग करता है तथा उसकी अचेतन क्रियाओं को चेतन नियन्त्रण में लाता है।

चिकित्सा क्षेत्र में योग निद्रा का उपयोग शारीरिक एवं मानसिक रोगों की निवृत्ति के लिए किया जा रहा है और उसमें आशातीत सफलता भी मिल रही है। अमेरिका में अकेले डॉ. हार्समैन ही नहीं अन्य १६ बड़े-बड़े डाक्टर इस सम्मोहन पद्धति का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक कर रहे हैं। डॉ. हार्समैन का दावा है कि सम्मोहन पद्धति से महिलाओं को पीड़ा रहित प्रसव कराया जा सकता है तथा क्षय रोग के रोगियों तथा हृदय रोग के रोगियों को भी यह सम्मोहन पद्धति बड़ी कारगर रही है क्योंकि इन रोगों में लम्बे समय तक बेहोशी की दवा पर मरीज को रखना खतरनाक है।

सम्मोहन क्रिया द्वारा अब तो कृत्रिम हृदय प्रत्यारोपण अथवा लम्बे समय तक के आपरेशनों तक में सफलता प्राप्त कर ली गई है। सम्मोहन पद्धति से अति जटिल आपरेशन, मस्तिष्क का आपरेशन, भीतरी टूटी हड्डियों की निकालना, आंतरिक घाव अथवा अति वेदनाशील आपरेशनों पर भी सफलता प्राप्त कर ली गई है। जहाँ औषधियाँ कारगर नहीं होतीं, जैसे आदतें अथवा

स्वभाव में परिवर्तन, वहाँ भी सम्मोहन क्रिया के बड़े अच्छे परिणाम सामने आये हैं। जिन व्यक्तियों को दिन में ६० से ७० तक सिगरेटें पीने की आदत थी, उन्हें सम्मोहन क्रिया द्वारा केवल १० सिगरेटों तक सीमित करने में एवं अन्ततः छुड़वाने में भी सफलता मिली है। इसी प्रकार अधिक खाने वालों की भूख को सन्तुलित किया जा सकता है और अधिक मोटापे को कम करने के लिए भी प्रयोग सफल रहे हैं।

अनेकों नशे की गोलिएँ खाकर सोने वालों, शराबियों, नाखून कुतरने की बुरी आदत वालों, बिस्तर पर पेशाब करने वालों तथा अँगूठा चूसने वाले बालकों पर भी पूरी तरह सम्मोहन क्रिया सफल रही है।

मनः तत्त्व के विज्ञान एवं उपचार में योगनिद्रा का अति महत्वपूर्ण स्थान है। उसके हल्के भारी अनेक प्रयोग विनियोग हैं इन्हें समझने-अपनाने का प्रयत्न विज्ञान सम्मत आधार पर किया जाय तो निःसन्देह उसका इतना महत्वपूर्ण लाभ जन समाज को मिल सकता है जितना भौतिक अनुसंधान आविष्कार से भी नहीं मिल सका। पदार्थ का तुलना में यदि चेतना का महत्व स्वीकार किया जाता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि योग निद्रा जैसे अभ्यास व्यक्तित्व को अधिक समर्थ बनाने में और उस आधार पर सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करने में अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

मनःक्षेत्र में निहित परोक्ष संसार

स्वप्न क्या है और क्यों आते हैं ? जीवन से इनका क्या सम्बन्ध है ? इन्हें भविष्य-सूचक माना जाय अथवा वर्तमान और अतीत की व्यक्तिगत जीवन शैली की विशिष्ट देन कहा जाय ? इस संदर्भ में उपरोक्त किसी एक मत का समर्थन करना इसकी एकाकी व्याख्या होगी। सच्चाई तो यह है कि स्वप्न जीवन के संपूर्ण काल-खंड का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें वर्तमान जीवन की झाँकी मिलती है, विगत की अनुभूति होती है और अनागत के संकेत भी सम्मिलित होते हैं।

त्रुटि और भ्रांति इस संदर्भ में वहाँ रह जाती है, जहाँ इसके किसी एक पक्ष को लेकर अध्ययन किया जाता है और उसी को संपूर्ण सत्य स्वीकार लिया जाता है। उदाहरण के लिए फ्रायड को लिया जा सकता है। वह मनोवैज्ञानिक थे और उनका वास्ता मनोरोगियों से पड़ता था। उनसे ऐसे ही लोगों पर अपने स्वप्न सम्बन्धी अध्ययन किये। अतः निष्कर्ष भी वर्तमान जीवन की जटिलताओं से संबंधित प्राप्त हुआ। उनके अनुसार स्वप्न दमित इच्छाओं का परिमाण है। जुग इससे एक कदम

आगे बढ़े। अपने अनुसंधान में उन्होंने स्वप्न-स्रोत को "सामूहिक अवचेतन" नाम दिया। यह आते क्यों हैं ? इस संदर्भ में उनका मत था कि दमित इच्छाओं की पूर्ति तो इसका एक पक्ष है, पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू वह है, जिससे वह व्यक्तित्व को अखण्डता और समग्रता प्रदान करता है। इसका अभाव मानसिक असंतुलन पैदा करता है, ऐसा उनका मानना था। बाद के अध्येताओं ने इसमें एक नया अध्याय तब जोड़ा, जब इसे भावी जीवन की झाँकी कराने वाला एक आधार बताया। ऐसे ही एक सपने की चर्चा मार्क ट्वेन ने अपने जीवनी लेखक अल्बर्ट पैन से की थी।

प्रसंग तब का है, जब मूर्द्धन्य मनीषी मार्क ट्वेन, सैम क्लीमेन्स के नाम से जाने जाते थे एवं "पेन्सिलवेनिया" नामक जहाज पर सहायक पायलट थे। उनका बीस वर्षीय भाई हेनरी उसी जहाज में क्लर्क के पद पर कार्यरत था। एक रात सैम ने एक सपना देखा। उस दृश्य में उन्हें एक धात्विक ताबूत दिखाई पड़ा, जो दो कुर्सियों के सहारे टिका हुआ था इसमें हेनरी का शव था। शव के ऊपर सफेद फूलों का गुलदस्ता रखा हुआ था, जिसके मध्य में एक सुन्दर लाल रंग का पुष्प लगा था। जिन दिनों की यह बात है, उन दिनों सैम अपनी बहिन के घर सेण्टलुइस में रह रहे थे। प्रातः उन्होंने इसका उल्लेख अपनी भगिनी से किया और फिर जल्द ही इस बात को भूल गये।

कुछ दिन पश्चात् सैम का किसी प्रकरण को लेकर मुख्य पायलट से विवाद हो गया। इसके कारण सैम को एक अन्य जहाज "लैसी" में स्थानांतरित कर दिया गया। हेनरी पेन्सिलवेनिया में ही बना रहा। थोड़े दिन उपरांत जब लैसी मिसिसिपी नदी में ग्रीनविले बंदरगाह पर पहुँचा, तो ज्ञात हुआ कि पेन्सिलवेनिया में विस्फोट हो गया है, जिसमें डेढ़ सौ लोगों की जानें गईं। यह जानकर सैम ने राहत की साँस ली कि उनके भाई का मृतकों में नाम नहीं था, किंतु वह बुरी तरह घायल हो गया था और अचेतावस्था में पड़ा था। छः दिनों तक मृत्यु से कठिन संघर्ष करने के बाद हेनरी की अंततः मौत हो गई। सैम जब भाई की लाश के निकट पहुँचे तो यह देखकर हतप्रभ रह गये कि सपने में जैसा कुछ देखा था, बिल्कुल वही दृश्य सामने मौजूद था, अर्थात् धात्विक ताबूत में पड़ा हेनरी का प्राणहीन शरीर और उसके ऊपर श्वेत पुष्पों का गुलदस्ता, जिसके बीचों-बीच में एक लाल रंग का गुलाब। संपूर्ण ताबूत दो कुर्सियों पर रखा हुआ था। इस प्रकार उनका स्वप्न अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ।

एक ऐसे ही भविष्य सूचक सपने का वर्णन फ्रेडरिक ग्रीनवुड ने अपनी पुस्तक “इमेजिनेशन इन ड्रीम्स” में किया है। वे लिखते हैं कि एक रात उन्होंने सपना देखा कि व्यापार के सिलसिले में एक बार वे किसी से मिलने गये। वहाँ उन्हें एक सुन्दर सजे-सजाये कमरे में बिठाया गया और प्रतीक्षा करने के लिए कहा गया। वे कमरे में जल रही आग के समीप बैठ गये और मेण्टल पीस में हाथ रखकर सुस्ताने लगे। अचानक उन्हें हाथों के नीचे किसी बहुत ठण्डी वस्तु का आभास हुआ देखा, तो पाया कि उनका हाथ एक ताजा कटे हाथ के ऊपर है। कलाई के नीचे से कटा यह हिस्सा किसी महिला के हाथ का था। वे भयभीत हो उठे और इसी के साथ उनकी नींद टूट गई।

कई दिन बीत गये। सपने की बात स्मृति से उतर गई। किसी क्रम को लेकर एक बार उन्हें एक व्यक्ति से मिलना था। वे वहाँ पहुँचे, तो उन्हें एक छोटे से सुसज्जित कमरे में बिठाया गया। अकस्मात् उनका ध्यान मेण्टल पीस की ओर चला गया, तो वे चौंक उठे। सपने में उठने जो कुछ देखा था, अब वह उनके सम्मुख था। मेण्टल पीस पर कलाइयों से दूटी हुई एक स्त्री के हाथ की ममी पड़ी थी।

ग्रीनवुड कहते हैं कि स्वप्न और यथार्थ के बीच इसे एक संयोग कहा जा सकता है, पर संयोग यह इसलिए नहीं है, क्योंकि स्वप्न और वास्तविक संसार में इस प्रकार की दुर्लभ घटनाएँ विरले ही देखी जाती हैं। उक्त घटना से ग्रीनवुड हैरान रह गये। उनकी हैरानी किर्पलिंग के शब्दों में कहें, तो निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती है कि उनकी जीवन रूपी फिल्म का वह भाग, जो अभी रिलीज नहीं हुआ था, किस प्रकार और क्यों दिखाई पड़ गया ?

इस प्रश्न से समय की प्रकृति से संबंधित उस मान्यता का खण्डन हो जाता है, जिसके बारे में कहा जाता है कि जन्म लेते ही हर मनुष्य एक ऐसा टाइम-कण्टीनम (अंतहीन व लगातार) में प्रवेश करता है, जो एक दिशा में समरूप गति से फिल्म रील की तरह खुलता हो। प्रस्तुत अवधारणा के अनुसार कोई भी घटना समय से पूर्व घटित नहीं हो सकती, न तो समय से पहले विज्ञात बनाया जा सकता है। हमें समय के उस भाग से संबंधित घटनाओं का ही जानकारी मिल सकती है, जिसे सर्वसाधारण वर्तमान एवं अतीत के नाम से जानते हैं। उक्त धारणा के अनुसार भविष्य अग्राह्य और अगम्य है, पर व्यावहारिक जीवन में वस्तुस्थिति इसके विपरीत जान पड़ती है। ऐसी स्थिति में विकल्प शेष दो

ही रह जाते हैं—प्रथम अवधारणा इस मान्यता से आरंभ होती है कि “जैसा समझा जाता है, समय की प्रकृति वैसी है नहीं” एवं दूसरे प्रतिपादन में वैज्ञानिक यह कहते हैं कि “चेतना की प्रकृति आम धारणा के प्रतिकूल है।”

पहले मत का समर्थन जे. डब्ल्यू. डूने का प्रसिद्ध सिद्धांत “सीरियल टाइम (क्रमिक समय)” करता है। इसके अनुसार यदा-कदा यथार्थता और व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों में कोई असाधारण गलती हो जाती है। इसी त्रुटि के कारण हमें कभी-कभी घटनाएँ समय के संदर्भ में अपनी यथार्थ स्थिति से पहले, विस्थापित अवस्था में दिखाई दे जाती हैं। उनका विश्वास है कि वास्तविकता का एक पृथक आयाम है, जिसमें दिक्काल मिलकर एक हो जाते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट परिस्थितियों में घटनाएँ स्पेश ग्रहण कर लेती हैं और फैल जाती हैं। यही वह अवस्था है, जिसमें हमारी चेतना भूत और भविष्य के कुछ भाग को ग्रहण कर लेती है। वे कहते हैं कि अतीत और अनागत में इस प्रकार का प्रवेश अचेतन मन द्वारा ही संभव है। सपनों के माध्यम से यही क्रिया सम्पन्न होती है और यदा-कदा भविष्य की दर्शन-झाँकी हो जाती है।

दूसरी अवधारणा का समर्थन एच. एफ. साल्टमार्श का सिद्धांत करता है, जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रंथ “फ़ोर नॉलेज” में किया है। साल्टमार्श अपनी उक्त रचना में कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जिसमें ऐसा महसूस होता है, जैसे समय के पंख लग गये और वह उड़ गया। दूसरे अवसर पर यह प्रतीत होता है, जैसे समय ठहर गया हो। उक्त उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि चेतना की सामान्य भूमिका में समय की अनुभूति एकरूप नहीं है, इसलिए ऐसा महसूस होता है। इस आधार पर वे निष्कर्ष निकालते हैं कि चेतना की प्रकृति, समय की प्रकृति पर निर्भर करती है। यदि समय की प्रकृति बदल जाय, तो हमारी चेतना का स्तर भी परिवर्तित हो जायेगा और हम चेतना की किसी दूसरी भूमिका में पहुँच जायेंगे। उनका कहना है कि सामान्य स्थिति में हमारी इंद्रियाँ समय के अत्यंत छोटे भागों को ही ग्रहण कर पाती हैं, लेकिन अवचेतन स्तर के लिए यह छोटा भाग खिंच कर बहुत बड़ा और लंबा हो जाता है, इतना लंबा कि इसमें अनागत का कुछ अंश भी सम्मिलित हो जाता है। स्वप्न के दौरान यही दृश्यमान बनता है। इसकी पुष्टि मस्तिष्क संबंधी आधुनिक अध्ययनों से भी हो जाती है। मस्तिष्क विज्ञानियों की अधुनातन शोधों से विदित हुआ है कि दिमाग का बायाँ भाग सूचनाओं को क्रमिक, तार्किक और रैखिक रूप में तैयार करता है, जबकि दायीं हिस्सा सभी

सूचनाओं को साथ-साथ तैयार करता है। उसे रैखिक समय का कोई ज्ञान नहीं होता अथवा बहुत स्वल्प होता है। ऐसी स्थिति में यदि दायाँ हिस्सा क्षतिग्रस्त हो जाय तो सूचनाओं के क्रम और उनकी ग्रहणशीलता में कोई अन्तर नहीं आता, किंतु यदि बायें भाग को कोई हानि पहुँच जाय तो इससे समय के हिसाब से संदेशों का क्रम बिगड़ जायेगा। इस अनुसंधान के आधार पर विशेषज्ञ बताते हैं कि स्वप्न दर्शन में ब्रेन के दायें गोलार्द्ध का योगदान ही महत्वपूर्ण होता है। वही विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध जानकारी को मिलाता और एक समग्र जानकारी तैयार करता है। विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार इसमें भविष्य संबंधी जानकारी भी सम्मिलित हो सकती है। स्वप्न-प्रक्रिया में बायें गोलार्द्ध का कार्य मात्र इतना है कि वह स्वप्न-विषय को क्रमिक ढंग से सजा दे।

यह तो भविष्य-दर्शन संबंधी सिद्धांत हुए, पर उन सपनों का क्या तात्पर्य है, जो दैनिक जीवन की जटिलताओं और व्यक्तिगत समस्याओं से संबंधित होते हैं? फ्रायडवादी मान्यता के अनुसार वह मात्र जीवन-पद्धति और व्यक्तिगत रुझान का संकेत करते हैं, जिन्हें जानकर जीवन-शैली और व्यक्तित्व की प्रकृति का पता लगाया जा सकता है। बस उस मतवाद में सपनों का इतना ही महत्व है, पर आधुनिक जेस्टाल्ट मनोविज्ञान की इस संबंध में भिन्न धारणा है।

‘जेस्टाल्ट’ एक जर्मन शब्द है, जिसका अर्थ है—‘संरचना’। इस प्रकार जेस्टाल्ट मनोविज्ञान का मूलभूत भाव हुआ एक ऐसा मनोविज्ञान, जिसमें समस्याओं को ग्रहण किया जाय, उन्हें समझा और फिर सुलझाया जाय। इसी मनोविज्ञान पर जेस्टाल्ट थैरेपी आधारित है। इस थैरेपी की स्वप्न संबंधी अवधारणा यह है कि स्वप्न व्यक्तित्व का एक अपूर्ण क्रिया-व्यापार है, इसी अपूर्णता को इस उपचार-पद्धति द्वारा पूरा किया जाता है। अचेतन द्वारा व्यक्तित्व के संबंध में दृश्य संकेतों के माध्यम से जो कुछ प्राप्त होता, व्यक्ति उसका उपयोग समग्र व्यक्तित्व के विकास में कर सकता है और साथ ही किसी एक स्थान पर इकट्ठी ऊर्जा को मुक्त कर उसकी हानियों से बच सकता है। इस क्रम में स्वप्न द्रष्टा को एक प्रकार से स्वप्न-दृश्य का अभिनय करना पड़ता है। इसमें कल्पना-चित्रों का सहारा लेते हुए संपूर्ण नाटक का उपचार के समय दोबारा मंचन करना होता है। इसके साथ ही उपचार संपूर्ण हो जाता है।

उक्त उपचार पद्धति के जनक मनोविज्ञानी प्लर्स के अनुसार व्यक्तित्व के पाँच स्तर होते हैं। इन सभी स्तरों के ठीक ढंग से काम करने पर ही कोई समग्र व्यक्तित्व

को संपूर्ण रूप से जी सकता है। इलाज के समर्थ व्यक्ति को इन पाँचों स्तरों से होकर गुजारा जाता है, तभी स्वप्न की अपूर्ण क्रिया पूरी हुई मानी जाती है। इसके साथ ही व्यक्तित्व की समग्रता प्राप्त कर ली जाती है।

मनोवैज्ञानिक ईवांस के अनुसार स्वप्न एक ऐसी क्रिया है, जो मस्तिष्क को अनुकूलन और अस्वीकृति जैसे उसके दैनिक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में सक्षम बनाता है। यह कार्य कम्प्यूटर जैसी एक प्रक्रिया द्वारा संपन्न होता है, जिसमें कार्यक्रम को समय और परिस्थिति के हिसाब से बदलने और सुधारने की पूरी व्यवस्था होती है, ताकि व्यक्ति बदली परिस्थितियों में चुनौती का सफलतापूर्वक सामना कर सके। विशेषज्ञों के अनुसार यदि यह क्रिया संपादित न हो, तो व्यक्ति की कार्यक्षमता प्रभावित होने लगती है। इसलिए प्रकृति द्वारा ऐसा प्रावधान किया गया है, जिससे मस्तिष्कीय कार्यकुशलता और व्यक्ति की क्षमता सर्वथा अप्रभावित बनी रहती है। स्वप्न में वर्तमान की झाँकी होती है और भविष्य में झलकी भी। इस दृष्टि से जीवन के लिए वे उपयोगी भी हैं तथा आवश्यक भी।

स्वप्न संबंधी मनोवैज्ञानिक एवं अधुनातन वैज्ञानिक शोधें अब जिस निष्कर्ष पर पहुँचती जा रही हैं वह एक ही तथ्य का उद्घाटन करती हैं कि मानवी मस्तिष्क उतना नहीं है, जितना दीख पड़ता है। इसका एक बहुत बड़ा हिस्सा उन क्रिया-कलापों में सतत संलग्न रहता है जो परोक्ष स्तर के हैं। कैसे उनका अधिकाधिक लाभ निज के उत्थान व परिष्कार के लिए किया जाय, साधना विज्ञान का सारा ऊहापोह इसी के चहुँओर है।

आत्मिक प्रगति के तीन अवरोध

आत्मिक प्रगति के पथ पर अवरोध उत्पन्न करने वाली दुष्प्रवृत्तियों में तीन साधन हैं। इन्हें ताड़का, सूर्पनखा और सुरसा की उपमा दी जाती है। इन्हें निरस्त किये बिना असुरता के चंगुल में फँसी हुई सीता का, आत्मा का, उद्धार नहीं हो सकता। इन्हें पुत्रेष्णा, वितेष्णा और लोकेष्णा कहा जाता है। वासना-तृष्णा और अहंता की प्रवृत्तियाँ ही सबल होने पर इन एषणाओं के रूप में परिलक्षित होती हैं।

इन्द्रिय वासनाओं में यों सभी अपने-अपने ढंग की खींचतान करती हैं। पर उनमें रसना और कामुकता को प्रमुख माना गया है। चटोरपन के कुचक्र में पेट पर अभक्ष्य पदार्थों का अनावश्यक भार लदता है। अपच के फलस्वरूप शरीर में अगणित रोग उत्पन्न होते हैं। दुर्बलता और रुग्णता प्रसित होकर अकाल मृत्यु का प्रास

बनना पड़ता है। अस्वस्थता की विपत्ति बढ़ाने में जिह्वा का चटोरपन भयंकर शत्रु से भी अधिक आक्रमणकारी और विघातक सिद्ध होता है। वासना की दूसरी प्रवृत्ति है-कामुकता। यौनाचार की कल्पना और क्रिया में उलझा हुआ मस्तिष्क अपनी अति महत्वपूर्ण क्षमता को ऐसे जंजाल में फँसा देता है जिसमें, पाना रस्तीभर और गँवाना पहाड़ भर पड़ता है। प्रकृति की चतुरता ही कहिए कि उसने प्राणियों की संख्या बनाये रहने के लिए कष्टसाध्य भार उठाने के लिए यौनाचार की सरसता उत्पन्न कर दी। यदि यह उन्माद न चढ़ता तो कदाचित ही कोई प्राणी प्रजनन की अति कठिन और अतीव बोझिल प्रक्रिया को अपने कंधों पर लादने के लिए तैयार होता।

वासनाओं में जीभ के चटोरपन पर रोकथाम करना आवश्यक है। पेट में कोई वस्तु तभी पहुँचने दी जाय जब कड़ाके की भूख उसके लिए तीव्रतापूर्वक माँग करती हो। सात्विक, सुपाच्य पदार्थ स्वच्छतापूर्वक शान्त चित्त से सीमित मात्रा में ग्रहण किये जायें। जो खाया जाय औषधि रूप हो। स्वाद की उत्तेजना तो नशेबाजी की तरह है, जिसमें हर दृष्टि से हानि ही हानि उठानी पड़ती है।

दूसरे यौनाचार लिप्सा के सम्बन्ध में और भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। जो जीवन रस, हमारे ओजस्-तेजस् और ब्रह्मवर्चस् का आधार है उसे क्षणिक आवेश में ऐसे ही गँवाते रहने की गलती को सुधारना ही समझदारी है।

बच्चे उत्पन्न करने से पहले तो हजार बार विचार किया जाना चाहिए कि अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और पारिवारिक स्थिति सुयोग्य और समर्थ नये नागरिक प्रस्तुत कर सकने की है या नहीं। यह एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है जिसे पूरा करने का साहस मात्र समर्थ लोगों को ही करना चाहिए। प्रत्येक बच्चा अपनी माता पर शारीरिक दबाव डालता है, पिता पर आर्थिक बोझ लादता है, राष्ट्र से अपनी आवश्यकताओं के नये साधन जुटाने की माँग करता है। किसी जमाने में जनसंख्या कम थी और उत्पादन बढ़ाने के लिए नये नागरिकों की आवश्यकता अनुभव की जाती थी। आज तो स्थिति बिल्कुल उलट गई। बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए निर्वाह के साधन जुटाना अति कठिन हो रहा है।

हर समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि भौतिक सुव्यवस्था एवं आत्मिक प्रगति के दोनों प्रसंगों का ध्यान रखते हुए वासना पर, संतानोत्पादन पर अधिक्राधिक नियन्त्रण रखे और उस अपव्यय से सामर्थ्य को बचाकर ऐसे कार्यों में लगाये जिनसे आत्मिक प्रगति और लोक-कल्याण का दुहरा प्रयोजन सिद्ध हो सके।

दूसरा अवरोध है—तृष्णा-वितेषणा। धन की उपयोगिता असंदिग्ध है। उसके उपार्जन का औचित्य सर्वत्र समझा जाता है और हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से उसकी पूर्ति भी करता है। उचित मार्ग से कमाया हुआ और उचित प्रयोजनों में खर्च किया गया धन सराहनीय ही माना जाता है। गड़बड़ी तब उत्पन्न होती है जब वह अनुचित तरीकों से कमाया जाता है और उसका उपयोग विलासिता में, दुर्व्यसनों में, उद्धत प्रदर्शनों में किया जाता है। अनीति-उपार्जन की तरह अपव्यय भी निन्दनीय है। जिस समाज के हम अंग हैं उसी की स्थिति के अनुरूप औसत दर्जे का मापदण्ड अपनाते हुए सादगी की रीति-नीति अपनानी चाहिए। 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त को भली प्रकार समझा जाना चाहिए। अमीरी का रहन-सहन मनुष्य को उठाता नहीं, गिराता है। इससे असमानता की खाई उत्पन्न होती है। दुर्व्यसन बढ़ते हैं और ईर्ष्या-द्वेष भरा कलह संघर्ष खड़ा होता है। अस्तु उचित यही है कि कठोर श्रमपूर्वक कमायें और उसमें सादगी से, औचित्य की मात्रा का ध्यान रखते हुए सादगी की निर्वाह नीति अपनायें। जो बचता हो उसका कृपणतापूर्वक संग्रह न करें वरन् संसार से पीड़ा और पतन कम करने के लिए उदारतापूर्वक उसका उपयोग मुक्त हस्त से करते रहें। सन्तान को सुयोग्य और स्वावलम्बी बना देना पर्याप्त है। उत्तराधिकार में उनके लिए विपुल सम्पत्ति छोड़ने की बात सोचने का अर्थ है, उन्हें अपाहिज और परावलम्बी बनने जैसी हीनवृत्ति का शिकार बनाना। इससे बालकों को अन्ततः हानि ही हानि उठानी पड़ती है। वे परस्पर झगड़ते हैं। आलसी, अहंकारी और दुर्व्यसनी बनते हैं। कमाई वही फलती-फूलती है जो नीतिपूर्वक कठोर श्रम करते हुए कमाई जाती है। बच्चे इसी मार्ग पर चलते हुए अपना गुजारा करें, इसी में औचित्य है। उनके लिए सम्पदा छोड़ मरने की कृपणता अपनाने में कोई औचित्य नहीं है। बुद्धिमत्ता इसी में है कि परिवार के भरे निर्वाह से जो कुछ बचता हो उसे समाज का ऋण चुकाने में, लोक मंगल में उदारतापूर्वक हाथों-हाथ व्यय किया जाता रहे। इस अर्थ नीति को अब युग मान्यता मिल चुकी है। साम्यवाद, समाजवाद के अन्तर्गत यही व्यवस्था बनने जा रही है। प्रजातन्त्र राष्ट्र भी बढ़ी हुई सम्पत्ति को भारी टैक्सों द्वारा लोक हित के लिए बलपूर्वक वापिस ले रहे हैं। अध्यात्म मार्ग में अपरिग्रह और दान पुण्य की महिमा आरम्भ से ही गाई जाती रही है। साधु, ब्राह्मण वैसी ही निर्वाह पद्धति की सार्थकता अपने ऊपर प्रयोग करते हुए चिरकाल से सिद्ध करते रहे हैं।

वित्तवश-तृष्णा की बढ़ी हुई मात्रा अनीति उपार्जन के लिए प्रोत्साहित करती है। विविध-विधि अपराध उसी के कारण होते रहते हैं। यदि निर्वाह के लिए उपार्जन तक सन्तुष्ट रहा जा सके तो श्रम, धन और मनोयोग की पर्याप्त बचत हो सकती है और उसे महान प्रयोजनों में लगाने पर जीवन को धन्य बनाने वाले आधार खड़े हो सकते हैं। इन उज्ज्वल सम्भावनाओं से वित्तवश ही हमें वंचित करती है। तृष्णा को सीमित किया जा सके तो दूसरे महत्वपूर्ण लक्ष्य समाने आ सकते हैं और उनमें संलग्न रहकर महामानवों जैसी गतिविधियाँ अपनाया जाना सम्भव हो सकता है।

लोकेषणा में श्रेष्ठ सत्कर्म करते हुए लोक श्रद्धा अर्जित करने का उच्चस्तर ही अपनाये जाने योग्य है। शेष नीचे की सभी उद्धृत अर्थात् हेय मानी जाने योग्य हैं। अहंकार प्रदर्शन के लिए लोग अनावश्यक ठाठ-बाट रोपते हैं। अमीरी का सम्मान पाने के लिए जितना समय और धन व्यय किया जाता है, प्रदर्शन का आडम्बर संजोया जाता है, शेखीखोरी का घटा टोप रोपा जाता है, उसे छल-प्रपंच भरी विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? इस जंजाल में जितनी शक्ति खपती है यदि उसकी चौथाई भी महानता के सम्पादन में लग सके तो वास्तविक उन्नति का विशालकाय भवन निर्माण उतने भर से ही सम्भव हो सकता है।

आपाधापी, छीना-झपटी, लूट-खसोट, जितनी धन के क्षेत्र में होती है, उससे भी अधिक सम्मान के लिए मचती है। लोग श्रेय सम्मान पाने के लिए आतुर रहते हैं, पर उसके सीधे मार्ग आदर्श चरित्र और सेवा क्षेत्र में किये जाने वाले त्याग, बलिदान की कष्टसाध्य प्रक्रिया अपनाने में कतराते हैं। सस्ते हथकण्डों से उसे अपनाया चाहते हैं। किसी प्रकार प्रवचन वेदी पर जा बैठने और वहाँ दूसरों को बढ़ी-चढ़ी नसीहतें देने की कला प्रवीणता तो सम्मान पाने का सस्ता तरीका मान लिया गया है। येन-केन प्रकारेण लोगों की आँखों में अपना बड़प्पन और जानकारी में परिचय उतार देने की व्याकुलता में अनेक लोगों को नेतागारी का ढोंग बनाते और शौक पूरा करते देखा जाता है। ऐसे लोग जिस-तिस संस्था में घुसने और किसी प्रकार उसका बड़ा पद हथियाने के जोड़-तोड़ मिलाते रहते हैं। यह चतुरता जितनी सफल होती है, उतना ही परिचय क्षेत्र बढ़ता है और उस सम्पर्क द्वारा प्रकोरान्तर से अनेक प्रकार के परोक्ष लाभ उठाये जाते हैं। चन्दा डकार जाने और हिसाब-किताब में गोलमाल करने की संस्थाओं में पूरी गुंजायश रहती है। व्यक्तिगत हानि न होने से जाँच पड़ताल भी कड़ी नहीं होती। ऐसी दशा में संस्थाओं पर जिनके अधिकार होते हैं उन्हें पैसे

सम्बन्धी गोलमाल करने का भी लाभ मिलता रहता है। यश, सम्मान, परिचय का परोक्ष लाभ और पैसा जैसे लाभों को यदि मात्र स्टेज-कौशल, वाचलता, संस्थावाजी, नेतागिरी के आधार पर सस्ते मोल में खरीदा जा सकता है तो उसे कौन छोड़ना चाहेगा। इसी लूट के माल पर आपा-धापी और हाथा-पाई होती है। गुटबन्दी खड़ी होती है। झूठे-सच्चे इल्जामों की बाढ़ आती है और उस रस्साकसी में उपयोगी संस्थाएँ भी बदनाम तथा नष्ट होती देखी गई हैं। किसी समय जो अमुक संस्था के प्रमुख कार्यकर्ता थे वे ही उसकी जड़ें काटते देखे गये हैं। यह सार्वजनिक जीवन का अभिशाप है। सेवा क्षेत्र को कलुषित करने में सबसे विघातक प्रवृत्ति कार्यकर्ताओं की पद लिप्सा, अधिकार लिप्सा और सस्ती वाहवाही लूटने की हेय मनोवृत्ति ही प्रधान कारण होती है।

लोकेषणा का उन्माद यदि मन पर से उतर सके तो सार्वजनिक जीवन में ऐसे असंख्य लोकसेवी मिल सकते हैं जो नींव के पत्थर बनकर चिरस्थायी ठोस काम कर सकें और साधियों के लिए अपनी नम्र निस्पृहता के कारण प्राण प्रिय बने रह सकें। लोकेषणा ही उन्हें अनेकानेक प्रपंच सिखाती है। जिस प्रकार वित्तवश से प्रेरित लोग अनेकानेक दुष्कर्म अपनाकर अनीति की कमाई करते हैं, ठीक उसी प्रकार लोकेषणा प्रेरित तथाकथित लोक सेवी साधियों को गिराने, उखाड़ने से लेकर अनेकों भ्रष्ट तरीके अपनाते और अपने तनिक से यश, स्वार्थ के कारण सार्वजनिक जीवन में नाक को सड़ा देने वाली दुर्गन्ध गन्दगी पैदा करते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में बड़प्पन की छाप छोड़ने के लिए आतुर व्यक्ति उद्धृत प्रदर्शनों में, ठाठ-बाट में, सज-धज में, शेखीखोरी में समय और धन का बुरी तरह अपव्यय करते हैं। यदि लोकेषणा का उन्माद मस्तिष्क पर से उतारा जा सके और नम्रता, सज्जनता, सादगी, शालीनता का महत्व समझाया जा सके तो उपयोगी कार्यों में लगाई जा सकने योग्य ढेरों शक्ति बच सकती है और उससे ठोस परिणाम प्रस्तुत करने वाले रचनात्मक कार्य सम्भव हो सकते हैं। सादगी और नम्रता से भरा हुआ निरहंकारी स्वभाव हर किसी के प्राणप्रिय लगता है, ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा विरोधियों के मुख से भी निकलती है। वे अपने लिए हर किसी के मन में अपना स्थान बनाते हैं। उच्चस्तरीय श्रद्धा, सम्मान एवं सहयोग के अधिकारी बनते हैं। उद्धृत प्रदर्शनों से बड़प्पन की धाक जमाने वाले प्रपंचियों की तुलना में विनम्र सज्जनता कितनी सस्ती और कितनी प्रभावशाली सिद्ध होती है, इसे कोई भी दूरदर्शी व्यक्ति दूसरे सज्जनों की गतिविधियों के

तथा अपने अनुभव के आधार पर सहज ही जान सकता है।

वासना, तृष्णा और अहंता के क्षेत्र में बरता गया अतिवाद मनःक्षेत्र को कलुषित करने में संक्रामक रोगों की तरह विघातक सिद्ध होता है। पुत्रेष्णा, वित्तेष्णा और लोकेष्णा की दुष्प्रवृत्तियाँ चिन्तन तन्त्र को बुरी तरह लड़खड़ा देती हैं। यदि जीवन को सार्थक बना सकने के योग्य उच्चस्तरीय मनोभूमि का निर्माण आवश्यक समझा जाय तो उसे त्रिविध विनाशकारी विपत्तियों से बचाये रहना ही उचित है।

आत्मिक प्रगति में बाधक-अवरोधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

विश्व के सभी तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्य की मूलभूत सत्ता को 'सत्य शिवं सुन्दरम्' से युक्त माना है। प्लेटो का कहना है कि "मनुष्य की अन्तरात्मा शक्तियों एवं सौन्दर्य का भण्डागार है, विकृतियाँ तो मन और भौतिक जगत के संयोग की उपज होती हैं।" प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा ने मनुष्य को पूर्ण माना है। उसका कहना था कि अपनी मूलसत्ता तथा सम्बद्ध निर्देशों की विस्मृति के कारण ही वह अपूर्ण बनता है। रूसो कहता था कि "सृष्टि के निर्माता ने सभी वस्तुएँ सुन्दर बनायी हैं, मनुष्य तो उसकी सर्वोत्तम कलाकृति है, पर अपने ही हाथों मनुष्य अपने सौन्दर्य को नष्ट करता तथा स्वभाव को विकृत बनाता है।" सन्त इमर्सन का कथन है कि "मनुष्य परमात्मा का प्रतीक-प्रतिनिधि है, पर विकृत-आचरण के कारण उस गरिमा को गँवा बैठता है और अन्ततः दुःख कष्ट भोगता है।" संसार के मूर्ख मनःचिकित्सकों में डॉ. विलियम ब्राउन, चार्ल्स युंग, डॉ. एमील कुए आदि की विचारधारा भी लगभग इसी प्रकार की है। वे सभी मनुष्य की मूलभूत सत्ता को सुन्दरतम परिपूर्ण और शक्तियों का अजस्र स्रोत मानते हैं।

इमील कुए का मत था कि मनुष्य की आत्मा में अनन्त शक्ति है। पर आत्म-विस्मृति के कारण उस सामर्थ्य का लाभ नहीं उठा पाता और असमर्थता की अनुभूति करता रहता है। आत्मसत्ता के निर्देशों का परिपालन न करने और बहिर्मुखी मन के आदेशों का गुलाम बने रहने से व्यक्तित्व की पूर्णता खण्डित होती और अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। द्वन्द्व की हालत में आन्तरिक शक्तियों का नियोजन एक दिशा विशेष में नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में मनुष्य के भीतर दो प्रकार के व्यक्तित्व परस्पर विरोधी आचरण करने लगते हैं। अन्तरात्मा अपनी विशेषताओं के अनुरूप प्रेरणा

देती है जबकि मन बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का गुलाम होता है। फलस्वरूप दोनों का सामंजस्य नहीं बन पाता। फलतः मनुष्य अपनी सामर्थ्य का सही लाभ नहीं उठा पाता।

आधुनिक मनोविज्ञान की शोधों के अनुसार मानवी सत्ता के भीतर परस्पर दो विरोधी व्यक्तित्वों का संघर्ष अनेकों प्रकार के मानसिक रोगों को जन्म देता है तथा आन्तरिक शक्तियों को क्षीण करता है। मानसिक अशान्ति, क्लेश, भय, चिन्ता, आशंका, इच्छा शक्ति की दुर्बलता, आत्म-विश्वास की कमी तथा अनेकों प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक रोगों का एक प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य के भीतर काम करने वाले दो व्यक्तित्व के बीच परस्पर सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता। यदि उन दोनों के बीच परस्पर एकता बन सके तो मनुष्य असामान्य शक्ति का स्वामी बन सकता है। मनःशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य अपने बाह्य व्यक्तित्व में सैद्धान्तिक दृष्टि से नैतिक, सदाचारी और महान हो सकता है, पर भीतरी व्यक्तित्व में अनुदार, अनैतिक क्रूर और व्यभिचारी बने रहने से अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। यही हर प्रकार के मानसिक असन्तुलनों का कारण बनता है।

अध्यात्म तत्त्ववेत्ताओं के अनुसार मूलतः अन्तःकरण की संरचना दैवी तत्त्वों से हुई है। स्नेह, सौजन्य, सद्भाव जैसी सत्प्रवृत्तियाँ ही उसमें भरी पड़ी हैं। इस क्षेत्र से जीवन क्रम को श्रेष्ठ बनाने तथा महानता के पथ पर अग्रसर होने की ही अदृश्य प्रेरणाएँ उठा करती हैं। सामान्यतया अन्तःकरण की दैवी चेतना दुष्प्रवृत्तियों को जीवन सत्ता में प्रवेश करने की छूट नहीं देना चाहती, पर जब इस क्षेत्र में निकृष्टता प्रविष्ट करती है तो उसकी सहज प्रतिक्रिया होती है। दोनों के बीच संघर्ष छिड़ता है। यही देवासुर संग्राम है जो मनुष्य के अन्तरंग में चलता रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे ही अन्तर्द्वन्द्व के रूप में निरूपित किया है। संघर्ष की प्रतिक्रियाएँ सीमित स्थान तक नहीं रहती हैं—समीपवर्ती क्षेत्र को भी प्रभावित करती हैं। जहाँ युद्ध होते हैं, जिनके बीच लड़े जाते हैं, प्रभाव उन्हीं तक सीमित नहीं रहता। जन-सामान्य भी हानि उठाता है। द्वन्द्व तो भीतर चलता है पर उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया दिखायी पड़ती है। मन और तन दोनों ही क्षेत्रों से विकृतियाँ शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधियों के रूप में फूट-फूटकर निकलती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ आत्मसत्ता पर आधिपत्य जमाने के लिए जी-जान से प्रयत्न करती हैं। अन्तरात्मा को यह दबाव असह्य होता है। वह विरोध पर अड़ी रहती है, फलस्वरूप मनुष्य के अन्तराल में संघर्ष चलता है जिसके दुष्परिणाम शोक सन्तापों के रूप में, रोग-क्लेशों के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

मनःशास्त्री इस स्थिति को 'डबल परसनाल्टी'-दुहरा व्यक्तित्व कहते हैं। एक शरीर में दो परस्पर विरोधी व्यक्तियों का होना शरीर शास्त्रियों के अनुसार भी हर दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होता है तथा अनेकों प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करता है। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में हुई शोधों से भी यह निष्कर्ष निकला है कि एक शरीर में दो व्यक्तित्व का होना मनुष्य के लिए खतरनाक हो सकता है। श्री. एस. जे. डायमण्ड नामक विद्वान एवं न्यूरोसाइकॉलोजी विशेषज्ञ ने एक पुस्तक लिखी है—'इन्ट्रोड्यूसिंग-न्यूरोसाइकॉलोजी।' पुस्तक में बताया गया है कि किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों के मस्तिष्क में व्यक्तित्व की दो परतें विकसित हो जाती हैं तथा स्वतन्त्र रूप से दो मस्तिष्कों के रूप में अलग-अलग व्यक्तित्वों का परिचय देती हुई काम करने लगती हैं। सामान्यतया मनुष्य के दृष्टितन्त्र की कार्यप्रणाली दोनों सेरिब्रेल-हेमीस्फियर के संयुक्त प्रयास से काम करती है, पर किन्हीं-किन्हीं में दाहिने और बायें सेरिब्रेल हेमी स्फियर में परस्पर तालमेल नहीं बिठा पाता और वे स्वतन्त्र तथा परस्पर एक-दूसरे के विरोधी आचरण का परिचय देने लगते हैं। लेखक के अनुसार ऐसे व्यक्तित्वों में सामान्य मनुष्य की तरह एक नहीं, अपितु दो भिन्न-भिन्न दृश्य जगत् का अनुभव होता है।

'साइन्टिफिक अमेरिकन' पत्रिका के नवम्बर १९८१ अंक में प्रकाशित एक शोध प्रबन्ध में डॉ. जे. डाक्स तथा एस. एस. गर्जोनिगा नामक दो चिकित्सा शास्त्रियों का मत है कि मस्तिष्क के दोनों सेरिब्रेल हेमीस्फियर कभी-कभी अपनी-अपनी दिशा के अंगों को परस्पर विरोधी निर्देश भी देने लगते हैं। उदाहरणार्थ एक रोगी के परीक्षण में उन्होंने पाया कि उसका बायाँ हाथ जब भी गाडन का फीता बाँधने का प्रयत्न करता, दाहिना उसी समय उसे खोलने का प्रयत्न करने लगता। इसी प्रकार एक दूसरा रोगी जब भी घास काटने की मशीन की हैंडिल पर एक हाथ रखता। एक हाथ उसे आगे चलाता तो दूसरा हाथ उसे पीछे की ओर उल्टी दिशा में धकेलने लगता। ऐसी स्थिति में रोगी की मानसिक उत्तेजना बढ़ जाती तथा वह अव्यावहारिक आचरण करने लगता। इसी तरह एक तीसरा रोगी जब पढ़ने के लिए बाँये हाथ से पन्ने उलटता तो दायाँ हाथ बार-बार उसे पलट देता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वह दायें हाथ को नीचे दबाकर उसी के ऊपर बैठ जाता। ऐसी हालत में प्रायः उसका स्वभाव उग्र हो जाता और वह पागलों जैसे व्यवहार करने लगता था। एक अन्य परीक्षण में देखा गया कि एक रुग्ण लड़की जब कभी भी आवश्यकता से अधिक सोती थी अथवा टेलीविजन में

अवांछनीय दृश्य देखती थी तो अनायास ही उसका बायाँ हाथ उसकी गाल पर चपत लगाने लगता था। लड़की का कहना था कि जाग्रतवस्था में वह इस कृत्य को रोकने का प्रयास करती पर असफल रहती थी।

प्रख्यात मनःशास्त्री प्रिंस मार्टिन ने अपनी मनोविज्ञान की एक पुस्तक में श्रीमती व्यूसाम्प नामक एक ऐसी महिला का उल्लेख किया है जिसके भीतर एक साथ दो व्यक्तित्व रहते थे। जिसमें एक का स्वभाव सन्त जैसा था जबकि दूसरे का शैतान जैसा। दोनों का व्यवहार परस्पर विरोधी होने से लड़की मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सदा रुग्ण रहती थी। उसके जीवन पर कभी एक व्यक्तित्व हावी रहता तो कभी दूसरा। उदाहरण के लिए अपने नियत स्थान पर सन्त स्वभाव का व्यक्तित्व यदि कोई पुस्तक रख देता था तो दूसरा थोड़ी देर बाद उठाकर किसी ऐसे स्थान पर छुपाकर रख देता था जिसे ढूँढ़ने में भी कठिनाई होती थी। लड़की के निकटवर्ती सगे-सम्बन्धियों ने इस तरह के परस्पर विरोधी व्यवहारों से युक्त व्यक्तित्वों के कृत्यों की पुष्टि की।

मनोविज्ञानियों ने व्यक्तित्वों के अन्तर्द्वन्द्व को समस्त मनोविकारों एवं मनोरोगों की जड़ माना है। आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व की परतों के अध्ययन-विश्लेषण तक सीमित है। अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति किस प्रकार हो, उसके लिए इतना कहकर चुप हो जाता है कि परस्पर दो व्यक्तियों के रूप में विघटित मानवी सत्ता में ऐक्य स्थापित किया जाय तभी द्वन्द्वों से छुटकारा पा सकना सम्भव है। दूसरा व्यक्तित्व क्यों विकसित हो जाता है जो मनुष्य को दुष्कृत्यों में, अनैतिक गतिविधियों में निरत करता है ? इस दिव्य द्वन्द्वात्मक स्थिति से छुटकारे के लिए कोई ठोस उपाय मनोविज्ञान नहीं बताता। अध्यात्म मनोविज्ञान की मान्यताएँ इस गुत्थी को सुलझाने एवं समाधान प्रस्तुत करने में सहयोग देती हैं।

अध्यात्म मनोविज्ञान का कहना है कि मानवी अन्तःकरण की संरचना दैवी तत्वों से मिलकर हुई है। अन्तःकरण अन्तरात्मा का क्रीड़ा क्षेत्र है। यहाँ से सदा सत्प्रेरणाएँ उभरती रहती हैं। अन्तःकरण की सत्प्रेरणाओं की उपेक्षा-अवहेलना करने तथा दुष्कृत्यों में निरत होने से अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती तथा मनुष्य को त्रास देती है। मनुष्य की मूलभूत सत्ता दैवी तत्वों से युक्त है तो क्यों कर कोई दुष्कर्मों के संस्कार को मानते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के पशुवत् संस्कार मानवी चेतना पर छाये रहते हैं। उनकी जड़ें मन की अचेतन परतों में गहराई तक जमी रहती हैं। इस जन्म में भी जो पाप-कृत्य किया गया, उसके सूक्ष्म हठीले संस्कार अपना अड्डा जमाये

रहते हैं। ऐसी स्थिति में अन्त में सद्प्रेरणाएँ उभरती हैं, पर अभ्यास में पूर्वकृत कुकृत्यों के कुसंस्कार बने रहने से कोई विशेष प्रतिफल नहीं दिखा पातीं। अन्तःकरण की दैवी सत्ता पर कुसंस्कार हावी रहते और मनुष्य को श्रेष्ठता के, महानता के मार्ग पर बढ़ने में भारी अवरोध खड़ा करते हैं।

अधिकांश व्यक्तियों को दुष्प्रवृत्तियों से उबरने की इच्छा होती है। इसके लिए प्रयास भी करते हैं, पर आँधी-तूफान की भाँति हठीले कुसंस्कार अपने प्रवाह में बहा ले जाते हैं और अभीष्ट इच्छा मात्र एक कल्पना बनकर रह जाती है। दुष्प्रवृत्तियों के जकड़े जाल-जंजाल से निकलते नहीं बनता। मनःविकित्सा शास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान इस असमंजस की स्थिति से उबरने का कोई उपाय नहीं सुझाता। अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओं ने इसके लिए तप, तितिक्षा की प्रायश्चित प्रक्रिया को एक समग्र और समर्थ उपचार माना है। मानसिक द्वन्द्वों से उबरने के लिए पूर्व में किये पापों को जहाँ समर्थ मार्गदर्शक के समक्ष प्रकटीकरण आवश्यक है वहीं यह भी जरूरी है कि जो किया गया है उस भूल के लिए सहर्ष प्रायश्चित भी किया जाय। प्रायश्चित द्वारा ही दुहरे व्यक्तित्व से बन आयी मनोग्रन्थियों का उन्मूलन सम्भव है। साथ ही अन्तःकरण की सत्प्रेरणाओं का परिपालन कर सकना सम्भव है। इन प्रेरणाओं के अनुरूप मन का भी चिन्तन चलने लगे तो व्यक्तित्व को पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करना सुगम बन जाता है। अन्तरात्मा अपनी निश्छल तथा श्रेष्ठ विशेषताओं के रूप में व्यक्तित्व में परिलक्षित होने लगे, यही पूर्णता की स्थिति है।

आत्मिक प्रगति का राजमार्ग

अपने आपकी समीक्षा करना, व्यक्तित्व के वर्तमान स्वरूप को समझना आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। क्योंकि इसी आधार पर त्रुटियों का संशोधन और न्यूनता की पूर्ति करना सम्भव है। इस आत्म-निरीक्षण का एक और भी पहलू है कि जो विशिष्टताएँ आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं, उनका यदि विकास नहीं हुआ है तो उसकी आवश्यकता अनुभव करते हुए आत्मोत्कर्ष का प्रयास सम्भव हो सकेगा।

वस्तुतः मनुष्य के पास ऐसा बहुत कुछ है जो सदा अप्रकट और अविकसित ही बना रहता है। मस्तिष्कीय क्षेत्र की अतीन्द्रिय क्षमताएँ और अन्तःकरण की ऋद्धि-सिद्धियाँ ऐसी हैं जो हर किसी के पास न्यूनाधिकता में पाई जाती हैं। यदि आत्म-निरीक्षण की कला हस्तगत हो सके तो मनुष्य इन दिव्य केन्द्रों का स्थान एवं स्वरूप

समझ सकता है और उन्हें विकसित करने के लिए वह सब कर सकता है जो सुदृढ़ संकल्प शक्ति के सहारे निश्चित रूप से हो सकता है। योग और तप इसी प्रयोजन के लिए किया जाता है।

यदि लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति भर हो तो भी वह कार्य अमुक कर्मकाण्डों के बलबूते नहीं हो सकता उसके लिए भी आन्तरिक परिष्कार और उपयुक्त चिन्तन-चरित्र अपनाने की आवश्यकता है। तद्विषयक जो परिवर्तन या विकास करना है, उसका स्वरूप सामने आने की बात तभी बनती है जब आत्म-निरीक्षण का सिलसिला परिपूर्ण उत्साह के साथ चलाया जाय।

यह भ्रम जितनी जल्दी दूर हो सके उतना ही अच्छा है कि ईश्वर प्राप्ति या देवाराधन के लिए अमुक कर्मकाण्ड ही सब कुछ है। लोग इसी भ्रम में ग्रसित रहकर अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप पूजा-विधानों में संलग्न रहते हैं और सोचते हैं कि ईश्वर के भी मनुष्य की भाँति चर्म चक्षु ही हैं। वह मात्र क्रिया-कृत्यों को ही देख पाता है किसी का अन्तरंग देखने या परखने की उसमें क्षमता नहीं है या है तो इसे महत्व नहीं देता और हेय व्यक्तियों को भी उनकी क्रियाओं से प्रभावित होकर छाती से लगा लेता है।

पापों के क्षमा होने या उनके नाम प्रताप में नष्ट हो जाने की बात सही नहीं है। तीर्थाटन आदि कृत्यों में भी यदि कोई चाहे तो दिशा निर्देशन प्राप्त कर सकता है। पर पापों के नष्ट हो जाने या कर्मफल के उलट जाने की बात सोचना प्रकारान्तर से ईश्वर की बड़ी व्यवस्था उलट जाने की दुराशा रखना है। प्रभु के दरबार में पुजारियों के साथ पक्षपात होने और बिना पुजारियों के दूध में से मक्खी को निकाल फेंकने की उपेक्षा का कोई विधान नहीं है। इस तथ्य को समझते ही तुरन्त यह समस्या आगे आती है कि हमें अन्तर्मुखी होने का अभ्यास करना चाहिए ताकि आत्म-निरीक्षण के साथ-साथ आत्म-सुधार का प्रयास भी चल पड़े। इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। इस क्षेत्र में कोई सस्ते उपचार, आत्म प्रवचना के अतिरिक्त और किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते।

आत्म-निरीक्षण में सर्वप्रथम शरीर और आत्मा की मिश्रता अनुभव करने का प्रसंग आता है। इसके बिना वह भ्रान्ति बनी रही रहती है। जिसे अध्यात्म की भाषा में “माया” कहा जाता है। माया का सार संक्षेप में इतना ही है कि चेतना अपने आपको मात्र शरीर मानती रहती है और उसके निर्वाह तक सीमित न रहकर उसे सजाने, समृद्ध बनाने, दर्पण दिखाने में लगी रहती है। वासना,

तृष्णा और अहन्ता की पूर्ति की ही सफलता एवं प्रसन्नता का केन्द्र बिन्दु मान लिया जाता है। इतना ही नहीं शरीर के साथ सम्पर्क साधने वाले कुटुम्बी, सम्बन्धी, मित्र परिचित ही इस शरीराभ्यास के क्षेत्र में घुस पड़ते हैं। इन्हीं सबको वैभववान बनाने के लिए इच्छाओं और चेष्टाओं का केन्द्रीकरण हो जाता है। जीवन की अवधि और शारीरिक, मानसिक शक्ति का आना इसी क्षेत्र में होता रहता है। कूप मण्डूक जैसी—गूलर के भीतर रहने वाले भुनगों की तरह मनुष्य की स्थिति हो जाती है और वह आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में, आत्मोत्कर्ष एवं ईश्वर प्राप्ति के सम्बन्ध में कुछ गम्भीर विचार तक नहीं कर पाता। फिर सुधार विकास का उपक्रम तो चले ही कैसे ?

आत्म-निरीक्षण का प्रथम चरण आत्म- निरीक्षण जितना गम्भीर और प्रखर होता है उसी अनुपात से शरीर और आत्मा की भिन्नता का वास्तविक बोध होता है। अन्यथा तोता रटन्त की तरह आत्मा परमात्मा की चर्चा का बाल-विनोद चलता रहता है।

माया के बन्धन शिथिल होने या कटने का एकमात्र उपाय है कि अपनी सत्ता की द्विधा स्थिति को समझा जाय। यह अनुभूति विकसित हो सके तो ही आत्मा का महत्व एवं हित सूझ पड़ता है और शरीर के पक्ष में झुकी हुई सारी प्रवृत्ति को सन्तुलित करने का मन होता है। शरीर संसार में अनुरक्त करता है और आत्मा की प्रायः सर्वथा उपेक्षा करता है। यह सोच तक नहीं पाता कि हमारे भीतर आत्मा नाम की कोई वस्तु भी है और उसकी भी कुछ माँग, पुकार, सुख एवं आवश्यकताएँ भी हैं। इस प्रकार की अनुभूति तभी होती है जब शरीर पर अपना सर्वस्व निछावर किये रहने के ढर्रे में हेर-फेर किया जाता है। आत्मा को परमात्मा का सन्देश सुनने और आह्वान को अंगीकार करने की बात अन्तरंग की गहराई तक प्रवेश कर जाती है, तभी यह सूझ पड़ता है कि शरीर की तरह आत्मा के निमित्त भी कुछ किया जाना चाहिए ?

क्या किया जाना चाहिए ? इसके उत्तर में दो तथ्य उभरकर सामने आते हैं—एक यह कि आत्म-गौरव के अनुरूप व्यक्तित्व के ढलने में जो त्रुटिबौं चल रही हैं उन्हें कठोरतापूर्वक नियमन किया जाय। इसी को तप कहते हैं। इस सन्दर्भ में कठोरता बरतनी होती है अन्यथा अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियाँ सहज पीछा नहीं छोड़तीं। तपश्चर्चा में शरीर को अकारण काय कष्ट देना व्यर्थ है। इससे तो स्वास्थ्य गड़बड़ाता है। होना यह चाहिए कि ऐसा मनोबल विकसित किया जाय जो दुष्प्रवृत्तियों से मल्लयुद्ध करके उन्हें परास्त कर सके। यह संशोधन पक्ष हुआ।

इसके अतिरिक्त दूसरा पक्ष श्रेष्ठता के अभिवर्धन का है। यह आत्म-विश्वास और आत्म- बल के आधार पर उपयुक्त कार्यक्रम बना लेने से भी सम्भव हो सकता है। पर इसके लिए सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय ईश्वर की उपासना करने से भी सहायता मिल सकती है। इसे योग कहते हैं। योग का तात्पर्य है—जुड़ना। किसके साथ जुड़ना ? विराट् ब्रह्म—समग्र समाज के साथ अपने को जोड़ना और शुद्ध स्वार्थपरता के सीमा बन्धन शिथिल करने का अभ्यास करना। योगी का दृष्टिकोण समता और क्रिया कल्याण सर्वजनीन हित साधन का होता है। इसके लिए अभ्यासस्वरूप राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग में से किसी का या सभी के समन्वयन का अभ्यास आरम्भ किया जा सकता है। यही है यथार्थवादी आत्मिक प्रगति का राजमार्ग।

चेतना क्षेत्र की सुधि ली जाय

अभी भी संसार के कितने ही क्षेत्रों में ऐसे पिछड़े स्तर के मनुष्य रहते हैं, जिनके स्तर एवं साधनों में आदिम काल की अपेक्षा बहुत थोड़ा ही सुधार-परिष्कार हुआ है इसका कारण एक ही है, सभ्य संसार के साथ घुलने-मिलने से कतराना और आधुनिक उपायों को अपनाने के लिए आकर्षित न होना, जिनके सहारे सुविधा-साधन बढ़ाए और प्रगति के उपलब्ध साधन हस्तगत किए जा सकते हैं। अलगाववादी प्रवृत्ति से इर्द-गिर्द के क्षेत्र में बड़े-चढ़े विकास-क्रम के साथ उनका सम्बन्ध न जुड़ सका। एकाकी, अलग-थलग व्यक्ति अपनी अविकसित अन्तःप्रेरणा के आधार पर सर्वतोमुखी विकास कर सकें, यह सम्भव नहीं। पिछड़े हुए क्षेत्रों और वर्गों में यही कठिनाई छाई रहती है। इसी से वे सभ्यता का अनुशीलन करने के लिए स्वेच्छापूर्वक आगे बढ़ न सके। किसी ने उनके पीछे पड़कर येन-केन प्रकारेण उन्हें प्रगतिशीलता के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए बाधित नहीं किया। फलस्वरूप आदिम काल से मिलती-जुलती परिस्थिति से घिरे हुए अनेक मनुष्यों को कबीलों को अभी भी दयनीय स्थिति में गुजर करते हुए देखा जा सकता है।

यह तथ्य न्यूनाधिक मात्रा में अधिकांश लोगों पर लागू होता है। उनकी प्रगति, सम्पन्नता, चतुरता एकपक्षीय रहती है। शरीर को निर्वाह के, मनोरंजन के साधन चाहिए। उन्हें जुटाने में ही अधिकांश समय, श्रम, मनोयोग एवं अनुभव खप जाता है। ऐसा आमतौर से होता है, क्योंकि शरीर को ही सब कुछ माना जाता है। उसी को अपना समग्रस्वरूप समझा जाता है और शारीरिक

प्रसन्नता, सुविधा का सम्पादन ही सफलता का चिन्ह माना जाता है। अभिरुचि ही कोई दिशाधार अपनाती है। जिस दिशा में तत्परता-तन्मयता बढ़ती है, उसी क्षेत्र में उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती हैं। चूँकि शरीर को सुख-सुविधा पहुँचाने वाली साधन सम्पदा का उपार्जन उपभोग ही जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया है, इसलिए उसी स्तर के उपार्जन-अभिवर्धन का माहौल बना और उत्साहपूर्वक स्तर की सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। मनःस्थिति ही परिस्थितियों की निर्माता है। इच्छा, संकल्प और पुरुषार्थ के समन्वय को ही उस उपार्जन का श्रेयाधिकारी माना जा सकता है जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हम सबको उपलब्ध है।

प्रस्तुत प्रगति को भौतिक प्रगति कहा जाता है। क्योंकि उसमें पंचतत्त्वों से बने भौतिक शरीर को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य पदार्थों को प्राप्त करना उन्हें अनुकूल ढाँचे में ढालना यही जीवन भर होता रहता है। जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त यही क्रम चलता रहता है। चिरकाल से इसी दिशा में सोचा जाता और प्रयास किया जाता रहा है। फलस्वरूप वे सुविधा सम्पदाएँ सामने हैं जो वैज्ञानिक आविष्कारों और निर्माणों के माध्यम से विनिर्मित की गई हैं।

विज्ञान के दो पक्ष हैं—एक पदार्थ विज्ञान, दूसरा चेतना विज्ञान-आत्म विज्ञान। दोनों का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र और अपना-अपना प्रतिफल है। चेतना के, आत्मा के सम्बन्ध में लोग कुछ कहते सुनते तो रहते हैं, पर उस सत्ता का स्वरूप, उद्देश्य, आनन्द खोजने के लिए उत्साहित नहीं होते। कारण यह है कि भौतिक क्षेत्र के लिए आकर्षित, उत्तेजित हुई मनोभूमि अपना समूचा चिन्तन और कर्तृत्व इसी एक केन्द्र पर नियोजित किए रहती है। यह सब चलता और बढ़ता भी इसलिए रहता है कि उसके लाभ परिणाम सबके समक्ष प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। जबकि चेतना का स्वरूप आत्मिक क्षेत्र की गहराई में उतरने, अन्तर्मुखी होने और बारीकी से समझने पर ही स्पष्ट होता है। इतना झंझट कौन उठाए ? सम्यक् दृष्टिकोण कौन अपनाए ? उथला स्तर, उथली उपलब्धियों से ही सन्तुष्ट हो जाता है। बच्चों के लिए गुब्बारा, झुनझुना, चाकलेट, बिस्कुट ही बहुत कुछ हैं। उसे बालू के घरौंदे और टूटी टहनियों के बगीचे लगाने में ही उत्साह रहता है, क्योंकि उन कृतियों का प्रतिफल चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होता है। बाल-बुद्धि की सीमा प्रत्यक्षवाद तक ही सीमित है। जो तत्काल हाथ लगा,

वही सब कुछ है। इन प्रयासों की भावी परिणति प्रक्रिया क्या हो सकती है? यह सोच सकना दूरदर्शी विवेकशीलता का कर्म है। किन्तु कठिनाई यह है कि उस दिव्य दृष्टि को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। कल्पना, विचारणा, कुशलता, चतुरता जैसे, सभी पक्ष भौतिक उत्पादन उपभोग में ही लगे रहते हैं। इतना अवसर अवकाश ही नहीं मिलता कि चेतना की सत्ता-शक्ति और महत्ता को गंभीरतापूर्वक समझने का प्रयत्न कर सके।

शरीर प्रत्यक्ष दीखता है, वैभव प्रत्यक्ष दीखता है, विनोद का अनुभव होता है, वाह-वाही लूटने में भी अहंता की पूर्ति होती है, इसी परिधि में सामान्यजन सोचते और दौड़-धूप करते पाए जाते हैं। इन संसाधनों से सम्पन्न बनाने में पदार्थ विज्ञान ने सहायता की है। जब ध्यान केन्द्रित हुआ तो इच्छा एवं खोज भी चल पड़ी। फलतः उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती और बढ़ती चली गईं। स्थिति सामने है। प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, बल्ब, पंखे, हीटर, कूलर, तार, डाक, रेल, मोटर, जलयान, वायुयान, कल-कारखाने आदि अनेकानेक उपकरण सुबिधाएँ सँजोने के लिए सामने पड़े हैं। यह समस्त संसार पदार्थ को अपने ढंग से ढालने और उसके उपयोग करने हेतु नियोजित है। इनके सहारे सुविधा सम्पन्नता के नए-नए क्षेत्र हाथ लगते चले गए। भाषा, लिपि, दर्शन, शिल्प, चिकित्सा आदि क्षेत्र में आश्चर्यजनक अनुसंधान हुए हैं। युद्ध में प्रयुक्त होने वाले ऐसे अस्त्र-शस्त्र विनिर्मित हुए हैं, जिनके सहारे एक सामान्य व्यक्ति क्षण भर में असंख्यों को धराशायी बना सकता है। वह सब पदार्थ विज्ञान की देन हैं। इनका यदि सदुपयोग बन पड़े तो निस्सन्देह मनुष्य इतना सुखी, सन्तुष्ट और प्रसन्न एवं समुन्नत बन सकता है, जितना कि स्वर्गलोकवासियों के सम्बन्ध में सोचते और वैसा सुयोग प्राप्त करने के लिए ललचाते रहते हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि तथाकथित प्रगति की चरम सीमा के निकट पहुँच जाने पर भी मानवी सत्ता दिन पर दिन दुर्बल होती जाती है। अस्वस्थता, दरिद्रता, कलह, उद्द्वेग, अशान्ति, असुरक्षा, आशंका की विपन्नता सामने आती जाती है। अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं, पारस्परिक अविश्वास, भय, आतंक की परिधि छूने लगा है। परिवार टूटते जा रहे हैं, जो किसी तरह एक घर में निवास करते देखे जाते हैं, उनके बीच भी मनोमालिन्य, असन्तोष, अविश्वास सुलगाता देखा जाता है। चैन कहीं

नहीं व किसी को नहीं। व्यक्तियों का स्तर गिर रहा है, प्रतिभाएँ बुझ रही हैं। मानवी गरिमा को ज्वलन्त रखने वाली, चिन्तन की उत्कृष्टता और चरित्र की आदर्शवादिता घटती-मिटती जा रही है। मनुष्य शरीर धारण किए हुए होने पर भी लोग श्मशान वाली भूत-पलीत की मनःस्थिति लिए हुए डरते-डराते जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। दुर्व्यसनों की पकड़ इस प्रकार बढ़ती एवं प्रचण्ड होती जाती है, जिसकी तुलना पौराणिक रूप में ग्राह द्वारा ग्रसे गये गज से की जा सके।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सभी क्षेत्रों में अनुपयुक्तता, अवांछनीयता के अराजकता स्तर के घटाटोप छाए हुए हैं। सम्पदा सुविधा का बाहुल्य होते हुए भी उसके वितरण का समुचित प्रबंध नहीं हो रहा है। फलतः अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं, हर क्षेत्र में अपने-अपने ढंग की उड़ड़ता उभर रही है। मर्यादाएँ टूट रही हैं। वर्जनाओं की परवाह नहीं की जा रही है। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला मत्स्य न्याय व्यापक क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाता चला जा रहा है। ऐसी दशा में शान्ति की, सन्तोष की, एकता समता की घटोत्तरी होते चले जाना स्वाभाविक है।

इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि एक ओर जहाँ सुविधा-सम्पदा की बढ़ोत्तरी होती जा रही है, वहाँ दूसरी ओर उनके लिए तरसने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। जिसके पास प्रचुर साधन हैं, वे मिल-बाँट कर इसे खाने की बात नहीं सोचते, वरन् उपभोग में आ सकने की सीमा से बाहर जो बचता है, उसे विनाशकारी, आत्मघाती, दुष्प्रयोजनों में लगा रहे हैं। फलतः उन्हें भी ईर्ष्या का, अनीति का कड़ुआ प्रतिफल हाथों-हाथ भोगना पड़ता है। चैन से वे भी नहीं बैठ पाते। जहाँ भूख से अगणित लोग त्रास पाते हैं, वहाँ अधिक खाने से उत्पन्न अपच भी सुसम्पन्नों के लिए विपत्ति का कारण बनता है। सम्पन्न और विपन्न दोनों ही वर्ग अपने-अपने ढंग से अपने-अपने कारणों से दुःख सहते और विपत्ति में फँसते देखे जाते हैं।

इन विसंगतियों का कारण एक ही है, चेतना क्षेत्र में नीति-निष्ठा का अत्यधिक ह्रास। यदि मानवी गरिमा को ध्यान में रखा गया होता, आदर्शों का परिपालन बन पड़ा होता, तो यह अवांछनीयता की स्थिति न आती। इन दिनों वैयक्तिक और सामूहिक क्षेत्रों में कुप्रचलन संव्याप्त है। उनका प्रभाव सामान्यजनों पर पड़े बिना नहीं रहता। संचित कुसंस्कार भी उभरते रहते हैं। देखा यही जाता है कि पतन की दिशा में अनायास ही मन चलता है और

ऐसा कृत्य बन पड़ता है, जिसे पशु-प्रवृत्तियों का पक्षधर ही कहा जा सके। इन कारणों से जन सामान्य की मनःस्थिति पतनोन्मुखी ही बनती रहती है। इसी का परिणाम है कि शालीनता को अक्षुण्ण रख सकना कठिन हो जाता है। भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट चरित्र का परिणाम वैसा ही होना चाहिए, जैसा कि इन दिनों व्यापक रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है।

हाथी को अंकुश से, घोड़े को लगाम से, ऊँट को नकेल से, बैल को डंडे के सहारे वशवर्ती रखा जाता है और उपयोगी कृत्य करने के लिए बाधित किया जाता है। मनुष्य को धर्मधारणा के सहारे कुकर्माँ से बचाया और सन्मार्ग पर चलाया जाता है।

उपार्जन एक बात है और उसका सदुपयोग दूसरी। शारीरिक और मानसिक क्षमता के आधार पर किसी भी प्रकार का उपार्जन किया जा सकता है, किन्तु उसका सदुपयोग दूरदर्शी विवेक के बिना, नीति-निष्ठा के बिना बन नहीं पड़ता। उस स्तर की क्षमता का होना भी सन्तुलन बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

परिमांजन-परिशोधन का क्रम न चले तो गंदगी एकत्रित होती चले जाना स्वाभाविक है। शरीर में अनेकों मल निरन्तर बनते रहते हैं। उनका निष्कासन मल-मूत्र, श्वास-स्वेद आदि मार्गों द्वारा होता रहता है। घर-आँगन में आए दिन जमा होने वाला कचरा झाड़ू से बुहारा जाता है, बालों और वस्त्रों की सफाई पानी और साबुन से होती है, मन की आन्तरिक दुर्बलता और बाहरी कुप्रभावों के वशीभूत मनुष्य स्वभावतः वैसे आचरण करता है, जैसे कि वह कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों की पिछड़ी योनियों में करता रहा है। उस पतनोन्मुख प्रवाह को विवेक और संयम के द्वारा, मर्यादाओं और वर्जनाओं के अनुबंध द्वारा रोका जाता है। इस नियंत्रण और परिष्कृत परिवर्तन के लिए काम करने वाली प्रक्रिया का नाम ही अध्यात्म है। यह विद्या यदि आज पुनः वैसी ही उपयोगी बनायी जा सके, तो ही मानवता को उबारा जा सकता है।

दिव्य संकतों का

आधार—अचेतन का उभार

अधूरी नींद आने पर उनींदी स्थिति में प्रायः सपने आते हैं। पेट में कब्ज रहने या किसी अंग विशेष के दुःखने पर भी निद्रा में विक्षेप पड़ता है और सचेतन और अचेतन मस्तिष्क के गड्ढा-मड्ढा हो जाने से सपनों की शृंखला चल पड़ती है। उनमें से कई ऐसे भी होते हैं जिनका घटित घटनाओं से संबंध होता है। कुछ में चिन्ताएँ एवं इच्छाएँ मूर्तिमान होकर दृश्यमान होती हैं।

किन्तु सभी सपनों के बारे में ऐसी बात नहीं है। कुछ गहरी नींद में आते हैं। मृंखलाबद्ध चलते हैं और सार्थक भी होते हैं। ऐसे सपने प्रायः रात्रि में अंतिम चरण में आते हैं। उनकी मन पर गहरी छाप भी पड़ती है, जबकि निरर्थक होने पर वे बिखरे हुए और धूमिल-विरल होते हैं। उनकी स्मृति दिन चढ़ते-चढ़ते चली जाती है। किन्तु जिनमें कुछ दम होता है, वह जगने के उपरान्त भी स्मृति पर छाये रहते हैं और रह-रहकर याद आते रहते हैं।

कईयों के लिये सार्थक सपने पूर्व सूचना के रूप में आते हैं। जो देखा था वह हो चुका होता है या होने वाला होता है। कईयों में सारगर्भित मार्गदर्शन होता है, उसके सहारे अपनी गतिविधियों को जोड़कर खतरे से बचा जा सकता है अथवा लाभ मिल सकता है। ऐसे सपने प्रायः किन्हीं अदृश्य सहायकों के प्रेरित होते हैं।

मृतात्माओं में कुछ दुष्ट प्रकृति की होती है, जो अवसर मिलने पर दिवास्वप्नों के रूप में, उनींदी स्मृति में चिन्ता, भय, निराशा जैसी उत्पन्न करती हैं और आभास कराती रहती हैं, किन्तु जिनका स्तर ऊँचा है, उन्हें पितर कहते हैं। वे अपनी उदार सद्भावना को चरितार्थ करने के लिये दूसरों की सहायता करने की मनःस्थिति में रहते हैं और साधारण मनुष्यों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी अपनी जानकारी के आधार पर ऐसा परामर्श देती रहती हैं, जिसे अपनाकर मनुष्य अधिक अच्छी स्थिति का लाभ उठा सके। किन्तु ऐसे स्वप्न संकेत ग्रहण करने वालों की मनःस्थिति संवेदनशील होनी चाहिए। उनमें अदृश्य शक्तियों के साथ ताल-मेल बिठा सकने योग्य मानसिक स्वच्छता होनी चाहिए। कपटी, मायावी, पाखंडी, क्रोधी, आतुर, आवेश ग्रसित व्यक्ति इस संदर्भ में सफल नहीं हो पाते। नशेबाजों का मस्तिष्क भी अस्त-व्यस्त रहता है और वे इस स्थिति में नहीं होते कि अदृश्य संकेतों को आकर्षण कर अवधारणा कर सकें।

ऐसी कितनी ही घटनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं, जिनके स्वप्न माध्यम से किन्हीं को ऐसी सूचना मिली, जिनके सहारे वे आश्वासन और मार्गदर्शन प्राप्त कर सके और उनके सहारे अतिशय लाभान्वित हुए। यदि वह सहायता उन्हें न मिली होती, तो वह सुयोग प्राप्त न कर पाते, जो उन्हें उपलब्ध हुआ।

१७वीं शताब्दी में फ्रांसीसी रेने देकार्त गणित संबंधी गूढ़ विषयों पर शोधरत थे। प्रश्न ऐसे पेचीदे थे, जिनका हल ढूँढ़ते हुए उन्हें सप्ताहों बीत गये, पर कोई समाधान न मिला। इसी बीच उन्होंने एक सपना देखा, जिसमें संकेत रूप में उनके समाधान बताये गये,

जिनकी खोज में वे लगे हुए थे। इस आधार पर वे द्विमागीय वैश्लेषिक ज्यामिति का निर्धारण कर सके और गणित क्षेत्र में मूर्धन्य माने गये।

फ्रांस के एक दार्शनिक कोडोरेक्ट ने भी कितनी ही उलझी गुत्थियों के समाधान स्वप्नावस्था में ही पाये थे। वे बहुधा दिन में जिन तथ्यों को ढूँढ़ न पाते उनके संबंध में रात्रि के लिए निर्णय छोड़ देते और सो जाते। सबेरे आते ही प्रतीत होता कि कोई निष्णात उनसे मिला और उलझनों को सुलझाकर रख गया।

१६वीं शताब्दी में इटली के जेरम कार्टिने ने एक बड़ा ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया पर उसमें स्थान-स्थान पर तथ्यों को जोड़ने की आवश्यकता पड़ती थी। वह सामग्री उपलब्ध करना कठिन था। ऐसी दशा में पुस्तक किस प्रकार प्रामाणिक और सर्वमान्य बनती। इस कठिनाई में उनके स्वप्न सहायक होते रहे। समय-समय पर तथ्य सामने आये। वे काल्पनिक और यथार्थवादी होते थे। उनके जुड़ते रहने से पुस्तक सब प्रकार से प्रामाणिक बन गई।

अठारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध संगीतज्ञ जिडमेधी वायलिन बजाने में असाधारण प्रतिभा सम्पन्न हुए हैं। उन्हें किसी ने भी वह कला नहीं सिखाई। वादक का कहना था कि रात्रि के समय कोई अदृश्य सहायक उसे जगाकर संगीत सिखाता रहा। इस आधार पर उसकी प्रगति साधारण रीति में नहीं वरन् चमत्कारी गति से अग्रगामी होती रही। इसका परिणाम उसे अपने समय का सर्वोत्तम संगीतकार बनने के रूप में उपलब्ध हुआ। उसने संगीत शिक्षण पर कुछ पुस्तकें भी लिखीं, जिसमें से 'दि डेविल्स टूले' का बहुत प्रसार विस्तार हुआ।

राबर्ट लुइस स्टीवेन्सन ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से कुछ बहुत ही प्रख्यात हुए हैं। इन प्रख्यात ग्रन्थों में लिटिल प्यूपील, वडबीज, मि. हाइड आदि विशेष रूप से प्रख्यात हैं। लेखक का कथन है कि उसे इन पुस्तकों के प्रकरण, आधार, कथानक एवं उतार-चढ़ाव स्वप्नों के आधार पर ही हस्तगत होते रहे हैं। उसकी निज की पूर्व तैयारी इनके संबंध में नहीं के बराबर थी और उसने तथ्यों को ढूँढ़ने में भी कोई विशेष प्रयास नहीं किया। फिर भी कृतियाँ असाधारण बन पड़ीं। इनका श्रेय उन स्वप्नों को है, जो उन्हें क्रमबद्ध रूप से आते रहे।

अँग्रेज कवि कॉलरिज अपने समय में सम्मानित कवियों में रहे हैं। उनकी रचनाओं का संकलन 'कुबला खान' नाम से प्रख्यात है। यह कविताएँ उन्हें कोई आकर स्वप्न में सुनाता था। वे उसी समय उठकर नोट कर लेते थे। जितना अंश भूल जाते, उसे दूसरे

दिन अपनी समझ से पूरा करते। इसी प्रकार वह रचना पूरी हुई और प्रकाश में आई। जनसाधारण द्वारा सराही और अपना ली गई।

यूनान के दार्शनिक अरस्तू ने अपने ग्रन्थों में स्वप्नों की सार्थकता पर प्रकाश डाला है। प्लेटो कहते थे कि सदा तो नहीं पर कई बार स्वप्नों के माध्यम से मनुष्य को दिव्य संदेश आते हैं और वे जाँच-पड़ताल करने पर तथ्यपूर्ण सिद्ध होते हैं।

स्वप्न विवेचना के संबंध में प्लेटो का ग्रन्थ 'रिपब्लिक' ऐसे अनेक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालता है जो बहुत ही तथ्यपूर्ण हैं। इसी में उन्होंने लिखा है कि स्वप्न विद्या में भी प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है और अविज्ञात को प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। फ्रायड की पुस्तक 'इन्टरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि अचेतन मन की सामयिक, भूतकाल तथा भावी घटनाओं की सांकेतिक जानकारीयों सम्मिश्रित रहती हैं। स्वप्न प्रायः घटनापरक होते हैं, पर उनमें वस्तुतः कुछ संकेत दिए होते हैं। घटनाओं को संकेत रूप में परिणति कर सकने की सूझ-बूझ ही स्वप्न विद्या है। इसको कई प्रकार से उलट-पुलट करके अर्थ करते रहने और तथ्यों के साथ संगति बिठाते रहने की खोज-बीन में किसी भी लगनशील में इतनी प्रवीणता उत्पन्न कर सकती है कि वह अपने तथा दूसरों के स्वप्नों का तात्पर्य बता सके।

जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या

जब तक मनुष्य जीवित रहता है, तब तक उसकी चार अवस्थाओं में से एक बनी रहती है। इन्हें जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या कहा गया है। इनका स्तर क्रमशः एक से एक बढ़कर है।

जाग्रति वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति सोचता, बोलता, करता, चलता, देखता, सुनता रहता है। संक्षेप में इसे क्रियाशील स्थिति कहना चाहिए। विद्वत्ता, बलिष्ठता, सम्पदा, ख्याति आदि कमाने का अवसर इसी स्थिति में मिलता है। मनुष्य चाहता है कि अधिक से अधिक इसी स्थिति में बना रहे, क्योंकि वैभव उपार्जन से लेकर वासना, तृष्णा, लोभ, मोह को चरितार्थ करने का रसास्वादन इसी स्थिति में मिलता है। साथी, संगी, मित्र, घनिष्ठ इसी स्थिति में साथ रह पाते हैं। सम्पदा का उपार्जन और संग्रह भी इसी स्थिति में हो पाता है, जीवन का बड़ा भाग इसी स्थिति में रहते हुए गुजरता है। इच्छा भी इसी स्थिति में रहने की होती है। रात्रि की संरचना भगवान ने सोने के लिए की है। पर उसका भी

बड़ा भाग जागते हुए ही बिताया जाता है। आधी रात तक विविध विधि मनोरंजन, विनोद चलते रहते हैं। जब नींद का बहुत दबाव पड़ता है, विवशता जैसी स्थिति आ जाती है, तभी सोया जाता है।

जाग्रति के अतिरिक्त दूसरी स्थिति है—स्वप्न। स्वप्न नींद की स्थिति में ही देखे जाते हैं। जागृति के अनुभवों को सोता हुआ मनुष्य स्वप्न रूप में देखता है। अपनी कामनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति इसी स्थिति में होती है। कल्पनाएँ साकार बनकर दृश्यमान दीखने लगती हैं। स्वप्नों में से अनेक तो मात्र हास-परिहास जैसे ही होते हैं। जो शरीर से नहीं बन पड़ता, कल्पना पक्ष का वह भाग दृश्यमान प्रतीत होता है। यह गरीब, अमीर, सम्पन्न-विपन्न सभी के लिए चित्र-विचित्र स्वादों वाला मनोरंजन है। इस स्थिति को जाग्रति का पूरक ही कहना चाहिए। इसे भी मस्तिष्क परिधि की एक आवश्यकता पूर्ति कहा जा सकता है।

सामान्य लोगों के लिए स्वप्न एक प्रकार से नाटक सिनेमा अर्थात् रंगीनी चित्र विचित्र कल्पनाओं की झलक झाँकी कह सकते हैं। वैज्ञानिक इसे 'रैम स्लीप' (रैपीड आई मूवमेण्ट स्लीप) की स्थिति में मानते हैं। किन्तु जिनका चेतना स्तर असामान्य है, उनके लिए इसे अतीन्द्रिय क्षमताओं की जाग्रति वाली स्थिति कह सकते हैं। मन, बुद्धि तो जागृति में काम करती है, किन्तु चित्त और अहंता निद्रित-अर्धनिद्रित स्थिति में ही क्रियाशील होती है। इस स्थिति में मन के संयम एवं चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा योग साधना जैसी स्थिति उत्पन्न करके प्राप्त किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ तो जागृति के साथ जुड़ी हुई हैं। किन्तु सूक्ष्म इन्द्रियाँ जो सूक्ष्म शरीर से संबंधित हैं, चित्त के सात जुड़ती हैं। अचेतन मन उसी स्थिति में काम करता है, जब जागृति गहरी निद्रा में विलीन हो जाती है। इसे योगनिद्रा भी कहा जा सकता है। योग निद्रा में दीखने वाले स्वप्न निरर्थक नहीं सार्थक होते हैं। उनमें दूरदर्शन, दूरस्रवण, भविष्यकथन, विचार संचालन, पूर्वाभास, पित्त जैसी दिव्यात्माओं के साथ सम्पर्क आदि अनेक ऐसी बातें दीख या सूझ पड़ती हैं, जिन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है।

सभी जानते हैं कि निद्रा थकान मिटाती है। तनाव और भारीपन दूर करती है। मस्तिष्क को विश्राम देकर उसके मेधा, प्रज्ञा क्षेत्रों को विकसित, परिष्कृत करती है। नींद के अभाव में उत्पन्न होने वाली बेचैनी को दूर करने के लिए नशीले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। उनसे भी आधी-अधूरी, खुमारी आती और आंशिक पूर्ति भर होती है। नींद न आने पर मनुष्य पागल, खूँखार हो सकता है।

मर भी सकता है, इस तथ्य को सामान्य शरीर विज्ञानी भी जानते हैं।

सुषुप्ति—जाग्रति और निद्रा का सम्मिश्रण है। उसमें इतना और होता है कि दिव्य विशिष्टता का एक अंश और जुड़ जाय। इस स्थिति में जो भाव संवेदनाएँ उठती हैं, उनमें आदर्शों का गहरा समन्वय रहता है। लोक-मंगल, जन-कल्याण, पुण्य-परमार्थ, त्याग, वैराग्य जैसी धर्मधारणाओं की अन्तःप्रेरणाएँ उठती हैं। मानवी गरिमा को जीवन्त करने वाले राजमार्ग को अपनाने की उमंग उठती है। उसी उभार में मनुष्य ऐसा चिन्तन, चरित्र और व्यवहार विकसित करता है जिसे महामानव स्तर का, देवात्माओं जैसा कहा जा सके।

सुषुप्ति स्थिति में ही ऐसे विचार उठते हैं, जिन्हें दार्शनिक या वैज्ञानिक स्तर का कहा जा सके। भौतिक विज्ञानियों को इसी स्थिति में अभिनव आविष्कारों की सूझ सूझती है। कवि कल्पनाएँ एवं साहित्यिक निर्धारणाएँ उसी स्थिति में प्रकट होती हैं। प्रेरणाप्रद सत्संग इसी स्थिति में बन पड़ता है। सामान्य मनोरंजक चर्चा तो कोई भी विद्वान या वाचाल घण्टों करता रह सकता है, पर जिस कथन का सुनने वालों के अन्तराल पर गहरा असर पड़े, उसे सुषुप्ति से अभिप्रेत मनःस्थिति ही कहा जा सकता है। शास्त्रों का लेखन इसी आवेश में होता है।

तुर्या चतुर्थ एवं अन्तिम स्थिति है। उसमें जीवात्मा परमात्मा के आवेश से भर जाता है। ईधन में अग्नि के प्रवेश करने पर साधारण लकड़ी में ज्वाला प्रकट एवं प्रदीप्त होती है। यों तो उसका आकार पूर्ववर्ती लकड़ी जैसा ही बना रहता है, पर उसके हर भाग से ज्वालमाल फूटती है। उसमें न तो लकड़ी जैसी पूर्ववर्ती कठोरता रहती है और न काला कलूटा स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, आत्मा से परमात्मा, भक्त से भगवान, क्षुद्र से महान स्तर में विकसित परिलक्षित होता है। वह अपने भीतर दिव्य चेतना का आविर्भाव हुआ देखता है। ज्ञानक्षु खुलते हैं और इसी विश्व उद्यान में समाहित विराट ब्रह्म के दर्शन होते हैं। ईश्वर साक्षात्कार की यही स्थिति है।

तुर्यावस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति योगी, तपस्वी न रहकर देवात्मा, सिद्धपुरुष बनते हैं। उनकी वाणी में शाप, वरदान की शक्ति होती है। अपने पुण्य प्रताप की अभीष्ट मात्रा किसी दूसरे सत्पात्र को हस्तान्तरित कर सकते हैं। शक्तिपात के नाम से इसी अनुदान को जाना जाता है। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को अपनी संचित दिव्य क्षमता का हस्तान्तरण किया था। विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण

को अपनी यही दिव्य चेतना बला और अतिबला विद्या की साधना कराते हुए उपलब्ध कराई थी।

तुर्यावस्था एक प्रकार की समाधि अवस्था है। जड़ समाधि में शरीर के अवयव निःचेष्ट हो जाते हैं और गति-विधियाँ रुक जाती हैं। किन्तु इस जाग्रति समाधि में क्रियाशीलता तो सामान्यजनों जैसी रहती है, किन्तु अन्तरात्मा में परमात्मा भाव की प्रकटीकरण उभरकर ऊपर आता है। व्यक्ति शारीरिक क्रियाएँ तो सामान्य जनों जैसी करता रहता है, पर उसकी अन्तःचेतना सर्वत्र दिव्य हो जाती है। अपना आपा सांसारिक जीवधारियों जैसा नहीं वरन् देवात्माओं जैसा परिलक्षित होता है। जीवन सृष्टा की धरोहर प्रतीत होती है और सतर्कता यह कहती है कि हर क्षण का ईश्वर की इच्छानुरूप श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़े। यह इच्छा कल्पना ही नहीं रहती वरन् क्रिया रूप में भी परिणति होती रहती है। अंग-अवयवों की संरचना में कोई अन्तर नहीं आता। शरीर यात्रा भी सामान्य जनों जैसी चलती रहती है पर आदर्श और उद्देश्य असाधारण रूप में ऊँचे रहते हैं। आकांक्षा, विचारणा, भावना और चेष्टा ऐसी होती हैं, जैसी जीवनमुक्त दिव्य पुरुषों की होनी चाहिए।

तुर्यावस्था की खुमारी ऐसी होती है जो एक बार चढ़ जाने पर उतरती नहीं। प्रलोभनों, आकर्षणों और दबावों का कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जो नीचे गिरा सके और पथ भ्रष्ट कर सके। हर साधक का इसी स्थिति को प्राप्त करना मुख्य लक्ष्य रहता है, बशर्ते कि वह मार्ग में न भटके।

चेतना की परतें व उनका रहस्योद्घाटन

मानवी चेतना जल में पड़ी बर्फ शिला की भाँति है। इसका जितना हिस्सा जागते समय बाहरी क्रिया-कलापों के माध्यम से प्रकट होता है, उससे कई गुना अधिक अन्दर है। स्वप्नों के माध्यम से हम सभी को इसी अन्दर वाले हिस्से की झलक-झाँकी दिखती रही है। यदा-कदा मिलने वाली इस झाँकी से अन्तराल के स्वरूप और स्थिति की जानकारी मिलती रहती है। स्थिति कई सें डके तालाब की भाँति है। हवा का झोंका आने पर थोड़ी काई हटी और नीचे का पानी प्रकट हुआ। यदि इस छोटी-सी घटना का गहराईपूर्वक निरीक्षण-अध्ययन किया जाय तो नीचे के पानी के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

नींद के झोंकों के बीच मिलने वाली झाँकियों के सम्बन्ध में ठीक यही बात है। यदि झाँकियों की सावधानीपूर्वक विवेचना विश्लेषण की आदत बन पड़े, तो आत्मपरिष्कार आत्मसुधार की दिशा में एक प्रभावी कदम साबित हो सकता है। यह बात सर्वविदित है कि व्यवहार का वृक्ष चिन्तन के बीजों से अंकुरित होता, चरित्र के पौधे के रूप में विकसित हो, व्यवहार विटप के रूप में अपना विस्तार करता है। स्वाभाविक है यह विस्तार बीज के अनुरूप हो। बबूल का बीज तो बड़ा होकर खुद की तथा दूसरों की राह पर कट्टे ही बिखेरता। उससे यह उम्मीद कैसे की जाय कि आम के स्वादिष्ट फल खाने को मिलेंगे। आम के लिए तो भूमि को कुरेदकर बबूल के बीज को निकालने आम के बीज को गाड़ने जैसी प्रक्रियाओं में संलग्न होना होगा।

मनोभूमि के सन्दर्भ में भी यही तथ्य लागू होता है। इससे उर्वर बनाने, दुष्चिन्तन के बीजों को नष्ट करने, सत्चिन्तन को उगाने जैसी प्रक्रिया चल पड़े तो समूचा जीवन बदलता नजर आने लगेगा। स्वप्न की छानबीन इस प्रक्रिया में बहुत अधिक सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकती है, यदि इनकी बारीकियों को समझा जा सके। आज के मनोवैज्ञानिक ने भी इस बात को स्वीकार किया है। उनके अनुसार नींद में दिखाई देने वाले सपनों के माध्यम से तीन चीजें उजागर होती हैं, वर्तमान चिन्तन, गहरे पड़े भले-बुरे संस्कार और मनोभूमि की उर्वर या बंजर स्थिति। यही तीन भिन्न-भिन्न रूपों, झाँकियों के माध्यम से स्वप्नों के झरोखों से प्रकट होते अपनी झलक दिखाते रहते हैं।

मानसशास्त्रियों के अनुसार, आन्तरिक चेतना की एक और खूबसूरती है। विचारों को आकार का रूप देना। मान लीजिए किसी व्यक्ति के मन में किसी रोगी की सेवा करने का विचार आया तो वह स्वप्न में अपने रोगी की सेवा करते हुए देखेगा। विचार ऊपरी सतह पर होते हैं और संस्कार गहराइयों में। यही कारण है कि स्वप्नों में इनका आकारों के रूप में उभरना कहीं अधिक अस्पष्ट, प्रतीकात्मक धुँधला यहाँ तक कि कभी-कभी बेतुका सा लगता है।

अन्तराल के किसी कोने को देखकर समूचे के बारे में कोई राय नहीं दी जा सकती। यदि एक कोना खराब है, तो दूसरा अच्छी भी होगा। कहीं बुरे संस्कारों के बीज छुपे हैं तो कहीं अच्छों के अवश्य होंगे। इस बारीकी को न समझ पाने के कारण मनोविज्ञान के आचार्य सिगमण्ड फ्रायड सारे स्वप्नों को दमित वासनाओं का उभरना मान बैठे, वह अपनी किताब, “इन्टरप्रेटेशन

ऑफ़ ड्रीम्स” में कहते हैं कि हमारी वे सभी इच्छाएँ अथवा मनोकामनाएँ जिनकी तृप्ति जगने की हालत में नहीं हो पाती, मन की गहराइयों में चली जाती हैं। सामाजिक मर्यादाओं अथवा साधनों के अभाव के कारण इनकी पूर्ति साधारण ढंग से नहीं हो पाती। फलतः ये नष्ट न होकर गहरे में चली जाती हैं और स्वप्नों के माध्यम से अपना प्रदर्शन करती रहती हैं।

फ्रायड के इस कथन में सच्चाई तो है, पर थोड़ी। उसी की बेटी अन्ना फ्रायड और शिष्ट एडलर ने बात साफ की है। इन दोनों के अनुसार वह मनोरोगियों, अपराधियों की मनोदशा का अध्ययन करते रहने के कारण मन के गँदले कोने को बार-बार देखने, झाँकने के कारण समूचे मन को गँदला समझने की भूल कर बैठे। कुछ भी हो भूल तो भूल ही है, इसे सँभालना-सँवारना ही उचित है। एडलर के अनुसार सपनों के द्वारा चिन्तन चरित्र कार्य संचालन के तौर-तरीकों की बारीकियाँ परखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए दो परीक्षार्थियों के स्वप्न को लें। एक देखता है कि मैं पहाड़ की चोटी पर खड़ा हूँ और दूसरा कि मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ। इसका मतलब है कि पहला आत्मविश्वासी है। दूसरे के मन में अपने प्रति विश्वास की कमी है और वह परीक्षा का लड़ाई जैसा दृष्टिकोण रखता है। कमी को परख लेने पर वह और अधिक पढ़ाई करके आत्मविश्वास को मजबूत बना सकता है।

बात न केवल आत्मविश्वास की है, वरन् अन्याय सदगुणों की भी। यदि कोई लगातार हिंसक घटनाओं, मारपीट, दुर्व्यवहार के स्वप्न देखता है, तो इसका मतलब उसमें करुणा, संवेदना, सहायता की कमी है। इस स्थिति में यदि वह सद्विचारों पर लगातार चिन्तन करके इन गुणों पर आस्था जमाए और व्यवहार के माध्यम से इनको सक्रिय करे तो धीरे-धीरे ये अपने जीवन का अविभाज्य अंग हो जाएँगे। सदगुणों की जितनी अधिक सघनता होती है, सद्विचारों के द्वारा मन जितना अधिक प्रकाशित होता है, सपने उतनी ही अधिक गहराई की कहानी सुनाते हैं। ‘भेमोरीज, ड्रीम्स, रिफ्लेक्शन्स’ के लेखक मानव मन के आचार्य कार्ल युंग ने इसे स्वीकारते हुए अपने निजी अनुभव से प्रामाणिक ठहराया है। उनका इसी किताब में कहना है कि “सन् १९४४ में एक दिन मैंने सपना देखा कि एक पहाड़ी सड़क पर टहल रहा हूँ। पास में मन्दिर है। इसके एक के बाद एक दरबाजे खोलने के बाद मन्दिर में घुसा, देखा विभिन्न तरह के फूलों से घिरा एक योगी गम्भीर ध्यान में बैठा है। चारों ओर खुशबू उड़ रही है। योगी के चेहरे की ओर देखा

तो पाया कि यह और कोई नहीं, मैं स्वयं हूँ अरे क्या—और नींद खुल गयी।”

इसका विवेचन कर उन्होंने बताया कई दरबाजे अपनी ही चेतना की कई परतें थीं। योगी के रूप में था, उनका आत्मदेव जो विभिन्न गुणों के फूलों से घिरा था। खुशबू और कुछ नहीं इन्हीं गुणों की सुवास थी। बाहर भटकने वाला था, उनका अहंकार। इस सपने के बाद ही उन्होंने अपनी शोष में आत्मा और अहं का ब्यौरा दिया। इतना ही नहीं उन्होंने सेवा साधना सत्त्वित्तन के माध्यम से आत्मसत्ता को व्यवहार व्यापी बनाने का क्रम शुरू किया।

हम स्वयं के सपनों की छान-बीन इसी ढंग से करें। इन्हें देखने के बाद ढूँढ़-खोज करें कि किस क्षेत्र में कौन-सी कमी है ? खराबी को ढूँढ़ने के बाद सुधार सम्भव है। सुधार के लिए सदगुण का अभाव पूर्ति के लिए सद्विचारों का सहारा लें। गहराई से चिन्तन करने से गुण के प्रति आस्था जमेगी, दोषों से विरक्ति होगी। इतना ही नहीं पूर्ण मनोयोग से उसे क्रिया व्यवहार में उतारें। चेतना की गहरी परतों में दुर्गुणों की खरपतवार उखाड़ने, सत्त्ववृत्तियों की फसल रोपने का यही तरीका है।

महर्षि अरविन्द की सहयोगिनी श्री माँ का “मातृवाणी खण्ड २” में यही कहना है। उनके अनुसार, आत्मनिरीक्षण के लिए स्वप्नों से अधिक सरल रोचक और गहरा तरीका कोई दूसरा नहीं। इस दशा में व्यक्तित्व की किताब के पन्ने नींद के झोकों से उलटते रहते हैं। इन्हें पढ़कर गड़बड़ियों का सुधार सहज सम्भव है। आचार्य शंकर ने इसी कारण निद्रा को भी साधना की श्रेणी में गिना है। उन्होंने सपनों को झूठा न ठहराकर प्रतिभासिक सत्य की श्रेणी में रखा है। स्वप्नों में गहरे आत्म-निरीक्षण और जागरण में आत्म-सुधार का क्रम चल पड़े, तो व्यक्तित्व का काया-पलट होते देर नहीं लगेगी।

चेतना जगत के अदृश्य संदेश वाहक

मनुष्य जीवन का सर्वाधिक समय सोने में लगता है। यद्यपि दिन के २४ घण्टों में सामान्यतः १६ घण्टे जागते हुए ही बीतते हैं, परन्तु इन १६ घण्टों में अनेक विधि क्रिया-कलाप अपनाया जाता रहता है। यदि एक ही काम में समय लगने की दृष्टि से समय विभाजन और उसका मूल्यांकन किया जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि निद्रा ही मनुष्य का सबसे ज्यादा समय लेती

है। स्वस्थ मनुष्य के लिए प्रायः आठ घण्टे नींद लेना आवश्यक समझा गया है।

नींद के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी प्रकाश में आया है कि उस समय शरीर तो सोया रहता है, किन्तु मन जागता रहता है और वह तरह-तरह की हलचलें किया करता है। जागृत अवस्था में मन के जो क्रिया-कलाप, व्यवहार, आचरण और कार्यों के रूप में अभिव्यक्त होते जान पड़ते हैं, सुप्तावस्था में मन की वही हलचलें 'स्वप्न' के रूप में दिखाई देती हैं। जागृत स्थिति में मन की उचंगों को सामाजिक दबाव, नैतिकता और सभ्यता के मानदण्डों से दबाना पड़ता है, उन्हें व्यक्त होने से रोकना पड़ता है। लेकिन स्वप्न एक ऐसी स्थिति है कि वहाँ इस तरह का कोई दबाव अथवा नैतिक बाध्यता नहीं रहती, इसलिए सपनों में मन स्वच्छन्द होकर विहार करता है। इसी आधार पर प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि “प्रत्येक स्वप्न अतीत की अनुभूतियों और दैहिक संवेदनों, विकारों का संयुक्त परिणाम होता है। स्वप्न यह स्पष्ट करते हैं कि हमारा चेतन मन, हमारी भावनाओं के हाथ का एक खिलौना मात्र है।

फ्राइड ने यह भी कहा है कि मन की उचित वासनाएँ ही प्रायः स्वप्न के रूप में प्रकट होती हैं और तरह-तरह के रंग-बिरंगे चित्र दिखाकर अपनी तृप्ति का उपाय सृजती रहती हैं। लेकिन अब यह धारणा पुरानी पड़ चुकी है और यह स्वप्नों का एक पक्ष सिद्ध हुई है, न कि उन्हें समझने या व्याख्यायित करने का सम्पूर्ण आधार। फ्राइड के अनुसार व्यक्ति के अवचेतन को किन्हीं सामान्य और संकीर्ण सिद्धान्तों द्वारा स्वप्न के माध्यम से समझने का दावा किया जाता था और उन्हें अतृप्त इच्छाओं की अभिव्यक्ति मात्र समझा जाता था। किन्तु अब स्वप्नों को सामान्यतः तीन वर्गों में रखा जाता है, एक तो वह स्वप्न जो शारीरिक दबावों से प्रभावित होने के कारण दिखाई देते हैं, दूसरे प्रकार के स्वप्न मानसिक स्थिति की प्रक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं, तीसरी श्रेणी में उन स्वप्नों को रखा गया है, जिन्हें आध्यात्मिक स्वप्न कहा जा सकता है।

शारीरिक दशाओं से प्रभावित स्वप्नों में अपच, उदर विकार, सर्दी-गर्मी की अधिकता, भूख-प्यास, शरीर से किसी वस्तु के स्पर्श होने, सोते समय वातावरण में विशेष बदलाव आ जाने के कारण दिखाई पड़ने वाले दृश्य आते हैं। ऐसे स्वप्नों में अतिरंजना और विकृति की प्रधानता होती है। उदाहरण के लिए सोते समय यदि कोई सुई या कील बगैरह चुभ रही हो, तो स्वप्न में जान

पड़ता है कि किसी ने भाला या तलवार घुसेड़ दिया हो। सर्दी की अधिकता में बर्फ की सिल्लियों पर लेटने या ठण्डे पानी में डूबने तथा गर्मी में आग से झुलसने जैसे अनेक दृश्य दिखाई पड़ते हैं।

मन-मस्तिष्क पर पड़ने वाले विभिन्न दबावों, इच्छाओं, वासनाओं के आघातों से उत्पन्न स्वप्न दृश्य दूसरी श्रेणी के स्वप्नों की कोटि में आते हैं। इस प्रकार के स्वप्नों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध मनःशास्त्री कार्ल शेरनल का कथन है कि “शरीर या मन का प्रत्येक विक्षोभ एक विशिष्ट प्रकार के स्वप्न को उत्पन्न करता है। यह ठीक है कि स्वप्न तथ्यों पर आधारित होते हैं, किन्तु वे तथ्यों की सीमाओं से बंधे नहीं होते। उनमें कल्पनात्मक उड़ान भी भरपूर होती है।

तीसरी श्रेणी के स्वप्न वे हैं, जिन्हें आध्यात्मिक कहा जाता है। इन्हें अतीन्द्रिय भी कहा जा सकता है। फ्रायड ने इस तरह के स्वप्नों को यौन कुण्ठाओं के द्वारा प्रेरित और दमित इच्छाओं का प्रतीक कहा था, वही स्वप्न अब अतीन्द्रिय अनुभूतियों के आधार पर सिद्ध हो रहे हैं। विभिन्न अनुसन्धानों, प्रयोगों और परीक्षणों द्वारा यह भली-भाँति स्पष्ट हो चुका है कि स्वप्न मात्र दमित यौन आकांक्षाओं अथवा कल्पित क्लिष्ट मनोविकृतियों के दायरे में नहीं सिमट सकते, अपुति उनके विविध वर्ग एवं स्तर हैं। अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक स्वप्न भी उनमें से एक है।

अतीन्द्रिय अनुभूतियों के स्पष्ट प्रमाण देने वाले विभिन्न स्वप्नों की वैज्ञानिक छान-बीन से यही संकेत मिल रहे हैं कि व्यक्ति का अवचेतन मनुष्य के सामूहिक अवचेतना का ही एक अंग है। उसका विस्तार विराट् और महत् है, विश्व के अनेक आविष्कार इसी अवचेतन की कृपा से सम्भव हुए हैं। हेनरी फार डेसफार्टिस, डन पाइनकेयर, जैसे गणितज्ञों को स्वप्न से मार्गदर्शन मिलने की घटनाएँ सर्व-विदित हैं। सिलाई की सुई से लेकर बन्दूक के लिए शीशे के छरों और मनुष्यों तक की सैकड़ों वैज्ञानिकों, आविष्कारों की सफलताओं का आधार स्वप्न प्रेरणाएँ रही हैं। विश्वविख्यात संगीतकार मीजाट को एक ललित संगीत धुन एक ही बग्घी में बैठकर कहीं जाते समय जरा भी झपकी लेने के वक्त सूझी। वायलिन बाद तारालिनी को ‘द ट्रेविल्स सानेट’ नामक धुन पूरी की पूरी स्वप्न में दिखाई पड़ी थी। ये धुनें काफी प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुईं। विश्व प्रसिद्ध संगीतकार चैम्पीन भी अपने संगीत सृजन की प्रेरणाएँ सपनों में पाते थे। प्रसिद्ध नृत्यांगन मेरी विगमैन ने ‘पास्तेरेल’ नामक एक नृत्य की प्रेरणा एक स्वप्न द्वारा ही प्राप्त की थी। हेनरी भूर

पाठलो पिकासो, एड्यू वेथ, वान गॉगासल्वाडोर-डाली आदि प्रख्यात चित्रकारों की सृजन चेतना में स्वप्नों का बड़ा हाथ रहा है।

साहित्यकारों का तो कहना ही क्या ? पुश्किन, गेटे, शेक्सपीयर, टालस्टाय आदि सैकड़ों लेखकों ने स्वप्न में प्राप्त हुए संकेतों, प्रेरणाओं, निर्देशों और परामर्शों के आधार पर एक से एक अनूठी और ऐतिहासिक कृतियाँ सृजीं। प्रख्यात यूनानी लेखक होमर अंग्रेजी साहित्यकार कालरिज, एडगर एलनपो आदि ने अर्द्ध चेतन स्थित में, स्वप्न लोक में विचरण करते उन्हीं प्रेरणाओं के आधार पर अनेक रचनाओं का सृजन किया।

इसी प्रकार अनेक गणितज्ञों ने गणित की जटिल समस्याओं को स्वप्नों के माध्यम से अवचेतन की झलकियों के आधार पर सुलझाया। वैज्ञानिकों ने इस आधार पर अनेकों महत्वपूर्ण आविष्कार किये हैं। कवियों ने अमर काव्यकृतियाँ रची हैं, कथाकारों और नाट्यकारों के स्वप्नों के माध्यम से रचनाओं के प्लाट प्राप्त किये हैं, इन स्वप्नों का विश्लेषण अभी सम्भव नहीं हुआ है, पर यह तथ्य है कि अनेक व्यक्तियों ने स्वप्नों के माध्यम से वर्तमान में प्रस्तुत जटिल गुत्थियों का समाधान प्राप्त किया और उन्हें सुलझाया। अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों के मूल में स्वप्नों की प्रेरणा होने तथा साहित्यिक कृतियों का आधार मिलने की सैकड़ों घटनाएँ मिलती हैं। उनमें से कई तो विश्वविख्यात हैं। प्रश्न उठता है कि स्वप्नों का कारण यदि मन की दमित और कुंठित इच्छाएँ वासनाएँ ही हैं, तो ये महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक स्वप्नों के पीछे कौन-सी दमित आकांक्षाएँ काम करती रही थीं, जिन्होंने सृजन और निर्माण की नई-नई धाराओं को निःसृत किया।

इन सभी घटनाओं का विश्लेषण करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि स्वप्न में मानवीय मस्तिष्क का अधिक विस्तृत और सशक्त भाग, जिसे अवचेतन कहा जाता है, जागृत और क्रियाशील रहता है तथा व्यक्ति के मन की संरचना के अनुसार वह विश्वव्यापी गतिविधियों से गहराई के साथ सम्बद्ध हो सकता है। अतीन्द्रिय स्वप्नों का यह एक प्रकार है और सर्व सामान्य भी यदा-कदा इस प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। जब कोई सुलझाये नहीं सुलझ रही हो, मन बहुत बेचैन और व्यथित हो तो न जाने कहाँ से कई बार ऐसे समाधान सूझ पड़ते हैं कि चमत्कृत रह जाना पड़ता है। इसे सृष्टा की अनुकम्पा और करुणा ही कहा जाना चाहिए कि उसने अपनी प्रिय सन्तान के लिए स्वयं उत्पन्न की गई समस्याओं के लिए भी समाधान के ऐसे

स्रोत प्रस्तुत किए हैं और न सही समस्याएँ, अनेक महत्वपूर्ण प्रेरणाएँ सृजन के सन्देश इस विचित्र माध्यम से प्राप्त होते हैं।

मनुष्य तुच्छ और घृणित है

किन्तु दिव्यतम भी

मनुष्य सब कुछ है और कुछ भी नहीं—यह तथ्य परस्पर विरोधी दो धाराओं का प्रतिपादन करते हुए परिस्थिति के अनुसार दोनों ही प्रकार सही हैं।

अविकसित रूप में मनुष्य एक गया-गुजरा पशु है। प्रकृति प्रदत्त शारीरिक क्षमता उसकी स्वल्प क्षेत्र में है। कुत्ते जैसा सूँघना, हिरन जैसा उछलना, घोड़े जैसा दौड़ना, बैल जैसा श्रम करना भी उसके लिए अशक्य है। फिर हाथी, सिंह, व्याघ्र जैसों का तो वह मुकाबला करेगा ही कैसे और तो और बन्दर और बिल्ली की तरह पेड़ों पर भी नहीं चढ़ सकता। भार वहन में वह गधे के भी समतुल्य नहीं है। ऋतु प्रभाव को खुले शरीर पर बर्दाश्त करना अपवाद रूप में ही सम्भव है—जबकि अन्य सभी पशु बिना परिधान के जीवनयापन करते हैं। पशुओं के बच्चे जन्मते ही माँ को पहचानना और अपनी समझ से माँ के स्तन एवं भोजन स्वयं आरम्भ कर देते हैं, इसमें किसी दूसरे की सहायता नहीं लेनी पड़ती, इस दृष्टि से मनुष्य अपने पशु वर्ग की बिरादरी में बहुत ही पिछड़ा हुआ है।

विकसित और समर्थ वह तब बनता है, जब मानसिक चेतना का विकास एवं प्रयोग करने लगता है। बुद्धिबल उसकी विशेषता है, उस पर धार दूरदर्शिता की खराद पर घरी जाती है। महानता का आरम्भ वहाँ से होता है जहाँ से अपने को कर्तव्य मर्यादा के अन्तर्गत नियन्त्रण में लाता है—संयमी बनता है और उदार दृष्टिकोण अपनाकर दूसरों के प्रति ममता, करुणा जैसी कोमल संवेदनाओं से भाव भूमिका को समुन्नत बनाता है। वस्तुतः इन चेतनात्मक विभूतियों से ही मनुष्यता और महानता की मानवी गरिमा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है।

उसकी चेतना प्रसुप्त पड़ी है। वह मात्र आहार, निद्रा, भय, मैथुन, जैसी पशु प्रवृत्तियों से ही प्रेरणा ग्रहण करता है, उसका चिन्तन इसी छोटे क्षेत्र में अवरुद्ध रहता है। ऐसे व्यक्ति जिन्दगी तो जी लेते हैं, पर वह निरर्थक स्तर की होती है। जीव-जन्तु इन्हीं कार्यों में लगे रहते हैं और सृष्टि क्रम की धुरी पर लुढ़कते हुए जन्मते, बढ़ते और मृत्यु के ग्रास बनते हैं। मनुष्य जन्म जैसा

सुविधा-सम्पन्न साधन प्राप्त करके भी जो नर पशु भर बना रहा, उसे 'तुच्छ' कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं।

कई बार तो वह तुच्छ से भी गई-गुजरी स्थिति पर जा पहुँचता है, जब वह दुष्ट, क्रूर, क्रोधी, स्वार्थी, कृपण और उद्धत बनकर मानवी शालीनता का उल्लंघन करने पर उतारू होता है। नृशंस और अपराधी मनोवृत्ति का व्यक्ति असुर या पिशाच कहा जाता है।

'सब कुछ है' के प्रतिपादन में मनुष्य का यह स्तर आता है, जिसमें उसके सदगुण और सत्कर्म सुविकसित स्थिति तक पहुँचे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सचमुच बीज रूप में उसके अन्दर वे विशेषताएँ भरी पड़ी हैं, जिन्हें दैवी कह सकते हैं। वे विकसित हो सकें तो महामानव, ऋषि, देवता ही नहीं भगवान बन सकना भी उसके लिए सम्भव है। उसके भीतर समस्त दिव्य सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। उन्हें विकसित करने और सदुपयोग में लाने की चेष्टा में निरत रहकर वह प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँच सकता है। शास्त्रकार ने सच ही कहा है—मनुष्य से बढ़कर इस संसार में और कुछ भी नहीं है। उसे बहुत कुछ ही नहीं सब कुछ भी कहा जा सकता है।

अनर्थमय, निरर्थक एवं सार्थक जीवन इन तीन धाराओं में से वह किसी को भी चुन लेता है और निकृष्टता से लेकर उत्कृष्टता के किसी भी स्तर पर वह निश्चित रूप से पहुँच सकता है, इसलिए वह अद्भुत है और अनुपम भी। उसकी चेतना की मूलसत्ता सर्व समर्थ समस्त सम्भावनाओं से भरी पूरी कही जा सकती है।

सब कुछ होते हुए भी वह कुछ नहीं, तब बनता है जब उसकी चेतना अविकसित रह जाती है अथवा कुमार्ग की ओर अग्रसर होती है। श्रेष्ठता और निकृष्टता के दोनों ही तत्व उसके भीतर विद्यमान हैं। पानी नीचे सहज ही दुलता है, निम्नगामी दुष्प्रवृत्तियाँ गिराने का काम सहज ही कर लेती हैं, पर ऊँचा चढ़ाने के लिए प्रबल-प्रयासों की जरूरत पड़ती है। सदज्ञान सम्बर्धन का-बौद्धिक आधार और सत्कर्म का-व्यावहारिक वातावरण पैदा करना, जिस शिक्षा का कार्य है, वस्तुतः मानवी महानता का श्रेय उसे ही दिया जा सकता है। धर्म और अध्यात्म का दर्शन उसी महानता सम्बर्धन की-सब कुछ बनाने की भूमिका सम्पन्न कर सकने के लिए बनाया गया है। मानवी प्रकृति का वही सबसे बड़ा आधार है।

आत्मदेव परामर्श नहीं मानता

भागवत् माहात्म्य में एक कथा है, आत्मदेव नामक ब्राह्मण की। कथा लौकिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में प्रेरक है।

ब्राह्मण 'आत्मदेव' तुंगभद्रा नदी के किनारे रहता था। साथ रहती थी पत्नी नाम था 'धुंधली'। आत्मदेव निर्मल स्वभाव के थे, घर में खाने-पीने की ठीक व्यवस्था थी। परन्तु पत्नी क्रूर, झगड़ालू स्वभाव की थी। उनके सन्तान भी नहीं थी। इसलिए दुःखी रहते थे।

एक बार जंगल में नदी के किनारे एक सन्त मिले। आत्मदेव ने अपना दुःख प्रकट किया। कहा पुत्र हीन, कर्कश पत्नी इन कारणों से दुःखी आत्महत्या करने का मन होता है। आप कृपा करें तो ही जीवन में रस आ सकता है।

सन्त ने कहा अनेक सत्पुरुषों की पत्नियाँ कर्कश हुई हैं। उससे उन्होंने घर से मोहमुक्ति पायी और ईश कार्य में लगे। तुम भी ऐसा ही करो। पुत्र न होना तो ईश कार्य करने वाले के लिए वरदान होता है। पुत्र तो दुःख रूप भी सिद्ध होते हैं, ईश कार्य तो सदैव कल्याणकारी है। तुम उसी ओर ध्यान लगाओ।

आत्मदेव की समझ में बात नहीं आयी। वह अपने पक्ष में तर्क देते हुए बोले, "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" अपुत्री की सद्गति नहीं होती। मुझे सद्गति के लिए पुत्र चाहिए।

सन्त ने समझाया भागवत् शास्त्र में यह भी लिखा है कि पुत्र से सद्गति नहीं मिलती। पुत्र तो लगभग सभी के होते हैं। पुत्र से सद्गति मिलती तो सभी को सद्गति मिल जाती है। परन्तु ऐसा होता नहीं है। पुत्र द्वारा श्राद्ध, पिण्डदान से सद्गति की कामना करने वाला पिताहीन माना गया है। सद्गति तो केवल सत्कर्मों से मिलती है। असली श्राद्ध श्रद्धापूर्वक किया गया कर्म है। पिण्ड शरीर को कहा गया है। अपना शरीर ईश्वरार्पण कर देना, उसी के काम में पूरी तरह लगा देना वास्तविक पिण्डदान है। इसलिए तुम सद्गति के लिए पुत्र की कामना छोड़कर सत्कर्मों की कामना करो।

परन्तु ब्राह्मण आत्मदेव नहीं माना, किसी भी तरह पुत्र पाने के लिए अड़ गया। सन्त ने उसे एक फल दिया कहा अपनी पत्नी को यह श्रद्धापूर्वक सेवन करा देना। उस समय पर सन्तान उत्पन्न होगी। ब्राह्मण फल लेकर घर गया, पत्नी को दिया। दुष्टा पत्नी श्रद्धा के स्थान पर कुतर्क गढ़ने लगी। गर्भधारण के कष्ट से भयभीत होने लगी। उसकी छोटी बहिन गर्भवती थी। उसने सुझाया, 'दीदी तुम गर्भधारण का नाटक करो, मेरा बच्चा अपना बच्चा बतलाकर छुट्टी पा लेना।'

धुंधली को यह सलाह जँच गयी। फल गऊ को खिला दिया। बहन के घर प्रसव के लिए गयी। उसका

बच्चा अपना बच्चा कहकर लौट आयी। आत्मदेव प्रसन्न हुआ। धुंधली ने अपने पुत्र का नाम रखा—धुंधकारी। बालक पहले तो प्यारा लगा पर ज्यों-ज्यों बढ़ा उसके कुसंस्कारों से सब तंग होने लगे। वह मनमानी करने लगा, रोکنे पर माता को पीटने लगा। अब आत्मदेव को लगा कि इससे तो निपुत्री ही भले थे।

उधर सन्त के फल के प्रभाव से गऊ के गर्भ से गौकर्ण हुए। वे विद्वान, सुसंस्कारी निकले। उन्होंने पिता आत्मदेव को घर का मोह छोड़कर तपस्वी जीवन जीने की सलाह दी। उससे उन्हें शान्ति मिली। धुंधकारी अपने कुकृत्यों से जल्दी मरा और प्रेत योनि में जा पड़ा। गौ कर्ण ने उसे भगवत् चरित्र सुनाकर उसके कुसंस्कार छुड़ाये तब वह मुक्त हुआ।

यह लौकिक अर्थ हुआ। आध्यात्मिक अर्थ हर व्यक्ति पर लागू होता है। आत्मदेव मनुष्य के अन्दर आत्म-चेतना जीव है। उसकी पत्नी है—धुंधली, अर्थात् अविकसित बुद्धि जिसे धुंधला दीखता है। वह लौकिक कामना करता है, सन्त का परामर्श नहीं मानता। इसलिए दुःख को न्योता देता है। धुंधली बुद्धि सन्त का सत्परामर्श कैसे स्वीकार करती। उसे तो छोटी बहन 'स्वार्थ बुद्धि' का प्रस्ताव अच्छा लगा। तप से बचो, पर पुत्र का लाभ लो।

कुसंस्कारी पुत्र धुंधकारी 'स्वार्थ बुद्धि' द्वारा पैदा स्वार्थी स्वभाव है। अहंकार उसका मुख्य गुण है। वह मनमानी करता है, बुद्धि और जीव को भी सताता और पीटता है। सब नर्क का कष्ट पाते हैं। पर सन्त के प्रसाद के प्रभाव से गौकर्ण 'इन्द्रियों के सुसंस्कार' जो सत्कर्मरत हैं, वे सहायता करते हैं। आत्मदेव को वैराग्य और धुंधकारी को निरहंकारिता सरलता का संस्कार देकर उन्हें कष्ट से छुड़ाता है।

आत्मदेव स्वयं निर्मल है, पर सन्त का परामर्श नहीं मानता। धुंधली को अपने प्रभाव से निर्मल नहीं बनाता, स्वयं उसके चक्कर में फँस जाता है। जो अन्त में दुःख से त्रस्त होकर किया, वह पहले सन्त के सद् परामर्श से करता व धुंधली को सुसंस्कार दे पाता तो दुःख के चक्र में लम्बे समय तक क्यों पिसता ?

आत्मा को उत्कृष्ट वातावरण

का लाभ दिया जाय

आमतौर से भौतिक जीवन ही व्यवहार में आता है और उसी की भली-बुरी प्रतिक्रियाएँ मन पर छाई रहती हैं। संसारी लोगों की प्रमुख अभिरुचि शारीरिक वासना के

उपभोग तथा मानसिक संग्रह तृष्णा में जकड़े रहता है। अहंकार का परिपोषण ही महत्वाकांक्षाओं का केन्द्र होता है। निर्वाह की आवश्यकताएँ स्वल्प होते हुए भी मनुष्य वासना, तृष्णा और अहंता से प्रेरित होकर निरन्तर व्यस्त रहता है। इनकी पूर्ति के साधन जितने जुटते हैं, आकांक्षाओं की आग उतनी ही तीव्र होती जाती है। फलतः मनुष्य जीवन जैसे सुर दुर्लभ अवसर का अधिकांश सार तत्व इसी को भगदड़ एवं आपाधापी में लग जाता है। स्वजन-सम्बन्धियों से लेकर मित्रों और हितैषियों का सारा परिकर अपने विविध-विधि दबाव डालकर इसी रीति-नीति को अपनाये रहने के लिए बाध्य करता है। चारों ओर का घटनाक्रम, अप्रत्यक्ष रूप से अन्तःचेतना पर वही संस्कार डालता है कि शौक-मौज के साधन जुटाना ही एक मात्र जीवन लक्ष्य है। पूजा पाठ की कुछ चिन्ह-पूजा चलती है, तो उसका उद्देश्य भी इतना भर होता है कि किसी प्रकार इन सस्ते कर्मकाण्डों की उलट-पुलट करके देवी-देवताओं को रिझाया जाय और उनसे मनोकामना पूर्ति का वरदान पाया जाय। इस प्रकार नैतिक, अनैतिक, क्रिया-कलापों द्वारा आकांक्षा और चेष्टा मात्र भौतिक सुख साधन सम्पादित करते रहने की ही होती है। भौतिकता की प्रवृत्ति स्वभाव का अंग बन जाती है। इसीलिए उससे ऊँचे उठकर आत्मा की समस्याओं एवं आवश्यकताओं को समझ सकना सम्भव ही नहीं हो पाता।

यदि व्यक्तित्व का वह अंश जिसे अन्तरात्मा कहते हैं, को भी महत्व दिया जाय और उसके परिष्कार एवं परिपोषण की भी आवश्यकता समझी जाय तो फिर नये वातावरण में अपने को रखते रहने के साधन जुटाने पड़ेंगे। बहिरंग जीवन बाह्य परिस्थितियों और व्यक्तियों से ही बनता है, ढलता है। आमतौर से मनुष्य का व्यक्तित्व, गुण, कर्म, स्वभाव, उसी ढाँचे में ढला होता है, जैसा कि वातावरण उसे मिला है। यदि आध्यात्मिक जीवन का महत्व समझा गया है और उसकी उपलब्धियों के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ है, तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि उच्चस्तरीय वातावरण में रहने का भी साधन जुटाया जाय। ऐसी प्रभावोत्पादक परिस्थितियों का निर्माण किये बिना मात्र पढ़ने, सुनने से व्यक्तित्व को भौतिकता की प्रगाढ़ जकड़न से छुड़ाकर आत्मिक चेतना उभारने की दिशा में प्रगति कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव हो सकेगा।

कठिनाई यह है कि प्रभावोत्पादक आध्यात्मिक वातावरण कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता। तथाकथित योगप्रभों का बाह्य स्वरूप भर आध्यात्मिक लगता है। भीतर घुसते ही वहाँ भी वे ही प्रवृत्तियाँ नये परिवेश में काम कर रही

होती हैं, जिनसे छूटने के लिए इन आश्रयों का सहारा लिया गया था। एकान्त गुफा में रहने की कल्पना और भी जटिल है। वहाँ निर्वाह की सामान्य आवश्यकताएँ भी स्वावलम्बनपूर्वक नहीं जुट सकतीं। इसके लिए किन्हीं का सहारा तकना पड़ता है। फिर सामान्य जीवन में अनेक काम परिवारी लोग कर देते थे अथवा पैसा देकर दूसरों से करा लिये जाते थे। पर एकान्त जीवन में वह सारे अनभ्यस्त झंझट स्वयं ही ओढ़ने पड़ते हैं। शरीर यात्रा की आवश्यकताएँ ही इतनी बढ़ी-चढ़ी होती हैं कि एकाकी जीवन का अधिकांश समय उसी का ताना-बाना बुनने में लग जाता है। इससे उस प्रयोजन में भारी अड़चन उत्पन्न होती है। जिसके लिए कि घर छोड़ने और एकान्त में रहने का जोखिम उठाया गया था। प्राचीनकाल की परिस्थितियाँ अब नहीं रहीं, ऋषि मुनियों के समय वाले सुविधाजनक वन-जंगल नहीं रहे और न वैसी स्वल्प सन्तोषी-कष्टसाध्य क्रम अपनाकर भी प्रसन्न रह सकने की मनःस्थिति है। ऐसी दशा में आत्मिक वातावरण प्राप्त करके अन्तःचेतना के परिष्कार का उपयुक्त साधन जुटा पाना बड़ा कठिन पड़ता है।

कुछ सन्त, सज्जन, मनीषी, तत्वज्ञानी संसार में हैं तो, पर उनकी एक कठिनाई अत्यधिक व्यस्तता होती है। स्पष्ट है कि जिसने जीवन का मूल्य समझा है, वह अपनी श्वाँसों में से प्रत्येक को रत्न राशि से बढ़कर मानेगा और एक-एक क्षण का श्रेष्ठतम उपयोग करने के लिए योजनाबद्ध रीति-नीति अपनाये होगा। उसे निश्चित रूप से समय की कमी रहेगी। कम से कम इतना अवकाश उसे किसी भी प्रकार न मिलेगा, जब किसी अध्यात्म मार्ग के जिज्ञासु की सुविधा एवं इच्छा के अनुरूप अपना समय देता रह सके। ऐसे महामानवों के दर्शन, प्रणाम, आशीर्वाद, जितने स्वल्प सम्पर्क से ही जनसाधारण को सन्तोष करना पड़ता है। कभी सामूहिक प्रवचन का लाभ भी मिल सकता है, पर प्रभावोत्पादक वातावरण तो निरन्तर एकाकी सम्पर्क से ही सम्भव होता है।

आत्मिक प्रगति के आवश्यक साधनों में ऐसा प्रभावोत्पादक सम्पर्क एवं वातावरण आवश्यक है, जिसके सहारे लगभग वैसे ही संस्कार बन सकें, जैसे कि संसारी वातावरण ने अन्तःचेतना को भौतिकता के रंग में सरावोर कर दिया है और लोभ-मोह के बन्धनों में मजबूती के साथ जकड़ लिया है। सच्चा आत्मोत्कर्ष इस प्रकार की सुविधा जुटाये बिना और किसी प्रकार सम्भव हो ही नहीं सकता।

इस दिशा में प्रथम चरण 'स्वाध्याय' का है। महामानवों, तत्त्वदर्शियों के साथ सम्पर्क मिलाना और उनके अन्तःकरण के साथ चाहे जिस समय चाहे जितनी देर तक लिपटे रहना, इसी सरल उपाय से सम्भव हो सकता है जिसे स्वाध्याय के नाम से जाना जाता है। मृतक अथवा जीवित-निकटस्थ अथवा दूरस्थ मनीषियों के साथ चाहे जिस विषय पर खुले मन से विचार विनिमय करते रह सकना, इसी उपाय से सम्भव हो सकता है। इसलिए शास्त्रकारों ने स्वाध्याय का महत्व भजन से कम नहीं वरन् बढ़कर बताया है। "स्वाध्यायान्मा प्रमदतव्य श्रुति वचन" में सदुद्देश्य रीति-नीति अपनाने वालों के प्रति कठोर अनुशासन निर्दिष्ट किया है कि किसी भी कठिनाई में स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। जिस प्रकार नित्य स्नान, मंजन, कपड़े धोना, बुहारी लगाना, बर्तन साफ करना नित्य कर्म में सम्मिलित रहते हैं, उसी प्रकार स्वाध्याय को भी अध्यात्म परिष्कार का दैनिक अनिवार्य धर्म कृत्य माना जाना चाहिए।

मूढ़ता हर उपयोगी तत्व को निरर्थक बना देती है। 'गुड़ गोबर' होने की उक्ति को मूढ़ मति ही चरितार्थ करती है। स्वाध्याय के नाम पर कथा पुराणों के पन्ने उलटते रहने वालों की भी कमी नहीं। ऐसे विवेकवान कम हैं, जो यह समझकर स्वाध्याय करते हैं कि आज की अपनी आन्तरिक विकृतियों और समस्याओं का समाधान करने के लिए युग के अनुरूप आदर्शवादी विचार प्रक्रिया क्या हो सकती है? हर युग की अपनी स्थिति होती है। अब से हजारों वर्ष पूर्व जो परिस्थितियाँ थीं, उसके अनुरूप कथा, पुराण बने हैं। अब न तो वे परिस्थितियाँ हैं और न उन समाधानों से कोई काम चलता है। ऐसी दशा में स्वाध्याय के लिए सामयिक समाधान प्रस्तुत करने वाले साहित्य को चुनने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। घिसी-पिटी लकीर पीटते रहने और अमुक पुस्तक को बार-बार घोटते-पीसते रहने से स्वाध्याय का लाभ तो मिलेगा नहीं, समय की बर्बादी भर होगी। इतने से ही कोई आत्म-प्रवचना करके सन्तुष्ट हो ले तो बात दूसरी है।

अन्तरात्मा को उच्चस्तरीय भाव संवेदना-उत्कृष्ट विचारणा एवं आदर्शवादी क्रिया-कलाप अपनाने की प्रेरणा देने वाले तीनों तत्व जिसमें अन्न, जल और वायु की तरह मिले हुए हों तो समझना चाहिए, आत्मिक क्षुधा निवृत्ति और समीचीन प्रगति के साधन जुटे। यह कार्य सत्साहित्य के सहारे जितनी अच्छी तरह हो सकता है, उतना और किसी प्रकार नहीं। स्वाध्याय का एक तरह पाठन और दूसरा श्रवण है। कथा, प्रवचन, सत्संग का प्रचलन इसी प्रयोजन के लिए हुआ है। अशिक्षा की

कठिनाई एवं स्वयं निष्कर्ष निकालने में असमर्थता की कठिनाई का हल इन उपायों से सरलतापूर्वक निकल आता है। इसलिए कथा, प्रवचनों का पुण्य एवं माहात्म्य पूरे उत्साह के साथ बताया गया है। अभी धर्म क्षेत्र में कथा पुराणों का पठन, श्रवण श्रद्धापूर्वक पुण्य फलदायक माना जाता है और उस प्रकार के प्रयोजनों में बहुत समय तथा धन लगाया जाता है, स्वाध्याय 'दृश्य' प्रक्रिया है। उसमें नेत्रों के सहारे पुस्तक पढ़ी जाती है। कथा 'श्रव्य' है। उसमें सद्विचारों को कान के सहारे मस्तिष्क तक पहुँचाया जाता है। दोनों का प्रतिफल एक ही है-मानसिक चेतना को उत्कृष्ट वातावरण प्रदान करना विकृतियों और दुष्प्रवृत्तियों का परिमार्जन करना। दोनों ही उपायों से चेतना पर सुसंस्कार डाले जाते हैं, प्रस्तुत परिस्थिति में जो पतनोन्मुख प्रेरणाएँ अनवरत रूप से अनायास ही मिलती रहती हैं, उन्हें काटने के लिए इस उपाय को तीखी तलवार की तरह काम में लाया जा सकता है।

स्वाध्याय स्थूल है। वह पुस्तकों के रूप में सम्पन्न होता है। सत्संग भी स्वाध्याय की श्रेणी में ही आता है। इन दोनों के लिए साहित्य एवं व्यक्ति विशेष की आवश्यकता पड़ती है। सुविधा का समय भी चाहिए और शिक्षा इतनी होनी चाहिए कि इन दोनों का लाभ उठाया जा सकना सम्भव हो सके। मनन और चिन्तन इन दोनों से सूक्ष्म है। इनके सहारे आत्म-समीक्षा और आत्म-निर्माण के दोनों महा-प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं। इसके लिए यों तो प्रायः चारपाई पर से उठने का समय और रात्रि को बिस्तर पर जाने के बाद का समय अत्युत्तम है, पर रोक किसी भी समय नहीं है। उन्हें किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में कितनी ही देर किया जा सकता है।

मनन में आत्म-समीक्षा मुख्य विषय रहता है। उसमें गुण और अवगुण दोनों पर बारीकी से, निष्पक्ष भाव से विचार किया जाता है। अब तक के जीवन क्रम की अवांछनीय गतिविधियों पर दो चार दिन में ही दृष्टि डाली जा सकती है। उन पर पश्चाताप किया जा सकता है और दण्डस्वरूप दुष्कर्मों से समाज को पहुँचाई गई क्षति की पूर्ति करने के लिए अपराधों को तोल के अथवा न्यूनाधिक मात्रा में पुण्य कर्म किये जा सकते हैं। दण्ड प्रायश्चित्त इसी प्रकार सम्भव होता है। दो-चार दिन व्रत उपवास, गंगा स्नान, थोड़ा-सा कथा कीर्तन करने जैसे कर्मकाण्डों से पापों का भार कटता नहीं। उसके लिए क्षति पूर्ति के रूप में समाज को अनुदान देना आवश्यक होता है। प्रायश्चित्त इसी को कहते हैं और उनके कारण जो चित्र-विचित्र मनोरोग एवं शारीरिक कष्ट उठते रहते हैं,

उनसे छुटकारा मिल सकता है। किन्तु यह प्रक्रिया सदा तो नहीं चल सकती। भूतकाल का चिन्तन और उसका समाधान यह कार्य उन्हीं दिनों पूरा हो जाता है, जिस समय कि आत्म-समीक्षा आरम्भ की जाती है। दण्ड प्रायश्चित्त अनुदान वाली प्रक्रिया समय साध्य होती है। वह कार्य एक दिन में नहीं हो जाता वरन् प्रायश्चित्त अनुदानों को चिरकाल तक जारी रखना होता है। इससे पाप कटते हैं और पुण्य बढ़ते हैं। इस प्रकार लगी हुई ठोकर भी अच्छी चेतावनी तथा सुधार प्रक्रिया में सहयोग देने वाली बन जाती है। विष को अमृत बना लेना इसी को कहते हैं।

आत्म-समीक्षा, मनन, दैनिक कृत्य कर दिया जाना चाहिए। शरीर के दुष्कर्म-मन से अशुभ चिन्तन और अन्तःकरण से दुर्भाव की अवांछनीयता तो नहीं बरती जा रही है। इसका निरन्तर ध्यान रखा जाय। जब भी इन तीनों क्षेत्रों में जो गड़बड़ी उत्पन्न हो रही हो उसे तत्काल अत्यन्त कठोरतापूर्वक रोक दिया जाय। मन में संचित कुसंस्कार प्रायः उठते रहते हैं। कभी-कभी वे अत्यधिक प्रबल हो उठते हैं। विवेक खो जाता है और सिर पर चढ़ा कुसंस्कारों का भूत मनुष्य को कठपुतली की तरह नचाने लगता है। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार रहना चाहिए। प्रातःकाल ही अनुमान लगाना चाहिए कि आज किस समय, किस प्रसंग में क्या अवांछनीयता सिर पर चढ़ सकती है। उसकी काट पहले से ही तैयार रखनी चाहिए। बचने और लड़ने के दोनों शस्त्र संचालित रखने चाहिए। यह सारा प्रसंग मनन प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है।

चिन्तन वह पक्ष है, जिसमें दुर्बलताएँ हटाने और विभूतियाँ बढ़ाने की क्रमबद्ध योजना बनती है और उत्कृष्टता को कार्य रूप में परिणत करने का ढाँचा खड़ा किया जाता है। दोष-दुर्गुणों को छोड़ देना तो फूटे बर्तन के छेद बन्द करने की बराबर है। इससे अपव्यय और अनर्थ रुकता है। किन्तु आत्मोत्कर्ष के लिए जिन दिव्य विभूतियों की, गुण-कर्म स्वभाव की, उत्कृष्टता की आवश्यकता पड़ती है उनका अभाव ही बना रहा तो छेद बन्द करने से भी तो लक्ष्य पूर्ति के लिए आवश्यक क्षमता का संग्रह न हो सका। अस्तु चिन्तन में अपने सुधार, कायाकल्प, की योजनाएँ रहनी चाहिए। सुधार परिवर्तन किस क्रम से लाया जाय और उसके लिए वर्तमान गतिविधियों में-रीति नीतियों में-आदत अभ्यासों में-रुचि आकांक्षाओं में किस प्रकार हेर-फेर किया जाय ? यह विचार योजनाबद्ध रीति से किया जाना चाहिए। महामानवों ने जिस स्तर का उत्कृष्ट, चिन्तन और आदर्श कर्तव्य अपनाया है, उसी के अनुरूप अपने को

ढाला जाय। इसके लिए सर्व प्रधान आवश्यकता इस बात की है कि श्रेष्ठ सज्जनों की प्रकृति में जिन सद्भावनाओं-सत्प्रवृत्तियों का समावेश होता आया है उसी के अनुरूप आकांक्षाओं को जगाया और आदतों को बढ़ाया जाय। चिन्तन इसी योजना प्रक्रिया का नाम है।

आत्मिक प्रगति के लिए उपासनात्मक व्यायाम है-ध्यान। यह भी अन्तःचेतना को एक विशेष वातावरण में रखने की शिक्षा प्रक्रिया है। इसके कई चरण और कई प्रकार हैं जिन्हें साधक की मनःस्थिति एवं परिस्थिति के अनुरूप बताया और कराया जाता है। इसमें अनुभवी मार्ग-दर्शन की आवश्यकता पड़ती है।

अन्तराल की सम्पदा खोज

निकालने का उपयुक्त समय

अभी तक विकास के उतने ही चरण उठे और साधन जुटे हैं जिनसे आदिम वन-मानुस को सभ्यता के युग में प्रवेश करने का अवसर मिल सके। सुविधा-साधनों की दृष्टि से अन्य प्राणियों को अभावग्रस्त समझा और मनुष्य को साधन सम्पन्न कहा जा सकता है। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मानवी गरिमा का स्वरूप एवं महत्त्व अनुभव अभ्यास में आ गया। उस उपलब्धि के लिये सच्चे मन से प्रयत्न भी नहीं चले हैं। धर्म और अध्यात्म की चर्चा भर जोर-शोर से होती है, किन्तु उसे हृदयंगम करने तथा व्यवहार में उतारने का कोई ठोस एवं कारगर प्रयत्न नहीं होता। आवश्यकता इस बात की है कि अब नये अध्याय का शुभारम्भ किया जाए।

वन मानुस ने सभ्य कहलाने की मंजिलें पूरी कर लीं, पर यह तो एक विराम मात्र हुआ। पूर्णता तक पहुँचने के लिए मनुष्य में देवत्व का उदय करना होगा। यही है वह आधार जिसे योजनाबद्ध रूप में कार्यान्वित किया जाना चाहिए। उपार्जित कौशल एवं वैभव का सदुपयोग बन पड़े, इसके लिये इस स्तर का विकास परिष्कार इन्हीं दिनों चाहिए। सम्पदा की आवश्यकता समझी गई और उसे उपार्जित करने में सफलता भी पाई गई, पर इतने भर से काम नहीं चलेगा ? बीच रास्ते में बैठ जाने से, मझधार में लंगर डालने से बात कहाँ बनेगी। अब तो पार जाने और लक्ष्य तक पहुँचने की तैयारी की जानी चाहिए।

प्रकृति सम्पदा की निर्वाह भर की मात्रा ही प्राणियों को हजम होती है। यदि इससे अधिक कमा लिया गया है या कमाया जाता है तो यह भी समझा जाना चाहिए

कि बारूद के खिलौने बनाने वाले जैसे सावधानी बरतते हैं, ठीक वैसी ही आज के मनुष्य को बरतनी होगी। इस सावधानी के लिए जिस दूरदर्शिता की आवश्यकता है उसे प्राप्त करने के लिये मानवी चेतना के अन्तस्थल को कुरेदा, उभारा और उर्वर बनाया जाए।

पुरातन युग में यह कार्य धीमी गति से भी चलते रहने की गुंजायश थी, क्योंकि तब तक सभ्यता और सुविधा प्राप्त करके आदिम कालीन पिछड़ेपन से छुटकारा पाना ही लक्ष्य था, पर अब वैसी स्थिति नहीं रही शक्ति और साधनों की इतनी मात्रा एकत्रित हो गई है कि उनका सदुपयोग सम्भव हो सके। शक्ति दुधारी तलवार है उससे आत्म-रक्षा ही नहीं आत्मघात का संकट भी खड़ा हो सकता है। इन दिनों आत्मघात की दिशा में बढ़ रहे लोक प्रवाह को आत्म-रक्षा के लिये नियोजित करने की आवश्यकता जितनी अधिक अनुभव की जा रही है, उतनी इससे पूर्व कभी नहीं की गई।

पिछले दिनों मानवी तत्परता ने भौतिक क्षेत्र के सभी क्षेत्र को मथ डाला है और जहाँ से जो कुछ हस्तगत हो सका है उसे उपलब्ध करने में कमी नहीं छोड़ी गई। भूमि की ऊपरी परत से लेकर अत्यधिक गहराई तक खोदकर उसकी खनिज सम्पदा तक के दोहन में कमी नहीं रही, प्राणि जगत के हर वर्ग को अपने आधिपत्य में ले लिया गया है और जिससे जो प्रयोजन सध सकता था साधा गया है। समुद्र, सरोवरों और नदी, निर्झरों में से जिससे जितना लाभ लिया जा सकता था लिया गया। आकाश पर आधिपत्य जमाने की घुड़दौड़ इन दिनों तेजी से चल रही है। बिजली, रेडियो, लेसर आदि प्रकृति के रहस्यों को बहुत हद तक कुरेद लिया गया है, अन्तर्ग्रही धावे बोले जा रहे हैं। उद्योग, विज्ञान, शिक्षा, कला आदि के क्षेत्रों में भी आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। कूटनीति का हर जगह बोलबाला है।

अछूत क्षेत्र एक ही रह गया है-मानवी गरिमा के अन्तराल का पुर्ननिरीक्षण और पुनर्जीवना। प्राचीनकाल में इस दिशा में समुचित ध्यान दिया गया था और मनुष्य में देवत्व तथा धरती पर स्वर्ग का प्रत्यक्ष दर्शन किया गया था, अब मध्यकालीन भटकाव को दूर करने और मानवी आस्था तथा आत्मा को जगाने की फिर से आवश्यकता अनुभव की गई है। युग चेतना की इस माँग को पूरा करने के लिए हमें तथ्यों पर अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और समय की माँग को पूरा करने में प्रमाद नहीं बरतना चाहिए।

योगी अरविन्द कहते हैं—‘युग समस्याएँ विकट से विकट होती जा रही हैं, इनके समाधान के छुटपुट प्रयास

भर चलते रहते हैं। उन्हें उत्साही लोग ‘क्रान्ति’ के नाम से सम्बोधन करते रहते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्रान्तियों की चर्चा आये दिन सुनी जाती है। पर तथ्यतः यह सभी पैबन्द मात्र हैं, इस समय का वास्तविक कार्य तो यह है कि समूची मनुष्यता को कोई नया वस्त्र दिया जाय। नया वस्त्र अर्थात् स्थिति का समग्र रूपान्तरण अर्थात् जीवनचर्या के साथ जुड़े हुए दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप में उत्कृष्टता का सर्वतोमुखी समावेश। इसकी पृष्ठभूमि अन्तःकरण में अध्यात्मवादी आस्थाओं को जमाने वाली प्रक्रिया अपनाने से ही सम्भव हो सकेगी। प्रसिद्ध नीतिज्ञ स्माइले बायेन्टन का कथन है—‘मनुष्य के ओछे और बौने रह जाने का एक ही कारण है कि वह अपने गहन अन्तराल तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता। वैभव के खिलौनों से खेलने और अचिन्त्य चिन्तन के जंजाल में फँसे रहने के अतिरिक्त उससे एक कदम आगे बढ़ना ही नहीं बन पड़ता। यदि उच्च चेतना से भरे-पूरे आस्था संस्थान के साथ सम्पर्क साधा जा सके और उसे अनुकूल बनाया जा सके तो हर कोई यह अनुभव कर सकता है कि अपनी गरिमा को ऊँचा उठाने के कितने आधार उसके पास मौजूद हैं, प्रशंसा पाने के लिये तरह-तरह के आडम्बर रखने वालों को यह प्रतीत नहीं होता कि वे अन्तःकरण को भारी भरकम बना सकें तो असंख्यों द्वारा सम्मान पाने और श्रद्धास्पद बनने का अवसर उन्हें सहज ही मिल सकता है।’

जीन डब्ल्यू आलपोर्ट ने मानवी पूर्णता की व्याख्या करते हुए लिखा है—‘शरीर, बुद्धि, पद, धन और स्वामित्व की छोटी परिधियों को पार करते हुए जो अपने को विश्व-वसुधा का एक घटक मानता है और लाभ-हानि की बात सोचते समय मात्र विश्व कल्याण की बात सोचता है वह पूर्ण है, अपूर्णता के बन्धन उसे उसी अनुपात से जकड़े रहते हैं जितनी कि ममता और आसक्ति घनीभूत होती है।’

वस्तुतः मनुष्य जिन बन्धनों से बँधा छटपटाता रहता है वे उसके आन्तरिक एवं बाहरी पर्यावरण मात्र हैं। संचित आदतें प्रायः पशु प्रवृत्तियों से मिलती जुलती होती हैं। इसी प्रकार जिस ढर्रे का जीवन आम लोगों के द्वारा जिया जाता है, उसमें आदि से अन्त तक संकीर्णता एवं आपा-धापी भरी रहती है, उसका प्रभाव ही क्रमशः सहचरों पर पड़ता और सघन होता जाता है, यही है चेतना पर छाया हुआ वह पर्यावरण जो मनुष्य को छोटी सीमा में सोचने और छोटे काम करने के लिए विवश करता है। यदि इस घेरे को तोड़ा जा सके और विराट् के साथ अपने को जोड़ा जा सके तो पूर्णता का लक्ष्य

प्राप्त होने में देर न होगी। क्षुद्रता ही बन्धन और विशालता ही मुक्ति का सोपान है।

सामान्य मनुष्य का व्यक्तित्व अनेकों जाल-जंजालों से बना हुआ अच्छा खासा तमाशा होता है, उसमें कुसंस्कारों, निकृष्ट अभिलाषा और उलझते उद्देश्यों की भरमार होती है। ऐसे लोगों के लिए न तो एकाग्र होते बन पड़ता है और न अन्तर्मुखी होने की स्थिति आती है, ऐसे लोग वस्तुओं की माँग, परिस्थितियों की शिकंश और साधियों पर आक्षेप करते-करते ही दिन गुजारते रहते हैं उन्हें यह सूझता ही नहीं कि आत्म-तत्त्व में विकृति भर जाने से ही अनेकानेक विपन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। इस विषम स्थिति से छूटना कठिन नहीं है। अपने हाथों बुने जाले को समेटने का साहस किया जा सके तो मुक्ति का आनन्द ले सकना हर स्थिति के व्यक्ति के लिए भी सरल हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक एडलर का मत है कि—“जिस शक्ति को प्राप्त करके व्यक्ति सच्चे अर्थों में समर्थ एवं श्रेष्ठ बनता है उसका नाम आत्मबल है, जिसे भी वह प्राप्त होगा वह स्वार्थी नहीं रह सकेगा। अपनी सम्पन्नता एवं सरलता के लिए चिन्तित रहने की अपेक्षा उसका मन सदा परमार्थ प्रयोजनों की बात सोचता रहता है और करने के लिए हाथ डालने से पूर्व देखता है कि यह सब कुछ श्रेष्ठता का समर्थक सहायक है या नहीं? ऐसे व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में समाज सेवा कर पाते हैं, भले ही उनके द्वारा कोई बड़े कहे जाने वाले काम नहीं ही हुए हों।”

विद्वान् लेखक साइमण्ड्स ने अपने ग्रन्थ ‘डायनामिक साइकलोजी’ में कहा है—‘पूर्णता के समीप जैसे-जैसे पहुँचा जाता है, वैसे वह परोपकारी परमार्थ परायण होता जाता है उसकी इच्छाएँ और क्रियाएँ इस प्रयोजन के लिए उठती हैं कि सत्प्रवृत्तियों का सम्बर्धन बन पड़े और अपना श्रम समय दूसरों के काम आये।’

महामनीषी जॉन हर्वे का कथन है—जब अपनी दृष्टि संकीर्ण स्वार्थपरता की अहंमन्यता से हटाते हैं तो राग-द्वेष रहित परम सत्य के दर्शन होने लगते हैं, सभी अपने लगते हैं और सभी की सुख-शान्ति की बात सोचते और वैसी ही चेष्टा करते समय बीतता है, असीमता और उस छोटी परिधि में लिप्तता ही आत्मिक प्रगति की प्रधान बाधा है, आत्मदर्शी अनुभव करता है कि उसकी गति, क्रिया, सम्पदा, क्षमता, की अमानत है और जो साधन हाथ में हैं उन सभी का उपयोग मात्र अनन्त के लिए होगा और किसी के लिए नहीं।

यह एक वास्तविकता है कि वातावरण और साधियों का दबाव अपना प्रभाव छोड़ता है। पर वह इतना भारी नहीं है कि आदर्शवादी संकल्पों के द्वारा उसे हटाया-घटाया न जा सके। अपना भौतिक दृष्टिकोण न होने से ही प्रवाह में बहते चलने की स्थिति बनती है, यदि सब निर्भरता के सूत्र हृदयंगम किये जा सकें तो वातावरण की उपेक्षा करना और दूरदर्शी नीति अपना सकना तनिक भी कठिन न रहेगा। आत्मावलम्बन का अभाव ही मनुष्य को ढर्रे का गुलाम बनाये रहता है, नीति का पालन और मर्यादाओं का अनुसरण एक बात है और अवांछनीयता के जंजाल में जकड़े रहना सर्वथा दूसरी।

शेल्डन का मत है कि—‘व्यक्ति का विकास उसकी परिस्थितियों पर अवलम्बित माना जाता है इसमें दूसरों के सहयोग, असहयोग को भी प्रमुखता दी जाती रहती है, पर यदि गम्भीरता से वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जा सके तो प्रतीत होगा कि अपनी ही चिन्तन शैली, कार्य पद्धति ने ही अधिकतम उलझने पैदा की हैं। उन्हें सुधारा जा सके तो समाधान का मार्ग सहज ही हस्तगत हो जायेगा।

सारे उपनिषदों का सार इन वाक्यों में व्यक्त किया जा सकता है—‘यदि अचेतन और उच्च चेतन को गढ़ने में जुट पड़ा जाए तो प्रतीत होगा कि बड़ी से बड़ी सम्पदा एवं सफलता पाने की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ उठाया जा रहा है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि बहुमूल्य रत्नराशि अपनी ही तिजोरी में भरी पड़ी हो और तनिक-तनिक-सी बात के लिए जिस-तिस से याचना करते फिरा जाय। बाह्य पुरुषार्थ से वैभव कमाया जाता है किन्तु अन्तर्मुखी पराक्रमों से मनुष्य को तत्त्वदर्शी, मनीषी और देव मानव बनने का सौभाग्य मिल सकता है।

यह उत्तरदायित्व आत्मिका वहन करे

अध्यात्म विज्ञान के साथ एक आश्चर्यचकित करने वाली सम्भावना जुड़ी हुई है। वह है—अचेतन मन क्षेत्र की प्रसुप्त पड़ी हुई दिव्य क्षमताओं को जगाना एवं सक्रिय बनाना। इस सन्दर्भ में भौतिकी विज्ञानी भी कुछ कुरेदबीन करते रहे हैं और जो उनके हाथ लगा है उसे देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्ति में विज्ञान पराक्रमजन्य क्षमताओं की तुलना में कहीं अधिक उच्चस्तरीय प्रभावी एवं समर्थताओं से भरी पूरी सत्ता विद्यमान है। दूरदर्शन, दूरस्त्रवण, भविष्य कथन, विचार संचालन जैसे अगणित प्रयोग परीक्षण-परामनोविज्ञान-मेटाफिजिक्स विज्ञान के आधार पर हुए हैं और

उस आधार पर इस तथ्य की परिपूर्ण पुष्टि हो चुकी है कि मानव अन्तराल में दिव्य क्षमताओं का अजस्र भण्डार छिपा पड़ा है। नोबेल पुरस्कार विजेता एलेक्सिस कैरेल ने अपनी 'मेन दि अननोन' पुस्तक में अगणित तथ्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुये यह सिद्ध किया है कि सामान्य जीवन में चेतना की सामर्थ्य का मात्र सात प्रतिशत ही प्रयुक्त होता है। जो उपयोग में आता है वह हल्का, उथला एवं इतना है जिससे अन्य प्राणियों की तरह निर्वाह क्रम चलता रहे। जो विभूतियाँ अन्तराल में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं उन्हें जाना और जगाया जा सके तो निस्सन्देह मानवी अस्तित्व को उतना सक्षम पाया जा सकता है कि वह अपनी कायिक एवं मानसिक प्रयोगशाला के सहारे भौतिक जगत की उन सभी समर्थताओं एवं सम्पदाओं को उपलब्ध कर सके जिन्हें विज्ञानी बहुमूल्य उपकरणों के सहारे हस्तगत करते हैं।

यहाँ जानने योग्य एक बात और भी है कि जिस तरह परमाणु में सन्निहित असीम शक्ति विश्वव्यापी पदार्थ प्रकृति का एक अंश मात्र है, उसी प्रकार व्यक्ति चेतना भी विश्व चेतना का ही एक अंश है। परमाणु की सामर्थ्य उसका निजी वैभव नहीं है, वरन् विराट् विश्व की शक्ति समुद्र की एक लहर बूँद भर है। उसी प्रकार चेतना की अपनी स्वतन्त्र हस्ती कुछ भी नहीं है। वह विश्व चेतना में ही अपनी पात्रता एवं आवश्यकता के अनुरूप सामर्थ्य अर्जित करती रहती है। इस चेतना लोक का अपना अस्तित्व है। अदृश्य सूक्ष्म जगत में प्रकृति की ऐसी अविज्ञात शक्तियों का आभास मिल चुका है। जो विदित एवं उपलब्ध वैभव की तुलना में असंख्यों गुना अधिक है। ठीक इसी प्रकार चेतना के दिव्य लोक का अपना अस्तित्व है और उसमें इस स्तर का वैभव भरा पड़ा है जिसकी परब्रह्म की विश्व चेतन के रूप में तत्त्व दर्शन द्वारा चर्चा की जाती रही है।

इस दिव्य लोक का निरूपण पुरानी भाषा में परमेश्वर, देव-परिकर, ऋद्धि-सिद्धि, स्वर्ग मुक्ति आदि के रूप में किया जाता रहा है। उसके लिए योग, तप, जप, ध्यान, पूजा, पुरश्चरण आदि की प्रक्रिया अपनाई जाती रही है और ऐतिहासिक साक्षियों के आधार पर यह सुखद परिणति भी उपलब्ध होती रही है जिन्हें देखते हुए इन प्रयोग-परीक्षणों की परिपूर्ण सार्थकता सिद्ध की जा सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए, मध्यकाल में सर्वत्र अन्धकार युग फैला और विकृतियों एवं अवांछनीयता का बोलबाला रहा। राजनीति से लेकर अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में जब अनाचर अपना सिर आसमान तक उठाये हुए हैं तब

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ही यह आशा कैसे की जाय कि वह छद्म, सनक एवं निहित स्वार्थों की पकड़ से बचा रहेगा। पिछले दिनों यही स्थिति रही है और आज भी वैसी ही है। ऐसी दशा में अध्यात्म का तत्त्व दर्शन ही नहीं प्रयोग, उपचार भी बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया है। जो बना है उसे इस प्रकार से छिछला, छूँछ, खिलौना, नमूना भर कह सकते हैं। प्रत्यक्ष है जो कुछ इन दिनों अध्यात्म के नाम पर माना अपनाया जाता है वह न केवल अधूरा है, वरन् भ्रान्तियों एवं विकृतियों की भी उसमें बुरी तरह घुसपैठ है। फार्मूला गलत होने पर श्रम भी निरर्थक ही जाता है। ऐसा ही इन दिनों भी हो रहा है। उपासनात्मक उपचार करने वाले जब प्रतिफलों के सम्बन्ध में निराश होते हैं तो एक प्रकार से नास्तिक ही बनते जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक अत्यन्त उच्चस्तरीय एवं महान सम्भावनाओं से भरे-पूरे विज्ञान को उपहासास्पद बनना-तिरस्कृत होना पड़ता है। इस स्थिति से भारी हानि यह हो रही है कि उन असाधारण उपलब्धियों से व्यक्ति और समाज को वंचित रहना पड़ रहा है जो समस्त मानवी समुदाय को आन्तरिक उत्कृष्टता एवं बहिरंग सुसम्पन्नता से भरा-पूरा रख सकती थीं।

सृष्टि के इतिहास में कई बार खण्ड प्रलय होती रही हैं। हिमयुग आये हैं और उनमें भयानक विनाश के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के अनेक उपार्जनों को भी एक प्रकार से विस्मृत किया है। इतने पर भी स्रष्टा का वह अनुदान मनुष्य को मिलता ही रहा है कि अनुवंशिकी के आधार पर पूर्वजों के संचित ज्ञान की हल्की-फुल्की ज्योति जलाये रह सके और समयानुसार उसे पुनर्जीवित कर सकने में सफल हो सके। खण्ड प्रलयों के इतिहास से अवगत मनीषी बताते हैं कि विभीषिकाओं के युग में कितने ही विनाशकारी एवं लम्बे क्यों न रहे हों, वे जब समाप्त हुए हैं तो मनुष्य ने देर-सबेर में उसे किसी न किसी प्रकार एक या दूसरे रूप में पुनः उपलब्ध कर लिया है। अध्यात्म विज्ञान के यथार्थवादी पुरातन स्वरूप के मध्यकाल के अन्धकार युग में विलुप्त या विकृत हो जाने की स्थिति को भी हिम प्रलय जैसी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना की तरह ही समझा जा सकता है। इतने पर भी निराश होने का कोई कारण नहीं। अनुवंशिकी का आश्वासन है कि जो खोया है उसे नये सिरे से प्रबल पुरुषार्थ में जुट पड़ने पर पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

भौतिक शक्तियों के चमत्कारों से हम सभी परिचित हैं। लेसर किरणों की ऐन्टी मैटर-ऐन्टी युनिवर्स आदि की चर्चा दौंतों तले उँगली दबाकर की जाती रहती है। अब इसी स्तर की एक और उपलब्धि कर, तलगत हो सकने की बात बन रही है जिसके आधार पर अतीन्द्रिय

क्षमताओं को उभार कर मनुष्य को न केवल चरित्र, व्यवहार, वैभव की दृष्टि से वरन् अन्तःशक्ति के साथ जुड़ी हुई विलक्षण ऋद्धि-सिद्धियों की दृष्टि से भी सुसम्पन्न बनाया जा सके। इस सम्भावना को देव-युग का पुनर्जीवन अथवा धरती पर स्वर्ग के अवतरण वाला सतयुग कहा जा सकेगा।

आज जो उपेक्षा, असहयोग विज्ञान और अध्यात्म के मध्य दिखाई पड़ता है, उसे मिटाकर, विग्रह की वृत्ति को हटाकर सहयोग भरा रीति-नीति की प्रतिष्ठापन कर समुद्र मन्थन जैसे सत्परिणाम पा सकना पुनः इसी धरती पर सम्भव है। दैनन्दिन जीवन में सहकार के परस्पर विरोधी परिणामों के प्रतिफल आये दिन सामने आते रहते हैं पर जब विज्ञान व अध्यात्म परस्पर मिलेंगे तो उनका सहयोग अनूठा ही होगा। सभी जानते हैं कि ठण्डे व गरम तार मिलकर बिजली का प्रवाह बनाते हैं। जब दो विध्वंसकारी रचनात्मक शक्तियाँ एक ही उद्देश्य हेतु नियोजित होंगी तो उनके सम्मिलित प्रयासों की फलश्रुति अपनी इस धरती को सुन्दर और अधिक सुव्यवस्थित व सुसंस्कृत बनाने के रूप में ही निकलेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। यह एक स्वप्न नहीं वास्तविकता है। आग-पानी के मिलने से भाप बनने तथा उसके रचनात्मक कार्यों में लगने पर कमाल दिखाने जैसी परिणति विज्ञान-अध्यात्म सहयोग की होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। अनेकानेक प्रमाण-तथ्य बताते हैं कि इस परिकल्पना को साकार रूप देने पर कितने सुन्दर परिणाम निकल सकते हैं।

मरणोत्तर जीवन का जब अस्तित्व सिद्ध होने ही जा रहा है तो फिर उस कड़ी को भी जोड़ना ही पड़ेगा जिसके अनुसार पितरों की दुनिया का जीव जगत के साथ आदान-प्रदान चल पड़े। ऐसा सम्भव हो गया तो समझना चाहिये कि एक और अपनी जैसी ही नई दुनिया के साथ रिश्ता जुड़ गया। इसमें दोनों ही लोकों के निवासियों का सुखी-समुन्नत होना और एक दूसरे की महत्वपूर्ण सहायता कर सकना सम्भव हो सकता है।

व्यक्ति के हिस्से में थोड़ी-सी समर्थता आई है किन्तु वह जिस विराट् शक्ति भण्डार से परब्रह्म से जुड़ा है-उसकी सामर्थ्य का कोई अन्त नहीं। कम ताकत का बल्ब धीमी रोशनी देता है पर यदि उसी स्थान पर बड़ी ताकत का बड़ा बल्ब लगा दिया जाय तो उसी बिजली फिटिंग से अनेक गुना प्रकाश उत्पन्न हो सकता है। बिजली की लाइन में उतनी सामर्थ्य रहती है कि छोटे उपकरणों के स्थान पर बड़े लगा देने पर अधिक ऊर्जा पाई और अधिक सुविधा उठाई जाय। परब्रह्म सत्ता के

साथ आमतौर से आत्मा का सीमित एवं सामान्य सम्बन्ध ही रहता है, पर यदि व्यक्ति को अधिक परिष्कृत बनाया जा सके तो वह अदृश्य जगत की महान दैवी शक्तियों से भरपूर लाभ उठा सकता है और उस आधार पर अपनी सफलताओं में चार चाँद लगा सकता है।

अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय से व्यक्ति के अन्तराल को परिष्कृत करके आज की तुलना में उसे अनेक गुना समर्थ एवं श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। उसी प्रकार विश्व चेतना की असीम सम्भावनाओं में उसे इतना कुछ आकर्षित किया जा सकता है जिससे मनुष्य के स्तर, स्वरूप एवं वर्चस्व में काया-कल्प, जैसा सुखद सत्परिणाम उत्पन्न हो सके। ऐसी ही उपलब्धियों को प्राचीनकाल में दैवी वरदानों के नाम से पुकारा जाता था। आज भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होते रहने की सम्भावना पूर्ववत् ही बनी हुई है।

अन्तरिक्ष में पदार्थ सम्पदा उससे कहीं अधिक भरी पड़ी है जितनी कि जल और थल में, तरल एवं ठोस रूप में पाई जाती है। जिस प्रकार जल और थल और वैभव मनुष्य के काम आता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष में भरी-पूरी वही सम्पदा फिर उसे ठोस एवं द्रव के रूप में परिणत करके धरती की सम्पदा में असंख्य गुनी वृद्धि हो सकती है।

यज्ञ प्रक्रिया प्राचीनकाल में शारीरिक, मानसिक दुर्बलता और रुग्णता के निवारण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती रही है। इसके अतिरिक्त उस माध्यम से वातावरण का परिशोधन एवं प्राणपर्जन्यों का अभिवर्षण भी सम्भव होता रहा है। इसमें व्यक्ति और समाज की स्वस्थता, समृद्धि एवं प्रगति की कितनी ही सम्भावनाएँ बढ़ती हैं। इस उपेक्षित एवं अस्त-व्यस्त यज्ञ प्रक्रिया को यदि फिर से नये परीक्षणों के साथ एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया का रूप दिया जा सके तो उसकी परिणति समस्त संसार पर दैवी वरदान बरस पड़ने के समान ही सौभाग्य भरी सिद्धि होगी।

प्रकृति को भौतिक समझकर उसकी पदार्थ सत्ता पर ही अब तक की माथा पच्ची होती रही है। अब उस ब्रह्माण्ड में चेतना का समुद्र भरा-पूरा अनुभव किया जा सके और उसी क्षेत्र के मणि-मुक्तक ढूँढ़ने में लग पड़ा जाय तो विश्व वैभव में निश्चय ही आश्चर्यजनक प्रगति हो सकती है।

अपनी पृथ्वी इस विशाल ब्रह्माण्ड परिवार का एक छोट-सा घटक है। उसे जो भी प्रत्यक्ष परोक्ष वैभव मिला हुआ है, वह ब्रह्माण्डीय सम्पदा का एक अंग है। पृथ्वी उत्तरी ध्रुव के माध्यम से उसमें से उपयोगी अंश खींची

और जो अनुपयोगी है उसे दक्षिणी ध्रुव से बाहर फेंक देती है। यह प्रकृतिगत आकर्षण, विकर्षण मानवी चेतना के एकाकी एवं संयुक्त चुम्बकत्वों द्वारा सामयिक आवश्यकता के अनुरूप खींचा एवं रोका जा सकता है। अन्तर्ग्रही कारणों से पृथ्वी पर अनेकों विपत्तियाँ आती हैं। इन्हें रोकने एवं अनुकूलताओं को बढ़ाने के लिये चेतनात्मक प्रयोग उपचार हो सकते हैं। इस क्षमता को भी पूर्व काल की तरह इन दिनों अध्यात्म एवं विज्ञान के सिद्धान्तों का समन्वय करके सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है।

आत्मिकी का परिष्कार एवं उसकी चमत्कारी परिणतियाँ

आदिम काल के मनुष्य के पास हाथ-पैर भर थे। पेट भरने के लायक समझा। इतने में ही उसे गुजारा करना पड़ता था। आज की तुलना में उस स्थिति को दयनीय और दुर्दशाग्रस्त, उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। दैवी अनुग्रह से आग जलाने से लेकर धातु गलाने तक के अनेकानेक वैज्ञानिक रहस्य उसके हाथ लगते गये और तदनुरूप प्रगति और सम्पन्नता के मार्ग पर वह बढ़ता चला आया। विज्ञान उसके हाथ न लगा होता तो पिछले लाखों वर्षों में प्रकृति के जो उतार-चढ़ाव हुए हैं उनसे मनुष्य जैसा दुर्बल काय प्राणी कब का अपना अस्तित्व गँवा बैठा होता। भौतिक विधान ही है जिसने मनुष्य शरीर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रखने वाले पदार्थों को तोड़-मरोड़कर इस योग्य बनाया ताकि वे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण योगदान देने लगे।

मानवी सत्ता दो हिस्सों में बँटी हुई है। एक शरीर काया-पदार्थ। दूसरी चेतना, मन, बुद्धि, अन्तस्। इनका भी एक विज्ञान है। इनका सही दिशा में विकास करने और सदुपयोग करने की प्रथम भूमिका है। इस भूमिका को सम्पन्न करने वाली विधा का नाम है—अध्यात्म-विज्ञान। पुरातन सतयुग की बेला में अध्यात्म विज्ञान पर मनीषियों ने अधिक जोर दिया था ताकि उपलब्ध सामग्री का श्रेष्ठतम उपयोग करके न केवल आन्तरिक दृष्टि से बलिष्ठ रहा जाय वरन् उपलब्ध भौतिक सामग्री का भी श्रेष्ठतम सदुपयोग सम्भव हो सके। व्यक्तित्व की उत्कृष्टता और बलिष्ठता इसी पर निर्भर रहती रही है।

समय का फेर ही कहना चाहिए कि भौतिक विज्ञान अपनी गति से चलता रहा और उस तक जा पहुँचा जहाँ मनुष्य अपने आपको सृष्टि का मुकुट मणि और सृष्टि का अधिष्ठाता बनाने का दावा करता है। दूसरे क्षेत्र में

खेदजनक स्थिति उत्पन्न हुई। अध्यात्म के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहना चाहिए था वह एक प्रकार से विस्मृत ही हो गया। बदले हुए समय के अनुरूप पुरातन प्रतिपादनों में जो हेर-फेर होना चाहिए था वह न हो सका। फिर निर्धारणों की जो निरन्तर परीक्षा होती रहनी चाहिए थी उसका भी कोई आधार न रहा। ऐसी प्रयोगशालाएँ भी मिट गईं, जिनमें असाध्य विज्ञान के युग की आवश्यकताएँ पूरी कर सकने वाली विधाओं का प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता। गाड़ी के दो पहियों में से एक टूट जाय तो उसे दुर्भाग्य ही कहा जायगा ? भौतिक विज्ञान की दिशा में परिपूर्ण दिलचस्पी ली जाती रहे और अध्यात्म-विज्ञान उपेक्षा के ही नहीं भ्रान्तियों के अन्ध कूप में गिरा दिया जाय तो उसे भाग्य की क्रूर विडम्बना ही कहा जायगा।

इन दिनों अध्यात्म का एक ही भौंडा स्वरूप जहाँ-तहाँ दीख पड़ता है कि अमुक दैवी-देवता की औषधी-सीधी पूजा-पत्री की जाय और बेबात की बात में प्रसन्न होकर दर्शन दें और पूछें ‘वर माँग, वर माँग।’ तथाकथित भक्त उनके सामने अपनी मनोकामनाओं की लम्बी लिस्ट रखें। देवता तथास्तु कहकर अन्तर्ध्यान हो जाय। इसमें कर्मकाण्ड ही मुख्य माना गया है। साधक के व्यक्तित्व को परिष्कृत करने की आवश्यकता नहीं समझी गई जबकि उसी की चुम्बकीय शक्ति से अदृश्य लोक से कुछ कहने लायक उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं।

यदि अध्यात्म सनकी लोगों की परिकल्पना मात्र है तो उसका अन्त होना चाहिए ताकि उस जंजाल में उलझे हुए लाखों व्यक्तियों को चिन्तन, समय और श्रम बर्बादी से बचाया जा सके। यदि वह सही है तो उसकी प्रामाणिकता इस तरह निखर कर आनी चाहिए जिसे कोई चुनौती न दे सके। बिजली को, आग को, बर्फ को, विष को कोई चुनौती नहीं दे सकता। क्योंकि उनके लाभ और हानि प्रत्यक्ष और अध्यात्म विज्ञान भी ठीक इसी तरह है उसका कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है कि जिसे झुठलाया जा सके। पर यह सम्भव तभी है जब उसके उपकरण और प्रयोग विधान सही हों।

प्रयोगशाला को सही एवं आवश्यक उपकरणों से सुसज्जित करना भौतिक विज्ञान की प्रथम आवश्यकता है। अध्यात्म विज्ञान के प्रयोगों में साधक को अपना शरीर और मनःसंस्थान इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयुक्त बनाया पड़ता है। भगवान ने मनुष्य को इतना सुसम्पन्न बनाकर भेजा है कि उसमें ब्रह्माण्ड की न केवल झँकी की जा सकती है वरन् उसकी ज्ञात, अविज्ञात क्षमताएँ भी उसमें प्रसुप्त रूप से विद्यमान पाई जाती हैं।

बरगद का बीज राई जितना होता है पर उसे विधिवत् अंकुरित करने और पोषण करने से कुछ ही समय में इतना बड़ा विशाल वृक्ष हो जाता है कि उसकी छाया में सैकड़ों पशु-पक्षी और मनुष्य गुजारा कर सकें। मनुष्य के बारे में भी यही समझना चाहिये कि पेट-प्रजनन के कोल्हू में पिलता हुआ हाड़-मांस का पुतला मात्र है पर उसकी पाँचों परतें उघाड़ कर देखा जाय तो उन तिजोरियों में एक से एक बहुमूल्य रत्नराशि भरी पाई जा सकती है। इन्हीं सब सम्भावनाओं और यथार्थताओं का प्रत्यक्षीकरण अध्यात्म विज्ञान है।

भौतिक विज्ञान की शाखा प्रशाखाओं से सम्बन्धित फलश्रुतियाँ स्कूल के विद्यार्थियों को भी विदित है किन्तु अध्यात्म विज्ञान की दिशाधारा एवं विधा से अपरिचित होने के कारण समझदारों के लिए भी उसका सही स्वरूप समझना और समझाना कठिन है। उसका स्वरूप बिगड़ते-बिगड़ते बाजीगरों के कौतुक-कौतूहल जैसा बन गया है। जिनकी नकल कोई भी चतुर व्यक्ति उतार कर लोगों को आश्चर्यचकित कर सकता है। सिद्धियाँ इतनी ही रह गई हैं। एक ओर लम्बी और अनिश्चित मंजिल है कि देवी-देवताओं की मनुहार उपहार करके मनोकामनाएँ पूर्ण करा लेने के दिवा स्वप्न देखे और दिखाये जायँ। इसमें देवताओं का मूल्य घटता है कि वे पूजा पत्री के लिए इतने अधिक ललचाते रहते हैं कि उसका प्रलोभन दिखाकर उनसे कुछ भी उचित अनुचित कराया जा सके।

प्रचलित मान्यताओं से वास्तविकता बिलकुल भिन्न है। उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले हर साधक को अपना शरीर और मन ऐसा परिष्कृत बनाना पड़ता है जिससे जीव विद्युत का अतिरिक्त उत्पादन सम्भव हो सके। मनुष्य शक्तियों का भण्डार है। उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में इतनी अद्भुत विभूतियाँ भरी पड़ी हैं कि उनके जागरण मात्र से वह असाधारण दृष्टिगोचर हो सके। अपने आपके लिए भी दूसरों के लिए भी और समस्त संसार के लिए भी। यह दिव्य क्षमताएँ वह अपने भीतर से भी उगाता है और इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र संव्याप्त होने के कारण उसमें से भी अभीष्ट मात्रा में खींचता है। पुरातन काल में ऋषियों को अपनी आध्यात्मिक प्रयोगशाला में कार्य के अनुरूप उपयुक्त वातावरण भी बनाना पड़ता रहा है। साथ ही अपने व्यक्तित्व को भी इस योग्य बनाना पड़ा है जिसमें दिव्य क्षमताओं के उगने एवं उतरने में कठिनाई न हो। यह प्राथमिक आवश्यकता है इसे जो पूरा कर सके हैं उन्हें दिव्य मानव, देव मानव, ऋषि, कल्प तपस्वी आदि नामों से जाना जाता रहा है। वे अपने उपार्जन को निज के और दूसरों के कर्म में भरपूर मात्रा में लाते रहे हैं। मल्लाह बाढ़ वाली नदी को स्वयं भी

पार करता है और दूसरों को भी बिना हिचक इधर से उधर पार करता रहता है। आत्म विज्ञानियों में से प्रत्येक की स्थिति ऐसी ही होती है।

आत्म विज्ञान के आधार पर कुछ लाभ स्वयं को मिलते हैं ? इसके मिलने से उसकी प्रामाणिकता का पता चलता है कि वह वस्तुतः गहरा गोता लगाकर मोती बीन लाने की स्थिति में हुआ या नहीं। इसके बाद यह विश्वास भी होता है कि वह उपार्जित सम्पदा में दूसरों के लिए रत्नाभूषण बनाकर उपहार में दे सकता है या नहीं।

अध्यात्म का प्रथम प्रतिफल निरोगी काया के रूप में दृष्टिगोचर होता है आहार विहार का संयम बरतने के कारण वह तो दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु से बच जाता है। आमतौर से उसे काय कष्ट नहीं उठाने पड़ते। साधक का मन प्रसन्न-सन्तुष्ट और उल्लसित रहता है जबकि यह लाभ कोटयाधीशों के भाग्य में भी बदा नहीं होता। वे हर समय सोते जागते चिन्तातुर ही रहते हैं। खीज और थकान उन पर निरन्तर छाई रहती है। उपार्जन, संरक्षण, आक्रमण, हानि जैसे कितने ही भय उन्हें त्रास देते रहते हैं उस दबाव से शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के स्वास्थ्य खो बैठते हैं। गहरी नींद का आनन्द उन्हें कदाचित् ही कभी आता है। चेहरे पर फूल जैसी मुस्कान कदाचित् ही कभी दृष्टिगोचर होती हो। इसके लिए तड़पते हैं तो मदिरा और व्यभिचार का आश्रय लेते हैं। उसमें भी उत्तेजना भर मिलती है और फिर भी मन को खिला देने वाली प्रसन्नता तो कदाचित् ही कभी दृष्टिगोचर होती है। यह स्थिति आये बिना चैन की लम्बी निरोग जिन्दगी नहीं जिया जा सकती जैसे कि ऋषि कल्प स्थिति के लोग सहज ही हस्तगत कर लेते हैं।

ऐसे व्यक्तियों की मन की प्रसन्नता का क्या कहना? जो राग-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं, उन पर हर घड़ी प्रसन्नता की मस्ती छाई रहती है। यही सोम रस है। इसे पीकर अमर हुआ जा सकता है। मस्तिष्क का क्षरण काम करने से नहीं मनोविकारों से होता है। अर्न्तद्वन्द्वों में शरीर गलता है। जिसने प्रसन्नता सिद्ध कर ली, वह सांसारिक दृष्टि से खिला हुआ फूल समझा जायगा और तितलियों, मधुमक्खियों, भौरों को अपनी ओर आकर्षित करेगा। इतना ही नहीं, उसका मस्तिष्क असाधारण क्षमताओं से सम्पन्न रहेगा। ऐसे कितने ही जादुई मस्तिष्क देखे जाते हैं, जिन्हें लायब्रेरियाँ जबानी याद थीं। जो छोटी आयु में ही ढेरों कक्षाओं के विद्वान हो गये थे। जिन्होंने ३ वर्ष की आयु में ही भाषा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक घटना तो ऐसी है जिसमें गर्भवस्थ बालक

ऐसी बातें करने लगा था मानो वह कोई भरा-पूरा वैज्ञानिक हो। विलक्षण प्रतिभाओं का यह चमत्कार मस्तिष्क को क्षीणता से बचा लेने मात्र का प्रतिफल है।

सामान्यतया मनुष्य जीवित लोगों से ही सम्पर्क रख सकने में समर्थ होता है। पर यदि मनोमय कोश का धरातल कुछ ऊँचा हो जाय तो उस विश्व ब्रह्माण्ड में परिभ्रमण करती हुई अनेकानेक दिवंगत आत्माओं से सम्पर्क सध सकता है और एक-एक लोक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रह सकता है, जिसके बारे में अब तक नहीं के बराबर जानकारी रही है। मोटेतौर पर यही समझा जाता है कि भूत-प्रेत कहीं श्मशान, पीपल, खण्डहर पर बैठे रहते और जिस-तिस को डराकर कुछ पूजा पत्री ऐंठते रहते हैं पर गहरी जानकारीयों ने बताया है कि उनका एक सुविस्तृत लोक अपने इस मनुष्य लोक जैसा ही है जहाँ के निवासी जीवित मनुष्यों की कई तरह से सेवा सहायता भी करते रहते हैं। उन्हें पूर्वाभास कराते और कई मुसीबतों से बचाते हुए अप्रत्याशित सुविधाओं का सुयोग बिठाते हैं। विकसित सूक्ष्म शरीर का तन्त्र विज्ञान के माध्यम से इनके साथ सरलतापूर्वक सम्बन्ध सध सकता है।

कितने ही देवोपम ऋषि कल्प व्यक्ति ऐसे भी हैं जो अपने सूक्ष्म शरीर को तो साधनारत देखते हैं पर स्थूल शरीर से अन्य उपयुक्त व्यक्तियों के माध्यम से ऐसे कृत्य करते कराते रहते हैं जो संसार के हित साधन में महत्वपूर्ण सहायता करें।

मन्त्र शक्ति-अस्त्र-शस्त्रों की सामर्थ्य से बढ़कर है घटकर नहीं। अन्तरात्मा की दिव्य ऊर्जा जब जागृत होती है तो समीपवर्ती समस्याओं के समाधान में सहायता करती है। वातावरण बदलती है और जिन्हें उपयुक्त समझती है उन्हें शाप से दण्डित और उपहार से पुरस्कृत करती है।

मनुष्य के शरीर और मन में अनेकानेक सामर्थ्यों के पुंज भरे पड़े हैं पर उनमें से जितने दैनिक प्रयोजनों में काम आते हैं उतने ही जाग्रत स्थिति में रहते हैं। शेष सोई स्थिति में रहते हैं। यदि उनमें थोड़ी सी भी सामर्थ्य जगाई जा सके तो व्यक्ति सिद्ध पुरुष विभूतिवान बन जाता है और सामान्य व्यक्ति की तुलना में कई गुनी क्षमता का परिचय देता है और वह क्षमता भी सामान्य स्तर की न होकर विशेष स्तर की होती है। ऐसे व्यक्ति एक होते हुए भी, एक शरीर में रहते हुए भी ऐसी भूमिकाएँ निभाते हैं, मानो कितने ही सामर्थ्यवान मिल-जुलकर किसी बड़े मोर्चे को सम्भाले हुए हों। संख्या की दृष्टि से उन्हें एक गिना जा सकता है किन्तु क्रियाओं की दृष्टि से वे अत्यधिक प्रयास करते और उतना करते

हैं जितना अनेकों मिलकर भी कदाचित् ही कर पाते। कई बार तो उन अकेले का ही ऊर्जा प्रवाह एक वातावरण को उलट देने का अप्रत्याशित काम करता है।

वर्तमान व्यापक संकटों में आत्म-शक्ति के विकसित होने पर कितने ही समाधान निकल सकते हैं। अणु युद्ध की बात सोचने वालों के दिमाग उलट सकते हैं, उनके दुस्साहस भयभीत होकर अपना ही मरण सोच सकते और हाथ खींच सकते हैं। चलने वाले आयुध जमीन पर गिरने की अपेक्षा पंख लगाकर आकाश में उड़ सकते हैं। पर्यावरण में छाया हुआ विकिरण कोई बुहार कर महा अन्तरिक्ष में कूड़े करकट की तरह फेंक सकता है। वृक्षों की कमी से ऑक्सीजन की कमी पड़ने पर उसकी पूर्ति घास-पात या अनाज के छोटे पौधों में कराई जा सकती है। बादलों को दिशा देकर वर्षा का अभाव दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार खनिजों की कमी से उत्पन्न होने वाला विश्व संकट किसी अन्य उपचार द्वारा सरल हो सकता है। उमड़ते युद्ध की घुमड़ती घटाटोप घटाएँ किसी आँधी तूफान के प्रवाह में पड़कर कहीं से कहीं पहुँच सकती हैं।

मनुष्य की पीढ़ियाँ वंशानुक्रम एवं जीन्स स्थिति के कारण कुमार्गगामी, कुत्सा और कुण्ठाग्रस्त बनती जा रही हैं उन्हें सुधारने के लिए एक-एक व्यक्ति की सूक्ष्म सर्जरी होना कठिन है किन्तु अध्यात्म शक्ति यदि एकसरे की तरह एक-एक मनुष्य में होकर पार होती चली जाय तो उनमें ऐसे भीतरी परिवर्तन हो सकते हैं जिससे भावी पीढ़ियों का स्वभाव एवं स्तर ही बदल जाय। इतने लोगों को पढ़ाना, समझाना और मस्तिष्क की धुलाई करना वर्तमान प्रशिक्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत बहुत कठिन है। किन्तु यदि मनुष्यों का स्तर और अन्तराल बदलने वाला विद्युतीय तूफान आ धमके तो युग परिवर्तन के अवसरों पर भूतकाल में जो चमत्कार होते रहे हैं वे अभी भी हो सकते हैं। विश्व परिवर्तन की, युग परिवर्तन की दिशा में और भी ऐसा बहुत कुछ हो सकता है जिससे स्वरूप की अभी तो कल्पना भी नहीं की गई है। नये युग का मनुष्य ऐसा हो सकता है। जिसमें न केवल गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से वर्न् क्षमताओं की दृष्टि से भी ऐसा परिवर्तन हो सके जिसका अभी तो यदा-कदा परिचय मिलने पर ही अपने को हतप्रभ होना पड़ सकता है।

ऐसी-ऐसी वैयक्तिक सामूहिक—प्रगति गत अनेक कल्पनाओं के करते हुए असम्भव जैसा कुछ भी अनुभव नहीं करना चाहिए। यह विश्व जिस नियन्ता का बनाया हुआ है अपनी कलाकृति में थोड़ा बहुत अन्तर कर दे तो उसमें अनहोनी जैसी बात क्या है ? मनुष्य देखने में

कीट पतंगों में से एक है। पर स्मरण रहे वह ईश्वर का अविनाशी अंश और राजकुमार भी है। जो ब्रह्माण्ड में है वह बीज रूप में, पिण्ड में भी है इस तथ्य को भुला देने की आवश्यकता नहीं है। फिर दोनों के बीच इतना अन्तर कैसे पड़ गया ? इसका एक ही उत्तर है कि व्यक्ति हर दृष्टि से अनैतिक बन गया है। उसका चिन्तन, चरित्र, व्यवहार, मान्यता, आकांक्षा, भावना, क्रिया सभी कुछ अवांछनीय दिशा में उलट गई हैं। उसे उलटेपन को उलटकर यदि सीधा किया जा सके तो आज की चिन्ताएँ और समस्याएँ कल ही सरल और सुगम हो गई दृष्टिगोचर होंगी।

प्राचीनकाल में जिन प्रयोजनों की आवश्यकता थी उनको ध्यान में रखते हुए उन दिनों की साधना का उपक्रम बनाया गया था। अतएव उसका स्वरूप कुछ भिन्न था लेकिन आज की परिस्थितियाँ, आवश्यकता और वातावरण का प्रवाह ही भिन्न नहीं है वरन् साधना करने

वालों के शरीर एवं मन जिस अन्न-जल से जिस सम्पर्क-संसर्ग से जिस ढाँचे में ढल गये हैं। उसका एक बार नये सिरे से काया-कल्प करना पड़ेगा। छुरी, चाकू मामूली लोहे में भी ढल जाते हैं पर तोपें ढालने के लिए उनमें अष्ट धातुओं का सम्मिश्रण प्रयुक्त करना पड़ता है। अन्यथा इतनी अधिक और इतनी तेज बारूद का धमाका होने से निशाना सही स्थान पर लगना तो दूर , वह तोप ही टुकड़े-टुकड़े हो जायेगी। आज की स्थिति के अनुरूप अध्यात्म शक्ति का उद्भव और प्रकटीकरण करने के लिए परोक्ष जगत में क्रियाशील तपःपूत आत्माओं को काया-कल्प स्तर का प्रयोग करना पड़ रहा है। एक नहीं अनेकों उच्च स्तरीय आत्माएँ उस प्रयोग में लगी हैं जिससे आत्मिकी की परिष्कृति से चमत्कारी नवयुग का आगमन सम्भव हो सके।



सुपर चेतन और जीवन-मुक्ति

अपने को जानो

विद्वान् इब्सन का कथन है—शक्तिशाली मनुष्य वह है, जो अकेला है। कमजोर वह है, जो दूसरों का मुँह ताकता है “अकेले का अर्थ है आत्म-निर्भर, अपने पैरों पर खड़े होने वाला। यही अकेलापन असामाजिक या असहयोगी के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इब्सन का तात्पर्य यह है कि जो अपनी जिम्मेदारी को समझता है, अपने कर्तव्यों को निबाहता है, उसे प्रगति के लिए आवश्यक आधार अपने भीतर से ही मिल जाता है, बाहर के साधन उसके चुम्बकत्व से खिंचकर अनायास ही इकट्ठे हो जाते हैं। अपने सामर्थ्य के स्रोतों को भरा-पूरा देखना बाहर की सहायता का प्रवाह निरन्तर समीपतम चलते आने के लिए पथ-प्रशस्त करता है।

कन्स्यूसियस ने कहा है महान व्यक्ति अपनी आवश्यक वस्तुओं को भीतर ढूँढते हैं, जबकि कमजोर उन्हें पाने के लिए दूसरों का सहारा तकते हुए भटकते रहते हैं। यह तथ्य ऐसे हैं जिन्हें स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाना चाहिए और हर किसी की जीवन पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर अंकित किया जाना चाहिए। तत्त्वदर्शी और मनीषी सदा से ही कहते रहे हैं— जो अपनी सहायता आप करता है, उसी की सहायता करने परमात्मा भी आता है। जिसने अपने ऊपर से भरोसा खो दिया उसे ईश्वर की आँखें भी अविश्वासी ठहराती हैं। परमात्मा की निकटतम और अधिकतम सत्ता अपने भीतर ही पाई जा सकती है। जो उसे नहीं देखता वह बाहर कहाँ पर ऐसा अवलम्बन प्राप्त कर सकेगा जो उसे विपत्ति से बचाने और आगे बढ़ाने में सहायता कर सके ? अपनी क्षमता और सम्भावना पर से विश्वास उठा लेना परमात्मा की सत्ता और महत्ता को अस्वीकार करना है। ऐसी अनास्थावादी मनोभूमि जहाँ हो वहाँ हमें धिनौने किस्म की नास्तिकता की गन्ध मिलेगी।

व्यक्ति अकेला नहीं है। उसके कण में भौतिक प्रकृति की असीम शक्ति सँजोये हुए कोटि-कोटि परमाणुओं का सैन्य दल मौजूद है। जीवाणुओं में से हर एक के भीतर एक स्वतंत्र सौरमण्डल की सत्ता विद्यमान है। कोटि-कोटि जीवाणुओं की हलचलें जहाँ हो रहीं हैं, वहाँ अशक्तता का अस्तित्व कैसे हो सकता है। जिसके पास धन-वैभव के अनेक स्रोत विद्यमान हैं वह यदि

अपने को दीन-दरिद्र कहता फिरे तो उसे अविश्वासी ही कहा जायेगा। जो अपने वैभव और शक्ति भण्डार को भुला चुका और तनिक-तनिक से अवसरों पर दूसरों की सहायता पर निर्भर रहता है वह सामर्थ्य से न सही अन्तः चेतना की दृष्टि से निश्चय ही दरिद्र है। दरिद्र की कोई वचित और किंचित ही सहायता करता है।

जिसे अपनी सत्ता और महत्ता का ज्ञान है, उसे यह भी पता रहता है कि प्रतिपक्षी अवरोध कितने पानी में हैं कोई किसी को न तो डरा सकता है और न स्थायी अवरोध उत्पन्न कर सकता है। जो डरता और रोकता है वह प्रचण्ड आत्मतेज के सामने अपनी भूल स्वीकार करता है और उल्टे पाँवों वापिस लौट जाता है और की तो क्या बिसात मृत्यु तक उसे विचलित नहीं कर सकती; जिसे अपने अनन्त जीवन का विश्वास है और मौत को विश्राम मान सकता है, अवरोध नहीं। उसकी यात्रा अवधि की परवाह किये बिना निरन्तर गतिशील रहती है। वेद का ऋषि इसी सत्य का निरन्तर उद्घाटन करता रहा है तमेष विद्वान् न विभाय मृत्यो। जो अपने को जानता है वह मृत्यु से भी नहीं डरता। अवरोध और असहयोग के कारण तो वह हताश हो ही कैसे सकता है।

दूसरों की बुराइयाँ सभी देखते हैं परन्तु अपनी ओर देखने का अभ्यास बहुत कम लोगों को होता है। सुप्रसिद्ध विचारक इमर्सन का कथन है—बहुत कम लोग मृत्यु से पूर्व अपने-आपको पहिचान पाते हैं। बहुत कम व्यक्ति अपने जीवन में सभी शक्तियों को प्रकट करते हैं; बाकी तो उन्हें साथ लिए ही मर जाते हैं। हममें से अनेकों तो ईश्वर के सन्देश को संसार में दिये बिना ही यहाँ से चले जाते हैं।

वस्तुतः तथ्य तो यह है कि हमारे अन्दर असंख्य गुप्त शक्तियाँ सोई पड़ी हैं परन्तु हमें उन योग्यताओं तथा क्षमताओं का पता ही नहीं और न ही उन्हें जानने का प्रयास करते हैं। यह ठीक है कि बाहर की अनेकों वस्तुएँ जानकर हम ज्ञानवान् कहलाएँ, परन्तु यह भी कम आवश्यक नहीं कि हम अपने आपको पहिचानना भी सीखें। जो अपनी ओर देखने का अभ्यास डालता है, वही महान बनता है। ऐसा व्यक्ति कठिनाइयों तथा बाधाओं पर विजय पाकर सतत् उन्नति करता रहता है।

महापुरुषों का जीवन इस बात का साक्षी है कि वे सतत् आत्म-निरीक्षण करते रहे। यदि आप भी महान बनना चाहते हैं तो दूसरों को तुच्छ समझने की, उनमें छिद्रान्वेषण करने की दृष्टि का परित्याग कर दीजिए। दूसरों को तुच्छ समझने वाला मनुष्यत्व खो देता है। अन्धों की गलतियाँ खोजने की अपेक्षा अपनी त्रुटियाँ खोजिए और उन्हें दूर कीजिए। अपनी शक्तियों को पहिचानिए और उनका सदुपयोग कीजिए।

ईश्वर ने अनेकों दिव्य शक्तियाँ देकर आपको संसार में भेजा है उनका दुरुपयोग न कीजिए। पेट और प्रजनन जैसे क्षुद्र कार्यों में उन्हें व्यर्थ न होने दीजिए। आप जो भी कार्य कर रहे हैं, उनसे हजारों गुना अधिक कार्य करने की सामर्थ्य आपके अन्दर है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अपना महत्व समझें, शक्तियों को पहिचानें तथा समय का सदुपयोग करें। जीवन का एक-एक क्षण बहुमूल्य है, उसे व्यर्थ न जाने दें।

जो कार्य करने की इच्छा रखते हैं उसे आज से ही प्रारम्भ कर दीजिए। अपनी समस्त शक्तियाँ उसमें एकाकार कर दीजिए। वह क्षण आपके जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षण होगा, जब आपको यह अनुभव होगा कि संसार को आपकी आवश्यकता है। आपके अन्दर एक और व्यक्तित्व समाहित है, जो आपके बाहरी व्यक्तित्व से कहीं अधिक महान है। जिस क्षण व्यक्ति अपनी महानता की झलक पा लेता है, वह मानव से महामानवत्व की ओर अग्रसर हो जाता है।

हो सकता है कि किन्हीं कठिनाइयों या बाधाओं के कारण आपका व्यक्तित्व पूरी तरह से विकसित न हो सका हो। परन्तु आपत्तियाँ आने पर घबराइए मत। जिस प्रकार से अग्नि में तपकर सोना निखर जाता है, और भी अधिक चमकने लगता है, उसी प्रकार बाधाएँ और कठिनाइयाँ मनुष्य को खरा-कुन्दन बना देती हैं। कई पादप ऐसे होते हैं, जब तक उन्हें मसला न जाए, सुगन्धि नहीं देते। उसी प्रकार कुछ व्यक्ति भी ऐसे होते हैं, जब तक वे विपत्तियों से आक्रान्त न किये जायें, उनकी योग्यताओं की सुगन्धि फैल ही नहीं पाती। अतएव आत्म-निरीक्षण के द्वारा अपनी योग्यताओं को पहिचानिये। किसी भी प्रतिभा का अंकुर आपको अपने अन्दर दिखलाई पड़े उसको पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर दीजिए। कौन जाने एक दिन आप संसार के महान कलाकार बन जायें, विश्वप्रसिद्ध लेखक बन जायें, दार्शनिक या राजनीतिज्ञ बन जायें। आवश्यकता केवल इस बात की है कि शक्तियों को पहिचानिये और सतत् बढ़ते रहिए।

जो स्वयं को जान लेता है, वही साक्षात् परमेश्वर को जान सकता है। वही व्यक्ति ईश्वरीय प्रयोजनों को

पूरा कर सकता है तथा उसके संदेशों को जनसाधारण तक पहुँचा सकता है।

हम आत्म-गरिमा का अनुभव करें और किसी से न डरें

अथर्व वेदीय पिप्पलाद संहिता के प्राण सूक्त में निर्भरता का संकल्प ऐसा है, जिसे बार-बार दुहराया जाना, पाठ किया जाना अभय रहने का आत्मविश्वास करता है।

डरना केवल दो से चाहिए—एक ईश्वर के न्याय से और दूसरे पाप-अनाचार से। जो इन से डरता, बचता रहेगा उसे और किसी से डरने की आवश्यकता न पड़ेगी। आत्मबोध और आत्मबल का ज्ञान न होने के कारण लोग छोटे-छोटे कारणों को लेकर चिन्ताग्रस्त, आशंकित, आतंकित एवं भयभीत होते हैं। इस भीरुता को हेय ठहराते हुए प्राणसूक्त में हमें निर्मांकित मन्त्रों में यही निर्देश दिया है कि अपने को देवशक्तियों की पंक्ति में बिठावें और उन्हीं की तरह निर्भर उल्लसित जीवन जियें।

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ १॥

जिस प्रकार द्यौ और पृथ्वी न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं। उसी तरह हे प्राण तू न तो किसी से डर और न क्षीण हो।

यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ २॥

जिस प्रकार वायु और अन्तरिक्ष न किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं उसी तरह हे प्राण तू न तो किसी से डर और न क्षीण हो।

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ३॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा न किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं उसी प्रकार हे प्राण तू न तो किसी से डर और न क्षीण हो।

यथा इन्द्रश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ४॥

जिस तरह दिन और रात न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं। उसी तरह हे प्राण न तो तू किसी से डर और न क्षीण हो।

यथा धेनुश्चानड्वांश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ५॥

जिस तरह गाय और बैल किसी से न तो डरते हैं और न क्षीण होते हैं। उसी तरह हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

यथा मित्रश्च वरुणश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ६॥

जिस तरह मित्र और वरुण न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं उसी तरह हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

यथा ब्रह्म च क्षत्र च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ७॥

जिस तरह ब्रह्म और क्षत्र न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं उसी तरह हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

यथेन्द्रश्चेन्द्रिय च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ८॥

जिस तरह इन्द्र और इन्द्रियाँ न तो किसी से डरती हैं और न क्षीण होती हैं, उसी तरह हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

यथा वीरं च वीर्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ ९॥

जिस प्रकार वीर और शौर्य न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं उसी प्रकार हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

यथा प्राणश्चापानश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥ १०॥

जिस तरह प्राण और अपान न तो किसी से डरते हैं और न क्षीण होते हैं। उसी तरह हे प्राण न तो तू डर और न क्षीण हो।

भीतर की दुनिया हर हालत में सही रहे

हम दो दुनिया के बीच रहते हैं। एक हमारे भीतर की, जो बाहर की दुनिया को प्रभावित करती है, एक हमारे बाहर की, जो भीतर की दुनिया को प्रभावित करती है। देखना यह है कि हमने किसे कितना महत्व दिया है, और किस सीमा तक किसे अपनाया है?

भीतर की दुनिया विचारों और भावनाओं की है। बाहर की दुनिया परिस्थिति और साधनों की। भावनाएँ यदि उच्चस्तरीय हैं, तो वह मजबूती बड़े काम की होती है। वह प्रामाणिकता और नैतिकता हर हालत में बनाये रहती

है। परिस्थितियाँ विपरीत और साधनों की कमी रहने पर भी व्यक्ति सीधा खड़ा रहता है। बाहर के दबाव पड़ने पर भी झुकता नहीं। गरीबी और विपत्ति में भी दिन हँसते हुए गुजार लेता है। भीतर प्रसन्नता है, तो बाहर भी मस्ती बनी रहती है। इसके विपरीत जो बाहर की दुनिया में रहते हैं, उनके लिए परिस्थितियाँ ही सब कुछ रहती हैं, वे पैसा कम पड़ते ही रोने-बिलखने लगते हैं और संघर्ष-झड़प सामने आने पर तिलमिला जाते हैं, अनीति पर उतर आते हैं, शान्ति खो बैठते हैं और जिस उपाय से सम्पन्नता-सफलता हाथ लगे उसे करने लगते हैं, भले ही उसमें नीति हाथ से गँवानी पड़े।

भीतर की दुनिया विचारों की है, आदर्शों और भावनाओं की है। उसका स्तर यदि ऊँचा है, तो व्यक्ति हर हालत में प्रसन्न बना रहेगा। सिद्धान्तों का परिपालन उसे इतना साहस दे सकेगा, जिसके सहारे परिस्थितियों की विपरीतता भी कुछ बिगाड़ न सके, विचलित न कर सके। गिराने के लिए यदि लोगों ने दबाव डाले और जाल बिछाये हैं, तो इस सीमा तक हैरान न कर सकेंगे कि आदर्शों को छोड़े और अनुकूलता खरीदने के लिए अनीति अपनाने पर उतारू हो। परिस्थितियाँ यदि मनःस्थिति को दबा डालें, तो समझना चाहिए कि मनुष्य बाहर की दुनिया में रहता है और भीतर की दृष्टि से खोखला है। जिसने सिद्धान्त-आदर्शों, विचार-भावनाओं का महत्व समझा है, वह सफलता उसी सीमा तक स्वीकार करेगा, जो अनुचित कदम उठाने और अनीति अपनाने के लिए बाधित न कर सके। उसे सम्पन्नता की चाह तो रहेगी, इसी सीमा तक जिसमें आदर्शों से विचलित न होना पड़े।

जिनने दोनों संसदों का सन्तुलन बिठा लिया है, वह योजना ऊँची बनाते समय यह ध्यान रखता है कि महत्वाकांक्षा इतनी बड़ी न हो जिसके लिए अनुचित कदम उठाने पड़ें। महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए पराक्रम करना तो उचित है पर वह पराक्रम ऐसा नहीं जो मर्यादा का उल्लंघन करने लगे। इसी प्रकार सन्तुलन मन वाला अपनी-अपनी कार्य-पद्धति को इस स्तर की बनाता है, जिसमें प्रगति की गुंजायश रहे। उन्नति की राह पर चलने में रुकावट न पड़े। साथ ही कुछ ऐसा न करना पड़े जिसमें अपने को अप्रमाणिक ठहराया जाय।

बुद्धिमत्ता उसी में है जिससे भीतर और बाहरी दुनिया के साथ तालमेल बैठ सके। स्वजन सम्बन्धी प्रसन्न रहें। कारोबार में प्रगतिशीलता बनी रहे। साथ ही कार्य-कौशल भी हाथ से जाने न पाये।

जिसके लिए बाहर की दुनिया ही सब कुछ है, वह अन्तरात्मा की पुकार को प्राथमिकता न दे सकेगा। उसे बाहर वालों का ध्यान रहेगा। लोग जिस कदम में बड़प्पन प्रदान करें, भले ही आदर्शों के हिसाब से हलका या गलत सिद्ध होना पड़े, बाहर की दुनिया में प्रचलन यही है कि सफलता और सम्पन्नता खरीदने के लिए जो भी करना पड़े, किया जाय। आदर्शों का ध्यान न रखने वाले को सीमित लाभ में सन्तोष करना पड़ेगा। लोग मूर्ख कहें और व्यवहार-कुशलता से अनजान ठहरावें तो उसके लिए भी तैयार रहना पड़ेगा। जिसने भीतर की दुनिया को सही रखा है, उसकी बाहर की दुनिया भी ऐसी रहेगी जिसे गलत न कहा जा सके।

व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो

मनुष्य की समूची प्रगति उसके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता पर निर्भर है। यदि व्यक्तित्व ही निकृष्ट या विखण्डित स्तर का हुआ तो व्यावहारिक जीवन में अनेकानेक विकृतियों, असफलताओं का सामना करना पड़ेगा। सारी उपलब्धियों एवं बौद्धिक प्रगति के बावजूद आज जिस तरह मनुष्य अपने को व्यथित, असुरक्षित, उद्विग्न एवं असफल महसूस कर रहा है, उसके मूल में उसके व्यक्तित्व का विखण्डन ही दृष्टिगोचर होता है। मूर्धन्य मनोविदों ने इस समस्या को गंभीरता से लिया है और व्यक्तित्व को अविभाज्य बनाने के सम्बन्ध में शोध प्रयास भी आरंभ किये हैं। इस दिशा में उन्हें आंशिक सफलता भी मिली है।

मनुष्य को व्यक्तित्ववान बनाने के जितने भी पाश्चात्य प्रयत्न हुए हैं वस्तुतः वे सभी मानसिक स्तर तक ही सीमित रहे हैं। जब तक आत्मिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिलता, व्यक्ति को अधूरा ही कहा जायेगा। इस तथ्य का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध मनीषी डॉ. आई. वी. सचदेवा ने अपने ग्रंथ “योग एण्ड साइको एनालिसिस” में कहा है कि व्यक्तित्व को अखण्डित बना सकना मानसिक स्तर से गहरे जाने पर ही संभव है। जहाँ इसको सर्वांगपूर्ण बनाया और समस्त व्यथाओं से छुटकारा पाया जा सकता है, वह आत्मिक स्तर ही है। जब तक समूचा जीवन इस केन्द्र से संचालित नहीं होता, तब तक इस समस्या के समाधान के लिए किये गये प्रयास वृक्ष की जड़ों को छोड़कर पत्तों को सींचने जैसे ही होंगे। सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान आत्मिक क्षेत्र से ही संभव है।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण प्रख्यात मनोविद् लारेन्स हाइड ने भी अपनी कृति “आइसिस एण्ड ओरिजिंस” में

किया है। उनका कहना है कि मनोवैज्ञानिक विधियों की अपनी सीमाएँ हैं जिनके द्वारा मनोरोगों से ग्रसित रोगियों को इस परिधि में तो लाया जा सकता है, पर व्यक्तित्व विखण्डन जैसी गंभीर समस्याओं का समाधान इसके द्वारा संभव नहीं हो सकता। उनके अनुसार जीवन को आत्म-केन्द्रित बनाए बिना किसी भी तरह व्यक्तित्व तथा जीवन के बिखराव की परिसमाप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य समाज को आत्म-केन्द्रित बनाना भी तभी संभव है जब अध्यात्म का सहारा लिया जाय।

धर्म एवं अध्यात्म का जो स्वरूप इन दिनों संसार के विभिन्न भू-भागों में प्रचलित है, उसको देखकर मनोवैज्ञानिकों का वैज्ञानिक मन एक वितृष्णा से भर उठता है। वे यह नहीं सोच पाते कि जो धर्म मनुष्यों को भेड़-बकरियों का झुण्ड समझकर उन्हें दूसरे झुण्ड से अपने झुण्ड में शामिल करने को ही अध्यात्म का सर्वस्व मान बैठे हैं, जिनकी सारी आध्यात्मिकता इसी फेर-बदल या परिवर्तन में सिमट गई है। उससे भला व्यक्तित्व को सर्वांगपूर्ण कैसे बनाया जा सकता है, धार्मिकों का एक अन्य समुदाय भी है जो बात-बात पर जिहाद छेड़ता और दंगे कराने, काफिर-मारने के नाम पर मनुष्यों की हत्या करने में ही अपनी शान समझता है। इस धर्म बनाम अखाड़े से भी कोई समाधान निकलने वाला नहीं है।

वस्तुतः आज मानव समाज अध्यात्म के उस स्वरूप की अपेक्षा रखता है, जो प्रथा-परम्पराओं या लोक-प्रचलनों पर आधारित न होकर पूरी तरह से मनोवैज्ञानिक हो। यह कार्यक्षेत्र अध्यात्म मनोविज्ञान का है। वर्तमान समस्याओं का समाधान कर मनोशास्त्रियों को एक सशक्त आधार प्रदान कर सकना इसी के सहारे संभव हो सकेगा।

अध्यात्म का मनोवैज्ञानिक स्वरूप भारतवर्ष के ऋषि-चिंतन की अपनी विशिष्टता है। ऋषि-मनीषी कहे जाने वाले यहाँ के मनोवैज्ञानिकों ने मानव के व्यवहार एवं अन्तराल का भली-भाँति विश्लेषण कर उसके व्यक्तित्व को परिपूर्ण बनाने तथा जीवन को आत्म-केन्द्रित करने की एक ऐसी प्रणाली विकसित की थी, जिसे अध्यात्म मनोविज्ञान नाम दिया जाना सर्वथा युक्तिसंगत है। इस मनोवैज्ञानिक प्रणाली को सुसम्बद्ध रूप से स्थापित करने का प्रमुख श्रेय महर्षि पतंजलि को है। उन्हें पूर्वात्य मनोविज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकारा जा सकता है। सुविख्यात मनो विशारद कार्ल रोजर्स ने इसी प्रणाली से प्रेरणा ग्रहण कर एक ‘नॉन डाइरेक्टिव थेरेपी’ नामक पद्धति भी विकसित की है, जो पूर्णतया अध्यात्म विज्ञान को अपना आधार मानती है।

३.५ चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन

अध्यात्म भी मनोविज्ञान हो सकता है। यह बात मनोविज्ञान के नूतन अध्येताओं को कुछ कौतुक जैसी भी लग सकती है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से ऐसा लगना स्वाभाविक भी है। किन्तु अध्यात्म को मनोवैज्ञानिक ढंग से परिभाषित करने पर यह तथ्य सहज ढंग से समझ में आ सकता है। इस प्रणाली के द्वारा चेतन मन को अचेतन मन में तब तक केन्द्रित करते हैं, जब तक दोनों मिल न जायँ। फिर इन दोनों को अति-चेतन में विलय कर दिया जाता है। यह समूची मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ही अध्यात्म है।

इस तरह जीवन का संचालन मनःक्षेत्र से न होकर अतिमन के क्षेत्र से होता है। इस स्थिति में हम अपने मन पर उसी तरह अधिकार कर लेते हैं, जैसे अभी शरीर पर है। तभी समूची मानसिक शक्तियों का पूरी तरह सदुपयोग करना भी सम्भव बन पड़ता है। किञ्चलित व्यक्तित्व सहज ढंग से सुसम्बद्ध एवं अखण्डित हो जाता है।

व्यक्तित्व के अखण्डित स्वरूप को प्राप्त करने की इस भारतीय प्रणाली की मनोवैज्ञानिक विवेचना अपने समय के उत्कृष्ट चिंतक स्वामी प्रभवानन्द ने अपनी कृति “हाऊ टू नो गॉड” में गंभीरतापूर्वक की है। तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनसे बताया है कि मनो-व्यक्तित्व अपने मरीजों का मनो-शारीरिक स्तर तक एक सन्तुलन भर बिठा सकते हैं पर इसके परे उनकी पहुँच नहीं हो पाती। जबकि इसके परे ही है व्यक्तित्व का उर्ध्वमुखी तथा अखण्डित होना। यह कार्य अध्यात्म करता है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ से आधुनिक मनोविज्ञान की परिसमाप्ति होती है, वहीं से अध्यात्म मनोविज्ञान का प्रारम्भ होता है।

मनो विशारद इरा प्रोगॉफ ने भी अपनी कृति “साइकोलॉजी ऐज ए रोड टू फिलासफी” में उक्त मत का समर्थन करते हुए बताया है कि कोई भी मनोवैज्ञानिक प्रणाली मानव जाति की सेवा तभी पूरी तरह कर सकती है, जब वह वैयक्तिक दर्शन के रूप में भी उभर सके। यहाँ वैयक्तिक दर्शन से तात्पर्य उस विधा से है, जो व्यक्ति के चिन्तन को सँवारे तथा परिष्कृत बनाए।

अध्यात्म मनोविज्ञान अपने को इस कसौटी पर भी पूरी तरह से खरा सिद्ध करता है। महर्षि पतंजलि के सूत्र न केवल एक सर्वांगपूर्ण मनोवैज्ञानिक पद्धति है बल्कि सदियों से उसे भारतीय षड्दर्शनों में मुख्य दर्शन के रूप में भी स्वीकारा गया है। यह वैयक्तिक दर्शन की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने में पूर्णतया सक्षम है।

यह पद्धति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को पूरी तरह से सन्तुष्ट करती है। इसका अवलम्बन

जहाँ मूर्धन्य मनोविदों के प्रयोगों को नयी गति देने वाला सिद्ध होगा, वहीं सामान्य जन इसकी प्रविधियों को व्यवहार में लाकर अपनी समूची मनोव्यथाओं से मुक्ति भी पा सकेंगे। आधुनिक मनश्चिकित्सकों का भी यह पुनीत दायित्व है कि इस पद्धति को अपनाकर, व्यवहार में लाकर मानव तथा मानवता का हित सम्पादन करें।

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की

धुरी—अध्यात्म

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन एवं मानव समाज में सुख-शांति की परिस्थितियाँ किस आधार पर बनेंगी? यदि इस प्रश्न का संक्षिप्त-सा उत्तर दिया जाय, तो वह होगा—मनुष्य में मनुष्यता के विकास से। इसी को प्रकारान्तर से व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास भी कह सकते हैं। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का तात्पर्य मात्र शारीरिक स्वस्थता एवं बौद्धिक प्रखरता के युग्म को मानना भूल होगी। इसका सही व स्वस्थ स्वरूप सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को व्यक्तित्व में विकसित करने से प्रकट होता है।

मानवी समाज में व्यक्ति के भिन्न-भिन्न स्तर दिखाई देते हैं। एक से कार्य-कलेवर के होते हुए भी गुण, कर्म, स्वभाव का अंतर हर एक की अपनी अलग पहचान बना लेता है। मानवी मूल्यों की अवेहलना कर उल्टी राह पर चलने वाले नर-पशु, नर-पिशाच की श्रेणी में गिने जाते हैं, तो सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदर्शों के अनुरूप जीवन-पद्धति पर चलने वाले महामानव की श्रेणी में जा विराजते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अन्दर यह जिज्ञासा बराबर बनी रही है कि परिपक्व व्यक्तित्व की पहचान क्या है? उसके सही लक्षण क्या हैं?

इस संदर्भ में प्रो. जी. डब्ल. आलपोर्ट ने अपने मंतव्य इस प्रकार प्रकट किये हैं—“व्यक्ति की परिपक्वता, अपने गुणों के विस्तार एवं कमियों को खुले दृष्टिकोण से स्वीकार कर सुधारने की वृत्ति के साथ आती है।” एक परिपक्व शक्ति के जीवन-दर्शन में एकरूपता का समावेश होता है। उसके अन्तस् में मानव मात्र के कल्याण की भावना विकसित होती है, जिसके आधार पर वह समता, सौहार्द, सहयोग तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता दिखाई देता है।

मूर्धन्य मनीषी एब्राहम एच. मैसलो ने अपनी पुस्तक “टुवार्ड्स ए साइकोलॉजी ऑफ बीइंग” में परिपक्व व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हर व्यक्ति आत्म-सिद्धि प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर है। यही

उसकी संमस्त क्रियाओं की अभिप्रेरणा है। किन्तु जब तक व्यक्ति अपने में सादगी, शालीनता, सच्चरित्रता जैसे आध्यात्मिक गुणों का विकास नहीं कर लेता, उसके व्यक्तित्व में परिपक्वता और सर्वांगीण उन्नति नहीं आती। आत्म सिद्धि उसके बाद का अगला चरण है। मैसलो के शब्दों में इस प्रकार का व्यक्तित्व जीवन और समाज के यथार्थ को भली-भाँति ग्रहण करता है। उसके जीवन में अधिक सहजता होती है। वह जीवन की समस्याओं को तटस्थ होकर समझता है और उनका समाधान ढूँढ़ता है। स्वयं समस्याओं से प्रभावित नहीं होता। मैसलो के ऐसे व्यक्तित्व की परिकल्पना में और गीता के समत्व भाव से युक्त पुरुष में कोई अंतर नहीं है गीता के दूसरे अध्याय के ८वें श्लोक में भगवान् कृष्ण कहते हैं। “योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।” अर्थात्—आसक्ति को त्यागकर सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित होकर कर्मों को करने वाला व्यक्ति समत्व-भाव से युक्त मनुष्य है। मनोवैज्ञानिक साईमंड्स ने भी परिपक्व व्यक्ति को “आंतरिक द्वन्द्वों और बाह्य दुर्गुणों से मुक्त बतलाया है।” पाश्चात्य मनोविज्ञान में परिपक्व व्यक्तित्व का जो स्वरूप उभरकर आता है, उसमें भी भारतीय दर्शन एवं मनोविज्ञान के परिपक्व व्यक्तित्व की अवधारणा का ही समावेश दिखाई देता है।

भारतीय जीवन दर्शन का निचोड़ हमें गीता में मिलता है। अतः गीता में वर्णित आदर्श पुरुष की व्याख्या से हमें पूर्व के मनोविज्ञान में परिपक्वता की परिभाषा मिलती है। इसके अनुसार व्यक्ति के स्वभाव एवं स्वरूप में तीन गुणों की प्रधानता होती है। ये गुण हैं—सत्, रज और तम। इन्हीं तीन गुणों से प्रभावित समूचा मानव समुदाय दिखाई देता है। लेकिन सभी व्यक्तियों में इन तीनों गुणों की मात्रा समान रूप से नहीं होती। गुणों की मात्राओं का भेद व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिपक्वता संबंधी भिन्नता भी उत्पन्न करता है। सतोगुण की प्रधानता से व्यक्ति ज्ञान पर बल देता है। शरीर-स्वास्थ्य अच्छा होता है। सतोगुण की विशेषता है निर्मलता। इस गुण की प्रधानता लिए व्यक्ति मन में सुख और ज्ञान के प्रति आसक्ति बनाये रखने के कारण श्रेष्ठ होते हुए भी जीवन में कठिनाइयों को अनुभव करता है। रजोगुण प्रधान व्यक्ति में आसक्ति अत्यधिक होती है और इस कारण वह विभिन्न प्रकार की तृष्णाओं और कामनाओं से ग्रस्त रहता है। तमोगुण से प्रभावित व्यक्ति अज्ञानी होता है। वह लापरवाही से काम करता है। उसमें आलस्य, प्रमाद एवं विभिन्न प्रकार के भ्रमों की प्रधानता होती है।

तात्पर्य यह है कि इन कमियों के रहते व्यक्ति गीता के अनुसार परिपक्व नहीं होता। परिपक्वता के लिए व्यक्ति का गुणातीत भाव में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। गीताकार ने ऐसे व्यक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—वह निरंतर आत्म-भाव में स्थित होकर दुःख-सुख को समान समझने वाला है, धैर्यवान है, प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है, वह निंदा स्तुति में भी समान भाव वाला है। वह संपूर्ण कार्यों में कर्तापन के अभिमान से रहित रहता है ? इसके अनुसार परिपक्व व्यक्ति के लक्षण स्थिति-प्रज्ञ व्यक्ति के समान होते हैं। अतः गीता के अनुसार गुणातीत एवं स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति ही परिपक्व व्यक्ति है।

श्री अरविंद ने अपने सर्वांगपूर्ण योग-दर्शन में व्यक्तित्व की व्याख्या चेतना के विभिन्न स्तरों एवं सोपानों के संदर्भ में की है। उनके अनुसार-मानवीय व्यक्तित्व केवल चेतन और अचेतन मन का अच्छा या बुरा संगठन नहीं है। उसका अति महत्वपूर्ण भाग अतिचेतन है। यदि मानवी विकास क्रम उच्चतर अवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है, तो अवश्य ही वे उच्चतर अवस्थाएँ संभावनाओं के रूप में उसकी प्रकृति में आज भी अति चेतन में निहित हैं। इसलिए यह भाग महत्वपूर्ण है। मानव का विकास मार्ग जिसे वह तय कर चुका है, उसके अवचेतन को निर्धारित करेगा। वे कहते हैं कि मनुष्य के अवचेतन में स्थित भूत-संस्कार मात्र ही वर्तमान व्यवहार को ही नहीं बनाते, वरन् अति चेतन का प्रभाव भी उस पर रहता है, जिसके बल पर मनुष्य का व्यक्तित्व रूपांतरित होता है।

परिपक्व व्यक्तित्व के संदर्भ में भी अरविंद का बल उस आध्यात्मिक तत्व पर है, जिसकी उपलब्धि होने पर व्यक्ति परम शांति, आनंद और प्रकाश की प्राप्ति करता है। वही व्यक्ति अपने अंतरतम में प्रकाश-पुंज पा सकता है, जिसे उन्नत होने, ऊपर उठने, विकसित होने की सच्ची, गंभीर, सतत् अभिलाषा, इच्छा तथा आकांक्षा है। वह परिपक्व व्यक्तित्व के लिए निम्न एवं आवांछनीय प्रवृत्ति के त्याग को आवश्यक मानते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों से हटायें, अहंकार की बेड़ियों को तोड़ें और स्नेह-सौजन्य के आधार पर विकसित “वसुधैव कुटुम्बकम्,” की भावना को अंगीकार करें। यह छोटा चरण भी व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम साबित होगा। इसी के सहारे विश्व-वसुंधरा पर सुख-शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा। समय की माँग भी यही है।

आदर्शवादी धारणाएँ ही मानवी

उत्कर्ष में सहायक

धारणा का अर्थ होता है—अंतःकरण की गहराई में धर्म धारणाओं की चिंतन धारा को गहराई तक स्थापित करना। देखा जाता है कि मनुष्य कटी पतंग की तरह हवा के झोंकों के साथ दिशा बदलता रहता है। शरीरगत वासनाएँ और मनोगत तृष्णाएँ ही हर घड़ी सवार रहती हैं। उन्हीं की पूर्ति के लिए निरंतर ताना-बाना बुनने में लगा रहता है। उन्हीं के लिए खटता-पिसता रहता है, कुछ सफलताएँ, विशेषताएँ उपलब्ध हुईं तो अहमन्यता का भूत सवार होता है। दूसरों पर दर्प जमाने के लिए ठाट-बाट रोपता और अपव्यय तथा आतंक की नीति अपनाकर अपने को बड़ा सिद्ध करने के प्रयासों में लगा रहता है। इन्हीं विडम्बनाओं में उलझते-सुलझते जीवन का अंत हो जाता है।

जिनकी अपनी निजी धारणाओं में विवेकशीलता जुड़ी हुई है ऐसे कम ही लोग दीख पड़ते हैं। अधिकांश तो लकीर के फकीर होते हैं। प्रचलनों का अनुकरण करते रहते हैं। कुरीतियाँ चाहे कितनी ही अहितकर और अनुपयुक्त क्यों न हों, सभी साथियों के द्वारा अपनाए जाने पर अपने लिए भी अनुकरण का विषय बन जाती हैं। अनुकरणप्रियता मनुष्य का स्वभाव है पर इस क्षेत्र में भी यह सोचा जाना चाहिए कि किन्हें दृढ़तापूर्वक अपनाया जाय और किन्हें उथली दृष्टि से देखा और उपेक्षापूर्वक अपनाया जाय ? जिन्हें महत्वपूर्ण माना जाय उन्हीं मान्यताओं के अनुरूप दृढ़तापूर्वक अपनाया जाय यह भी पूर्व निर्धारण के अभाव में ठीक तरह नहीं बन पड़ता। परिस्थितियों के अनुरूप सद्विचार ही नहीं, आचरण भी बदलते रहते हैं। अवसरवादिता ही नीति बनकर रह जाती है। बेपैदी के लोटे की तरह जहाँ भी जिस प्रकार भी स्वार्थ सिद्ध होता दीखता है, उधर मुड़ लेते हैं। कुछ ही अच्छे आदमी अपने को बदल पाते हैं। वातावरण को अपने ढाँचे में ढाल सकने की मनस्विता तो किन्हीं विरलों में ही होती है। अधिकांश परिस्थितियों के अनुरूप अपना मन बदलते रहते हैं, तितली की तरह आकर्षण के प्रलोभन में इस फूल से उस फूल पर उड़ते-फिरते हैं। उनका अपना कोई लक्ष्य, निर्धारण या मंतव्य नहीं होता। इस प्रकार के व्यक्तियों की न कोई दिशा धारा होती है और न सुनिश्चित क्रिया पद्धति। परिस्थितियाँ ही उन्हें हवा के झोंके की तरह जहाँ-तहाँ लिए फिरती हैं। ऐसी दशा में न कोई महत्वपूर्ण कार्य नियमित रूप से करते बन

पड़ता है और न किसी सराहनीय सफलता का श्रेय उन्हें मिल पाता है।

प्रेरणाएँ अंतःकरण में उभरती हैं, उन्हीं के आधार पर विचारणा काम करती है। योजना बन पड़ती है और इच्छा की पूर्ति करने के उद्देश्य से क्रिया चल पड़ती है। इसलिए इच्छाओं की पूर्ति ही जीवन का स्वरूप बनकर रह जाती है। परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर व्यक्ति स्वार्थ-साधना के प्रयत्नों में लगे रहकर अपनी आयुष्य बिता देता है। उसके कोई निज के उद्देश्य नहीं होते फलतः कुछ क्रमबद्ध रूप में करते-धरते भी नहीं बन पड़ता है। इस स्थिति को एक प्रकार से निष्फल जीवन ही कह सकते हैं। जितनी महत्वपूर्ण क्षमताएँ उसे उपलब्ध हुई हैं। उसकी तुलना में शतांश भी वैसा कुछ नहीं होता जिस पर कि संतोष किया जा सके। उत्साहपूर्वक जिसका उल्लेख हो सके।

इस उथले स्तर के जीवनयापन के पीछे एक ही कमी काम करती रही है, वह है अंतःकरण में आदर्शवादी आस्थाओं का अभाव। यदि उपलब्ध सुदुर्लभ अवसर का महत्व समझा जा सके, और उसे महत्वपूर्ण कामों में लगाने का निर्धारण किया जा सके तो फिर आदर्शों की उत्कृष्टता से अंतराल को सराबोर करने की बात ही प्रमुखता से मन में आती है। इसके लिए उसी स्तर का स्वाध्याय, रात्संग, वातावरण एवं सहयोग तलाशना पड़ता है। इस घेराबंदी से ही किसी उच्चस्तरीय दिशाधारा को दृढ़तापूर्वक अपनाने का मन बनता है। संकल्प उभरता है। मार्ग बनता है और उस पर दृढ़तापूर्वक चल पड़ना संभव होता है। अन्यथा मन की चंचलता ही प्रधान बनकर रह जाती है। उस बंदर वृत्ति से कौतुक-कौतूहल ही होते रहते हैं। कुछ ऐसा नहीं बन पड़ता जिसे अनुकरणीय कहा जा सके, सराहा जा सके और उसका अनुकरण करके किसी के मन में उमंग उठ सके।

मनुष्य जीवन महान सृजेता की महान कलाकृति है। उसे पेट-प्रजनन जैसे पशु-प्रयोजनों में ज्यों-त्यों करके पूरा कर लेना ही वह कार्य नहीं है जिसे कर्म योग कहा गया है और जिसके द्वारा कर्मरत होते हुए भी चरम लक्ष्य तक पहुँच सकना संभव हो सकना बताया गया है।

शारीरिक कृत्यों का स्वरूप दृष्टिगोचर तो होता है। प्रस्तुत की गई घटनाओं का वर्णन होता है। पर पर्दा उठाकर देख जाय तो प्रतीत होगा कि घड़ी के अनेक पुर्जे जो एक-दूसरे के सहयोग से कार्यरत हो रहे हैं; उसके पीछे फिन्नर वाली चाबी ही काम करती है। चाबी भरी होती है तो घड़ी के पुर्जे चलते रहते हैं। अन्यथा वे

भावनाओं की व्यापक प्रेरणा के अभाव में शिथिल पड़ते, बंद हो जाते हैं। आगे धकेलने का जो काम फिनर वाली चाबी काम करती है, उसी प्रयोजन की पूर्ति मानव जीवन में धार वालों, संकल्प वालों के द्वारा बन पड़ती है।

आदर्शवादी उन मान्यताओं को धर्मधारणा कहते हैं, जो निश्चय से पूर्व ही उसकी गहराई पर गंभीरतापूर्वक विचार करें। सभी शंका-कुशंकाओं पर विचार कर लें। आगा-पीछा सोच लें, किंतु जब निष्कर्ष निकाल ही लिया जाय तो उसे सुदृढ़ विश्वास के रूप में हृदयंगम किया जाना चाहिए और उसकी पूर्ति के लिए जितना भी बन पड़े नित्य कुछ न कुछ करना चाहिए। विश्वासों को क्रिया से बल मिलता है। अन्यथा प्रयोजन में न आने वाले विचार कल्पना मात्र बनकर पक जाते हैं और प्रवाह के साथ जिधर से तिधर चले जाते हैं। स्थायित्व लाना हो, मंतव्य सुनिश्चित और सुदृढ़ करना हो तो आवश्यक है कि संकल्प को सदा ध्यान में रखा जाय और उन्हें कार्य रूप में परिणित करने का जो भी अवसर सामने आए उसे हाथ से न जाने दिया जाय। कर्तृत्व ही स्वभाव का अंग बन जाता है तो आदतें उस प्रकार के क्रिया-कलाप के लिए अवकाश भी प्राप्त कर लेती हैं और अवसर भी निकाल लेती हैं।

व्यक्तित्व को विश्वास बनाते हैं। यों अधिकांश लोग अनास्थावान होते हैं, वे तार्किक दृष्टि से किसी भी विषय का धुआँधार प्रतिपादन कर सकते हैं। पर जब उन्हीं सिद्धांतों को निजी जीवन में कार्यान्वित करने का अवसर आता है तो अपने ही प्रतिपादनों को भूल जाते हैं और वह करने लगते हैं जिन्हें वकालत के उभार में स्वयं ही खंडन करते रह हैं। मान्यताएँ भावना क्षेत्र की गहराई में उगती हैं। पर वे चिरस्थायी रहती हैं। वस्तुतः जीवन में जो कुछ महत्वपूर्ण है, वह सब आस्थाओं के ऊपर निर्भर है। अपने को उत्कृष्ट, निकृष्ट, दुर्बल, सबल मान बैठना अपने विश्वास के ऊपर ही अवलंबित है। यायावर जीवन जीने वाले, घुमंत गाड़ी वाले अपने उस ढर्रे को अपनाए रहकर दूसरों की तुलना में कहीं अधिक कठिनाइयाँ भोगा करते हैं। पर वे सुविधा-साधन मिलने पर भी उस रीति-नीति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। उनका कहना है कि वे मेवाड़ के राणा की संतानें हैं और जब तक दिल्ली पर राणाओं का झंडा न फहराएगा तब तक इसी स्थिति में भ्रमण करते रहेंगे। यद्यपि अब उनके उस स्थान का कोई तात्पर्य नहीं रहा फिर भी विश्वास तो विश्वास जो रहा। कुमारियाँ अपना कौमार्य व्रत, विधवाएँ अपना वैधव्य इसी आधार पर भली प्रकार से निबाह लेती हैं। न्याय निष्ठा, परोपकारी, ईमानदारी स्तर के व्यक्ति अनेकों प्रतिकूलताओं और दबावों के आगे न झुककर

अपनी प्रतिभा पर आरुढ़ बने रहते हैं। प्रतिकूलताएँ उन्हें उस व्रत से डिगा नहीं पातीं।

धारणाएँ एवं आस्थाएँ तभी सराहनीय बनती हैं जब वे आदर्शवाद के साथ जुड़ी हुई हों। अन्यथा दुर्व्यसनी भी हेय स्तर की मान्यताएँ बनाएँ रहते हैं। दुराग्रही भी यही करते रहते हैं। दीन-हीनों में से अनेक लोग इसे अपना भाग्य मान लेते हैं और उसमें सुधार लाने के प्रयत्न छोड़ बैठते हैं। धारणाएँ अंध-विश्वास से भरी भी हो सकती हैं पर जिन्हें अध्यात्म मार्ग में सहचर माना गया है, वे आस्तिकतावादी, अध्यात्मवादी और धर्मावलंबी मान्यताएँ ही हैं। इन्हीं के सहारे ऊँचा उठा और आगे बढ़ा जा सकता है।

प्रेम की विराट् परिधि

प्रेम क्या है ? विज्ञान के अर्थ में कहें, तो सुविधा-साधनों की दृष्टि से संसार को समुन्नत बनाना। दर्शन की दृष्टि से विचार करें, तो उत्कृष्टतावादी चिंतन देना। कर्मयोग की भाषा में कर्मनिष्ठा पैदा करना और समाजशास्त्र के मत में सुव्यवस्था लाना।

इन आरंभिक व्यक्तिवादी कार्यों के माध्यम से स्नेह जब विराट् विस्तार पाता है, तभी वह वास्तविक 'प्रेम' बनता और वरेण्य साबित होता है। पूर्ण सत्य का सही पूर्ण प्रकाश है। विज्ञान, दर्शन, कर्म समाजशास्त्र—यह सब संप्रति जिस लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं, उनमें इनका प्रेम तो झाँकता है, किंतु वह न्यून और अपूर्ण है। उसका संपूर्ण प्रकाश अध्यात्म के उस संक्षिप्त सूत्र में सन्निहित है, जिसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' कहकर उसे अभिव्यक्त किया गया है। निस्संदेह समाज के लिए सुविधा-साधनों का विकास कर विज्ञान ने एक प्रकार से प्रेम का ही प्रदर्शन किया है, पर यह तुच्छ प्यार तब तक महत्वहीन है, जब तक वह अपने निखिल अंश में न प्रकाशित हो। विज्ञान का दायित्व समाज को प्रगति की ओर ले चलना है, किन्तु जब क्षुद्र स्वार्थ में पड़कर वैज्ञानिक अवगति के सरंजाम जुटाने लगे तो समझना चाहिए कि जिस अनुराग का अभ्युदय अंतर में हुआ था, वह निजी सुख से कुछ ही आगे बढ़कर छोटे दायरे में सीमाबद्ध हो गया। यह परिमित स्नेह इस परिधि को पार कर असीम न बना, तो फिर वैज्ञानिक विकास भी शोषण-उत्पीड़न का निमित्त ही बना रहेगा और सुविधाओं का दुरुपयोग ही करता रहेगा। जहाँ दुरुपयोग हो, हानि हो, वहाँ विशुद्ध अनुराग की आशा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत जहाँ विकाररहित प्रेम होगा, वहाँ अपनत्व होगा और अपनत्व की पीड़ा भी होगी। यह पीड़ा ही सदुपयोग को प्रोत्साहित

और दुरुपयोग को हतोत्साहित करती रहती है। इसके अभाव का नाम ही स्वार्थ है। स्वार्थियों में न तो वात्सल्य होता है, न उपकार की भावना ही। उल्टे वे अपकार में निरत रहकर दूसरों को हानि पहुँचाने की ही चेष्टा करते रहते हैं। इस प्रकार विज्ञान का विकास वास्तविक स्नेह की अनुपस्थिति में विनाश का हेतु साबित होता है।

दर्शन, चिन्तन की एक विधा का नाम है। समयानुकूल दर्शन से समाज का मार्गदर्शन होता है और यह ज्ञात होता है कि समस्त लोगों को वह उन्नति की दिशा में आगे बढ़ा ले जाने की उत्कंठा रखता है। इतने पर भी सब कुछ चिन्तन क्षेत्र तक ही सीमित रहे और व्यावहारिकता के धरातल पर जीवन में न उतरे, तो इसे भी पूर्ण सत्य का, पूर्ण प्रेम का अपूर्ण अंश ही कहना चाहिए। इतने से भी बात बनने वाली नहीं। दर्शन प्रभावोत्पादक तब होता है, जब वह प्रतिपादक के जीवन में उतरकर कर्म में परिवर्तित हो जाय। यदि इतना न हो सका, जीवन सामान्य स्तर से ऊँचा न उठा तो फिर दोहरे व्यक्तित्व का कलंक सिर पर लदता एवं अपमान-अपयश का भागी बनना पड़ता है। इसलिए दर्शन की पूर्णता उस अंतिम सत्य में निहित मानी गयी है, जहाँ दार्शनिक मात्र चित्त बना नहीं रहता, वरन् एक आदर्शनिष्ठ पुरुष की तरह समाज के साथ व्यवहार करता है। यही अनुराग है, जिसकी कि आखिरी परिणति के बारे में श्रुति कहती है “आनन्दरूपममृतं यद्विभाति” अर्थात् वह (प्रेम) आनन्द रूप में प्रकाशित होता है। यह सत्य है कि आनन्द की उपलब्धि वात्सल्य के बिना संभव नहीं। दोनों एक-दूसरे के सहोदर-सहचर हैं। जहाँ प्रेम का प्रकाश है, आनन्द का उल्लास वहीं दिखाई पड़ता है।

प्रीति का चौथा स्वरूप कर्मनिष्ठा है। यह दो प्रकार की मानी गई है। एक वह जो व्यक्तिगत कार्यों के प्रति उपजती है, तब वह स्वार्थलिप्ता मात्र बनकर रह जाती है, ऐसी लिप्सा, जहाँ केवल अपने ही उन्नयन की चाह हो। दूसरी वह जहाँ अपने और परायेपन का लोप हो जाता है और सभी कार्य अपने निजी प्रतीत होने लगते हैं, भले ही वह पारिवारिक हों, सामाजिक, राष्ट्रीय, नैतिक, धार्मिक कुछ भी हों। जहाँ स्तर-भेद समाप्त होकर सभी का एकीकरण हो जाय, वहीं कर्तव्य-बोध का प्रथम उदय होता है। इस कर्तव्य-बोध का विकास ही कर्मयोग का प्रारंभ है। जब कर्म, योग में रूपांतरित होने लगे, तो समझना चाहिए कि उस यथार्थ की उपलब्धि हो गई, जिसका बाह्य स्वरूप ‘प्रेम’ है।

समाज की इकाई व्यक्ति है, इस दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन में शांति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठापना

अभीष्ट और आवश्यक तो है, पर साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि यह अनुशासन समाज में स्थापित हो सका या नहीं। यदि नहीं, तो वह कौन-से-उपाय-उपचार हो सकते हैं, जिनके माध्यम से सामाजिक अशांति और असंतोष को दूर कर उसे उत्कर्ष की ओर ले जा सकना संभव है ? यह सोचना समाजशास्त्री का दायित्व है जिस परिणाम में वह इसे पूरा करता है, उतने ही अंशों में वह प्रेम रूप ईश्वर को प्राप्त करता चलता है। इस मार्ग में बढ़ते हुए जब उसे यह अनुभव होने लगे कि उसके वैयक्तिक और वैश्व-शरीर में कोई अंतर नहीं और इनकी भी देखरेख काया की तरह होनी चाहिए, तो वह प्रीति के चरमोत्कर्ष पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पूर्णता प्राप्ति है। इस अवस्था में, उसे निजी देह के कोश-कोश, ऊतक-ऊतक के बीच जिस प्रकार का जितना संतुलन-सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वही तालमेल वह इस विराट् वैश्व-देह के मानव-मानव और संस्था-संगठन के मध्य स्थापित करने के लिए आकुल-व्याकुल होने लगता है। यही वह अवस्था है, जब परम सत्य वात्सल्य बनकर फूट पड़ता है। एकाकी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में शांति और सुव्यवस्था अपनाकर प्रशंसा का पात्र तो बन सकता है, पर जिस यात्रा की शुरुआत परम तत्व की उपलब्धि कराने में सफल हो सकती थी, उसकी यदि इतिश्री निजी जीवन में मान ली गई, तो समझना चाहिए कि पूर्णता की दिशा में बढ़ते कदम परमार्थ की दूरी नाप न सके और स्वार्थ-सुख में उलझकर छितरा गये। इस दुर्भाग्य को सौभाग्य-सुख में बदल सकना विराट् स्तर पर किये गये प्रेम द्वारा ही संभव है।

आत्मोत्कर्ष की अवांछनीय उपेक्षा

आँखें बाहर का देखती हैं। वे न अपना स्वरूप देख पाती हैं और न अपनी बनावट के सम्बन्ध में कुछ प्रत्यक्ष अनुभव करती हैं। इसी प्रकार कान बाहर के शब्द सुनते हैं। हृदय की धड़कन, फेफड़ों की श्वसन-क्रिया तक उन्हें सुनाई नहीं पड़ती। तत्व से बाहर की वस्तुओं को छूकर उनके सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है, पर इससे छोटी परिधि से बढ़कर बहुत दूर वाले पदार्थों की हलचलों की भी ज्ञानेन्द्रियाँ जानकारी प्राप्त नहीं कर सकतीं। एक सीमित दूरी तक ही उनकी पहुँच और पकड़ है, न वे अति निकट को समझ पाती हैं और न अति दूर को। इन्द्रियाँ पंचतत्त्वों से ही बनी हैं, इसलिए उनका सम्पर्क और अनुभव भी मात्र पदार्थ जगत के साथ ही बन पाता है। धीरे-धीरे मान्यता भी यही बन जाती है कि पदार्थ जगत ही सब कुछ है। शरीर संपर्क चूँकि उन्हीं के

साथ रहता है, इसलिए उन्हीं के साथ प्रिय-अप्रिय और उपेक्षा की प्रवृत्ति भी बनती और बढ़ती रहती है। इतने ही छोटे संसार में जीवन जिया जाता है। इतने को ही प्रभावित करने और प्रभावित होने का सिलसिला प्रायः चलता रहता है। इसी परिधि में घूमते हुए आम आदमी कोल्हू के बैल की तरह अपने जीवन वैभव का समापन कर लेता है।

यह एक प्राणिमात्र के साथ जुड़ा हुआ उपक्रम है। पदार्थों का उत्पादन व उपभोग करते हुए जीवधारी घाटे या नफे का समयक्षेप करते हैं। इस प्रकृति प्रेरणा से प्रचलित-प्रक्रिया के साथ जीवधारी जुड़े रहते हैं और कालक्षेप करते हैं। मनुष्य भी उन्हीं में से एक है।

स्थूल दृष्टि इतना ही समझ और समझा पाती है कि महत्वपूर्ण भाग वह है, जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। जिसे इन्द्रियाँ देख या समझ नहीं पातीं। मन-मस्तिष्क को भी ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। इसलिये उसकी दौड़-धूप भी बहिरंग क्षेत्र तक ही सीमित रहती है। जो अप्रत्यक्ष है, अतिशय महत्वपूर्ण है, वह अविज्ञात-उपेक्षित स्थिति में ही पड़ा रहता है। ऐसी दशा में उसे परिष्कृत, समुन्नत बनाने के लिए तो कुछ करते-धरते बन ही कैसे पड़े ?

जानने को तो सभी जानते हैं कि शरीर के भीतर कोई आत्मा भी है, पर यह ज्ञान कहने-सुनने और जानने अपनाने तक ही सीमाबद्ध होकर रह जाता है। यह अनुभव नहीं किया जाता कि वस्तुतः ऐसा कुछ है भी क्या? यदि है तो उसकी कुछ क्षमता, उपयोगिता, समर्थता एवं भूमिका भी प्रत्यक्ष जीवन में कुछ है क्या? इसे कोई विरला ही अनुभव कर पाता है। यदि वह अनुभूति बन पड़ी होती तो प्रसुप्तता हटती, चेतना जगती और उस महत्वपूर्ण पक्ष की स्थिति का पर्यवेक्षण किया गया होता। उसे अवगति से उबारया गया होता और ऐसा कुछ प्रयास बन पड़ता, जिसे आत्मोत्कर्ष के नाम से जाना जाता और उस क्षेत्र के विकसित होने का चमत्कारी प्रतिफल हाथों-हाथ दृष्टिगोचर हो सका होता। पर उस उपेक्षा को क्या कहा जाय, जिसके कारण हीरा भी काँच के ढेर में पड़ा रहता है और उसी के साथ तोला, बेचा जाता है।

स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि शरीर कितना ही सुन्दर, समर्थ, कुशल क्यों न हो, उसकी सत्ता और महत्ता अदृश्य आत्म-चेतना पर निर्भर रहती है। देखने में सभी का कार्य-कलेवर प्रायः एक जैसा होता है। अन्तर एक सीमित मात्रा में ही पाया जाता है। इतने पर भी देखने में यह आता है कि एक व्यक्ति गये-गुजरे स्तर का होता है, तो दूसरा सभ्य, समुन्नत और सुसंस्कृत स्तर

का जीवनयापन करता है। एक उपेक्षा का भाजन बना रहता है, हेय समझा और भारभूत माना जाता है। इसके विपरीत दूसरे की प्रतिभा ऐसी होती है, जिसके कारण उसकी सर्वत्र सराहना होती, उपयोगिता मानी जाती है। यह अन्तर किसी के शरीर या वैभव पर आधारित नहीं होता, वरन् उसकी उस विशिष्टता पर आधारित रहता है जिसे चेतना कहते हैं, जो अदृश्य रहते हुए भी दृश्य का पूरी तरह सूत्र संचालन करती है।

यों समझा तो सब कुछ शरीर और साधनों को ही जाता है, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। कठपुतली का तमाशा बाजीगर की उँगलियों से बँधे हुए तार के सहारे होता है। चेतना ही शरीर से क्रियायें और मस्तिष्क से विचारणायें सम्पन्न कराती है। प्राणान्त हो जाने पर काय-कलेवर के सभी घटक यथावत् रहने पर भी सारी हलचलें समाप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, कुछ देर रखे रहने पर लाश अपने-अपने घटकों में सड़ने, गलने और बिखरने लगती है। तथ्य स्पष्ट है कि जीवधारियों का जीवन और कुछ नहीं, मात्र प्राण चेतना की उपस्थिति मात्र है। वही 'स्व' है। वही 'अहम्' है वही 'आत्मा' है। उसका अस्तित्व जन्म लेने से पूर्व भी था और मरण के उपरान्त भी अनन्तकाल तक किसी न किसी रूप में बना रहता है। यही है वह तत्त्व, जिसके स्तर के अनुरूप जीवन का उत्थान-पतन अवलम्बित रहता है।

आश्चर्य इस बात का है कि मनुष्य का चिन्तन और प्रयास मात्र शरीर के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है। उसे पदार्थों और प्राणियों की कार्या भर से लगाव होता है। धन संचय ही लक्ष्य स्तर का बनकर आकांक्षाओं पर छाया रहता है। इन्द्रियों में उठने वाली खुजली जैसी ललक ही अपनी अभिरुचि के अनुरूप साधन जुटाने के लिए मचलती रहती है। कंचन और कर्मिनी जैसे कुछ ही प्रसंग मनुष्य के प्रिय विषय रहते हैं। प्रदर्शन के लिए आतुर, अहंकार ऐसे प्रपंच रचता रहता है, जो समसयाध्य, कष्टसाध्य, व्ययसाध्य होते हैं। सोचा जाता है कि सज-धज और ठाट-बाट से दूसरों को प्रभावित, चमत्कृत किया जा सकेगा। इसी अहंता की आपूर्ति का भारी-भरकम ढाँचा खड़ा किया जाता है। यश और मान पाने की लिप्सा उद्दिग्न किये रहती है। फिर भी वास्तविकता यह है कि किसी को भी देर तक दूसरों की ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं होती। हर व्यक्ति अपनी ही इच्छाओं, समस्याओं के फेर में इस कदर फँसा रहता है कि दूसरों के सम्बन्ध में नजर उठाकर देख लेने भर की यदाकदा फुरसत निकाल पाता है। अन्यथा अपने ही कामों में व्यस्त व्यक्ति दूसरों की भृंगार-सज्जा और

समपन्नता पर क्यों तो ध्यान देगा और क्यों चमत्कृत, प्रभावित होकर रहेगा?

इतने पर भी सामान्यजन यही आशा लगाये बैठे रहते हैं कि लोग उन्हें सरहें, बड़ा आदमी मानें। इस दुराशा में ही प्रायः आधी शक्ति खर्च हो जाती है। जिसे यदि उपयोगी दिशा में नियोजित किया गया होता तो चेतना को समुन्नत बनाने का अवसर भी मिलता और ऐसा कुछ पुण्य-परमार्थ करते बन पड़ता जो लोक-कल्याण के क्षेत्र में अनुकरणीय भूमिका निभा सकना संभव बना देता। उस व्यामोह को क्या कहा जाय जो आत्मचिन्तन के लिये अन्तर्मुखी होने की स्थिति ही नहीं बनने देता।

वस्तुओं को सँभालने-सँजोने की व्यवस्था-बुद्धि सराहनीय मानी जाती है पर न जाने क्यों वह शरीर और परिवार परिकर तक ही सीमित होकर रह जाती है, बाहर का बिखराव यदि समेटा जा सका होता तो आत्मनिरीक्षण का अवसर मिलता और शरीर के घटक अवयवों की सही स्थिति में रखने की सूझ सुझती। आमाशय, आँतें, हृदय, फेफड़े, गुर्दे, रक्त-माँस आदि में इतनी विकृतियाँ भरी रहती हैं कि यदि उन्हें संशोधित स्थिति में रखने की बात सोची गयी होती तो संयम, अनुशासन साधने मात्र से दुर्बलता और रुग्णता से छुटकारा मिल जाता। जिस काया को अपना स्वरूप समझा जाता है उसे तो सही स्थिति में रहने का अवसर मिलता, पर उस बहिर्बुद्धि को क्या कहा जाय जो मात्र सज्जा, लिप्सा और संपदा तक ही सीमित रहती है और जिसे अपना माना जाता है, उस काया की अन्तः व्यवस्था को उपेक्षित रखने के कारण रुग्ण रहना और अकाल मृत्यु मरना पड़ता है।

चेतना की स्वस्थता का स्वरूप है गुण, कर्म, स्वभाव में शालीनता का समुचित समावेश रहना। चिन्तन, चरित्र, व्यवहार में मानवोचित उत्कृष्टता का आभास मिलना। इसी उपलब्धि के आधार पर आत्मसंतोष का और लोक-सम्मान का अर्जन बन पड़ता है। इतना भर भी यदि हस्तगत न किया जा सके तो समझना चाहिए कि चेतना दलदल में फँसी रही, उसे स्वच्छ वातावरण में रहने का अवसर ही न मिला। यह अभाव इसलिए सहन करना पड़ता है कि आत्मचिन्तन के लिए अन्तर्मुखी होना नहीं आता। समीक्षा करने और आत्म-सुधार के लिए प्रयत्नशील होने की बात एक प्रकार से विस्मृत ही रखी जाती रहती है।

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली अति

सूक्ष्म शक्तियाँ

समझा जाता है कि पदार्थ और पुरुषार्थ के बल पर मनस्वी और श्रमशील व्यक्ति अभीष्ट सफलताएँ प्राप्त कर लेते हैं। यह मान्यता एक अंश तक ठीक भी है और उसे सर्व-साधारण के लिए उपयोगी ही घोषित किया जाना चाहिए। सामान्य लोक व्यवहार में उसी प्रतिपादन को लाभदायक और महत्वपूर्ण माना जाता रहा है, जो उचित भी है।

पर जब अधिक गहराई में प्रवेश करते हैं तो कुछ ऐसे नये तथ्य सामने आते हैं, जो स्थूल चेष्टाओं को ही सब कुछ नहीं रहने देते वरन् इससे आगे की ऐसी झाँकी कराते हैं, जिनके आधार पर सूक्ष्म तत्व का महत्व अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा सिद्ध होता है।

हमारे व्यक्तित्व के दृश्यमान अवयव ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के रूप में जाने जाते हैं। इन्हीं के माध्यम से रसानुभूति होती है, जानकारीयाँ मिलती हैं और विविध कर्म करना सम्भव होता है। यह जीवन की सामान्य प्रक्रिया हुई। असामान्य स्थिति वह है, जिसमें व्यक्तित्व का आधारभूत ढाँचा खड़ा करने वाले विशिष्ट तत्व का अस्तित्व होता है। उनका नियंत्रण अन्तर्मन करता है। सामान्य पुरुषार्थ के बल पर न इन विशिष्ट तत्वों को प्रभावित किया जा सकता है और न अन्तर्मन के अभ्यासों को बदलने के लिए सरलतापूर्वक तैयार किया जा सकता है। व्यक्तित्व के इस गहन अन्तराल को प्रभावित, विकसित करना मात्र उसी आधार पर सम्भव होता है, जिसे तत्वज्ञानियों ने योग विद्या एवं साधना विज्ञान का नाम दिया है।

नेपोलियन बोनापार्ट का पराक्रम प्रसिद्ध है। वाटरलू के युद्ध में वह हार गया। 'ग्लैण्ड्स ऑफ डेस्टिनी' के लेखक डा. ईवो के अनुसार इस पराजय का कारण यह था कि उसकी पिट्यूटरी ग्रन्थि विकृत हो गई थी, इसी से वह समय पर सही निर्णय न कर पाया; अन्तर्द्वन्द्व में फँसा रह गया और अवसर चूक गया।

हारमोन्स बनाने वाली ग्रन्थियों का महत्व अब स्पष्ट हो चुका है। इन्हें ही अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ कहते हैं।

पीनियल, पिट्यूटरी, थायरॉइड, थाइमस, पैराथायरॉइड, एड्रिनल, पैंक्रियाज, गोनड्स, स्प्लीन आदि ग्रन्थियों के स्थान, आकार स्त्रावा तथा उन स्त्रावों से शरीर पर प्रभाव-परिणाम अब शरीर-शास्त्र की किसी भी पुस्तक में विस्तार से पढ़े जा सकते हैं। इन ग्रन्थियों का

शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास में भारी योगदान है। मनुष्यों का बौना रह जाना, असाधारण लम्बे हो जाना, मोटापा, पतलापन, नपुंसकता, प्रचण्ड कामवासना, बुद्धिदौर्बल्य, प्रखर-बुद्धि होना, मिताहारी होना, बहुत खाना, बिना सोए काम चलाना, बहुत अधिक सोना, अकारण रोगग्रस्त हो उठना आदि अनेक शारीरिक-मानसिक दशाएँ इन्हीं हारमोन्स-स्त्रावों से बनती-बिगड़ती रहती हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में इनका ही योगदान है। प्रेम, उत्साह, उल्लास, आनन्द, चिन्ता, उद्वेग, विषाद आदि भावनाएँ इन्हीं स्त्रावों की प्रतिक्रियाएँ हैं। मानसिक-सन्तुलन और स्वभाव-निर्माण इन्हीं पर मुख्यतः अवलम्बित है। शारीरिक सुदृढ़ता, सुन्दरता, स्फूर्ति, इन्द्रिय-क्षमता, रोग निरोधक-शक्ति, मानसिक प्रखरता और स्वभाव तथा चरित्र का स्तर इन्हीं से सम्बन्धित पाया गया है। समग्र व्यक्तित्व के विकास में इन स्त्रावों की अति महत्वपूर्ण भूमिका है।

अब यह भी ज्ञात हुआ है कि इन्हीं स्त्रावों के समन्वित प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य के शरीर से एक विशेष प्रकार की गन्ध फैलती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति की गन्ध दूसरे से भिन्न रहती है। वस्तुतः यह गन्ध मनुष्य की अनेक गन्धों का सम्मिलित प्रभाव होती है। इन गन्धों का मुख्य स्रोत है, मनुष्य की हथेलियाँ और तलुवों में स्थित स्वेद-ग्रन्थियाँ।

किसी व्यक्ति की गन्ध से युक्त वायु के नमूनों को विशेष पात्रों में लगभग दो वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की एक 'गन्ध-छाप' या 'गन्ध-प्रकृति' तैयार कर ली जा सकती है। अपराधों की खोज के सिलसिले में यह गन्ध-छाप बहुत काम की सिद्ध होगी। अपराध जिस कमरे में घटित हो, उसके वायु-नमूनों को एकत्र कर उन्हें प्रयोगशाला में विश्लेषित किया जा सकता है। सन्दिग्ध व्यक्ति की गन्ध के साथ इस नमूने की गन्ध का मिलान कर अपराधी की शिनाख्त की जा सकती है।

रूसी वैज्ञानिकों ने इस दिशा में विशेष अनुसंधान किये हैं। इससे ज्ञात हुआ है कि शरीर के पसीने की संरचना में ऐसे अम्ल विद्यमान होते हैं, जिनका कोई अंश कमरे की किसी वस्तु पर, फर्श आदि पर फैल जाता है। यह अम्लांश पैरों में जूते पहने होने पर भी, जूतों को पार कर फर्श आदि पर अपना प्रभाव छोड़ देता है। इसकी गन्ध इतनी पर्याप्त होती है कि खोजी कुत्ता इसकी पहचान करते हुए इसका पीछा कर सकता है।

अब अमेरिकी वैज्ञानिकों ने ऐसे गन्ध-विश्लेषकों का निर्माण किया है, जो कुत्तों की घ्राण-शक्ति से

सहस्रों गुणित अधिक संवेदनशील है। किसी स्थान पर, यदि एक व्यक्ति लगभग ४५ मिनट उपस्थित रहे, भले ही वह एक ही स्थान पर न बैठा रहकर वहाँ सीमित क्षेत्र में चलता-फिरता भी रहे, तो वहाँ के वायु नमूनों को शीशे के एक पात्र में एकत्र कर उसका विश्लेषण करके उस निश्चित गन्ध-छाप की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कुछ अन्य उपकरणों द्वारा यह तक जाना जा सकता है कि उस व्यक्ति ने उस समय कौन-सी चीजें खाई थीं, किन वस्तुओं को छुआ था।

अन्तःस्त्रावी हारमोन ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जिन्हें शल्य क्रिया द्वारा किसी भी शरीर की फाड़-चिर करके देखा जा सकता है। यह स्थूल शरीर में रहने वाली चमत्कारी विशेषताएँ, जिन पर स्थूल पुरुषार्थ का प्रभाव नहीं पड़ता वरन् अन्तर्मन ही उनका नियंत्रण परिवर्तन करता है। यों दवा-दारू और चिर-फाड़ से भी इन संस्थानों को प्रभावित किया गया है, पर सफलता नगण्य ही मिली है। इन प्रत्यक्ष ग्रन्थियों से भी अधिक प्रभावशाली वे ग्रन्थियाँ हैं, जो सूक्ष्म शरीर में विद्यमान हैं और जिन्हें षट्-चक्रों एवं चौबीस उपचक्रों के रूप में जाना जाता है। इनकी अन्तःस्थिति ही व्यक्ति के मूलभूत ढाँचे को खड़ा करती है। संस्कार, प्रारब्ध आदि इसी को कहते हैं।

वैज्ञानिक व्यक्तित्व की गन्ध के रूप में इन दिनों जिसका विश्लेषण कर रहे हैं, वस्तुतः वह मानवी विद्युत है जो क्रिया और चिन्तन पर अपना भारी प्रभाव सँजोये रहती है, इसी के आधार पर अन्तः प्रेरणा उठती है और उसी ऊर्जा के सहारे मनुष्य दिशा निर्धारित करते, उठते एवं गिरते देखे जाते हैं। अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों की स्थिति सुधरने और समूची वैयक्तिक स्थिति में परिवर्तन करने के लिए वैज्ञानिक उपाय सोचे और प्रयोग में लाये जा सकते हैं, पर उनसे अभीष्ट परिणाम निकल नहीं रहा है। कई बार तो उल्टे परिणाम भी देखे गये हैं। उपचार ने लाभ के स्थान पर हानि प्रस्तुत की है।

मानव-शरीर में विद्यमान अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के क्रिया-कलापों की जानकारी का क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। किन्तु अभी तक यह नहीं जाना जा सका है कि इन स्त्रावों को कम या अधिक करने अथवा नियंत्रित करने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है? औषधियों की तो वहाँ तक पहुँच अल्प ही होती है। शल्य-चिकित्सा और इंजेक्शन्स आदि द्वारा भी इन्हें नियन्त्रित करने की निर्दोष विधियाँ ज्ञात नहीं हो सकी हैं। छेड़छाड़ करने पर अनेक नवीन समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। उदाहरणार्थ—सौन्दर्यवृद्धि की ललक से, स्त्रियों के बढ़े हुए स्तनों को छोटा करने के लिए 'रिड्यूसिंग क्रीम' का

प्रयोग चला। इसी तरह छोटे स्तनों को बड़ा बनाने के लिए एस्ट्रोजन हार्मोन शरीर में पहुँचाए गये। इससे तात्कालिक लाभ तो दृष्टिगोचर हुआ, पर थोड़े दिनों बाद अन्य शारीरिक विकृतियाँ पैदा हो गईं। एक फ्रेंच महिला इसी प्रयोग के चक्कर में दाढ़ी, मूँछों वाला बन बैठी और सौन्दर्यवृद्धि की साध पूरी होना तो दूर, रहा-सहा सौन्दर्य भी जाता रहा। विद्युत-संचार के प्रयोगों के भी प्रतिकूल परिणाम ही देखे गये हैं।

हार्मोन्स सम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणाएँ हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि शरीर-संस्थान के विभिन्न अवयवों की अपेक्षा एक छोटी-सी ग्रन्थि से स्रवित चन्द बूँदें अधिक महत्वपूर्ण हैं। सफलता और समृद्धि का आधार बाहरी रूपाकार की विशालता-विराटता पर नहीं, आन्तरिक प्रवृत्तियों पर ही गतिशील है। शक्ति का स्रोत चेतना का प्रकृति-संस्थान ही है। उसकी ही उत्कृष्टता-निकृष्टता के आधार पर हमारा वास्तविक उत्थान-पतन होता है। इससे अधिक गम्भीर क्षेत्र में उतरना हो तो हमें उन चक्रों और उपचक्रों का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिन्हें योग्य शास्त्र में मनुष्य की आधारशिला माना है।

योग विज्ञान उस रहस्यमयी किन्तु सुनिश्चित प्रक्रिया का नाम है, जिसके आधार पर व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सकता है और उस सफलता को प्राप्त किया जा सकता है, जिसे जीवन-लक्ष्य की पूर्ति कहा जाता है।

व्यक्ति में महानता का अवतरण ऐसे होगा

व्यक्ति और समाज में रूपान्तरण की जब घटना घटती है, तो उसके प्रमुख माध्यम होते हैं स्वाध्याय और सत्संग। स्वाध्याय से सत्प्रेरणा मिलती है और सत्संग से सद्भावना पुष्ट होती है। जब ये आचरण में उतरते हैं, तो परिवर्तन सामने आता है एक ऐसा परिवर्तन, जो यदि सतत् प्रवाहमान रहे तो मानव को महामानव और समाज को स्वर्ग बना देता है।

उदात्तीकरण का यह सामान्य सिद्धांत हुआ ? सिद्धांत और प्रक्रिया दो भिन्न बातें हैं। सिद्धांत संभावना प्रकट करता है और उसे साकार करने की विधि-प्रक्रिया है। प्रथम यदि द्वितीय में परिवर्तित न हो सके, तो थ्योरी मालूम होते हुए भी अभीष्ट की उपलब्धि किसी प्रकार संभव न हो सकेगी। पुस्तक और प्रवचन हमें रास्ता दिखाते हैं और संभावना व्यक्त करते हैं कि यदि व्यक्ति को अच्छा वातावरण मिले तो वह उत्कृष्ट बन सकता है।

यह सिद्धांत मात्र है। इसे क्रिया रूप में बदले बिना परिवर्तन शक्य नहीं। जहाँ ऐसा दिखाई पड़ता है, वहाँ इसके पीछे उद्दीपन कार्य करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है तो रूपांतरण घटित होता है, फलस्वरूप व्यक्ति व समाज का अभिनव रूप सामने आता है।

इसी आशय का मंतव्य प्रकट करते हुए जे. कृष्णामूर्ति कहते हैं कि श्रवण और अध्ययन आनन्ददायक तो होते हैं, पर परिवर्तन में इनकी भूमिका गणितीय सवालों को हल करने वाले सूत्रों जितनी ही होती है। सूत्र केवल संकेत मात्र होते हैं। विद्यार्थी को इनके आधार पर अपनी अकल भिड़ानी पड़ती है, तभी प्रश्न का सही उत्तर मिल पाता है। वैसे ही स्वाध्याय और सान्निध्य परिवर्तन की अनुकूलता तो उपलब्ध कराते हैं, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। अंतस् की हलचल और उथल-पुथल भी अभीष्ट-आवश्यक है। जहाँ इस प्रकार की क्रियाएँ नहीं होतीं, वहाँ परिवर्तन की प्रतिक्रिया भी दृष्टिगोचर नहीं होती। एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इसे और स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति से दिन में अनेक बार अनेक लोग यह कहते हैं कि तुम बीमार जैसे लग रहे हो, तो शाम होते-होते वह निश्चित रूप से अस्वस्थ हो जाता है, कारण कि वह वाक्य उसके अंदर उद्दीपन आरंभ कर देता है। क्रिया चल पड़ती है, तो उसकी परिणति अस्वस्थता के रूप में तुरंत सामने आती है। वे लिखते हैं कि स्वाध्याय और सत्संग की अच्छी बातें अप्रभावी सिर्फ इसलिए सिद्ध होती हैं कि वे अंतराल की गहराई में उतरकर उस बिन्दु को नहीं छू पातीं, जो बदलाव उत्पन्न करता है। यदि इस संदर्भ में अध्येता और श्रोता गंभीर बने रहें और पढ़े अथवा सुने हुए प्रसंग के प्रति इतनी संवेदनशीलता उत्पन्न कर सकें कि वे अंदर चलकर सीधे मर्म में आघात करें, तो रूपांतरण तत्क्षण घटित होना आरंभ हो जायेगा, पर इन दिनों ऐसा यदा-कदा ही होता देखा जाता है अतः परिवर्तन भी कभी-कभी दृश्यमान होता है।

इसकी प्रक्रिया दो प्रकार से संपन्न होती है— एक तो संदेश के प्रति इतना आकर्षण उत्पन्न किया जाय कि वह अंतस्तल में धँसकर बदलाव को निष्पन्न कर दे। इसके दूसरे प्रकार में खिंचाव तो होता है पर उसका चुम्बकत्व उतना प्रबल नहीं होता कि वह अवचेतन में आविर्भूत हो सके। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को चेतन स्तर पर स्वयं प्रयास आरंभ करना पड़ता है। अपनी वासना और तृष्णाओं को बलपूर्वक दबाना और जो श्रेष्ठ व सुन्दर है, उसे विकसित करना पड़ता है। इतना कर लेने के उपरान्त व्यक्ति का कार्याकल्प हो जाता है, उसका भीतरी दैत्य मर जाता और उसकी जगह देव पैदा होता

है। यही क्रांति है। इसे संपादित कर लेने वाला व्यक्ति महान और समाज गुणवान बन जाता है।

विवेकानन्द ने एक बार अपने व्याख्यान में कहा था-“युवको ! तुम महान बनना चाहते हो, तो महानता को अपने अंदर घटित होने दो, श्रेष्ठता को अंतःकरण में प्रवेश पाने दो, हृदय कपाट को अनावृत्त रखो, ताकि इस संसार में जो कुछ उदात्त और उच्चस्तरीय है, वह तुम में आत्मसात् हो सके। याद रखो, मात्र शब्दों को श्रवण-तंत्र से होकर गुजार भर लेने से विशेष कुछ न होगा, जो होगा, वह इतना ही है कि तुम कष्ट-कठिनाइयों को भूलकर थोड़े समय के लिए शांति के समुद्र में डूब जाओगे, पर स्वयं शाश्वत शांति के सागर न बन सकोगे, वह गहराई व गंभीरता पैदा न हो सकेगी, जो ये सलिलागार अपने में सँजोये हैं। यह मत भूलो कि आने वाली पीढ़ियों के तुम भाग्य विधाता हो, भविष्य निर्माता हो। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण वही कर सकता है, जो आत्म-निर्माण कर चुका हो। अतः इस गोष्ठी को अपने में उतर जाने दो, सिर्फ शब्दों से नहीं, वाक्यों से नहीं वरन् भावों व क्रियाओं से।”

सचमुच शब्द और संदेश जब तक कार्य रूप में न परिणित न हो जायें, तब तक कर्ता के लिए निरर्थक और निरुद्देश्य हैं। सार्थक वे तभी बनते हैं, जब आचरण में उतरें और दूसरों को अनुकरणीय प्रेरणा दें, अन्यथा बुद्धि-विलास मात्र बनकर रह जायेंगे। बौद्धिक संपदा का अपना एक गुण है कि वह बुद्धि-क्षेत्र तक की सीमित होकर रह जाती है। उसका उपयोग इससे आगे और कुछ नहीं हो पाता। वह पढ़ने-सुनने भर की वस्तु बन जाती है और उसका बौद्धिक हस्तांतरण भर होता रहता है। किसी ने कहीं कोई अच्छी बात सुनी या पढ़ी, तो उसे वह अपनी बुद्धि में, मस्तिष्क में कैद कर लेता है और दूसरों को सुनाता रहता है। फिर वह क्रिया न बनकर ज्ञान का-अध्ययन का-श्रवण का-स्मरण का विषय बन जाती है। इसका ज्यादा से ज्यादा उपयोग यही हो सकता है कि उसे हम वाणी बना लेते हैं, जबकि जीवन बनाना चाहिए और अच्छाई यदि जीवन न बनी, तो अच्छी बातें पढ़ने-सुनने का कोई अर्थ और उद्देश्य नहीं रह जाता। इसीलिए मूर्खन्य मनीषी गुरुजिएफ कहा करते थे कि उत्तम बातों के प्रति अभिरुचि जगाओ-उत्कंठा बढ़ाओ-उन्हें सुनो और सुनाओ, पर यहीं रुक मत जाओ। इतना पर्याप्त नहीं है। यह आवश्यक तो है, क्योंकि इसके पश्चात् कुछ और संभव है किंतु इतना काफी नहीं है। यह मात्र विचार है। इससे आगे का चरण अनुभव है। विचार से अनुभव की ओर यात्रा करके ही जानकारी को जीवन बनाया जा सकता है, उसे जिवा जा सकता है। जहाँ जानकारी जीवन

बन जाती है, वहीं उसी क्षण श्रेष्ठता घटित होती है और व्यक्ति का रूपांतरण हो जाता है। इन दिनों चूँकि चिंतन से अनुभूति की ओर का प्रयाण व्यक्ति में रुका हुआ है, इसलिए प्रत्यक्ष में स्वाध्याय और सत्संग की नियमित दिनचर्या दिखाई पड़ने पर भी उनकी वह परिणति सामने नहीं आती, जो आनी चाहिए।

दुनिया में अच्छी बातों और विचारों का अभाव हो, सो बात नहीं। अभाव है, तो मात्र ग्रहणशील हृदय का। सुग्राहक मन यदि व्यक्ति के पास हो, तो बुराई में भी अच्छाई ढूँढ़ी और आत्मसात् की जा सकती है, किन्तु जहाँ हृदयंगम की क्षमता ही न हो, वहाँ लाख प्रवचन सुनने और पारायण करने की प्रवृत्ति मनोरंजन जितना उथला प्रयोजन ही पूरा करती है। ऐसी दशा में साधारण जन अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के बहाने गढ़ता है, तर्क यह देता है कि प्रभावशाली व्यक्तित्व के अभाव में ही सर्वसाधारण पर उसका असर नहीं पड़ सका। यह सच है कि उत्कृष्ट व्यक्तित्व का अपना पृथक् प्रभाव होता है, पर अवास्तविक यह भी नहीं है कि प्रभावकारी वह वहीं साबित होता है, जहाँ मनस्विता होती है। अमनस्विता युक्त समुदाय तो उन्हें इसलिए घेरे रहता है कि वे सुन्दर-सुन्दर बातें बताते हैं, मन को शांति पहुँचाते हैं, किन्तु जहाँ बदलाव का प्रश्न आता है, चिकने घड़े बन जाते हैं। इस प्रकार लंबे समय का उनका पठन-श्रवण बेकार चला जाता है। नित्य पढ़ना और उसे भुला देना, नित्य सुनना और निकाल देना प्रायः यही उनका स्वाभाविक क्रम होता है। इससे स्पष्ट है कि ग्रहण करने की अभीप्सा की अनुपस्थिति और ग्राह्य के प्रति उपेक्षा भाव ही वे कारण हैं, जो अच्छे उपदेश को व्यवहार में नहीं उतरने देते। इस तरह उपदेश के अनुबन्धीय व्यक्तित्व संबंधी आक्षेप निरस्त हो जाता है। जब पशु-पक्षियों से शिक्षा ग्रहण कर दत्तात्रेय अनुपलब्ध की उपलब्धि कर सकते हैं, तो मनुष्य द्वारा बतलायी गई उत्तम बात को धारण करने में किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? यह समझ से परे है।

विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि यदि लोहा को सोना और सीसा को चाँदी बनाना हो तो एक ही कार्य करना पड़ेगा, उनकी परमाणु संख्या को परिवर्तित करना पड़ेगा। किसी प्रकार लोहे और सीसे को क्रमशः सोने और चाँदी वाली परमाणु संख्या प्रदान की जा सके तो उनका रूपांतरण संभव है पर यह सब कैसे किया जाय? इसकी प्रक्रिया उनके हाथ अभी नहीं लगी है। उन्होंने मात्र अभी सिद्धांत दिया है, किन्तु केवल सिद्धांत से बदलाव संभव नहीं। इसके लिए प्रक्रिया का होना नितांत आवश्यक है। व्यक्तित्व निर्माण में पुस्तक और प्रवचन की ऐसी ही

भूमिका है। वे मार्गदर्शन मात्र करते हैं, उनके आधार पर पुरुषार्थ स्वयं करना पड़ता है। यह प्रक्रिया है। प्रक्रिया यदि चल पड़े तो साधारण से असाधारण बन जाना सुनिश्चित है। फिर समाज को स्वर्ग बनते देर न लगेगी।

देवत्व का विकास ही अन्तिम समाधान

क्रौंच पक्षी को आहत, विलाप करते देखकर वाल्मीकि की करुणा जिस क्षण उभरी उसी समय वे आदि कवि के रूप में परिणत हो गये। ऋषियों के अस्थि-पंजरो की पर्वतमाला देखकर राम की करुणा मर्माहत हो गई और उनसे भुजा उठाकर यह प्रण करते ही बन पड़ा कि “निशिचर हीन करौं मही।” बाद, भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी जैसे आपत्तिकाल में जब असंख्यों को देखा जाता है तो निष्ठुर भले ही मूकदर्शक बने रहें, सहृदयों को तो अपनी सामर्थ्य भर सहायता के लिए दौड़ना ही पड़ता है। इसके बिना उनकी अन्तरात्मा आत्म-प्रताड़ना से व्याकुल हो उठती है। दुर्घटनाग्रस्तों को चीखते-चिल्लाते देखकर भावनाशीलों को तो अपना काम हर्ज करके भी सहायता के लिए दौड़ना पड़ता है। यहाँ उन निष्ठुरों की चर्चा नहीं हो रही है, जो कुत्तो, कौओं और भृंगालों की तरह अर्द्ध मृतकों का माँस स्वादपूर्वक चखते और मोद मनाते हैं। निष्ठुरों को भी नर-पिशाच कह सकते हैं, उनका मनुष्य समुदाय में भी अभाव नहीं है।

विकास की अन्तिम सीढ़ी भाव-संवेदना को मर्माहत कर देने वाली करुणा के विस्तार में ही है। इसी को आन्तरिक उत्कृष्टता भी कहते हैं। संवेदना उभरने पर ही सेवा साधना बन पड़ती है। धर्म धारणा का निर्वाह भी इससे कम में नहीं होता। तपश्चर्या और योग साधना का लक्ष्य भी यही है कि किसी प्रकार संवेदनाशून्य निष्ठुरता के महादैत्य से बच निकलना संभव हो सके और उस देवत्व का साक्षात्कार जरूरतमंदों को दिये बिना रह ही नहीं सकता। देना ही जिनकी प्रकृति और नियति है, उन्हीं को इस धरती का देवता कहा जाता है। देवमानव के रूप में उन्हीं का अनुकरण और अभिनंदन करते विवेकवान भक्तजन देखे जाते हैं।

देने की प्रकृति वाली आत्माओं का जहाँ संगठन, समन्वय होता रहता है उसी क्षेत्र को स्वर्ग के नाम से संबोधित किया जाने लगता है। इस प्रकार का लोक या स्थान कहीं न होने की बात को तर्क और तथ्य की दृष्टि से भले ही अस्वीकार कर दिया जाय, पर इस प्रतिपादन को कोई चुनौती नहीं दे सकता कि सहृदय, सेवाभावी, उदार चेता न केवल स्वयं देवमानव होते हैं वरन् अपने

कार्यक्षेत्र को भी ऐसा कुछ बनाये बिना नहीं रहते, जिसे स्वर्गोपम अथवा सतयुग का सामयिक संस्करण कहा जा सके।

अपने समय को अभूतपूर्व प्रगतिशीलता का युग कहा और गवौक्तियों को साथ बखाना जाता है। इस अर्थ में बात सही भी है कि जितने सुविधा-साधन इन दिनों उपलब्ध हैं, उतने इससे पहले कभी भी हस्तगत नहीं हो सके। विज्ञान के विकास से जलयान, वायुयान रेल, मोटर जैसे द्रुतगामी वाहन, तार, रेडियो, फिल्म, दूरदर्शन जैसे संचार साधन इससे पूर्व कभी कल्पना में भी नहीं आये थे। कल-कारखानों का पर्वताकार उत्पादन, सर्जरी अंग प्रत्यारोपण जैसी सुविधाएँ भूतकाल में कहाँ थीं ? कहा जा सकता है कि विज्ञान ने पौराणिक विश्वकर्मा को कहीं अधिक पीछे छोड़ दिया है।

बुद्धिवाद की प्रगति भी कम नहीं हुई है। तर्क, तथ्य, प्रमाण इस कदर विकसित हुए हैं कि पुरातन एकाकी धर्मशास्त्र, वर्तमान अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र जैसी अनेकानेक कलेवरों में असाधारण रूप से बढ़ा और भविष्य में और भी अधिक खोज लेने का दावा कर रहा है। शोध-संस्थानों की प्रयोगशालाओं की उपलब्धियाँ घोषणा कर रही हैं कि निकट भविष्य में मनुष्य इतना अधिक ज्ञान, विज्ञान खोज लेगा कि पुरातन काल की समस्त उपलब्धियों को उसके सामने बौना-बचकाना ठहराया जा सके।

इतने पर भी एक प्रश्न सर्वथा अनसुलझा ही रह जाता है कि यह तथाकथित प्रगति अपने साथ दुर्गति के असंख्यों बवण्डर क्यों और कैसे घसीटती-बटोरती चली जा रही है ? प्रदूषण, युद्धोन्माद, खाद्य संकट, अपराधों की भरमार समस्त तटबन्ध तोड़ती चली आ रही है। अस्वस्थता, दुर्बलता, कलह, विग्रह, छल-प्रपंच जैसी विडम्बनाएँ व्यवहार तथा चिन्तन को धुआँधार विकृतियों से भरती क्यों चली आ रही हैं ? निकट भविष्य के सम्बन्ध में मूर्धन्य विचारक यह भविष्यवाणी क्यों कर रहे हैं कि स्थिति यही रही, रेल इसी पटरी पर चलती रही तो विपन्नता बढ़ते-बढ़ते महाप्रलय जैसी स्थिति में पहुँचा जा सकता है। वे कहते हैं कि हवा और पानी में विषाक्तता इस तेजी से बढ़ रही है कि उसे धीमी गति से सर्वभक्षी आत्महत्या का नाम दिया जा सकता है। बढ़ता हुआ तापमान यदि ध्रुवों की बर्फ पिघला दे और समुद्र में भयानक बाढ़ ला दे, तो उससे थल निवासियों के लिए डूब मरने का संकट उत्पन्न कर सकता है। वनों का कटान, रेगिस्तान का द्रुतगामी विस्तार, भूमि की उर्वरता का हास, खनिजों के बेतरह दोहन से उत्पन्न हुआ धरित्री

असंतुलन, मौसमों में आश्चर्यजनक परिवर्तन, तेजाबी मेघ वर्षन, अणु-विकिरण, बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुरूप जीवन साधन न बढ़ पाने का संकट जैसे अनेकानेक प्रश्न ऐसे हैं जिनमें किसी पर भी विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि तथाकथित प्रगति ही उन समस्त विग्रहों के लिए पूरी तरह उत्तरदायी है। वह प्रगति किस काम की, जिसमें एक रुपया कमाने के बदले सौ का घाटा उठाना पड़े। उन बढ़े हुए सुविधा-साधनों का आखिर होगा क्या, जो मनुष्य को प्रसन्नता प्रदान करने के स्थान पर उसके अस्तित्व को ही मिटा डालने के लिए नंगी तलवार तानकर सामने आ खड़े हों ?

आश्चर्य इस बात का है कि आखिर यह सब हो क्यों एवं कैसे रहा है ? इसे कौन करा रहा है? आखिर वह चौकड़ी कैसे चूक गई थी, जो बहुत कुछ पाने का संरजाम जुटाकर अलादीन का नया चिराग जलाने चली थी और कुछ ही दूर चलकर पैर पसार गई। पहुँचना तो उसे प्रकृति विजय के लक्ष्य तक था पर यह हुआ क्या कि तीनों लोक तीन डगों में नाप लेने की दावेदारी करारी मोच लगने पर सिहरकर बीच रास्ते में ही पसर गई। उसे इस असमंजस की स्थिति में रहना पड़ रहा है कि आगे कुआँ, पीछे खाई की स्थिति आ खड़ी होने पर आखिर चला किस तरह जाय? साँप-छछूँदर की इस स्थिति से कैसे उबरा जाय, जिसमें न निगलते बन रहा है और न उगलते। असमंजस की स्थिति लम्बे समय तक टिकती नहीं है। मनुष्य की बुद्धि इतनी कमजोर नहीं है कि वह उत्पन्न संकटों का कारण न ढूँढ़ सके और शान्तचित्त होने पर उनके समाधान न ढूँढ़ सके।

फूटे घड़े में पानी भरने पर वह देर तक ठहरता नहीं है। चलनी में दूध दुहने पर दुधारू गाय पालने वाला भी खिन्न-विपन्न रहता है। ऐसी ही कुछ भूल मनुष्य से भी बन पड़ी है जिसके कारण अत्यन्त परिश्रमपूर्वक जुटायी गई उपलब्धियों को हस्तगत करने पर भी लेने के देने पड़ रहे हैं। इसी को कहते हैं— “सिर मुड़ाते ही ओले पड़ना।”

अभी तक की उपलब्धि पर संतोष व्यक्त करते हुए मनीषी चिंतन दिव्य द्रष्टा कहते हैं कि अगले दिनों मनुष्य की समझदारी, सतर्कता और सूझबूझ जागेगी। भाव-संवेदनाओं से भरे-पूरे व्यक्ति आने वाली सदी में उस रीति-नीति पर चलेगें, जिनके आधार पर सम्पदाओं का सदुपयोग, सुनियोजन करते बन पड़ेगा। तब आसन्न विभीषिकाओं, विपन्नताओं और बिडम्बनाओं पर क्षुब्ध न होना पड़ेगा। वह समय शीघ्र ही आ रहा है।

कैसे हो अंतस् में सत्य का अवतरण ?

सत्य का अर्थ है—यथार्थता। जो बात जैसी है उसे उसी रूप में समझना, मानना और प्रयुक्त करना सत्य की साधना है। दुर्भाग्य से हम इन दिनों बनावट, बिड़बना, भ्रांति और दुर्बुद्धि से भरे युग में रह रहे हैं। अज्ञान भरे अंधकार युग ने कुछ ऐसा कृत्रिम वातावरण बना रखा है जिसने बरसात की काली घटाओं में छिपे हुए सूर्य की तरह सत्य को एक प्रकार से छिपा दिया है। छल और कृत्रिमता का दूसरा नाम ही सभ्यता पड़ गया है। जो जितनी कृत्रिमता बरत सकता है, कुछ को कुछ बनाकर दिखा सकता है, वह उतना ही बड़ा सभ्य और कलाकार माना जाता है। पिछली शताब्दियों और सहस्राब्दियों से असत्य और कृत्रिमता की आराधना में मानवीय मस्तिष्क संलग्न रहे हैं और अब वह उपार्जन इतना विशालकाय, इतना सघन और प्रचलित हो गया है कि आमतौर से उसे ही सत्य माना जाने लगा है। आज सामान्य बुद्धि के लिए यह ढूँढ़ निकालना अति कठिन है कि प्रचलित मान्यताओं-प्रथा-परिपाटियों, विश्वासों, रीति-नीतियों एवं विचारणाओं में सत्य का कितना अंश है?

जिस कसौटी पर यथार्थता को कसा जा सकता है वह है—विवेक। विवेक उस साहस का नाम है, जिसके आधार पर बहु प्रचलित मान्यताओं की उपेक्षा करके भी सचाई को ढूँढ़ निकालने की भावना उत्पन्न होती है। यही भावना है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति सत्य का दर्शन कर सकता है। जो यह सोचता है कि समाज का वर्तमान प्रचलन ही ठीक है और उसी का समर्थन ठीक है तो फिर उसके लिए सोचने और ढूँढ़ने के सारे रास्ते ही बंद हो जाते हैं। प्रचलन के ढर्रे से लुढ़कते-लुढ़कते अभ्यास परिपाटी के प्रति मनुष्य को मोह उत्पन्न हो जाता है, उसी के साथ पक्षपात जुड़ जाता है। अपनी यह दुर्बलता समझ में भी नहीं आती। लगता है हम जो सोचते हैं वही सत्य है, जो करते हैं वही सत्य है, जिस रास्ते पर चल रहे हैं वही सत्य है। विभिन्न व्यक्ति अपनी प्रचलित परिपाटियों और रीतियों-नीतियों को सत्य मानने लगते हैं। चूँकि सत्य का निरूपण तो किसी ने किया नहीं, अपनी-अपनी परिपाटियों को ही सत्य मान लिया है। इसलिए उनकी मान्यताएँ स्वभावतः एक-दूसरे से भिन्न अथवा विपरीत होती हैं।

इस भिन्नता एवं विपरीतता को स्वभावतः वे वर्ग नापसन्द करते हैं, कई बार घृणा भी करते हैं और यदि असहिष्णुता की मात्रा अधिक हुई तो परस्पर संघर्ष भी खड़ा हो जाता है। एक-दूसरे को असत्यवादी मानते हैं और अपने को सत्यनिष्ठ समझते हैं। उनकी लड़ाई का

आधार तो सत्य का समर्थन और असत्य का निवारण होता है पर वस्तुतः दोनों ही असत्य का समर्थन और सत्य की हत्या कर रहे होते हैं क्योंकि वास्तविक सत्य ढूँढ़ने की किसी ने चेष्टा नहीं की। अपने चारों ओर घिरे मानसिक अथवा सामाजिक वातावरण को ही सही माना जबकि वस्तुतः वह एक पक्ष मात्र था। इतिहास के अगणित पृष्ठ इसी सत्य के आवरण में छिपे पक्षपात से लाखों-करोड़ों मनुष्यों के शोणित-तर्पण की करुण कथा से कलंकित हो रहे हैं। गौरी, गजनवी, नादिरशाह, औरंगजेब आदि ने धर्म की सेवा के नाम पर क्या नहीं किया था। ईसाई और गैर-ईसाई, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम, आर्य और अनार्य आदि की भिन्नताओं ने कितनी नृशंसताएँ उपस्थित कीं इसका लम्बा इतिहास पढ़ने पर लगता है कि मनुष्य सत्य के अवलंबन की डींग मात्र हाँकता है वस्तुतः सत्य से कोसों दूर है।

आज के तमसापन्न युग में यह नितांत आवश्यक है कि सत्य और असत्य का नए सिरे से विश्लेषण किया जाय और उसका आधार विवेक, न्याय एवं औचित्य को माना जाय। दूसरों के प्रति जो व्यवस्था लागू की जा रही है वही यदि अपने प्रति भी लागू हो तो कैसी लगे ? इस कसौटी पर न्याय, अन्याय का निरूपण आसानी से हो सकता है। उसी प्रकार यदि यह मानकर चला जाय कि संसार के बहुसंख्यक व्यक्ति अनुपयुक्त विचारणा और क्रियापद्धति के अभ्यस्त हैं, उनकी गतिविधियों में अनौचित्य की मात्रा ही अधिक है तो फिर तथाकथित लोकभय से मुक्ति पायी जा सकती है और स्वतंत्र चिंतन के लिए उपयुक्त दिशा मिल सकती है। अपनी मनोभूमि के पक्षपात को भी समझना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि हम जिस परम्परा में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, स्वभावतः उसी के समर्थन में बुद्धि काम करेगी। इसलिए स्वतंत्र चिंतन, सत्य का अन्वेषण करने के लिये इतना साहस भी एकत्रित करना होगा कि अपनी अभ्यस्त बुद्धि की भी उपेक्षा करके विश्वव्यापी सत्य का निरूपण कर सकने की भावना सही रूप से अपना काम कर सकने में समर्थ हो सके।

‘हमारा सो सही आपका सो गलत’ आज सही-गलत की यही मात्र परख है। अपनी जाति, भाषा, देश, वंश, परिवार, संप्रदाय, रहन-सहन, रीति-रिवाज एवं विचार पद्धति का जो अनावश्यक पक्षपात है, उसे हटाया जाना चाहिए और निष्पक्ष विश्व के निष्पक्ष नागरिक की तरह एक न्याय निष्ठ जज की तरह हमें हर प्रचलित रीति-नीतियों और विचारणाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। न तो प्राचीन के प्रति मोह रहे और न नवीन के प्रति द्वेष। प्राचीन हो या नवीन इससे यथार्थता

में कोई अंतर नहीं आता। किसी सड़ी-गली मृतप्राय वस्तु को इसलिए सँजोकर नहीं रखा जा सकता कि वह पुरानी है।

जिस प्रकार दूसरे लोगों के बारे में ‘गलत राह अपनाने वाला’ सोचा जा सकता है, उसी प्रकार बहुत संभव है कि विवेक की कसौटी पर अपनी मान्यताएँ अथवा गतिविधियाँ परखी जायें तो वे असत्य निकलें। ऐसी दशा में हमें इतनी निष्पक्षता तो अपने भीतर उत्पन्न कर ही देनी चाहिए कि जो सत्य होगा उसे स्वीकार करेंगे। अपने और पराए का प्राचीन और नवीन का कोई भेद-भाव एवं पक्षपात पैदा न होने देंगे। इतना आधार यदि तैयार हो सका तो ही आशा की जा सकती है कि सत्य का अवतरण संभव हो सकेगा।

मानव के परिष्कार एवं उत्कर्ष की भावी

सम्भावनाएँ

मनुष्य मूलतः क्या है और उसकी मूलभूत-जन्म-जात प्रवृत्तियाँ क्या हैं ? इस सन्दर्भ में उसके उद्गम स्रोत पर ध्यान देना चाहिए। वह ईश्वर का ज्येष्ठ पुत्र युवराज है और उसकी विश्व-वाटिका को समुन्नत, सुविकसित करने के लिए एक कुशल माली की भूमिका निभाने आया है। उसका जन्मजात स्वभाव भी इस भूमिका का निर्वाह कर सकने के सर्वथा उपयुक्त है। शरीर, मानस तन्त्र और भावनाओं का त्रिविधि संस्थान ऐसी दिव्य क्षमताओं और विभूतियों से भरा-पूरा मिला है, जिससे जीवन सम्पदा को सार्थक बनाने वाली उच्चस्तरीय भूमिका निभा सके।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस सन्दर्भ में भ्रान्त धारणाएँ ही दी हैं और उसके अस्तित्व को हेय स्तर का ठहराया है। कहा है कि जन्मजात रूप से उसे पशु-प्रवृत्तियाँ ही मिली हैं। उनकी पूर्ति से ही उसे चैन पड़ता है। वही उसे करना चाहिए। इन तथाकथित अन्वेषणकर्त्ताओं का कहना है कि समुद्र में जैसे एक कोषीय प्राणियों के रूप में जीवन उत्पन्न हुआ, उसी से विभिन्न प्रकार के प्राणी विकसित हुए उसी विकास में से बन्दर की औलाद के रूप में मानव जीवन प्रकाश में आया। पशु-प्रवृत्तियों के इन विश्लेषणकर्त्ताओं ने यह कहा है कि सभी जानवर स्वार्थ प्रधान हैं। जहाँ अवसर मिलता है, वहाँ आक्रमण करने में नहीं चूकते। यौन स्वेच्छाचार उनकी स्वाभाविक मान्यता है। खतरे की स्थिति में वे लड़ने या भाग खड़े होने की दोनों ही नीतियाँ अपनाते हैं। चूँकि मनुष्य भी एक तरह का पशु है इसलिए उसमें भी यही प्रवृत्तियाँ काम करती हैं, जो अन्यान्यों में हैं। इस प्रतिपादन के

हिसाब से नीतिवादी-आदर्शवादी उत्कृष्टता की जड़ कट जाती है और वह नर-पशुओं की श्रेणी में ही जा खड़ा होता है। उस प्रतिपादन के अनुसार यदि मनुष्य चोर-उचक्का, व्यभिचारी आक्रमणकारी बनता है तो यह उसकी स्वाभाविकता ही मानी जायेगी।

हमें इन पाश्चात्य प्रतिपादकों की मान्यताओं पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिए और पूछना चाहिए कि यदि सभी जानवर विकसित हो रहे हैं तो मनुष्य शरीर का विकास कब से हुआ और भविष्य में क्या अन्तर पड़ेगा ? लाखों वर्षों से मनुष्य इसी स्तर के शरीरों में रह रहा है और उसकी प्रवृत्तियों एवं आदतों में भी कोई अन्तर नहीं पड़ा है। वह सदा से शाकाहारी रहा है। साथ ही उसे नीति, सदाचार, मर्यादा एवं परमार्थ की दृष्टि से भी अपनी गरिमा प्रकट करनी पड़ी है।

मनुष्य देवताओं की सन्तान है। आधुनिक अन्तरिक्ष विज्ञानी भी यह मानने लगे हैं कि मानवी सत्ता किन्हीं उच्च लोकों के समुन्नत प्राणियों की वंशज है। पृथ्वी पर देवलोकवासी असाधारण क्षमता एवं भावना से भरे-पूरे लोग समय-समय पर यहाँ आते रहे हैं और धरती को मनुष्य को अधिक सुविकसित स्थिति में पहुँचाने के लिए भावभरा योगदान देते रहे हैं। इन दिनों भी उड़न-तश्तरियों के रूप में उस प्रयास के चलते रहने का परिचय मिलता है। पृथ्वी के कितने ही भागों में इस प्रकार के प्रमाण, अवशेष भी उपलब्ध हैं ?

इन पंक्तियों में उस श्रुति का प्रतिपादन किया जा रहा है, जिसमें कहा गया है कि “मनुष्य पूर्ण से उत्पन्न हुआ। पूर्णता युक्त है और अन्त में पूर्ण ही होकर रहेगा।” कभी-कभी कुप्रचलनों का दौर आ जाता है जैसे कि सूर्य चन्द्रमा के उदीयमान होते हुए भी ग्रहण के, बादलों के या कुहरा अम्बड़ के कारण उनका प्रकाश धुँधला पड़ जाता है। जरा-जीर्ण स्थिति में भी भवनों की, प्राणियों की दुर्दशा हो जाती है। ऐसा ही कुछ अवरोध मानवी गरिमा के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है। यह अस्थायी है और आशा की जानी चाहिए कि इसमें जल्दी ही उत्साहवर्द्धक परिवर्तन होने जा रहा है।

इन दिनों शरीर शास्त्री, मनोविज्ञानी, नृतत्ववेत्ता अपने-अपने ढंग से मनुष्य की भावी प्रगति की अपने-अपने ढंग से योजनाएँ बनाने में निरत हैं। भविष्य में मनुष्य अधिक बलिष्ठ, अधिक दीर्घजीवी, अधिक बुद्धिमान और अधिक सुयोग्य बन सके। इसमें सबसे कारगर और सूक्ष्म प्रभाव गुण-सूत्रों का, जीन्स का-जीव रसायनों की हेरा-फेरी का है। साइन्स ने एक सीमा तक इसमें प्रगति कर ली है। तो भी हारमोन्स को

उभारने-दबाने का प्रयोग हाथ नहीं आया है। विकसित अध्यात्म विज्ञान इस कमी को पूरा कर देगा और आज की विकसित मनुष्य की कल्पनाओं-आकांक्षाओं को चरितार्थ होने का अवसर मिलेगा। आहार-विहार में जो इन दिनों व्यतिक्रम चल रहा है वह उतने ही दिन चलेगा जितने समय तक मनुष्य को आरोग्य, दीर्घजीवन और बलिष्ठता का महत्व हृदयंगम नहीं होता। मनुष्य जल्दी ही वस्तुस्थिति को समझ जायगा और जिह्वा तथा जननेन्द्रिय के असंयम पर अंकुश लगा लेगा।

अतिशय महत्वपूर्ण मनुष्य का मनःस्थान है। जीवन पर प्रमुख रूप से वही छाया रहता है। कल्पना-मन, विवेचन-बुद्धि, चित्त-अचेतन और अहं-मान्यता, यही चार क्षेत्र मिल-जुलकर मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को ऊँचा-उठाते या नीचा गिराते हैं। यही है मनःक्षेत्र की धुलाई और रंगाई, जिसे विज्ञान की भाषा में ब्रेन वाशिंग अथवा व्यक्तित्व परिष्कार कहते हैं। यह भी अब बहुत अधिक कठिन नहीं रहा है। विज्ञान ने विभिन्न प्रवृत्तियों के केन्द्र संस्थान खोज निकाले हैं और उनके साथ इलेक्ट्रोडों द्वारा विद्युत-प्रवाह जारी करके प्रवृत्तियाँ बदलने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त कर ली है। इन प्रयोगों से प्रभावित शेर, बकरी की तरह सौम्य और बकरा शेर की तरह निर्भर आक्रामक होते देखा गया है। बुढ़ापे में बचपन की कोमलता लाई जा सकती है और बच्चे को बूढ़ों जैसा विचारशील बनाया जा सकता है। यह मानसिक नियन्त्रण यदि स्थायी हो सके और आकांक्षाओं, भावनाओं, मान्यताओं और विचारणाओं को बदल सके तो समझना चाहिए कि मानवी काया-कल्प का क्षुद्र को महान बनाने वाला वह सूत्र हाथ आ गया।

नीत्से के दर्शन ने हिटलर को जन्म दिया और समूचे जर्मनी को ऐसे आवेश में भर दिया कि वे लोग अपने समुदाय को अति श्रेष्ठ मानने और समस्त विश्व पर शासन स्थापित करने की तैयारी करने लगे। अरविन्द अपने पाण्डिचेरी प्रयोग में सुपरमैन “उत्कृष्ट मानव” की कल्पना भी वे अपने पूर्ण योग के माध्यम से मनुष्य में देवत्व के उदय के रूप में रहे थे। यों उनके जीवनकाल में वह प्रयास पूरा नहीं हो पाया, पर यह नहीं समझना चाहिए कि वह काम अभूरा ही छूट गया। उसे आगे बढ़ाने के लिए पूर्ण योग का स्थान “प्रज्ञायोग” ले रहा है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राणप्रण से जुटा है।

भावी देवमानव की विशेषता होगी उसके अन्दर देवत्व का उदय। यदि वह वन पड़ा तो इसकी परिणति निश्चित रूप से धरती पर स्वर्ग के अवतरण के रूप में होगी। देवता धरती पर जन्म लेने की प्रतीक्षा करते रहे हैं

और भगवान इसी धरती पर अवतार लेने के लिए दौड़ते आते हैं।

मानवी परिष्कार और विकास का ठीक और सही समय यही है। अपनी-अपनी कौम-बिरादरियों को वरिष्ठ सिद्ध करने के लिए अनेक देश अनेक बार अपने-अपने ढंग से प्रयत्न एवं उद्घोष करते रहे हैं। किसी समय शक और हूणों की तूती बोलती थी। अंग्रेज भी कभी सारी दुनिया पर छाये रहे। इन दिनों रूस, अमेरिका कम से कम अस्त्रों, अन्वेषणों और अन्तरिक्ष पर आधिपत्य की दृष्टि से मूर्धन्य हैं ही। जापान की औद्योगिक क्षमता बढ़ती जा रही है। अन्यान्य देश भी सम्पदा और सामर्थ्य की दृष्टि से प्रगति-पथ पर बढ़ चलने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

इन सब में महती भूमिका भारत की होने जा रही है। ऋषि परम्परा का अब फिर अभिनव पुनरुत्थान हुआ है। उच्चस्तरीय व्यक्ति संख्या की दृष्टि से कम हों तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं। बुद्ध, गाँधी- अरविन्द जैसे आत्मशक्ति के धनी पिछली शताब्दियों में उँगलियों पर गिने-जितने ही हुए हैं, पर उन्होंने आँधी-तूफान की तरह समय को उलट दिया। अब उस प्रक्रिया में फिर उफान आ रहा है। आवश्यक नहीं कि वे व्यक्ति ख्याति प्राप्त ही हों। ऋषि युग में छः पुरुष और एक महिला यह सात ही मूर्धन्य संत ऋषियों में गिने गए। पर यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उनके अतिरिक्त और उच्चस्तरीय आत्माएँ नहीं थीं। इन दिनों सप्त ऋषियों के अवतरण का पुण्य प्रभातकाल है। उनका प्रयास एक ही होगा कि मानवी गरिमा को निकृष्टता के दल-दल में से उबारकर परिशोधन किया जाय और आत्मिक दृष्टि से उसे उच्च शिखर तक पहुँचा दिया जाय।

समय की कठिनाइयों में एक ही सबसे बड़ी आवश्यकता है कि मानवी व्यक्ति को ओछेपन से विरत करके उसे आदर्शवादी उत्कृष्टता अपनाने के लिए सहमत ही नहीं, बाधित भी किया जाय। मनुष्य नीतिवान बने। वासना, तृष्णा और अहंता के भव-बन्धन से उबरे और लोभ-मोह की हथकड़ी, बेडियों को तोड़ फेंके। इतना भर मोड़-मरोड़ बन पड़ा तो मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य कहला सकेगा। उस पर नर-पशु या नर-पिशाच कहलाने का लांछन न लगेगा। पवित्रता और प्रखरता का पुण्य-परमार्थ में नियोजन हो सके तो हर किसी को महामानवों की श्रेणी में बैठने का अवसर मिलेगा। तब नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम, क्षुद्र को महान कहा जा सकेगा। लिप्सा, लालसा की कुत्साएँ जैसे ही सद्भावनाओं की ओर, सत्प्रवृत्तियों की ओर मुड़ीं कि सारा वातावरण

ही बदल जायेगा। जो गतिविधियाँ चल रही हैं उनमें आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा।

लोग हिल-मिलकर रहें-मिल-बाँटकर खाएँ और हल्की-फुल्की, हँसती-हँसाती जिन्दगी जिएँ तो किसी को किसी वस्तु का अभाव न रहे। इस धरती का उत्पादन और उत्खनन इतना वैभवशाली है कि उसके रहते किसी को किसी वस्तु की कमी अनुभव न हो। अभाव सर्वथा कृत्रिम है। वे लालसाओं के अत्यधिक बढ़ जाने पर दीखते भर हैं। आलसी और प्रमादी ही दरिद्रता की शिकायत करते हैं। क्षुद्र और संकीर्ण मन वाले क्रूरकर्मा ही विग्रह के बीज बोते और अशान्ति उत्पन्न करते हैं। मनुष्य यदि आत्म-सुधार के निमित्त तत्पर हो सके, गुण-कर्म-स्वभाव को अपनी गरिमा के अनुरूप ढाल सके तो पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग की कहीं कमी न रहे। यही देवत्व है। इन विशेषताओं और विभूतियों का भाण्डागार मानवी अन्तराल में भरा पड़ा है। उसे निखारने और उभारने भर की आवश्यकता है। यह परिवर्तन सरल भी है और सुखद भी।

अगले दिनों मनःस्थिति बदलते ही परिस्थितियाँ बदलने की सम्भावना सुनिश्चित है। अज्ञान, अशक्ति और अभाव से ही प्रायः विपन्नता छाया रहती है। दुर्गति ही दुर्गति की जन्मदात्री है। इन्हें झाड़ू लेकर बुहार डाला जाय तो कूड़ा-करकट जमने में जो दुर्गन्ध और कुरूपता छाई रहती है, उसका कहीं अता-पता भी न चलेगा। व्यक्ति के बदलने से युग के बदलने का तथ्य शत-प्रतिशत सत्य है। इस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन निकट भविष्य में निश्चित रूप से किया जा सकेगा, इसमें सन्देह की कहीं गुंजाइश नहीं है।

आत्म-विकास के आधार स्तम्भ

युग निर्माण योजना मनुष्य में देवत्व के उदय का जो महान लक्ष्य लेकर चल रही है, उसके लिए मानवीय अन्तःकरण का विशिष्ट उपचार करना आवश्यक हो जाता है। अन्तःकरण का एक पक्ष है—विश्वास। इसका निर्माण, निर्धारण घटनाक्रमों, परिस्थितियों एवं चिन्तन की अनुकूलता के सहारे बन पड़ता है। ज्ञान-यज्ञ के चार चरण—स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और मनन इसी प्रयोजन को पूरा करते हैं। अन्तःकरण का दूसरा पक्ष है—श्रद्धा। यह विश्वास से भी अधिक गहरी और अधिक शक्तिशाली होती है। दिव्य-संवेदना इसी क्षेत्र में अवतरित होती है। प्रेम के तत्व इसी श्रद्धा की भूमि में उपजते हैं और दृढ़ होते हैं। श्रद्धा की परिभाषा है, श्रेष्ठता से असीम प्यार। श्रेष्ठता का रूप समझना किसी के लिए कठिन नहीं है। उसकी

उपयोगिता स्वीकार करने में भी किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। चोर भी ईमानदारी के और दुराचारी भी सदाचार के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। चोर अपने यहाँ चोर नौकर रखने को तैयार न होगा। व्यभिचारी को अपनी पुत्री या पत्नी के किसी व्यभिचारी के साथ होने की स्थिति स्वीकार नहीं होगी। बेईमान आदमी भी अपना लेन-देन ईमानदार के साथ करना पसन्द करता है। झूठा आदमी भी यह चाहता है कि दूसरे झूठ न बोलें। इससे स्पष्ट है कि भ्रष्ट आचरण करने वाले भी उत्कृष्टता के प्रबल समर्थक होते हैं। अन्तर केवल इतना हो सकता है कि वे मात्र उससे अपनी ही छूट माँगते हैं और यह चाहते हैं कि उन एक के अतिरिक्त अन्य सभी लोग सदाचरण का व्यवहार करें। अपने लिए छूट चाहने के अपवाद के अतिरिक्त शेष ऐसे लोगों की प्रतिशत मान्यता हर व्यक्ति की सदाचरण समर्थक होती है। पर इतने से कुछ बनता नहीं। हर व्यक्ति जब अपने लिए छूट माँगने लगे और यही हर एक की इच्छा रहेगी तो फिर सभी लोग इसी छूटने के पक्ष में हो जायेंगे और श्रेष्ठता को स्वयं अपनाने के लिए आना-कानी करेंगे, तो फिर उसकी अवधारणा बन ही कैसे पड़ेगी? इस समस्या का समाधान बुद्धि से भी, विश्वास से भी गहरी परत "श्रद्धा" के क्षेत्र में प्रवेश करने से ही सम्भव है।

श्रद्धा की धारणा श्रेष्ठता से असीम प्यार के रूप में होती है। जिससे प्यार होता है उसे अपनाने को जी करता है। प्रियजनों की समीपता एवं उनके साथ पक्षपात करने की प्रवृत्ति इसी लक्ष्य पर टिकी हुई है कि जिससे प्यार होता है, उसका सान्निध्य एवं उत्कर्ष चाहने के लिए प्रबल उत्कण्ठा उठती है और प्रबल प्रयत्न किये जाते हैं। श्रेष्ठता के साथ यदि श्रद्धा का समन्वय बन पड़े, उसके लिए असीम प्यार उमड़ने लगे, तो सहज ही उसे अपनाने को, अपने मर्म-स्थल में भर लेने के लिए आकांक्षा और अनुकूलता बनी रहेगी, जैसे कि घनिष्ठ प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच पाई जाती है।

श्रद्धा संवर्धन का महत्व श्रेष्ठ विश्वासों की प्रतिष्ठापना से भी अधिक है। श्रद्धा आत्मा का निकटतम आवरण है। जीवन का मूल स्तर उसी गहराई में विनिर्मित होता है। गीताकार का कथन है—“**श्रद्धामयो यं पुरुषयो यच्छ्रद्धः स एव सा।**” अर्थात् मनुष्य श्रद्धामय है, वह जैसी श्रद्धा करता है, वैसा ही बनता है। श्रद्धा का महत्व बताते हुए श्रुति कहती है—“**श्रद्धया सत्य माप्यते**” श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य अर्थात् परब्रह्म-जीवन लक्ष्य-यथार्थ बोध, इसी स्थिति को जीवनमुक्ति एवं ब्रह्म प्राप्ति कहते हैं। इसे उपलब्ध करना श्रद्धा की मात्रा पर अवलम्बित है। श्रद्धा ही उच्चस्तरीय संवेदना उत्पन्न करती

है। सद्भावनाओं की उमंगें इसी क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं। उन्हीं के उभार से मनुष्य आदर्शों को अपनाने के लिए कटिबद्ध होता है। उनके लिए बड़े-बड़े त्याग, बलिदान करने को तत्पर होता है। परमार्थ-परायणता में भौतिक दृष्टि से प्रायः हानि ही होती है। इस तथ्य को जानते हुए भी महामानव उसे अपनाते हैं, तपस्वी जीवन जीते हैं और आदर्शों को अपनी गतिविधियों में जोड़े रहते हैं। जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हें खुशी-खुशी सहन करते हैं। इस रीति-नीति को तपश्चर्या कहा जाता है। सामान्य प्राणी जब सब सुख-सुविधा ही चाहते हैं और उच्च आदर्शों का परित्याग करने में तनिक भी हिचक नहीं करते, तब श्रद्धावान व्यक्ति अपनी उच्चस्तरीय भाव संवेदनाओं से उत्लसित होकर आदर्श रक्षा को ही प्रधानता देता है और उसके लिए जो भी कष्ट सहने पड़ें, उन्हें सौभाग्य की तरह प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य करता है। यही है, तपश्चर्या का विश्लेषण।

व्यक्तित्व की ऊपरी परत गुण, कर्म, स्वभाव के रूप में सामने आती है। मध्यवर्ती परत विश्वासों, मान्यताओं, आस्थाओं, निष्ठाओं के रूप में प्रस्तुत होती है। अन्तिम अति गहन परत 'श्रद्धा' की है। इसे आत्मा का अति सघन स्तर कह सकते हैं। उसी ढाँचे में जीव की मूल प्रकृति ढलती है और उसका उत्कृष्ट या निकृष्ट स्तर विनिर्मित होता है। श्रेष्ठता अपनाने के लिए सुविधा का परित्याग करा सकने की सामर्थ्य-उमंगें श्रद्धा की गंगोत्री से ही उमंगती हैं। जन-मानस के परिष्कार का व्यक्ति के स्तर का केन्द्र-बिन्दु इसी को समझा जाना चाहिए। व्यक्तित्व के बहिरंग एवं अन्तरंग रथचक्रों को गति देने वाली धुरी यही है।

श्रद्धा का उत्पादन, अभिवर्धन ईश्वर उपासना के माध्यम से होता है। ईश्वर भक्ति के लिए किये गये भावनात्मक पुरुषार्थ को उपासना कहते हैं। उपासना को आत्मिक प्रगति का विशेष व्यायाम कह सकते हैं। इसके सहारे जन-सत्ता को ब्रह्म-सत्ता से जुड़ने और अभीष्ट आदान-प्रदान करने का पथ-प्रशस्त होता है। अन्तःकरण के इसी मर्मस्थल की प्रगति आत्म-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। यही वह सामर्थ्य है जिसके सहारे व्यक्ति आत्मबल-सम्पन्न बनता है और अपनी प्राण ऊर्जा से सम्पर्क क्षेत्र को तथा सुविस्तृत वातावरण को प्रभावित करता है।

उपासना का आरम्भ पूजा-पाठ से—जप, ध्यान से होता है। उसका विकसित स्वरूप योग और तप है। योग का अभिप्राय है चिन्तन का परम पर-ब्रह्म के साथ-परम श्रेष्ठता के साथ अति घनिष्ठतापूर्वक जोड़ना। ईश्वर को

आत्मा सदृश्य मानकर उसे महान आत्मा-परम आत्मा-उत्कृष्ट चेतना सत्ता के रूप में अपना प्रेमपात्र बनाया जाता है। उसके साथ अत्यन्तिक धनिष्ठता स्थापित की जाती है। भगवद्-भक्ति का यही स्वरूप है। योग जोड़ने को कहते हैं। आत्मा और परमात्मा का जुड़ जाना ही योग है। इसके लिए जीव को अपना जीव-भाव-परब्रह्म के परमात्मा भाव में समर्पित-समन्वित करना होता है। समर्पण, विसर्जन, विलय, शरणागति, एकत्व, अद्वैत जैसी भावनाएँ योगाभ्यास से विकसित की जाती हैं। महान में तुच्छ को घुला देना—यही समर्पण है। भक्ति को समर्पण योग कहा गया है। इसका तात्पर्य होता है अहंता का-संकीर्णता का विराट में समापन। विश्वहित के लिए, परमार्थ के लिए, आदर्शों की प्रतिष्ठापना के लिए अपनी संकीर्ण-स्वार्थपरता का-व्यक्तिवादी लालसाओं का समापन, भावना के पथ में कामना को, उत्कृष्टता के पथ में अहंता को विसर्जित कर देना ही योग है। ईश्वर को श्रेष्ठता का समुद्र माना जाता है और उसी में व्यक्तिवादी अहंता को बूँद की तरह घुला दिया जाता है। नाले का नदी में, नमक का जल में, ईधन का आग में, पतंगे का दीपक में विलय हो जाने की उपमा योग-साधना से की जाती है। यह विशुद्ध भावनात्मक प्रयास है। इसे उपासना का अनिवार्य अंग माना गया है। भक्त को भगवान के साथ एकत्व अद्वैत स्थापित करने के लिए अपनी कामनाओं, महत्वाकांक्षाओं और सुविधाओं को मन से निकालना पड़ता है। उसके स्थान पर ईश्वरीय इच्छाओं को, संदेशों को सच्चे मन से स्वीकार करना और उस स्वीकृति में परम प्रसन्नता अनुभव करना, यही है योग साधना का उद्देश्य। आत्मिक-शान्ति प्राप्त करने के लिए पूजा-पाठ से आगे बढ़ते-बढ़ते साधक को प्रभु-समर्पित बनना पड़ता है। अपने चिन्तन और क्रिया-कलाप का सारा ढाँचा इसी आधार पर खड़ा करना पड़ता है। यही है प्रचण्ड आत्म-शक्ति का उद्गम स्रोत जिससे इस विराट ब्रह्माण में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना का अति महत्वपूर्ण अभिवर्षण साधक पर होता है और वह उस आत्म-शक्ति से सम्पन्न होता है जिसे इस जगत की सर्वोपरि सामर्थ्य कहा जाता है।

आत्म-शक्ति के अभिवर्षण का दूसरा क्षेत्र है—तप। तप का अर्थ है—काय-कलेवर में से निकृष्टता का परिशोधन। खदान में से धातुएँ मृत्तिका मिश्रित निकलती हैं। कच्ची स्थिति में उनकी उपयोगिता नगण्य होती है। आग में तपाने पर निरर्थक मृत्तिका का भाग हटाया जाता है और शुद्ध धातु से अति महत्वपूर्ण उपकरण बनने लगते हैं। अनगढ़ व्यक्तित्व को तप की आग में तपाकर उसके कुसंस्कारों का परिशोधन किया जाता है। आलस्य, प्रमाद, व्यसन, अचिन्त्य-चिन्तन, आत्महीनता, पशु-प्रवृत्तियाँ,

भ्रष्टताएँ, दुष्टताएँ व्यक्तित्व के साथ आदिम कालीन विरासतों के रूप में प्राणी में लिपटी चली आती हैं। इनका परिशोधन तप की आग में होता है। काय-कलेवर ईश्वर प्रदत्त अत्यन्त सामर्थ्यवान यन्त्र है, उसमें अगणित शक्तियाँ प्रसुप्त रूप में पड़ी हैं, उन्हें तप की गर्मी देकर उभारा जा सकता है और आत्म-शक्ति-सम्पन्न बनाया जा सकता है।

गर्मी से मिलने वाले लाभों को आये दिन आँखों के सामने प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कच्ची मिट्टी से बने मकान अल्पजीवी होते हैं, पर उसी मिट्टी को आग में पकाकर जब ईंटें पक्की कर ली जाती हैं तो उनसे बने मकान विरस्थायी होते हैं। पानी को गरम करने से भाप बनती है और उससे प्रेसर कुकर से लेकर स्टीम इंजिन चलने जैसे कितने ही आश्चर्यजनक कार्य होते हैं। बारूद की शक्ति आग की चिन्गारी छूने पर ही प्रचण्ड बनती है। पृथ्वी पर जीवन सूर्य की गर्मी से ही जन्मा है। गर्मी से ही बादल बनते और धरती की प्यास बुझाते हैं। मादा अपनी गर्मी से भ्रूण एवं अण्डे को पकाती है। अग्नि-संस्कार से सामान्य वस्तुएँ उपयोगी रसायनों, औषधियाँ बन जाती हैं। चूल्हा न जले तो भोजन पकने की बात ही न बने। शरीर में जब तक गर्मी है, तब तक जीवन है। गर्मी से हर वस्तु फैलती और विकसित होती है। वनस्पतियों का उगना और फूलना-फूलना उष्णता के अनुपात पर निर्भर रहता है। मशीनों का चलना ऊर्जा से ही सम्भव होता है। समस्त कल-कारखाने जलने वाला ईधन मँगाते हैं। प्रकाश प्रकारान्तर से गर्मी ही है। यदि वह न हो तो अन्धकार और स्तब्धता ही इस संसार में शेष रह जायेगी। तब जीवन के चिन्ह भी दृष्टिगोचर न होंगे। गर्मी का महत्व भौतिक जगत में कितना है, इसे समझ लेने के उपरान्त किसी को यह सन्देह नहीं रहना चाहिए कि चेतना के, आत्मा के विकास के लिए तपसाधना द्वारा आध्यात्मिक उष्णता का उत्पन्न करना कितना अधिक आवश्यक है।

इतिहास, पुराणों को देखने से पता चलता है कि प्राचीनकाल के ऋषि, मुनि तप-साधना द्वारा आत्म-शक्ति विकसित करते थे। उच्च उद्देश्यों के लिए जो त्याग बलिदान भरे तप किये जाते हैं, इन्हीं के सहारे सामान्य मनुष्यों को ऐतिहासिक महामानव बनने का अवसर मिला है। जिनके चरणों पर संसार के श्रद्धा सुमन चढ़ते हैं, उन्हें यह सौभाग्य-सम्पन्नता या प्रतिभा के आधार पर नहीं व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाले-आदर्शों के लिए कष्ट सहने का साहस देने वाली तपश्चर्या के सहारे ही उपलब्ध हुआ है। चेतना में उत्कृष्टता उभारने का व्यायाम योग कहलाता है और काय-कलेवर की आदतों को

आदर्शवादी गतिविधियों में रस लेने में अभ्यस्त बना लेना तप है। योग और तप को बिजली के ठण्डे और गरम तारों की तरह समझा जा सकता है, जिनका समन्वय होते ही आत्म-शक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित होने लगती है।

इतना समझ लेने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि लेखनी और वाणी के माध्यम से जिस भावनात्मक परिष्कार का प्रयास किया जा रहा है, उसमें ज्ञानयज्ञ का कितना महत्व है और उससे भी एक कदम आगे बढ़कर आत्मशक्ति के सम्वर्धन की कितनी अधिक आवश्यकता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मशक्ति के विकास में उच्चस्तरीय साधना, जिसमें त्याग और तप के तत्व मिले हुए हों, कितने अभीष्ट हैं। चेतना के परिष्कार का कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। इस कार्य में वस्तुओं का उपयोग स्वल्प मात्रा में ही हो सकता है। प्रयोजन दो ही साधनों से सिद्ध होगा—एक सद्ज्ञान संवर्धन दूसरा आत्म-साधना। इनमें से एक को भी वरिष्ठ या श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। दोनों की उपयोगिता गाड़ी के दो पहियों की तरह हैं, जिनके समन्वय से ही उस महान प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, जिसके लिए युग-निर्माण का अभियान चल रहा है। मिशन के प्रस्तुत कार्यक्रमों में इन दोनों ही तथ्यों का समान रूप से समन्वय रखा गया है। ज्ञानयज्ञ के विस्तार का जितना प्रयत्न है उतना ही आत्मोत्कर्ष की योग-तप परक साधनाओं पर भी जोर दिया जा रहा है। “विचार क्रान्ति” द्वारा विचारणा में श्रेष्ठता का संवर्धन और तप साधना द्वारा भाव संवेदना में श्रद्धा, भक्ति का देवत्व अवतरण करने के लिए समान रूप से प्रयास चलते हैं।

व्यक्ति और समाज का नव-निर्माण चेतनात्मक उत्कृष्टता के अभिवर्धन पर ही सम्भव है। इसके लिए ज्ञानयज्ञ और तप-साधना के दोनों पक्ष ऐसे ही हैं जैसे पक्षी के दो पंख, मनुष्य के दो हाथ, दो पैर। इन दोनों की ही समान उपयोगिता और समान आवश्यकता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आत्म-शक्ति का उद्भव इन दोनों के समन्वय से ही संभव हो सकता है। सद्भाव-सम्पन्न वातावरण का निर्माण करने के लिए जिस सृजन क्षमता की, चेतनात्मक ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। उस आत्मशक्ति का उद्भव युग परिवर्तन का प्रधान साधन है। इस उपार्जन को व्यक्तियों की प्रयोगशाला में किया जाता है। जलते हुए दीपक ही दूसरे दीपकों को जलाते हैं। दीपकों को तेल और बत्ती से सम्पन्न किया जाता है, तब उनमें ज्योति जलती है। जलती ज्योति से प्रकाश फैलता है और प्रकाश का अवलम्बन करके ही अन्धकार के भटकाव से छुटकारा

मिल सकता है। प्रस्तुत अन्धकार युग से छुटकारा पाने के लिए ऐसे प्रकाश-स्तम्भों की जरूरत है, जो स्वयं प्रकाशवान हों और दूसरों को प्रकाश दे सकें। प्रखर प्रतिभाओं का निर्माण अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उन्हीं के पुण्य प्रयास से, प्रबल पुरुषार्थ से युग-परिवर्तन जैसा व्यापक कायाकल्प संभव हो सकता है।

युगशक्ति का उद्भव आत्मशक्ति के उदय के रूप में ही होगा। युग का परिवर्तन इसी क्षमता के उद्भव पर निर्भर है। इसके लिए युग-निर्माण योजना द्वारा ये तीन प्रयास चल रहे हैं—(१) ब्रह्मवर्चस् आरण्यक एवं शान्तिकुंज में योगाभ्यास तप-साधना में छोटे-बड़े प्रयोग। (२) लाखों साधकों को उनके निजी जीवन में उपासना एवं ज्ञान-साधना का मार्ग-दर्शन, प्रोत्साहन एवं सहयोग। (३) नवरात्रि के पुनीत पर्व पर व्यापक अभियान के रूप में तपश्चर्या एवं ज्ञान-साधना का सुव्यवस्थित सामूहिक प्रचलन। लोक-शिक्षण की दृष्टि से नवरात्रि पर्व के सामूहिक अनुष्ठान अत्यन्त प्रेरणाप्रद भूमिका निबाह रहे हैं। उनके माध्यम से नव-निर्माण का वातावरण बनने की पूरी-पूरी सम्भावना बन रही है।

मूलभूत है, अपने अंदर का देवत्व

पृथक्-पृथक् लगते हुए भी वस्तुतः हम सभी चेतना के धरातल पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। मनुष्य में जो चेतन-सत्ता क्रीड़ा-कल्लोल कर रही है, वही संपूर्ण जगत और प्राणी-प्रदार्थ में विद्यमान है। शास्त्रकारों एवं आप्त पुरुषों ने इसे ही व्यक्त करते हुए कहा है कि ब्रह्मांड और पिंड में, व्यष्टि और समष्टि में जितनी भी शक्तियाँ काम कर रही हैं, वह सभी प्राण-चेतना के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। कल्प के आदि में अपने मूल रूप “महाप्राण” से उद्भूत होकर यह शक्तियाँ अंततः उसी में समाहित हो जाती हैं।

इसी को दूसरे ढंग से पाश्चात्य मनीषियों ने भी स्वीकार किया है। सुविख्यात मनोविज्ञानी कार्ल जुंग का कहना है कि परोक्ष एवं सूक्ष्म रूप से हम एक-दूसरे से सुसंबद्ध हैं। हम जो भी करते अथवा सोचते हैं, उससे दूसरे अवश्य प्रभावित होते हैं, ऐसा उनका मानना है। इस परोक्ष संपर्क को उन्होंने “सामूहिक अवचेतन” नाम दिया है। विज्ञान का “पास्कल्स लॉ” नामक एक प्रसिद्ध नियम है, जिसके अनुसार जब किसी द्रव पर दबाव पड़ता है, तो वह दबाव बिना घटे सम्पूर्ण द्रव क्षेत्र में संचारित होता है। हमारी चितन-चेतना जैसी होती है, उसी रूप में वह इस चेतना के समुद्र में संचारित हो जाती

है; पर इसे ग्रहण करना पूर्णतः ग्रहीता पर निर्भर करता है। यहाँ भी ग्रहण-अवधारण नियमानुसार होता है। जिस प्रकार समानधर्मी व्यक्ति और विचार परस्पर मिलते और घनीभूत होते हैं, वही बात चेतना के सम्बन्ध में भी कही जाती है। चितन-चेतना जिस स्तर की होती है, वह उसी ओर आकर्षित होती है। उत्कृष्ट स्तर की चेतना सदा सजातीय की ओर खिंचती चली आती है, जबकि निकृष्ट स्तर की प्राण चेतना अनुदात्त स्तर की ओर प्रवाहित होती है।

संसार की समस्त भौतिक शक्तियाँ प्राण चेतना के ही रूपांतरण हैं। वैज्ञानिकों ने इन्हें चार भागों में विभक्त किया है, ये हैं—(१) इलेक्ट्रो मैग्नेटिक फोर्स (२) वीक न्यूक्लियर फोर्स (३) स्ट्रॉंग न्यूक्लियर फोर्स (४) ग्रैवीटेशनल फोर्स। विज्ञानवेत्ताओं ने इन्हीं सत्ताओं के समष्टिगत रूप में चेतना जगत की झाँकी की है।

परामनोविज्ञानी रिचर्ड मोरिस बक ने भी अपनी पुस्तक “कॉसमिक कॉन्शसनेस” में चेतना के चार स्तर बताये हैं—(१) परसिप्चुअल माइंड (२) रिसिप्चुअल माइंड (३) कंसिप्चुअल माइंड (४) कॉसमिक माइंड अथवा कॉसमिक कॉन्शसनेस। उनके अनुसार परसिप्चुअल माइंड चेतना का निम्नतम स्तर है और बहुत अपरिष्कृत भी। इस स्तर की चेतना अत्यंत निम्नस्तरीय जीवधारियों में पायी जाती है। रिसिप्चुअल माइंड कुछ उन्नत स्तर की चेतना है और विकसित प्राणियों में देखी जाती है। कंसिप्चुअल माइंड को मानवी चेतना कहकर वर्णित किया गया है और अंतिम श्रेणी को उन्होंने सर्वव्यापी ब्राह्मी चेतना कहा है। उनके अनुसार यह चेतना की सर्वोच्च स्थिति है, जिसमें पहुँच जाने पर व्यक्ति को एकत्व, अद्वैत का बोध होता है। सबमें स्वयं को और स्वयं में सबको देखने की विशालता इसी अवस्था में विकसित होती है। महर्षि अरविन्द ने भी चेतना को चार मुख्य सोपानों में विभाजित किया है? ये हैं—उच्चतर मन, प्रकाशित मन, संबुद्ध मन और ओवर माइंड। चेतना के उच्चतर आयाम को उन्होंने “सुपरामेंटल” नाम दिया है। उनके अनुसार चेतना के इस सर्वोच्च स्तर का संपूर्ण मानव जाति में अवतरण तभी हो सकेगा, जब वह अपने गुण, कर्म, स्वभाव में परिष्कार लाकर विचारणा, भावना और संवेदना को उच्चस्तरीय बना सके, साथ ही ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव रखते हुए पूर्णरूपेण आत्म-समर्पण कर दे। इस संपूर्ण प्रक्रिया को उन्होंने इवोल्यूशन का नाम दिया है। इवोल्यूशन अर्थात् आरोहण। इसके अंतर्गत आत्म-परिष्कार कर स्वयं को ऊँचा उठाया जाता है, और इवोल्यूशन अर्थात् अवरोहण। यह वह प्रक्रिया है, जिसमें स्वयं को सत्पात्र बना लेने के बाद भगवद् करुणा उतरती है, अवरोहण करती है।

व्यक्तित्व और चेतना का पूर्ण विकास इसी अवस्था में संभव बन पाता है और देवत्व की उपलब्धि भी तभी शक्य हो पाती है। यह अवस्था प्राप्त व्यक्ति को उन्होंने नास्टिक बीइंग अर्थात् अध्यात्मजीवी कहा है। रिचर्ड मोरिस ने चेतना की इसी स्थिति को “ब्रह्मांडीय चेतना” नाम दिया है और कहा है कि जब तक मानव जाति अपनी आत्म-चेतना को उस दिव्य चेतना के अनुरूप उच्चस्तरीय न बना ले, तब तक उसका अवतरण संभव नहीं।

व्यक्ति जो कुछ भीतर सोचता है, वही बाद में शब्द के रूप में बाहर प्रकट होता है। विज्ञान ने शब्द को शक्ति के रूप में स्वीकारा है। शक्ति का न तो नाश होता है, न निर्माण वरन् रूपांतरण होता है। वह अपने मूल रूप में भी रह सकती है अथवा दूसरे में बदल सकती है; पर उसका विनाश कभी नहीं होता। इस आधार पर वैज्ञानिक बोली के विकास से लेकर अद्यावधि तक के छोड़े गये विचारों को अंतरिक्ष में एक विशेष क्षेत्र में अवस्थित बताते हैं। आयनोस्फीयर, एटमोस्फीयर की तरह इस क्षेत्र का नाम उन्होंने आइडियोस्फीयर दिया है। इस क्षेत्र में घूमने-फिरने वाली विचार-चेतना में से वैज्ञानिक अब यंत्रों के माध्यम से उन तरंगों को ग्रहण करने का प्रयास कर रहे हैं, जो महाभारत युद्ध के दौरान गीता के उपदेश के रूप में निकली थीं। यह तो विज्ञान का अपने ढंग का अपना प्रयास है; पर सर्वसामान्य तो आइडियोस्फीयर से अपनी स्वयं की चेतना के स्तर के अनुरूप ही लाभ उठा पाते हैं। संपूर्ण चेतनात्मक स्तर में से जिस स्तर का प्रतिनिधित्व वह करता है, उसी स्तर की विचार तरंगें उसकी ओर अंतरिक्ष से खिंची चली आती हैं और अपने अनुरूप क्रिया-कलाप अपनाने को बाधित करती हैं। यह स्थापित नियम है कि समानधर्मी तत्व समानधर्मी कणों को ही आत्मसात् कर पाते हैं। लोहा, लोहे के साथ और सोना, सोने के साथ ही संयुक्त हो सकता है। लोहा और सोने को परस्पर घुला-मिला देना कठिन है। अन्य धातुओं, वस्तुओं और तत्वों के साथ भी यही बात देखी जाती है। यही नियम मनुष्य और समाज में भी लागू होता है। शराबी, जुआरी, व्यभिचारी जितनी आसानी से अपनी बिरादरी वालों को जान और पहचान लेते एवं जिस सरलता व शीघ्रता से उनकी ओर खिंचते चलते हैं, वैसा शायद व्यसन और व्यभिचार न करने वाले लोग सहजता से न कर पायें। कला, प्रतिभा एवं सदाचार जितनी आसानी से कलाकार, प्रतिभाशाली और सदाचारी व्यक्ति को प्रभावित कर लेते हैं, वह सब विरोधी स्थितियों में संपन्न होता दिखाई नहीं पड़ता। जहाँ फूल खिलते हैं, वहाँ भ्रमर ही मँडराते हैं।

गंदी नालियों में तो गुबरैले स्तर के कृमि-कीटक ही विचरते हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठता सदा श्रेष्ठ तत्वों को ही आकर्षित करती है। जहाँ निकृष्टता छाई रहती है, वहाँ अवांछनीय और अप्रिय तत्व ही घनीभूत होते हैं। इन दिनों हमारी निम्नस्तरीय गतिविधियों के कारण अंतरिक्ष से प्रायः हेय स्तर की चेतना बरसती और हम पर लदती रहती है, फलतः हमसे कुछ भी उदात्त करते-धरते और सोचते नहीं बन पड़ता। जिन हृदयों में श्रेष्ठता दिखाई पड़ती और उसके लिए भावनाएँ उमंगती हैं, उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उनसे अंतरिक्ष के सद्विचारों से संपर्क स्थापित कर लिया है।

इसके अतिरिक्त स्थान और वस्तु से जुड़ी भली-बुरी चेतना से भी हम अपनी स्थिति और स्तर के हिसाब से प्रभावित होते रहते हैं। वेश्यागामी को जितना आनंद वेश्यालयों में मिलता है उतना कदाचित् कहीं नहीं मिलता प्रतीत होगा। उसे वहाँ संपूर्ण स्वर्ग उतरा अनुभव होता है, जबकि देवालयों का पवित्र वातावरण और महापुरुषों का सान्निध्य एकदम नीरस-निरास जैसा लगता। सत्पुरुषों के साथ स्थिति बिल्कुल विपरीत दिखाई पड़ती है। उन्हें पवित्र सरोवरों, तीर्थों, देवमंदिरों में जितनी शांति और उत्फुल्लता की अनुभूति होती है वह कहीं अन्यत्र मिलती प्रतीत नहीं होती। दिन-रात मरघट में बिताने वाले अघोरियों को वहाँ स्वर्ग-सुख की अनुभूति होती है, जबकि जनसामान्य को उस सन्नाटे की कल्पना से ही रोमांच और भय होने लगता है। स्थान एक ही है; पर परिणाम दो तरह के प्राप्त होते हैं। इसका एकमात्र कारण विरोधी चेतनात्मक स्तर ही है। अघोरी की चेतना उतनी ही निकृष्ट होती है, जितना श्मशान का वातावरण, फलतः दोनों एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं और किसी प्रकार का व्यतिरेक उत्पन्न नहीं होता; किंतु जब कोई सात्विक प्रकृति का व्यक्ति उक्त वातावरण में प्रवेश करता है, तो उसके अपेक्षाकृत परिष्कृत प्राण दूषित प्राण को स्वीकार नहीं कर पाते, जिससे दोनों प्रकार की प्राण-चेतना के बीच एक प्रकार का संघर्ष छिड़ जाता है, जो मानसिक विक्षोभ, घुटन, अवसाद का कारण बनता है।

मनुष्य दिव्यता प्रधान है। जैसे-जैसे अंतराल की परिष्कृति के कारण उसके अंदर इसकी मात्रा बढ़ती है, वैसे-ही-वैसे दिव्य चेतना से संपर्क सधने लगता है। इसकी अनुभूति उसे होने लगती है। जब यह चेतना संपूर्ण रूप में उसके अंदर व्याप जाती है तो उसे ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है। चेतना का अन्तिम आयाम यही है। इसे ही तत्त्वज्ञानियों ने 'तुरीय' एवं मनोविज्ञानियों ने 'सुपर

चेतन' के नाम से पुकारा है। इसी को जगाना, स्वयं को इस अंतिम स्थिति तक पहुँचाना, हम सबका लक्ष्य होना चाहिए। यह सिद्धि हमारे अपने ही अंदर छिपी पड़ी है। कुंजी ढूँढ़ने के लिए ही अध्यात्म के सारे उपचार, उपक्रम नियोजित होते हैं। यही हम सबके लिए श्रेय मार्ग भी है।

देव मानव बनने का आह्वान

नृतत्व वेक्ताओं ने विविध पर्यवेक्षणों और उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आदि मानव वन-मानुष स्तर का था। उसमें पशु-प्रवृत्तियों का ही बाहुल्य था। रहन-सहन और क्रिया-कलाप भी उसी स्तर का था, वह निज का उपार्जन कुछ भी नहीं करता था। प्रकृति के अनुदानों पर पशु-पक्षियों की तरह अपना निर्वाह करता था। प्रगति की दिशा में उसके कुछ चरण और बढ़े तो पुरुषार्थ-परायण हुआ। कृषि, पशुपालन जैसे उद्योग सीखे। वस्त्र, निवास, अग्नि प्रज्वलन जैसी विधि-व्यवस्थाओं से अवगत हो गया। बोलना सीख गया और अपने-अपने समुदायों के प्रथा-प्रचलनों से अभ्यस्त हो गया। भौतिक प्रगति इसी दिशा में गतिशील होती चली आई है। विज्ञान, यंत्रीकरण, अर्थशास्त्र एवं शासन तंत्र की उपलब्धियों के सहारे वह वहाँ पहुँचा है जहाँ आज है। उसके सामने सुविधा-साधनों का बाहुल्य है। यह दूसरी बात है कि अपने व्यक्तित्व को घटिया बनाये रहकर वह उनका सही-समुचित उपयोग न कर सके। मानवी प्रगति का यही लेखा-जोखा है। मनुष्यों में से कुछ उदण्ड, अत्याचारी, छली, आक्रामक, विलासी, अहंकारी बन गये हैं और कुछ को अपनी नासमझी, कुशलता, प्रतिभा के अभाव में गई-गुजरी स्थिति में रहना पड़ रहा है। मनुष्य को बंदर की औलाद इसीलिए कहा जाता है कि उसकी भावना और विचारणा, पेट और प्रजनन के इर्द-गिर्द ही घूमती है। संकीर्ण-स्वार्थपरता ही उसकी प्रकृति है। पेट, प्रजनन के लिए वह मरता-खटता रहता है। बहुत हुआ तो ठाठ-बाट बनाता, हर्ष जताता और आक्रामक बनकर अपनी विशिष्टता सिद्ध करता है। जो इतना नहीं कर पाते, वे परिस्थितियों की प्रतिकूलता और भाग्य की विपरीतता को कोसते हुए दिन गुजारते हैं। मनुष्यों में से अधिकांश इन्हीं आदि मानव, वन मानुष या धूर्त शृंगाल प्रकृति के देखे जाते हैं। जनसंख्या की विपुलता ने न लोगों को निज की गौरव-गरिमा प्रदान की है और न समाज को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने में ही कोई योगदान दिया है। चकाचौंध उत्पन्न करने वाली बिडम्बना तो चारों ओर बिखरी अवश्य दिखाई पड़ती है, पर उसकी परिणति प्रतिक्रियाओं को देखते हुए निराश ही होती है और असमंजस होता है कि जिसे ईश्वर का युवराज, प्राणीवर्ग में शिरोमणि,

देवमानव आदि नामों से सम्मानित किया गया है क्या वह यही है जिसे लोभ, मोह, स्वार्थ, शान, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं।

प्रकृति परायणता की सीमा इतनी ही है। जीवधारी अपने लिए ही जीते हैं। अपनी ही आवश्यकता जुटाते और अपनी ही प्रसन्नता, अनुकूलता संजोने में निरत रहते हैं। प्रकृतिपरायण रहकर मनुष्य भी उसी गई गुजरी मनःस्थिति में रह सकता है जिसमें कि अन्य जीवधारी मरते और मारते हैं, गिरते और गिराते हैं।

मानवी गरिमा का उज्ज्वल स्वरूप विकसित, प्रस्फुटित तब होता है, जब वह उत्कृष्ट आदर्शवादिता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। अपने चिन्तन, चरित्र, व्यवहार और प्रयास को अभिनन्दनीय, अनुकरणीय बनाता है। इसी ढाँचे में उसे ढालने के लिए ऋषियों ने शास्त्रों की रचना की है। अध्यात्म दर्शन का ढाँचा खड़ा हो गया है। योग तप के अनेकानेक विधान बनाये हैं। ईश्वर भक्ति के अनेकानेक उपचार, कर्मकाण्डों का सृजन किया है। इन आत्मोत्कर्ष की अनेकानेक विधि-व्यवस्थाओं का मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य इसी जीवन में स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि प्राप्त करे। यह तीनों ही किसी अन्य लोक से संबंधित या जादू, चमत्कार जैसा नहीं है। वरन् उन्हें व्यक्ति की महानता के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। दृष्टिकोण का परिष्कार ही स्वर्ग है। दुष्प्रवृत्तियों से छूट निकलना, मुक्ति और अभिनन्दनीय स्तर पर जीवनचर्या को बनाये रहना सिद्धि। आत्मोत्कर्ष के लिए इतना करना ही पर्याप्त है। इससे कम में उस प्रयोजनों की पूर्ति होती नहीं। इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ऋषियों, मुनियों, योगियों, तपस्वियों, सिद्ध पुरुषों, महामानवों को इसी आत्मिक प्रगति प्रयास में संलग्न पाया गया है। उनसे आकाशवासी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ किया वह वस्तुतः अपने ही भीतर के देवत्व को जगाने के लिए किया था। शाप और वरदान भीतर से ही उभरते हैं। वे आसमान से नहीं बरसते। मनुष्य को सुनिश्चित रूप से अपने भाग्य का निर्माता कहा गया है। वह इसके लिए प्रबल प्रयास भी करता है। अपने आपको अधिकाधिक पवित्र, परिष्कृत, प्रमाणिक एवं प्रतिभावान बनाता है। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को अपने स्वभाव में सम्मिलित कर लेता है। अन्तःकरण और बाह्यकरण में जब समानरूप से उत्कृष्टता का समावेश हो जाता है तो सामान्य शरीर में रहते हुए भी व्यक्ति देवमानव की गरिमा उपलब्ध कर लेता है। ऐसे लोगों के लिए देवमानव नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। देवता अशरीर होते हैं, इसलिए उनके साथ प्रत्यक्ष घुलन-मिलन

नहीं हो सकता है। पर देवमानवों को सन्त, सुधारक और शहीदों के रूप में प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है। परिचित परिकर में उनकी संख्या कम हो तो भी इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णश्रृंगों से उन्हें जीवन्त, जाज्वल्यमान देखा जा सकता है। ऐसे नर देव-पुरुष पुरुषोत्तम होते तो कम ही हैं पर उनका सर्वत्र अभाव किसी भी युग में नहीं होता। सत्ययुग में ऐसे ही लोगों का बाहुल्य था। भारत भूमि के तैतीस कोटि निवासी संसार भर में तैतीस कोटि देवताओं के नाम से प्रख्यात थे। जिस घरती पर वे जन्मते-पलते थे वह 'स्वर्गादिपि गरीबसी' हो जाती थी। उनके क्रिया-कलाप से वातावरण इतना दिव्य बन जाता था कि उसे सतयुग नाम दिया जाना उपयुक्त ही जँबता था। यह समय लम्बी अवधि तक बना रहा। इनके शरीर भर प्रकृति प्रदत्त थे पर उनके अन्तःकरण में देवत्व कूट-कूट कर भरा था। डिब्बी के भीतर जो वस्तु रखी है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है। जिनकी अन्तरात्मा प्रामाणिकता, शालीनता, सेवा और परमार्थ-परायणता से सराबोर है उन्हें देव-तुल्य ही नहीं वरन् उनसे बढ़कर भी माना जा सकता है। देवता अप्रत्यक्ष होते हैं। मनुहार करने और उपहार देने पर पसीजते हैं। इसके उपरान्त ही उनके अनुदान, वरदान साधकों पर बरसते हैं। किन्तु देवमानवों की कृपा, अनुकम्पा अहैतुकी होती है और बिना याचना की प्रतीक्षा किये मेघमाला की तरह बरसती और बसन्त की तरह शोभा, सुषमा से सर्वत्र उल्लास बखेरती है।

भारत देवभूमि है। स्वर्गलोक के अस्तित्व को चुनौती दिये बिना यह कहा जा सकता है कि उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो ऐसे महामानवों की उपस्थिति अभी भी जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है। सतयुग में तो वे साधु और ब्राह्मण के रूप में एक विकसित समुदाय के रूप में ही इस धरती की शोभा, सुषमा, संस्कृति एवं समृद्धि का संवर्धन करते थे।

आज मनुष्य की व्यक्तिगत और सामूहिक समस्याएँ बेतरह उलझ गई हैं। साधन सामग्री घट गई हो सो बात नहीं। विज्ञान और कौशल ने साधनों का अतिशय विस्तार किया है किन्तु व्यक्तित्व की दृष्टि से समुदाय अतिशय बौना हो गया है। कुछ उत्पीड़क हैं कुछ उत्पीड़ित। कुछ शोषक हैं कुछ शोषित। कुछ पर्वत की चोटी पर बैठे हैं तो कुछ खाई में गिरकर कराह रहे हैं। इस विषमता को समता के रूप में परिणित करने के लिए देवमानवों के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं हो सकता।

पौराणिक कथानकों में अधर्म के उन्मूलन और धर्म के संस्थापन के निमित्त अवतारों का प्रकटीकरण होता रहा

है। इस अलंकारिक प्रतिपादन का व्यावहारिक स्वरूप यह हो सकता है कि प्रामाणिकता और परमार्थ-परायणता के पक्षधर उदारत्वों सामान्य लोगों जैसी गतिविधियों से उबरकर देव प्रयोजनों में जुट जाने का एकाकी सहस्र करते हैं। सद्भावना पूर्वक अपनाई गई उच्चस्तरीय निर्धारणा को पूरी करने में कर्त्ता की अन्तरात्मा और दैवी शक्तियों की अनुकम्पा समान रूप में, संयुक्त रूप से काम करती है और जो परिणाम सामने आते हैं वे चमत्कारी स्तर के होते हैं। परमात्मी, पुरोहितों को ही ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। वस्तुतः वे ही समाज का स्तर, परिस्थितियों का प्रवाह और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण करने के लिए आगे बढ़ते और सफल होकर रहते हैं। समय की पुकार है कि ऐसे उदारचेता उभरें। अपने इर्द-गिर्द के भव-बन्धनों की पकड़ से अपने को उबारें और साथ ही जन-कल्याण की उन प्रवृत्तियों में जुटें जिन्हें प्रकारान्तर से अर्धम का उन्मूलन और धर्म का संस्थापक भी कहा जा सकता है। परिस्थितियों की माँग इतनी प्रबल है कि इससे बच निकलने के लिए कोई बहाना नहीं ढूँढा जाना चाहिए। सतयुग का माहौल बनाने के लिए भावनाशीलों को संकल्पपूर्वक आगे आना चाहिए। आज की परिस्थितियों में इस रीति-नीति को अपनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है।

साधु और ब्राह्मणों को भूसुर-पृथ्वी के देवता कहा जाता है। वे अपनी योग्यता, श्रमशीलता, सम्पदा का न्यूनतम अंश अपने निर्वाह के लिए रखते हैं और शेष को अन्यायों को उठाने, बढ़ाने में खर्च करने के लिए अवसर तलाशते रहते हैं। किसी के निवेदन की प्रतीक्षा नहीं करते। बादलों की तरह बिना बुल्लये ही सर्वत्र पहुँचते हैं और हर किसी को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही देवमानवों की संख्या बढ़ने से धरती का वातावरण स्वर्गोपम बनता है।

लोकसेवियों की जिस जमाने में कमी पड़ती है, उन दिनों विकास का स्तर घट जाता है। जन साधारण का भावनात्मक परिष्कार-दृष्टिकोण का उदात्तीकरण नितान्त आवश्यक है। इस कार्य को वेतनभोगी, विलासी, स्वाधी एवं घटिया स्तर के लोग नहीं कर सकते। भले ही वे क्रिया-कुशल अथवा ऊँचे पदाधिकारी ही क्यों न हों। परामर्श उनका माना जाता है जिनके प्रति सहज ब्रद्धा होती है। यह विभूति किसी को अनायास ही नहीं मिलती। इसके लिए मात्र सेवा-भावना ही उच्चस्तरीय नहीं होनी चाहिए, वरन् चरित्र निष्ठा, आदर्शवादिता भी ऐसी होनी चाहिए, जिसे हर कसौटी पर खरा पाया जा सके और जिसे अनुकरणीय, अभिनन्दनीय ठहराया जा सके।

महामानवों की ढलाई करने वाला

उच्चस्तरीय मनोविज्ञान

सामान्यतया जीवनक्रम की इतिहासी सभ्य-सुविधाओं को अर्चित करने और भोगने में मान ली जाती है। इतने पर भी हर युग में कुछ ऐसे व्यक्ति होते आए हैं जिन्होंने सामान्य से दूर रहने वाले जीवन को असामान्य बनाया। उन्हें इस रूप में जाना कि देखने वाले कठिनाईपूर्वक विश्वास कर सकें कि वह पहले वाला वही साधारण व्यक्ति है, जो अब कतिपय सुशों को अपनाकर असाधारण हो गया है।

बाहर से रूप-रंग-कपड़ा-ढाँचा के आधार पर विवेचन-विश्लेषण करने पर प्रश्नः सभी एक समान दिखाई देते हैं। इतने पर भी निर्विवाद रूप से यह स्वीकारा जाता है कि शंकराचार्य, विवेकानन्द, गाँधी, बुद्ध सरीखे व्यक्ति सामान्य से परे महान थे। कौन सी वह चीज है, जो उनकी महानता का कारण बनी ? शारीरिक ढाँचे में अन्तर तो कोई खास था नहीं। साधन-सुविधाओं की दृष्टि से भी वे बहुत अधिक समुन्नत नहीं कहे जा सकते थे। फिर इन्होंने इसका आश्रय भी नहीं लिया, जिससे कोई यह कह सके कि उनकी ख्याति इन्हीं से फैली हो। फिर वह कारण क्या है ? उत्तर मनोविज्ञान देता है। इस दिशा में प्रगति की ओर बढ़ते कदम इस महानता के रहस्य को बहुत करीब से अनुभव करने लगे हैं। इसमें जुटे हुए, वैज्ञानिकों ने अध्यात्म को 'महामानव ढालने का विज्ञान' कहकर स्वीकारा है। वास्तविकता भी यही है। व्यक्ति की महानता बाह्य परिस्थितियों, साधन-सामग्रियों अथवा किसी वस्तु पर निर्भर नहीं करती। यह तो मानवीय चेतना की एक अवस्था का नाम है, जिसकी प्राप्ति आध्यात्मिक प्रणाली के द्वारा कठने-छँटने-तराशने से ही हो सकती है। कोई भी किसी स्तर का व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव के इसे उपलब्ध कर सकता है।

मनुष्य के चिन्तन, चरित्र, व्यवहार की निर्भरता उसकी आन्तरिक चेतना की स्थिति पर निर्भर है। यदि यही अनगढ़ है, तो फिर जीवन में उत्कृष्टता आए कैसे ? आन्तरिक चेतना को समझते हुए अध्यात्म मनोविज्ञान ने इसे कल्पना, मन, विवेचन बुद्धि, चित्त अचेतन संस्कार और अहं मान्यता कहकर स्पष्ट किया है। यही चार क्षेत्र मिल-जुलकर मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को ऊँचा उठाते या नीचा गिराते हैं। इसी को सुधारने-सँवारने पर जीवन सुधर-सँवर सकता है।

अभी तक इसको सुधारने-सँवारने वाली अध्यात्म विद्या को गुहा विद्या के रूप में जाना-माना जाता था अब

भी इस प्रक्रिया के अस्तित्व से तो इन्कार नहीं किया गया है, पर इसके प्रति मान्यता कुछ ऐसी बन गई थी कि इसका उपयोग कुछ ही व्यक्तियों द्वारा सम्भव है। इसके उपचार भी सार्वजनिक व वैज्ञानिक नहीं हैं, न माने जाते थे। पर ये विगत युगीन मान्यताएँ अब समाप्त प्रायः हो गई हैं। आज अध्यात्म एक सशक्त उच्चस्तरीय मनोविज्ञान के रूप में सामने उभरकर आ गया है।

आधुनिक समय में मनोविज्ञान सिर्फ शरीर व मन तक सीमित नहीं रहा। इसका उपयोग न केवल गड़बड़ियों को ठीक करने में रहा, बल्कि इसकी और भी गति हुई कि अनगढ़ को सुगढ़ और सुगढ़ को और अधिक स्वरूपवान कैसे बनाया जाय? अध्यात्म के सूत्र-सिद्धान्तों को वैज्ञानिकता की कसौटी पर खरा साबित करने वालों के लिए कई धाराएँ हैं। इनमें से “वृद्धि मनोविज्ञान” प्रमुख है। जिसका विवेचन जी० डब्लू० आलपोर्ट की “दि कोर्स ऑफ बिकमिंग” सी० आर० राजर्स की “टूवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ क्रिएटिविटी एण्ड इट्स कल्टीवेशन” आदि में मिलता है। इनके अतिरिक्त फ्रैंकल, इरा प्रोगाफ आदि ने एक अन्य धारा विकसित की है जिसे उन्होंने “आर्थो साइकोलॉजी” नाम दिया है। इसी तरह राबर्टी असागिओली ने साइको सिंथेसिस नामक पद्धति विकसित की है। इन सभी धाराओं का “समूह मनोविज्ञान” के क्षेत्र में तीसरी शक्ति के रूप में विख्यात हुआ है। कुछ ने इसे मनोविज्ञान के आध्यात्मिकरण की संज्ञा दी है।

प्रश्न नाम का नहीं है। सवाल यह है कि अध्यात्म के सूत्रों, तकनीकों, प्रक्रियाओं के वैज्ञानिकता की कसौटी पर खरे उतरने मात्र से ही क्या मानव जाति अपनी विस्मृत सम्पदा को फिर से पहचान सकेगी?

मनोविज्ञान के समूचे खजाने में दो चीजें भरी हैं—सूत्र और तकनीक। सूत्रों में स्थिति का विवेचन होने के साथ तकनीकों के संकेत हैं। तकनीकों द्वारा स्थिति को ठीक करने के प्रयास किए जाते रहे। सारी पद्धति का एक ही उद्देश्य था कि रोगी को नीरोग कैसे किया जाय। अध्यात्म मनोविज्ञान न सिर्फ मानसिक परेशानियों से छुटकारा दिलाता है बल्कि उससे एक कदम और आगे बढ़कर महानता को उपलब्ध करने, जीवन को गरिमापूर्ण बनाने का राज खोलता है।

बात सही भी है, हमारे अन्तराल (चित्त) की पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। पहली में आंतरिक स्थिति हमेशा चलायमान रहती है परिणामस्वरूप चिन्तन व व्यवहार भी अस्थिर होता है। सामान्यतया इस स्थिति में छोटे बच्चे रहते हैं, पर

कभी-कभी बड़ों में इसकी उपस्थिति रहने पर उनमें बचकानेपन के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। मूढ़ स्थिति जड़ता अथवा पागलपन की दशा है। इसमें समूचा जीवन-क्रम नष्टप्राय होता है। तीसरी स्थिति औसत व्यक्ति की है। कभी दुःखी, कभी सुखी, कभी हैरान-परेशान, कभी प्रफुल्ल-प्रसन्न। ऐसी दशा में मनुष्य साधारण सोच-विचार वाला प्राणी भर होता है। अन्तराल की गहराइयों में दिव्य क्षमताओं, शक्तियों का जो खजाना दबा छिपा है वह प्रकाश में नहीं आता। परिणामस्वरूप इस अमूल्य धन के रहते भी वह उस क्षेत्र में निर्धन-कंगाल सी जिन्दगी गुजारता रहता है।

अध्यात्म की वैज्ञानिक प्रणाली इस स्थिति से आगे बढ़ने और स्वयं में निहित महानता को उजागर करने का मार्ग सुझाती है। यों तो इसके लिए बताई गई तकनीकों की संख्या सैकड़ों, हजारों में है, पर सामान्यजन इनमें से जप, ध्यान, प्राणायाम आदि उपचारों से ही थोड़ा-बहुत परिचित हैं। यद्यपि इनमें से हर एक के कई-कई प्रकार हैं। व्यक्ति की स्थिति के अनुरूप इनमें से किसी उपयुक्त प्रकार का अवलम्बन मन को एकाग्र स्थिति में ले जा सकता है। सारे अन्वेषण महत्वपूर्ण कार्य इसी स्थिति में सम्पन्न होते हैं। विभूतियों, महानताओं का दरवाजा इसी दशा में खुलना शुरू होता है। इस तत्व को स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि संसार का हर महान व्यक्ति किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक रहा है भले ही वह इसके बारे में स्वयं पूरी तरह अवगत न हो।

आध्यात्मिकता और महानता परस्पर समानुपाती हैं। एक जितनी मात्रा में आयेगी दूसरी भी उतनी ही मात्रा में पनपेगी। बढ़ी हुई एकाग्रता-पवित्रता के साथ मिलकर एक नया सोपान पाती है निरुद्ध अवस्था का। यह मनुष्य की महानतम स्थिति है। अन्तराल के इसी विकास को उपलब्ध कर वह मानव से महामानव बनता है।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० इन्द्रसेन ने अपने शोध अध्ययन “इन्टीग्रल साइकोलाजी” में “अध्यात्म विज्ञान” को पूर्ण मनोविज्ञान का नाम दिया है। तथ्यतः यह बात ठीक भी है। मनोविज्ञान की पूर्णता और अध्यात्म की वैज्ञानिकता इसी बिन्दु पर आकर मिलती है। विभिन्न प्रयोगों द्वारा इसके परिणामों को जाँचा-परखा और खरा पाया गया है। इस विज्ञान का व्यापक स्तर पर प्रसार ही व्यक्तिगत स्तर पर मनुष्य में देवत्व का उदय और सामाजिक स्तर पर धरती पर स्वर्ग के अवतरण में सहायक सिद्ध हो सकेगा।

मानवीय चेतना के परिष्कार और उसके महामानव स्तर तक के उन्नयन का ठीक और सही समय यही है। इस तरह के ढले व गढ़े गए व्यक्ति प्रारम्भ में संख्या की दृष्टि से कम हों तो कोई बात नहीं। बुद्ध, अरविंद जैसे महामानव पहले भी कम ही हुए हैं, पर उन्होंने अपनी महानता के बल पर अनेकों को दिशा दी। ऋषि युग में मूर्धन्य सप्त ऋषियों की ही गणना की गई, पर यह नहीं समझना चाहिए कि उनके अलावा और उच्चस्तरीय प्रतिभाएँ तब नहीं थीं। इन दिनों भी जरूरत इसी बात की है कि मानवी गरिमा को निकृष्टता के दलदल में से उबारा तथा आत्मिक दृष्टि से उच्च शिखर तक पहुँचा दिया जाय।

हम सभी के अन्तराल में दिव्य क्षमताओं का खजाना भरा पड़ा है। इसे निकालने के लिए स्वयं के जीवन में अध्यात्म, मनोविज्ञान को अविच्छिन्न रूप से समाविष्ट करना होगा। ऐसा करने पर क्रान्तिकारी परिवर्तन होने संभव नहीं, सरल भी हैं। यदि हम इस उच्चतर मनोविज्ञान की तकनीकों का अवलम्बन लेकर स्वयं की चेतना को परिष्कृत करने के निमित्त तत्पर हो सकें। गुण, कर्म, स्वभाव को अपनी गरिमा के अनुरूप ढाल सकें, तो जीवन उत्कृष्ट, समुन्नत, प्रखर बन सकेगा यही देवत्व है। इन विशेषताओं और विभूतियों से मानवी अन्तराल भरा पड़ा है। उसे निखारने और उभारने भर की जरूरत है। अध्यात्म की वैज्ञानिक तकनीकों के द्वारा इसे सरलतापूर्वक सम्पन्न कर सकना हम में से प्रत्येक के लिए सम्भव है।

महामानवों की मनोवैज्ञानिक व

आध्यात्मिक “एनाटॉमी”

मनःस्थिति परिस्थितियों की जन्मदात्री है। मनुष्य के सुख-दुःख, विकास अथवा पतन के लिए मुख्यतः वही जिम्मेदार है। परिस्थितियों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता तो है पर मनुष्य की प्रगति-अवगति में उनकी नगण्य भूमिका है। मूलतः कारण आन्तरिक स्थिति ही होती है। मन की विलक्षण सामर्थ्य और सम्भावनाओं को देखकर ही ऋषियों ने उसे व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष घटकों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना था तथा यहाँ तक कहा था कि मनुष्य का मन ही उसके बन्धन अथवा मुक्ति का कारण है।

प्रगति की आकांक्षा रखने तथा महानता का मार्ग चयन करने वालों को सर्वप्रथम मन को ही समझना, सँभालना तथा सुधारना पड़ता है। अनगढ़ रहने पर वह अड़ियल घोड़े की तरह परेशान करता तथा विकास का मार्ग अवरुद्ध करता है। सुगढ़ता प्राप्त करते ही वह सधे घोड़े के समान सवारी ढोने, भार लादने की तरह

इच्छाओं, आकांक्षाओं का सही नियोजन तथा पूर्ण मनोयोग का परिचय देकर अनेकों प्रकार का सहयोग देता है। उसका स्तर निकृष्ट हो तो पतन-पराभव का मार्ग स्वयमेव ही खुल जाता है। अनियन्त्रित, निरुद्देश्य इच्छाएँ हवा के साथ उड़ने वाले तिनकों की भाँति भटकती रहती हैं। उनसे कोई विशेष प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता।

श्रेयस् का पथ अपनाने तथा महानता का वरण करने की जिन्हें आकांक्षा है, उन्हें साधनात्मक प्रयत्न करना जितना आवश्यक है, उतना ही जरूरी यह भी है कि मन को सही दिशा दे। इच्छाओं-आकांक्षाओं का सही स्वरूप समझें ताकि उनमें से उचित का ही वरण कर सकें। श्रेयस् के पथिक को लक्ष्य ही नहीं अपने चिन्तन का स्वरूप भी निर्धारित करना पड़ता है। कारण कि उत्कृष्ट जीवन की ओर चलने में सर्वाधिक सहायक अथवा बाधक अपना चिन्तन एवं दृष्टिकोण ही होता है।

फ्रायड से अलग हटकर मनुष्य के विकास की असीम संभावनाओं पर दृढ़ विश्वास रखने वाले मनःशास्त्री अब्राहम मैस्लो का कहना है कि व्यक्तित्व विकास के लिए एक विशिष्ट तरह की चिन्तन पद्धति भी अपनानी पड़ती है। मैस्लो ने परमार्थ-परायण महापुरुषों के चिन्तन एवं दृष्टिकोण का मनःशास्त्र के आधार पर विश्लेषण किया है। उन्होंने उस आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे अति उपयोगी तथा हर व्यक्ति का मार्गदर्शन करने में सक्षम हैं।

मैस्लो के अनुसार श्रेष्ठ व्यक्ति सहज स्वभाव के होते हैं। उनमें कृत्रिमता का अभाव पाया जाता है। बाहर और भीतर से एक जैसे होते हैं। उनकी भावना, विचारणा एवं क्रिया तीनों ही में एकरूपता पायी जाती है। जैसा विचार करते हैं, हृदय में वैसे ही भाव उठते हैं तथा व्यवहार में उसी स्तर के कृत्य करते हैं। उनका स्वभाव स्वतन्त्र होता है उनकी बुद्धि प्रगतिशीलता की, श्रेष्ठ प्रयोजनों की पक्षधर होती है। इसका अर्थ मर्यादाहीन होना कदापि नहीं है। इस स्वतन्त्रता का अभिप्राय कुरीतियों एवं रूढ़ियों के बन्धनों से मुक्त हो, दूसरों को वैसा ही बनाने में सहायक सिद्ध होना है। विचारों की संकीर्णता भी उन्हें नहीं रुचती। नित नए प्रगतिशील विचारों का आह्वान करना उनकी विशेषता होती है। समाज एवं देश को वे उपयोगी विचार देते हैं साथ ही अनुपयोगी के खण्डन में भी वे पीछे नहीं रहते। मौलिकता उनमें कूट-कूट कर भरी होती है। अभ्यानुकरण को वे पिछड़ेपन का चिन्ह मानते तथा उससे सदा बचते हैं। अपनी राह स्वयं बनाते तथा बिना किसी की परवाह किए चल पड़ते हैं। अपने मार्ग में आने वाले संघर्षों से विचलित होना उन्हें नहीं भाता।

इस मनःशास्त्री के अनुसार ऐसे व्यक्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं को सर्वोच्च मानते तथा उन्हें पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, जिनमें समाज, देश एवं जाति का हित जुड़ा हो। उनका अहम् विराट में विस्तारित हो जाता है। अपने 'स्व' तथा उसके जुड़ी कामनाओं पर उनका कड़ा अंकुश रहता है। प्रसिद्ध विचारक कैटन शोटोबर का कहना है कि "हमारी संसार में रुचि तभी होती है, जब हमारी रुचि स्वयं में से परितृप्त होकर बाहर निकलने लगे।" प्रक्रान्तर से वह भी कहा जा सकता है कि अपनी इच्छाओं को विगलित किए बिना समाज एवं संसार की सेवा सम्भव नहीं।

मैस्लो की अवधारणा है कि सभी परमार्थी रचनात्मक प्रवृत्ति के होते हैं। उनमें कलात्मक, वैचारिक तथा वैज्ञानिक स्तर की विशिष्टताएँ समायी रहती हैं। यही कारण कि उनके जीवन में एकरूपता का अभाव नहीं होता। एक ही वस्तु को सदा नए-नए रूप में देखते रहने से उसमें नवापन भासित होता है। जबकि सामान्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण में वह विशिष्टता नहीं पायी जाती।

'न्यू पाथवेज इन साइकोलॉजी' के रचनाकार कोलिन विल्सन ने अपनी पुस्तक में मैस्लो के चिन्तन का निष्कर्ष दिया है। 'सामान्य लोगों की तुलना में महान्मनों का अधिक प्रसन्नचित एवं प्रफुल्लित रहना उनके सन्तुलित एवं परिष्कृत दृष्टिकोण का परिणाम है। ऐसे व्यक्ति वास्तविक, अवास्तविक में बिभेद करने तथा औचित्य को ग्रहण करने में परिपूर्ण सम्मता रखते हैं। ऐसी समर्थ ग्राह्य क्षमता उनमें हर क्षेत्र में विद्यमान होती है।'

इसी पुस्तक में मैस्लो का कथन है कि स्नेह, सौजन्य की भावना अपेक्षाकृत अन्य लोगों के, महापुरुषों में अधिक होती है। उनका अन्तराल स्नेह, प्रेम, करुणा, दया से लबालब रहता है। उनके पास न तो बैर फटकता है न ही घृणा। एकान्त एवं शांतिप्रिय स्वभाव के ये पुरुष सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाओं का पालन करते तथा सहनशक्ति एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति अपनाते हैं। उनके स्वभाव में उथलापन, दूसरों की निन्दा, उपहास का दोष नहीं पाया जाता। उनका स्वभाव दूसरों को उठाने का होता है, गिराने का नहीं। चिन्ता, भय, परेशानी, संकटों की कंटकाकीर्ण परिस्थितियों के मध्य भी उनका धैर्य एवं संतुलन लुप्त नहीं होता। चिन्तन की धारा निषेध की उल्टी तरफ न बहकर विषेयत्मक मार्ग अपनाती है।

मनःशास्त्र के अध्येता मैस्लो ने सिगमण्ड फ्रायड की इस मान्यता का भी खण्डन किया है कि प्रत्येक मनुष्य की गतिविधियाँ यौन अभिप्रेरित हैं। उनका मानना है कि संसार में ऐसे अनेकों सन्त, महापुरुष हुए हैं जिनका

अचरण यौन प्रवृत्ति से पूर्णतया ऊपर उठा हुआ था। उनका यौन प्रवृत्ति पर पूर्ण नियन्त्रण था। वे किसी ऊँचे लक्ष्य से प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त करते थे। सुप्रसिद्ध मनःशास्त्री गोल्डस्टीन मैकडुगल तथा कार्ल गुस्तेव जुंग ने भी मैस्लो की इस कल्पना का समर्थन करते हुए कहा है। सेक्स से भी श्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ मनुष्य में पायी जाती हैं। समाज, देश एवं संस्कृति के लिए सर्वस्व उत्सर्ग करने वाले तत्त्वही, बलिदानी महापुरुषों का जीवन-चरित्र इस बात का साक्ष्य है। स्नेह, प्यार का उच्चस्तरीय आदर्शों के प्रति अटूट निष्ठा का विलक्षण सैलाब उनके हृदय में उमड़ता देखा गया है। देश की बलिवेदी पर मर मिटने वाले बलिदानियों, समाज के उत्थान के लिए जीवन होम देने वाले समाज-सेवियों, आविष्कार में एकनिष्ठ होकर जुटे वैज्ञानिकों की प्रेरक शक्ति सेक्स नहीं अपितु वह महानता होती है, जो उनके भीतर से प्रस्फुटित होती तथा कुछ विशेष प्रचलित ढर्रे से अलग हटकर कुछ करने को अभिप्रेरित करती है।

मनोविज्ञान के आधार पर समाज के नवनिर्माण की विचारधारा अब्राहम मैस्लो ने अपनी पुस्तक 'यूप साइकियन मैनेजमेन्ट' में व्यक्त की है। प्रगतिशील विचार के समर्थकों ने इस पुस्तक की तुलना अर्यशास्त्र एवं समाजशास्त्र की मूर्धन्य प्रतिष्ठा बर्ल मावर्स की सुप्रसिद्ध कृति 'डॉस कैपिटल' से की है। इस पुस्तक में मैस्लो ने महान्मनों का वर्ण करने के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव भी दिए हैं। उनके अनुसार लक्ष्य निर्धारित कर लेने के उपरान्त मनुष्य को कार्यों में छोटे- बड़े का भेदभाव नहीं करे, उनका स्तर श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करना चाहिए। प्रायः ऊब, नीरसता, अकर्मण्यता का कारण वह चिन्तन है, जिसमें मनुष्य के कर्म को छोटा मानकर उनमें रस नहीं लेता। सामान्य और असामान्य व्यक्तियों में मौलिक अन्तर यह पाया जाता है कि सामान्य व्यक्ति जिस कर्म को छोटा मानकर उपेक्षा कर देते अथवा उसे करने में मनोयोग का परिचय नहीं देते, महापुरुष उनमें भी पूरी तल्लीनता, मनोयोग से जुटे दिखाई पड़ते हैं। वे काम के प्रतिफल पर नहीं उसके स्तर पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं। यह असाधारण मनोयोग ही अन्ततः श्रेष्ठ परिणामों का भी कारण बनता है।

मूर्धन्य मनःशास्त्री मैस्लो ने उपर्युक्त विचारों में महानता के सिद्धान्तों एवं महापुरुषों की जिन विशिष्टताओं को निरूपित किया है, वे शाश्वत हैं। अध्यात्मवेत्ता भी इसी जीवनदर्शन का समर्थन विविध माध्यमों से समय-समय पर करते देखे जाते हैं। इन्हें चर्चा, श्रवण, अध्ययन तक सीमित न रखकर सचमुच आचरण व्यवहार में उतारने के लिए कटिबद्ध हुआ जा सके तो देखते ही

देखते सामान्य मानव से महत्मानव की स्थिति में जा पहुँचने का सौभाग्य इसी जीवन में हर किसी को मिल सकता है।

अंतःकरण ही अस्तविक भाग्य

निर्माता है

आधुनिक तकनीकी युग में व्यक्ति के मानसिक-बौद्धिक स्तर का विकास तो हुआ है, पर अंतःकरण के गई-गुजरी स्थिति में पड़े रहने के कारण वह अनेकानेक प्रकार की समस्याओं में उलझा असहाय-अपंगों की तरह बेचैन दिखाई पड़ता है। जबकि मानवी अंतराल में शक्तियों का विपुल भांडागार भरा पड़ा है, पर मानसिक दुर्बलताओं के फलस्वरूप वह आत्मानुभव तथा अतिमानवी क्षमताओं का विकास नहीं कर पाता परिणामस्वरूप तृप्ति, तुष्टि और शांति से वंचित रहता है। आत्मोत्कर्ष की उपलब्धि एवं आत्मिक क्षुधा की निवृत्ति के लिए ही ऋषि, मनीषियों ने विविध-विधि योग-साधनाओं और तपश्चर्या का अविष्कार किया और परामर्श दिया है कि अंतःकरण की भाव संवेदना को-उत्कृष्टता को जगाया-बढ़ाया जाय, कारण कि व्यक्तित्व के समग्र विकास की जड़ें अंतःकरण की गहराई में ही विद्यमान हैं। नर से नारायण बनने का उद्गम स्थल यही है। ऋद्धि-सिद्धियों के भंडार इसी की तिजोरी में बंद हैं। इसे ही विकसित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यों तो व्यक्तित्व के विकास में कई तथ्यों का समावेश रहता है। इनमें एक शरीर में जीवनी-शक्ति का प्रकटीकरण भी है जिससे वह दृष्ट-पुष्ट सुडौल-नीरोग एवं सुन्दर, आकर्षक बना रहे। आशा और उमंग मन में भरी रहे। उत्साह और साहस का स्वभाव में समावेश हो, हँसने-मुस्कुराने की आदत हो तो व्यक्ति की आकृति-प्रकृति में उच्चस्तरीय आकर्षण का विकास होता है, भले ही उसकी बनावट में कुरूपता का ही बाहुल्य क्यों न हो। चेहरा मनःस्थिति का प्रतिबिंब है। निश्छल, भोले-भाले सज्जन और चरित्रवान व्यक्ति अपनी विशेषता अनायास भी प्रकट करते रहते हैं। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की भी है जिससे व्यक्ति की भाव-भंगिमा, शिष्टता एवं कार्य-पद्धति को देखते ही यह पता लग सके कि वह कितने पानी में है। अपने को प्रतिभावान बनाने के लिए शरीर और मन को इस प्रकार ढाला जाना चाहिए कि वह सौंदर्य, सज्जा, शिष्टता, कौशल आदि के अभाव में भी अपनी विशिष्टता का परिचय दे सके। इसमें आदर्शवादी अवलंबनों को ग्रहण करना ही अधिक प्रतिभा को विकसित करने की भूमिका निभाता है।

शालीमता व्यक्तित्व को दृक्मंदार बनाने की दूसरी शर्त है। इसी सत्प्रवृत्ति को सञ्जनता, शिष्टता, सभ्यता, सुसंस्कारिता आदि नामों से पुष्करते हैं। यह गुण, कर्म, स्वभाव में इतनी गहराई तक घुली रहती है कि किसी के पास कुछ समय बैठने, उसे सुनने-समझने का अवसर मिलने, निकट से रहन-सहन और स्वभाव-स्ववृत्त पर थोड़ी सी दृष्टि डालने भर से घटा चल ज्ञाता है कि बचकानापन किस मात्रा में घट गया और वजनदार व्यक्तियों में पायी जाने वाली विशेषताओं का कितना उद्भव-समावेश हो गया।

व्यक्तित्व विकास की सबसे महत्वपूर्ण परत अपना अंतःकरण है। इसकी महत्ता को पाश्चात्य मनीषियों ने भी स्वीकार किया है। प्रख्यात मनोवेत्ता जुंग ने अंतःकरण की ऊर्जा 'लिविडो' की महत्ता समझने-समझाने का भरपूर प्रयत्न-प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं 'कि न जाने क्यों यह तथ्य बुद्धिमानों के गले नहीं उतरता कि वे मस्तिष्कीय चमत्कारों की तुलना में कहीं अधिक विभूतियाँ अंतःकरण को विकसित एवं क्रियान्वित करते हुए प्राप्त कर सकते हैं। अंतःकरण को यदि उच्चस्तरीय बनाया जा सके तो फिर कहीं किसी चीज की कमी नहीं रहेगी और तब अपने-पराये का भेद भी समाप्त हो जायगा।'

अंतःकरण के व्यापक विकास में किन-किन साधनों की आवश्यकता पड़ेगी ? क्या साधन जुटाने पड़ेंगे ? यह सोचते समय एक विशेष बात का ध्यान रखना होगा कि आत्मिक क्षेत्र की सबसे बड़ी प्यास उस घनिष्टता-आत्मीयता की होती है, जिसे व्यवहार में सद्भाव-सम्पन्न मैत्री कहते हैं। पुरातन भाषा में इसी को अमृत कहते थे। अंतरंग प्रेम को ईश्वर-भक्ति और बहिरंग प्रेम को उदार मेवा साधना कहा जाता रहा है। बहिरंग प्रेम पारिवारिक और सामाजिक जीवन में उगाया-बढ़ाया जाता है तो ईश्वर-भक्ति अर्थात् अंतःकरण के विकास के लिए अध्यात्मपरक साधना उपचारों का सहारा लिया जाता है।

महर्षि अरविंद कहते हैं कि सामान्य मनुष्य का व्यक्तित्व अनेकों जाल-जंजालों से बना हुआ अच्छा-खासा तमाशा होता है। उसमें कुसंस्कारों, निकृष्ट अभिलाषाओं और उफनते उद्वेगों की भरमार होती है। ऐसे लोगों के लिए न तो एकत्र होते बन पड़ता है और न अंतर्मुखी होने की स्थिति आती है। ऐसे लोग वस्तुओं की माँग, परिस्थितियों की शिकस्त और साथियों पर आश्रय करते-करते ही दिन गुजारते हैं। उन्हें यह सूझता ही नहीं कि अंतराल में विकृति भर जाने से ही अनेकानेक विपन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। इस विषम स्थिति से छूटना

कठिन नहीं है। मकड़ी की तरह स्वयं अपने हाथों बुने जाले को समेटने का साहस किया जा सके तो मुक्ति का आनंद ले सकना हर स्थिति के व्यक्ति को भी सरल हो सकता है।

मनःशास्त्री भी अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्तित्व की उत्कृष्टता-निकृष्टता का केन्द्रबिंदु मनुष्य के अंतराल का स्तर ही है। मनःसंस्थान के इस सबसे गहरी-अंतिम परत को 'सुपर चेतन' कहा गया है। 'सुपर' इसलिए कि उसकी मूल प्रवृत्ति मात्र उत्कृष्टता से ही भरपूर है। उसे यदि अपने वास्तविक स्वरूप में रहने दिया जाय, अवांछनीयताओं के घेरे में जकड़ा न जाय, तो वहाँ से अनायास ही ऊँचे उठने-आगे बढ़ने की ऐसी प्रेरणा मिलेगी जिन्हें आदर्शवादी या उच्चस्तरीय ही कहा जा सके। प्रकारांतर से 'सुपर चेतन' को ईश्वर के समतुल्य ही माना जा सकता है। वेदांत दर्शन में अयमात्मा ब्रह्म, 'प्रज्ञानब्रह्म', 'चिदानन्दोऽहम्', 'शिवोऽहम्' 'तत्त्वमसि', आदि सूत्रों में जिस सत्ता को परमतत्त्व परमात्मा माना है वह परिष्कृत अंतःकरण ही है। उसी को विज्ञान की भाषा में 'सुपर चेतन' कहते हैं।

अंतःकरण की इसी गहन परत को विकसित करने के लिए भक्तियोग का आश्रय लिया जाता है। कर्म योग से शरीर, ज्ञान योग से मस्तिष्क और भक्ति योग से अंतःकरण की साधना की जाती है। अंतःकरण को ब्रह्मा, मनःसंस्थान को विष्णु और काय-कलेवर को रुद्र की उपमा दी गयी है। यही तीनों व्यक्तिगत त्रिदेव हैं जिनके वरदान-अभिशाप पर उत्थान-पतन की सारी संभावनायें अवलंबित हैं।

अध्यात्मवेत्ता अंतःकरण को कहीं अधिक महत्व देते हैं और उसे मनःसंस्थान से कहीं अधिक उच्चस्तरीय मानते हैं। कार्य-कौशल से लोक व्यवहार बनता है। बुद्धि वैभव से उपयुक्त निर्णय होते हैं, किंतु अंतःकरण तो समूचे व्यक्तित्व का ही अधिष्ठाता है। उसकी परिष्कृत स्थिति ही सामान्य स्थिति के मनुष्य को महामानव, अतिमानव, ऋषि, देवात्मा, देवदूत स्तर तक पहुँचाने में समर्थ होती है। अपने ही भीतर विद्यमान इस देवलोक का माहात्म्य ऋषि-मनीषी सदा से ही बताते और उसकी अनुकंपा उपलब्ध करके जीवन लाभ लेने वाले विभिन्न प्रतिपादनों द्वारा समझाते रहे हैं। सिद्धांत और प्रयोग दोनों ही इस प्रयोजनों के लिए उनसे गढ़े-परखे और प्रचलित किये हैं।

वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में अब भौतिकवादी, समाजशास्त्री, तत्त्वविज्ञानी, नीतिशास्त्री, मनोविज्ञानी सभी इस मिले-जुले निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि पतन-पराभव से

छूटने और वरिष्ठता, उत्कृष्टता उपलब्ध करने के लिए 'सुपर चेतन' की अर्थात् अंतःकरण की उच्चस्तरीय परतें खोजी-कुदेदी जानी चाहिए। परामनोविज्ञान, मेटाफिजिक्स आदि माध्यमों से भी पिछले दिनों मनःसंस्थान की अचेतन परतों की महत्ता बखानी जाती रही है और उसे जगाने-उभारने के लिए तरह-तरह के प्रयोगों की चर्चा होती रही है। दूरदर्शन, दूरश्रवण, विचार संचालन, प्राणप्रत्यावर्तन, भविष्यज्ञान जैसी कितनी ही अतीन्द्रिय क्षमतायें इस संदर्भ में खोजी और परखी गयी हैं। इस दिशा में प्रयास चालू रखते हुए भी मूर्धन्य स्तर के मनीषी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि अचेतन से भी असंख्य गुनी उच्चस्तरीय संभावनाओं से भरे-पूरे 'सुपर चेतन' को नये सिरे से समझा-खोजा और उसके अभ्युदय का अभिनव प्रयास किया जाय। वे मानने लगे हैं कि अंतःक्षेत्र की उपलब्धियाँ व्यक्ति और समाज में उच्चस्तरीय परंपराओं का समावेश और नये युग का नया सूत्रपात कर सकने में समर्थ हो सकती हैं।

'साइकोलॉजी ऑफ इन्ड्यूरान' नामक अपनी कृति में प्रख्यात मनोवैज्ञानिक एमिली मारकाल्ट ने अंतःकरण की चर्चा करते हुए कहा है—“यह शरीर एवं व्यक्तित्व की चेतना का अतिसूक्ष्म एवं उच्चस्तरीय भाग है। ज्ञानेन्द्रियों और तर्क बुद्धि से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समाधान उच्चचेतन मन की सहायता से मिल सकता है। इस तंत्र को उजागर कर लेने का अर्थ है, एक ऐसे देवता का साथ पा लेना जो उपयोगी सलाह ही नहीं देता, वरन् महत्वपूर्ण सहायता भी करता है। यही वह क्षेत्र है जहाँ से आदर्शवादी प्रेरणा में एवं उमंगें उभरती और मानव को महामानव बनाने में सहायता करती है।”

सुप्रसिद्ध मनीषी मार्टिन ट्रिन्बी ने लिखा है “विचार बुद्धि की उपयोगिता कितनी ही क्यों न हो, पर वह रहेगी अपर्याप्त ही। चेतना की पूर्णता का केन्द्र मस्तिष्क नहीं, अंतःकरण है। अब तक प्रकृति को खोजा, पाया और उसका दोहन किया गया है, परंतु अब परमात्मा की खोज और उसके पाने की बारी है। ऐसा संपर्क साधने के लिए एकमात्र स्थान मानवी अंतःकरण है। सहायता इसी केन्द्र में बसती है।” हेनरी गाल्डर ने अपने ग्रंथ “एवोल्यूशन एण्ड मैन्स प्लेस इन नेचर” में इसी केन्द्र की विशालता को और अधिक गहरा बनाने पर जोर दिया है। उनका कहना है कि वस्तुओं का लाभ जिसे उठाना है, उसकी अंतःचेतना यदि निकृष्टतापरायण रही तो संपदा का दुरुपयोग ही होगा। संपदा कितनी ही क्यों न बढ़े, पर यह ध्यान तो रहे कि उपभोक्ता की गरिमा ही साधनों का सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकती है।

जिस तरह परमाणु का ऊर्जा केन्द्र 'न्यूक्लियस' को माना जाता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की स्थिति और संभावनाओं का केन्द्र-बिन्दु उसके अंतःकरण-अंतराल को समझा जा सकता है। यहीं से मनःसंस्थान को निर्देश मिलता है और वह एक अच्छे सेवक की तरह वैसा ही सोचना आरंभ कर देता है जिससे कि आकांक्षा की पूर्ति संभव हो सके। मन की सोचने की दिशाधारा पूर्णतया अंतःकरण के संकेतों के ऊपर निर्भर है। वह तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण इसी स्तर के दृढ़ता और क्रमबद्ध करता है जिससे अपने अधिष्ठाता अंतःकरण की इच्छा पूर्ण हो सके। इसके लिए वह चिंतन तंत्र को ही नियोजित नहीं करता है, वरन् शरीर-वाहन को भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित करता है। अंतःकरण का आदेश मन मानता है और मन के इशारे पर चलने वाला शरीर स्वामी-भक्त सेवक की भूमिका निभाने लगता है। इसमें उसे भला-बुला सोचने या किसी प्रकार का ननुच करने की भी इच्छा नहीं होती। संक्षेप में अंतराल को ही मनःसंस्थान और काय-कलेवर का सूत्रधार कह सकते हैं। जो किया और सोचा जाता है उस समूचे क्रिया तंत्र का अधिष्ठाता अंतःकरण को ही कहा, माना जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी।

मनोविज्ञान की भाषा में अंतःकरण को ही 'सुपर चेतन' कहा गया है। अध्यात्मशास्त्र में इसी अंतराल को जीवात्मा का निवास-स्थान कहा गया है। मनुष्य की व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने और उस पर अनुग्रह बरसाने वाला-वरदान देने वाला जो ईश्वर है और जो हर व्यक्ति के साथ रहता है वह इसी अंतःकरण में बसता है। उसी की अनुकूलता-अनुकंपा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना, मंत्र, जप, अनुष्ठान से लेकर तप एवं योग साधनाओं का सृजन हुआ है। अंतःकरण ही मनुष्य का भाग्य-विधाता है। इस क्षेत्र को उच्चस्तरीय भाव संवेदनाओं, आस्थाओं, आकांक्षाओं से अनुप्राणित करने पर ही व्यक्ति और समाज को वर्तमान से उबारा और उज्ज्वल भविष्य के निकट पहुँचाया जा सकता है।

अन्तःकरण पवित्र भावों से

अनुप्राणित हो

दुष्कर्मों से मनुष्य के अन्तःकरण में अशांति, असन्तोष एवं विक्षोभ पैदा होता है। अनेक सफलताओं के बावजूद भी आत्मग्लानि के कारण उसे आन्तरिक सुख नहीं मिलता। बाहर से व्यक्ति को सफल और सम्पन्न माना जाता है, पर वस्तुतः उसकी आन्तरिक स्थिति असफल और दुखी ही बनी रहती है। इसलिए दुष्कर्मों से

चाहे कितनी ही बड़ी सफलता मिलती हो, उन्हें घृणास्पद मानना चाहिए। बुरे कर्मों के फल कभी भी सुखकारी नहीं हो सकते।

शुभ कर्मों में वह शक्ति है, जिससे मनुष्य अल्प साधनों में भी सुख-शान्ति और सन्तोषपूर्वक जीवन का आनन्द भोग सके। सांसारिक सफलताएँ भले ही न मिलें पर उस व्यक्ति का मनोबल, आत्मबल इतना ऊँचा होगा कि उसे किसी बात का अभाव महसूस न होगा, उसके जीवन में मस्ती होगी, वह निर्भय होगा, स्वावलम्बी होगा, अनेकों औरों का मार्ग-दर्शन कर रहा होगा।

शुभ कामों का शुभ फल अनिवार्य है, पर यदि उसका सम्पादन आत्म-प्रशंसा के लिए हुआ तो फल में वह स्वच्छता स्थिति न रहेगी जिससे आन्तरिक शक्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। यह बुराई अब सामान्य सी हो गई है। अच्छे कर्म अब केवल दिखावे के लिए ही होते हैं। एक तो उनका अभाव ही मनुष्य जीवन को छल रहा है उस पर जहाँ-जहाँ जो थोड़ी प्रवृत्तियाँ काम कर भी रही हैं, उनमें भी दिखावे की भावना इस तेजी से बढ़ गई है कि शुभ कामों से आत्मोत्कर्ष तथा लोक कल्याण की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रहीं। उल्टे अच्छे कर्मों के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न होती जा रही है। यह गम्भीर बात है कि लोग काम थोड़ा करें और दिखावा अधिका। हृदय की प्रेरणा वहाँ काम करती हुई नहीं दिखाई देती। इससे उन्हें सच्ची प्रशंसा भी नहीं मिल पाती। इससे उसके फल में भी कमी होना स्वाभाविक है।

शुभ कर्मों के साथ-साथ शुद्ध भावना का होना भी नितांत आवश्यक है। ऐसा न हुआ तो वह सत्कर्म भी अवसर मिलते ही कुकर्म में परिवर्तित हो जायेगा और इस तरह भले कार्यों के प्रति लोगों के दिलों की निष्ठा नष्ट हो जायेगी। धर्मशालाओं, अनाथालयों, गौशालाओं आदि अनेकों प्रवृत्तियों के पीछे लोगों की स्वार्थपूर्ण भावनाएँ काम किया करती हैं। बाहर से लोक-कल्याण का दिखावा मात्र होता है पर भीतर ही भीतर उन्हें आर्थिक साधन समझा जाता है और उन्हें लाभ प्राप्त करने का माध्यम मानकर काम किया जाता है। फलस्वरूप लोक-कल्याण की सच्ची प्रवृत्तियों का भी स्वरूप लोगों को नकली सा दिखाई दे रहा है। यह शुभ कर्मों के नाम पर सद्प्रवृत्तियों को लज्जित करना है। इनका कोई ठोस लाभ नहीं मिल सकता।

शुभ कर्मों का आडम्बर करने से कोई लाभ नहीं। इन्हें विचार और कर्मों में भली प्रकार स्थान देने वाला ही वास्तव में धर्मात्मा माना जाता है, ऐसे सुदृढ़ आधार पर

ही जीवन की इमारत का निर्माण करना चाहिये। शुभ कर्मों की प्रतिक्रिया अन्तःकरण से उठनी चाहिये और यही आदर्श लेकर उसे लक्ष्य तक पहुँचना चाहिए इसमें अपनी आत्माहुति ही क्यों न देनी पड़े। ऐसी सच्ची निष्ठा यदि संसार में एक व्यक्ति की भी हो जाती है तो वह समग्र विश्व में हलचल मचा देता है और बिना कहे हुए बहुतों की सेवा करता हुआ चिरकाल तक जीवित बना रहता है।

हरिश्चन्द्र के हृदय में जो सत्य-निष्ठा जागृत हुई थी। वह आत्म-प्रेरणा से प्रभावित थी तभी वे अनेकों कठिनाइयों में भी नहीं झुके। जगद्गुरु शंकराचार्य ने अनेकों कष्ट सहे पर आध्यात्मिक प्रशस्ति का पथ न छोड़ा क्योंकि उनका अध्यात्म प्रेम आन्तरिक था। महात्मा गाँधी ने आजादी की माँग स्वार्थवश नहीं की थी। हजारों लोगों की मुक्ति का प्रश्न ही उनके हृदय में जाग्रत हुआ था तब उनमें वह शक्ति आई जिसमें गोरशाही के मृत्यु तुल्य कष्टों को वह हँसते-हँसते झेल गये। शुभ कर्मों के प्रति आत्मनिष्ठा हो तो उनकी पूर्ति का बल अपने आप आता है। साधन भी बनते हैं और परिस्थितियाँ भी साथ देती हैं। किन्तु बिना परिश्रम, बिना कष्ट झेले बाहरी दिखावे से “वाह-वाह” की इच्छा की जाती है, तो दुर्बल हृदय मनुष्य उसमें देर तक खड़ा नहीं रह पाता और उसे अपयश और अनादर ही मिलता है। इसमें न केवल औरों की हानि होती है वरन् स्वयं की भी खिन्नता और परेशानी बढ़ती है। ढोंग या मायाचार के कारण आध्यात्मिक पतन ही होता है।

फल तो मनुष्य को भावना के अनुसार मिलता है, फिर दिखावे का कोई लाभ नहीं। बाह्य आडम्बरों से कभी आन्तरिक शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अच्छी प्रवृत्तियों को जीवन में धारण करने से पूर्व आपको यह विचार कर लेना होगा कि आप अन्त तक उसमें स्थिर बने रहेंगे। दूसरों को अर्धमाचरण से लाभ उठाते देखकर उसकी नकल करने को न ललचाओ। काँटे में लिपटा हुआ आटे का टुकड़ा खाकर मछली की जो दशा होती है, जाल के नीचे फैलाये हुए अन्न के दानों को खाकर चिड़िया की जो गति होती है, माँस की लालसा से हड्डी के साथ अपने ही जबड़ों का रस चूसने में कुत्ते की जो दुर्दशा होती है, वही दशा अनीति द्वारा लाभ उठाने वालों की होती है। इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने की कोई बुद्धिमान और दूरदर्शी मनुष्य आकांक्षा नहीं कर सकता। करुणा वृत्ति, उदारता और अन्तःप्रेरणापूर्वक किस्म हुआ थोड़ा सा कार्य भी फलदायक और सुखकारी होता है, सच्चाई का एक कण भी इतना स्वादिष्ट होता है कि उसकी तुलना बनावट से नहीं हो सकती। नकली फल

देखने में सुन्दर भले ही लगे किन्तु उसमें कोई स्वाद नहीं होता।

इस युग में लोगों के दुःख बहुत बढ़ गये हैं। इसका कारण यही है कि नकलीपन लोगों की नस-नस में समा गया है। खाद्यान्न से लेकर जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं में नकलीपन, दिखावा और मिलावट बेहद बढ़ी है। बढ़िया से बढ़िया कपड़ों में लिपटे हुए शरीर को उषाड़कर देखें, तो हड्डियाँ ही दिखाई देंगी। असंयम के कारण सूखे चेहरों पर कलाई पोतने से आज तक किसी को सुन्दरता नहीं मिली। हमारे जीवन का प्रत्येक अंग दिखावट मात्र रह गया है। भीतर ही भीतर असंतोष-अशांति और अभाव का घुन उसे खाये जा रहा है इसलिए आज लोग इतने दुःखी दिखाई पड़ रहे हैं।

आत्मीयता का गहरा प्रेम सम्बन्ध जैसा पहले दिखाई देता था वह अब स्वप्न हो गया है। मित्रता और प्रेम भी लोग स्वार्थवश करते हैं। शिष्टाचारवश अपने माता-पिता को रोटी देकर ही लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। उनके कष्टों को, दुःखों और परेशानियों को मिटाने की रच किसमें है? हृदय में कायरता, मन में मैल, विचारों में बासना भरी पड़ी है इसलिए अब उस जमाने जैसी मातृभक्ति, भ्रातृत्व तथा गुरुनिष्ठा का पूर्णतया अभाव सा हो गया है।

सच्चाई आत्मोत्थान की प्रमुख आवश्यकता है। हमारे जीवन में सादगी और सरलता को प्रचुर स्थान मिलना चाहिए। हम जो कुछ करें उसे आत्मिक लाभ की दृष्टि से करें, तो लाभ की सम्भावनायें अधिक रहेंगी। सच्ची निष्ठा सदैव ही फलदायक होती है। गुणों को जीवन व्यवहार में फैलाना चाहिये, उनका दिखावा नहीं किया जाना चाहिये तभी समाज में सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिल सकता है।

“करना कम दिखावा अधिक” यह ओछे व्यक्तित्व का लक्षण है। लोगों को धार्मिक अप्रद्वान हो जाय इस दृष्टि से शुभ कर्मों का दिखावा न करें तो ही अच्छा। धर्म और सदाचार के नाम पर बाह्य प्रदर्शन करने की अपेक्षा तो साधारण जीवन जीते रहना अच्छा है। इससे कम से कम विचार विद्रूप तो नहीं उत्पन्न होगा और समाज में गलत परम्परा को स्थान तो नहीं मिलेगा।

अन्तःकरण का विकास और

उज्ज्वल भविष्य

मनःशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्तित्व की उत्कृष्टता-निकृष्टता का केन्द्र-बिन्दु उसके

अन्तराल का स्तर ही है। मनःसंस्थान की इस सबसे गहरी-अन्तिम परत को सुपर चेतन कहा गया है। सुपर इसलिए कि उसकी मूल प्रवृत्ति मात्र उत्कृष्टता से ही भरपूर है। उसे यदि अपने वास्तविक स्वरूप में रहने दिया जाय, अवांछनीयताओं के घेरे में जकड़ा न जाय तो वहाँ से अनायास ही ऊँचे उठने-ऊँचे बढ़ने की ऐसी प्रेरणाएँ मिलेगी जिन्हें आदर्शवादी या उच्चस्तरीय ही देखा जा सके। प्रकारान्तर से 'सुपर चेतन' को 'ईश्वर' के समतुल्य ही माना जा सकता है। वेदान्त दर्शन में अद्यमात्मा ब्रह्म 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'चिदानन्दोहम्' 'शिवोऽहम्' तत्त्वमसि आदि सूत्रों में जिस आत्मा को परमत्व परमात्मा माना है वह परिष्कृत अन्तःकरण ही है। उसी को विज्ञान की भाषा में सुपर चेतन कहते हैं।

इसी परत को विकसित करने के लिए भक्ति-योग का आश्रय लिया जाता है। कर्मयोग में शरीर, ज्ञानयोग में मस्तिष्क और भक्तियोग में अन्तःकरण की साधना की जाती है अन्तःकरण को ब्रह्मा, मनःसंस्थान को विष्णु और काय-कलेवर को रुद्र की उपमा दी गई है। यही तीनों व्यक्तिगत त्रिवेद हैं जिनके वरदान-अभिशाप पर उत्थान-पतन की सारी सम्भावनाएँ अवलम्बित हैं।

मनोविज्ञानी मनःसंस्थान को अत्यधिक महत्व देते हैं और उसे अचेतन से भी कहीं अधिक उच्चस्तरीय मानते हैं। कार्य-कौशल से लोक-व्यवहार बनाता है। बुद्धि वैभव से उपयुक्त निर्णय होते हैं। किन्तु अन्तःकरण तो समूचे व्यक्तित्व का ही अधिष्ठाता है। उसकी परिष्कृत स्थिति ही सामान्य स्थिति के मनुष्य को महामानव, ऋषि, देवात्मा, देवदूत स्तर तक पहुँचाने में समर्थ होती है। अपने ही भीतर विद्यमान इस देवलोक का माहात्म्य अध्यात्मवेत्ता सदा से ही बताते और उसकी अनुकम्पा उपलब्ध करके जीवन लाभ लेने वाले विभिन्न प्रतिपादनों द्वारा समझाते रहे हैं। सिद्धान्त और प्रयोग दोनों ही इन प्रयोजनों के लिए उन्ने गढ़े, परखे और प्रचलित किये हैं।

'एमिली मारकाल्ट' ने अपनी 'साइकोलाजी ऑफ इन्ट्यूशन' नामक पुस्तक में अन्तःकरण की चर्चा करते हुए कहा है—'यह शरीर एवं व्यक्तित्व की चेतना का अतिसूक्ष्म एवं उच्चस्तरीय भाग है। ज्ञानेन्द्रियों और तर्क बुद्धि से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समाधान उच्च चेतन मन की सहायता से मिल सकता है। इस तन्त्र को उजागर कर लेने का अर्थ है—एक ऐसे देवता का साथ पा लेना जो उपयोगी सलाह ही नहीं देता, महत्वपूर्ण सहायता भी करता है।'

'हम्फ्री' अपनी पुस्तक 'वेस्टर्न एप्रोच टू मैन' में कहते हैं कि बुद्धि-वैभव के माध्यम से अब तक संसार

की जो सेवा हुई है, उसकी तुलना में उच्च चेतन की सहायता से थोड़े से लोगों ने जो कार्य किया है, उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। एक महामानव हजार प्रवक्ताओं से बढ़कर होता है। इसी प्रकार एक महान मनस्वी के द्वारा बनाया गया वातावरण हजारों अधिकारियों तथा अध्यापकों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। मनीषियों का कर्तव्य है कि जिस प्रकार प्रकृति के रहस्यों को खोजकर सुविधा-सम्पन्नता की वृद्धि की गयी है उसी प्रकार के अन्तराल की उत्कृष्टता को खोजने, बढ़ाने तथा लाभान्वित होने के लिए जन-साधारण का पथ-प्रशस्त करें।

प्लूटो लिखते हैं जब हमारा शुद्धीकृत 'स्व' से साक्षात्कार होता है तब हमें अपने स्वरूप का अपने त्रिआयामीय विस्तार का भान होता है। इस स्थिति में आने पर व्यक्ति परमतत्त्व से एकरूप हो जाता है एवं उसे किसी प्रकार के मार्ग-दर्शन, हाथ पकड़कर राह दिखाने वाले की आवश्यकता नहीं पड़ती।

'फ्रीडरिक नीत्से' ने घोषणा की थी कि 'स्वयं से परे हटकर स्वयं को देखना ही वस्तुतः सही ज्ञान की प्राप्ति है।' क्या यह सम्भव है ? क्या हम स्वयं को अपने शरीर चिन्तन की परिधि से निकाल बाहर कर सकते हैं। जो शान्त चुपचाप खड़ा हमारी हर गतिविधि, हर परिस्थिति का अवलोकन करता रहे। वस्तुतः यह हमारे भीतर है जिसे हम 'सुपर माइन्ड' कहते हैं जो एक लाइट हाउस की तरह दूर-दूर तक अपनी घुमावदार किरणों (रिवॉल्विंग बीम) छोड़ता रहता है। हिमखण्डों, तूफानों से जहाजों को बचाता है, पर स्वयं शान्त, बिना विचलित हुए खड़ा रहता है।

दार्शनिक हेनरी बर्से का कथन है—'समय की जटिलताओं को न सुविधा-सम्बर्धन से सुलझाया जाय और न दाव-पेंच से। प्रवीण बुद्धि-कौशल ही पतन पराभव का निराकरण कर सकेगा। प्रस्तुत जटिलताओं और विभीषिकाओं का समाधान पाने के लिए उस महाप्रज्ञा के जगाने की आवश्यकता है जो अन्तःकरण की गहराई में बसती है और ईश्वरीय प्रेरणाओं से मनुष्य को अवगत कराती है।

'मार्टिन टिनबी' ने लिखा है—विचार बुद्धि की उपयोगिता कितनी ही क्यों न हो पर वह रहेगी अपर्याप्त ही। चेतना की पूर्णता का केन्द्र मस्तिष्क नहीं अन्तःकरण है। अब तक प्रकृति को खोजा और पाया-दोहा गया है। अब परमात्मा की खोज और उसके पाने की बारी है। ऐसा सम्पर्क सधने के लिए एकमात्र स्थान मानवी अन्तःकरण है। सहृदयता इसी केन्द्र में बसती है।

हेनरी गाल्डर ने अपने ग्रन्थ—‘एवोल्यूशन’ एण्ड मैन्सल्सेस इन नेचर, में लिखा है ‘विकास की दिशा में किये जा रहे प्रयास में एक कड़ी और जुड़नी चाहिए कि मनुष्य के हृदय की विशालता एवं गहराई को भी बढ़ाया जाय’। वस्तुओं का लाभ जिसे उठाना है उसकी अन्तःचेतना यदि निष्कृतापरायण रही तो सम्पदा का दुरुपयोग ही होगा। सम्पदा कितनी ही क्यों न बढ़े पर यह ध्यान तो रहे कि उपभोक्ता की गरिमा ही साधनों का सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकती है।

‘पियरे टेलचार्डिन’ अपनी पुस्तक दि फिनोमिना ऑफ गैन में लिखते हैं—विग्रहों को सहकर में, खीज को मुस्कान में बदलने का एक ही तरीका है कि मनुष्य के वर्तमान चिन्तन और रुझान में भारी परिवर्तन किया जाय। यह महान कार्य सामान्य प्रयासों से सम्भव नहीं, उसके लिए अन्तःकरण को टटोलने और उसमें ईश्वर प्रदत्त महानता को उभारने की आवश्यकता पड़ेगी। परिस्थितियों से जुड़ी हुई विभिन्नता का परिशोधन, सहृदयता उगाने एवं जगाने से ही सम्भव हो सकता है। सभी प्रख्यात भौतिकीविद् मनीषी इस बात पर जोर देते रहे हैं कि कब सहृदयता उभारने के लिए मानवी अन्तःकरण में नई तैयारी के साथ नई कृषि की जानी चाहिए। इस क्षेत्र की उपार्जित फसल से ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक भूख बुझेगी

‘मैन द अननौन’ और ‘रिफ्लेक्शन ऑफ लाइफ’ के नोबल पुरस्कार प्राप्त लेखक अलेक्सिस कैरेल ने कई स्थानों पर इस एक ही बात को दुहराया है कि प्रकृति दोहन से भी बढ़ा क्षेत्र अन्तःकरण की गरिमा उभारने का है। उस उपेक्षित क्षेत्र को नये सिरे से समझा एवं समुन्नत बनाया जाना चाहिए। मनुष्य के उच्च चेतन का विकास होने पर ही समस्याओं के समाधान और अभ्युदय का आधार खड़ा हो सकेगा। विश्व मनीषा को अपना ध्यान एक ही केन्द्र पर एकत्रित करना चाहिए कि मनुष्य को सहृदय बनाने के लिए उसकी प्रसुप्त अन्तःचेतना को किस प्रकार जाग्रत किया जाय।

असंख्य प्रतिपादनों में से कुछ की झाँकी ऊपर की पंक्तियों में करने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि व्यक्ति और समाज को वर्तमान से उबारने और उज्ज्वल भविष्य के निकट पहुँचाने के लिए मानवी अन्तरात्मा को समझा और जगाया जाना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार सामान्य जीवन में निर्वाह के साधन जुटाना।

हम अन्तःकरण की वाणी सुनें और

उसका अनुकरण करें

महात्मा बुद्ध का कथन है कि अन्तःकरण भी एक मुख है। दर्पण में हम अपना मुख देखते हैं तथा सौन्दर्य देखकर प्रमुदित होते हैं। हमारे मुँह पर यदि धब्बे या कालौच आदि होती है तो उसे भी सप्रयास छुटाने की चेष्टा करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस अन्तःकरण रूपी मुख को भी हम नित्यप्रति चेतना के दर्पण में देखें-परखें और उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि करें। आत्मनिरीक्षण करके देखें कि किन-किन कषाय-कल्मषों ने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को आच्छादित कर रखा है। कामनाओं और वासनाओं ने कहीं उसे पथ-भ्रष्ट तो नहीं कर रखा ? आशा और तृष्णा रूपी भयंकर ग्रहों ने अपने चंगुल में उसे जकड़ तो नहीं रखा ? स्वार्थ-संकीर्णता की भावना ने उसे ग्रसित तो नहीं कर रखा। जब इन प्रश्नों का उत्तर ‘नहीं’ में मिलने लगेगा तो व्यक्ति तुच्छ से महान, लघु से विराट और नर से नारायण बन जायेगा।

वस्तुतः अन्तःकरण पर विश्वास करने का अभिप्राय है—ईश्वर पर विश्वास करना, ईश्वरीय आदेशों पर विश्वास करना, यह ऐसा अदभुत बेतार का तार है जिसके माध्यम से ईश्वर मनुष्य तक अपना सन्देश पहुँचाता है और उसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। साथ ही हर क्षण हमारे हर कार्य का लेखा-जोखा लेता रहता है और तदनुसार दंड, पुरस्कार की भावी विधि-व्यवस्था का भी ताना-बाना बुनता है।

ईश्वर के इस अग्रदूत-अन्तःकरण के आदेश की उपेक्षा करने पर व्यक्ति दंड भी खूब भुगतता है। जब साधारण से शासक की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति भी दंड-पात्र बनता है तो फिर उस महत्तम सत्ता के आदेश की अवहेलना करने वाला क्षम्य कैसे हो सकता है ? जब व्यक्ति निरन्तर ही अन्तःकरण के आदेशों के विरुद्ध चलता है तो पाप और मलिनताओं का आवरण उस पर अच्छादित होता जाता है। दूषित अन्तःकरण नरक का खण्डहर है जिसमें पापों की प्रेतवाणी प्रतिध्वनित होती रहती है जो व्यक्ति को कूकर-शूकर जैसी जिन्दगी जीने को अग्रसर करती है।

जाने किन-किन पुण्यों के आधार पर हमें ईश्वर का यह विरल वरदान-मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसकी सार्थकता तभी है जब इसे सद्कार्यों में लगाया जाये, जब व्यक्ति अन्तःकरण को उज्ज्वलतम, निर्मलतम और

पवित्रतम बनाने की महत्तम साधना में प्राण-पण से जुट जाये।

जो काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या-मत्सर आदि की भावनाओं से अपने अन्तःकरण को कमल-पत्र की भाँति निर्लिप्त रखता है, उसे अद्भुत सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति ईश्वरीय चेतना के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। वह त्रिकालदर्शी बन जाता है। सद्विचारों और शुभकर्मों के सतत् आलेपन से अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल बन जाता है और तब इस चमत्कारी दर्पण में भूत और भविष्य स्वयं ही प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।

निर्मल अन्तःकरण प्रदीप के समान ज्योति का पुंज होता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित होकर समस्त विश्व को आलोकित करता है, उसी प्रकार निर्विकार अन्तःकरण भी स्वयं प्रकाशमान होकर प्रकाश किरणों से समस्त विश्व को आभासित कर देता है। अतएव ईश्वर की सबसे बड़ी उपासना यही है कि अन्तःचेतना को जाग्रत कर आत्मोन्नति के पथ पर निरन्तर बढ़ते रहें तथा दूसरों को भी सन्मार्गगामी बनने की प्रेरणा देते रहें।

अन्तराल के उच्च स्तर का विकास

आत्मा के ऊपर तीन परिधान लिपटे हुए हैं। जिस प्रकार बनियान, कुर्ता, कोट एक के बाद एक पहन कर सुसज्जा बनाई जाती है, उसी प्रकार काया के ऊपर भी तीन शरीर चढ़े हैं। एक स्थूल शरीर है जो प्रत्यक्ष जीता है और इच्छानुसार कार्यों में लगाया जाता है। दूसरी गहरी परत सूक्ष्म शरीर की है। यह प्राणमय है। मरने के बाद यह कुहासे के रूप में बिखर जाती है। हृदयस्थ स्थान में ज्योतिवत् ध्यान करते हुए दिखाई देती है। शरीर के इर्द-गिर्द तेजोवलय के रूप में छाई रहती है। तीसरा शरीर कारण शरीर है। इसका स्थान अन्तःकरण चतुष्टय है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का समुच्चय इसी के साथ जुड़ा हुआ है। यों आकांक्षा, मान्यता, प्रेरणा, उमंग इसी में उठती हैं। पर एक शब्द में इसकी प्रमुखता को देखते हुए भावना प्रधान कहा जा सकता है। उसकी स्थिति प्रधानतया भाव संवेदनाओं से ही जानी जाती है।

जीव-जन्तु, पशु-पक्षी स्थूल शरीर प्रधान होते हैं। वे काया की आवश्यकता एवं इच्छा पूरी करने में लगे रहते हैं। पेट भरने के लिए उनकी शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और प्रजनन का ताना-बाना बुनने में उनका मन काम करता रहता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा की व्यवस्था बनाने में भी अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग करते हैं। शत्रुओं से आत्म-रक्षा के लिए जितने बन पड़ते हैं, कौशल अपनाने

हैं। झाड़ियों में रहने से लेकर गुफाओं में छिपने और झुण्ड बनाकर रहने की प्रवृत्ति आत्मरक्षा से ही संबंधित है। प्रजनन के लिए घोंसले, खोह, कोतर आदि का प्रबंध उन्हें करना पड़ता है।

मनुष्य भी इन्हीं कार्यों में अपनी काया की अधिकांश श्रम शक्ति को इन्हीं प्रयोजनों में जुटाये रहते हैं। गुजारे के लिए उत्पादन का श्रम करना पड़ता है। कामुकता बेचैन करती है तो जोड़ा बनाता है, विवाह करता है और उस समागम का प्रतिफल संतानोत्पादन के रूप में सामने आता है। बच्चों की असमर्थता को देखते हुए अभिभावक ही उसकी देखभाल तब तक करते हैं, जब तक कि वह शारीरिक, मानसिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं हो जाता। यह उपरोक्त दोनों ही व्यस्त रखने वाले कार्य 'पेट और प्रजनन' की परिधि में आते हैं। स्थूल शरीर को उत्पादनजन्य लोभ अपनाना होता है। कामुकता का फलितार्थ विवाह और संतान के रूप में सम्मुख आता है। यह सभी नवागन्तुक अपने प्रभाव और प्रयत्न से उत्पन्न किये गये होते हैं इसलिए इनके प्रति ममता जुड़ती है। ममता अपने प्रियजन की अनेकानेक आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए आतुरता प्रकट करती है, यही मोह है। मनुष्य का स्तर जब तक शरीर प्रधान-पशु स्तर का रहता है तब तक उसे लोभ और मोह की ललक, लगन छाई रहती है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य बुद्धिमान होने के कारण अपने निजी व्यक्तित्व के बारे में भी विचार करने लगता है। जबकि पशुओं में उस स्तर का चिन्तन स्वल्प मात्रा में ही उभरता है। मनुष्य की शरीरगत प्रवृत्तियों में एक अहंकार भी है। इसे मानसिक चेतना का उद्भव भी कह सकते हैं। इन्द्रिय भोगों की वासना और उपभोग सामग्री की तृष्णा इन दोनों का बाहुल्य तो रहता ही है। पर साथ ही मानसिक विकास के रूप में निज के व्यक्तित्व की कल्पना भी प्रखर होती है। स्वाभिमान जगता है। अहंता प्रकट होती है। इसकी दो कामनाएँ हैं—एक यह कि अपना स्तर दूसरों से बढ़ा-चढ़ा सिद्ध करना। दूसरा सम्मान उपलब्ध करना। यह किस प्रकार संभव हो, इसके लिए शरीर की परिधि में अपनी सत्ता सीमित रखने वालों के लिए स्वकृत्य के रूप में, ठाठ-बाट बढ़ाने का उपाय उपचार समझ में आता है। वस्त्र, आभूषण, शृंगार, साधन, ठाठ-बाट, अमीरी जताने वाले साधनों का एकत्रीकरण यह इस स्तर के कौतुक हैं जिनमें समय, श्रम और साधन खर्च करते हुए भी इसलिए प्रवृत्त होना पड़ता है कि अपने से पिछड़ी स्थिति के लोग तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने के उपरान्त यह विचार करें कि अमुक व्यक्ति हमारी तुलना में अधिक वैभववान होने के कारण

बड़प्पन का अधिकारी है। मोटी बुद्धि अपने से अधिक समृद्ध को ही बड़ा मान लेती है। उससे दबती, झेंपती है। सौभाग्यवान समझती और सम्मान करती है। इसे पाने के लिए शरीर चेतना आतुर रहती है। वह बलवान, सम्पन्न, सुन्दर, पदाधिकारी आदि बनने के लिए कुछ न कुछ चेष्टाएँ करती रहती है। वैसा यदि सचमुच नहीं बन पड़ता तो उसका आडम्बर बनाती है। बिडम्बना एवं प्रवंचना रचती है ताकि स्वल्प बुद्धि वाले उसका रहस्य न जान सकें और आँखें चौधियाँ जाने से बड़प्पन का गौरव प्रदान करने लगें। यह उथले दर्जे का बड़प्पन है। इसे पाने के लिए लोग विवाह, शादियों में अन्धा-धुंध अपव्यय करने कर्मकाण्डों का प्रदर्शन करने, सभा-सोसाइटियों के अधिकारी बनने आदि के प्रपंच रचते रहते हैं। इस कौतुक के सहारे वे अपना सांसारिक मूल्य दूसरों के मूल्य की तुलना में अधिक सिद्ध करने में किसी कदर सफल भी हो जाते हैं। शारीरिक क्षेत्र की तुलना में मानसिक झलक की मात्रा अधिक है। शरीर तो अन्न, वस्त्र और निवास की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर तृप्त हो जाता है। पर मन को कामुकता की अन्यान्य इन्द्रियों की ललक बुझानी पड़ती है और उसके लिए विवाह, संतान, परिवार को अपने साथ जोड़कर उनकी आवश्यकताओं को भी अपनी आवश्यकता मानना पड़ता है। बात ममता की पूर्ति तक ही सीमित नहीं रहती। मोह से अधिक अभीष्ट सुविधा-सम्पादन का क्रम बैठ जाने पर भी मन शान्त नहीं होता। विकसित मस्तिष्क पर अहंकार का उन्माद होता है और साधारण होते हुए भी असाधारण आडम्बर बनाकर अपनी वरिष्ठता का ढिंढोरा पीटना चाहता है। लोगों की दृष्टि में अधिक वैभववान सिद्ध होना चाहता है। इसके लिए खर्चीला ठाठ-बाट तो बनाना ही पड़ता है। उसके लिए ढेरों समय एवं साधनों का अपव्यय करना आवश्यक हो जाता है। इतना ही नहीं कई बार उद्धत आचरण अपनाकर अपनी आतंकवादी प्रचंडता प्रकट करने के लिए अनाचार तक अपनाना पड़ता है।

इससे कुछ कदम आगे बढ़कर कारण शरीर में एक जाग्रति भरी हलचल उत्पन्न होती है। वह है सम्मान की, स्नेह सद्भाव की आकांक्षा। जिस प्रकार स्थूल शरीर से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण शरीर का स्तर ऊँचा है उसी प्रकार इन तीनों शरीरों की आकांक्षाएँ क्रमशः अधिक समय साध्य, श्रम साध्य एवं बुद्धिसाध्य हैं। स्थूल शरीर की आवश्यकताएँ सामान्य प्रयास से ही पूरी हो जाती हैं। पेट और प्रजनन की व्यवस्था पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तक आसानी से बना लेते हैं। थोड़ा सा ही चिन्तन और परिश्रम करने से उनके साधन बन जाते हैं। अहंता के नाम पर अन्य प्राणी तो अपनी बलिष्ठता दिखाने के लिए

आक्रमण भर करते हैं। आतंक भर मचाते हैं पर मनुष्य को इसके लिए आकुलता भी रहती है और आतुरता भी। जिसे स्नेह नहीं मिला समझना चाहिए कि उसका जीवन नीरस, निर्जीव, रूखा, कर्कश रह गया। इसी प्रकार जिसे सम्मान नहीं मिला उसे ऊँचा उठने के लिए जो आधार अवसर मिलना चाहिए था वही छिन गया। इन दोनों के न मिलने या छिन जाने के कारण शरीर की उर्वरता एवं गरिमा ही पलायन कर जाती है। पेट, प्रजनन से भी बड़ी भूख, अन्तरात्मा को स्नेह, सम्मान की रहती है, पर उसे प्राप्त करने के लिए स्तर के अनुरूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। पेट भरने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। कामुकता की बेल को समेटने के लिए सुविस्तृत ताना-बाना बुनना पड़ता है। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए समुचित श्रमशीलता एवं तन्मय, तत्परता चाहते हैं, व्यस्त किये रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि काया का सर्वोच्च स्तर जो माँगता है वह बिना कुछ किये अनायास ही न मिल जाय। उसके लिए और भी बढ़ा-चढ़ा वैभव उपार्जित करना होता है।

कारण शरीर की बलिष्ठता भाव संवेदना है। ठीक उसी तरह जैसे शरीर में बल और मन में बुद्धि का होना आवश्यक है। पशु भाव रहित होते हैं। उनमें मैत्री, करुणा, मुदिता, सेवा सहानुभूति, उदारता जैसी गरिमामयी भाव संवेदनाएँ कदाचित ही नगण्य मात्रा में होती हैं। उन्हें स्वार्थ ही सूझता है। कष्ट होते हैं तो अपने ऊपर संकट आने पर ही थोड़ी अनुभूति होती है। किन्तु मनुष्य का दर्जा कहीं ऊँचा है। वह “आत्मवत् सर्व भूतेषु” और ‘वसुधैव कुटुम्बम्’ स्तर की भाव संवेदना संजोये रहता है। यही कारण है कि उसके अन्तराल में करुणा और उदारता का उद्गम उभरता है। दूसरों का दुःख बाँट लेने और अपना सुख बाँटने की उमंग उठती रहती है। इसी परमार्थ परायणता के मूल्य पर दूसरों का सहयोग एवं श्रद्धा, सम्मान खरीदा जाता है। उदारता भरी सेवा-साधना ही विचारशील लोगों के अन्तराल में शालीनता प्रदर्शित करने वालों के प्रति श्रद्धा उभारती है और साथ ही सम्मान और सहयोग की भी वर्षा करती है। उसमें स्थायित्व भी होता है। आदर्शवादियों के चरित्र एवं व्यवहार का अनुकरण स्थायित्व भी होता है। आदर्शवादियों के चरित्र एवं व्यवहार का अनुकरण अभिनन्दन किया जाता है। भाव संवेदना ही आत्मीयता, ममता, मित्रता की जड़ें मजबूत करती है। जिनका अन्तःकरण ऊसर, बंजर की तरह भावनात्मक उर्वरता से रहित है उस पर न तो सहयोग-सम्मान के मेघ बरसते हैं और न सेवा-उदारता के उपवन उगते, सुरभित फूल खिलते हैं। निष्ठुर, स्वार्थपरायण, सहानुभूति संवेदना रहित व्यक्ति के संबंध में

यह कहा जा सकता है कि उसका अन्तःकरण भाव संवेदनाओं की उस उर्वरता से सम्पन्न नहीं हो पाया, जिसके कारण व्यक्तिगत स्नेह और समूहगत सम्मान की अमृत वर्षा होती है। व्यक्तित्व को देवी अनुकम्पा और अन्तरंग संतोष एवं उल्लास से निरन्तर भरे रहती है।

शरीरगत आवश्यकताएँ पशु भी पूरी करते हैं। मानसिक तृष्णाओं को चतुर लोग पूरा कर लेते हैं पर मानवी गरिमा इसमें है कि उसके अन्तःकरण में भावनाएँ उमंगें स्वयं विनम्र, निष्काम एवं संयमी अपरिग्रही रहें। अपनी क्षमताओं को सदाशयता के संवर्धन में समर्पित करें। देवमानवों का कारण शरीर इसी आधार पर विकसित होता है। इसी उपलब्ध विशेषता के कारण वे महामानव नर-नारयण एवं पुरुष-पुरुषोत्तम बनते हैं।

अन्तःकरण ही वास्तविक भाग्य-विधाता

चेतना की बौद्धिक और आदतों के समुच्चय वाली परतों की सही जानकारी और उन्हें उपयोग में लाने की विधि-व्यवस्था हाथ लग सके तो समझना चाहिए कि तथाकथित “करू के खजाने” से भी अधिक बहुमूल्य सम्पदा हाथ लग गई। पिछड़ी हुई परिस्थिति वस्तुतः अनगढ़ मनःस्थिति की ही परिणति होती है। अन्यथा हर किसी के चेतन में इतनी क्षमता विद्यमान है कि आज का पिछड़ापन कल सुसम्पन्न वैभव में विकसित किया जा सके। कालिदास, वरदराज आदि कितने ही लोग ऐसे हुए हैं जो मस्तिष्कीय पिछड़ेपन के कारण मूर्ख माने जाते थे, किन्तु जैसे ही उनमें उपेक्षित, अस्त-व्यस्त अन्तराल को समेटना, सुधारना और ढालना प्रारम्भ किया वैसे ही वे मूर्धन्य विद्यावानों की श्रेणी में जा पहुँचे।

अचेतन तो उससे भी आगे है। आदतें सुधार लेने पर तो असंख्य पतितों को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचते हुए देखा गया है। सूरदास, तुलसीदास, वाल्मीकि, अजामिल, अंगुलिमाल, अम्बपाली आदि अनेकों के गबे-गुजरे जीवन सुधरे और ऊँचे उठे हैं। अचेतन हठी तो है पर ऐसा नहीं कि यदि संकल्पपूर्वक उसे बदलने, ढालने का प्रयत्न किया जाय तो सफलता नहीं ही मिले। आदतें आखिर अपनी ही विचारणा और कार्य-पद्धति की परिणति है। क्रमिक विकास प्रक्रिया के अनुरूप वे बदलती-सुधरती भी रही हैं। फिर कोई कारण नहीं कि अब उन्हें अधिक उपयुक्त परिष्कृत बनाने के लिए मोड़ा-मरोड़ा न जा सके। ढलाई में दबाव की आवश्यकता पड़ती है। संयंत्रों को चलाने के लिए ऊर्जा चाहिए। रेल, मोटर, हवाई जहाज बहुत भारी होने पर भी तेजी से

दौड़ते हैं। शर्त यही है कि उन्हें आवश्यक ईंधन मिलता रहे।

सामान्य बुद्धि की तुलना में अचेतन चित्त की स्थिति अधिक भारी और अधिक गरिमामयी है। उसको आगे धकेलने के लिए आवश्यक ऊर्जा चाहिए। हाथ गाड़ी को ऐसे ही धक्का मारकर आगे बढ़ाया जा सकता है, किन्तु रेल चलानी हो तो शक्तिशाली ईंधन का प्रबन्ध करना पड़ेगा। बुद्धि को अध्ययन, परामर्श से अधिक तीक्ष्ण, समुन्नत बनाया जाना सरल है किन्तु अचेतन के अभ्यासों को नये ढाँचे में ढालने के लिए भट्टी जैसे सरंजाम जुटाने पड़ेंगे। धातुएँ कठोर होने पर भी पिघलती और ढलती रहती हैं। किन्तु इसके लिए आवश्यक तापमान तो चाहिए ही, आदतें धीरे-धीरे करके ढलती आई हैं। यदि नया कार्यक्रम शालीनतायुक्त बना लिया जाय तो वे धीरे-धीरे उसे भी अपना लेंगी। जिस प्रकार अब तक बदलने-सुधरने में आना-कानी करते हुए भी अन्ततः सहमत होती ही चली आई हैं।

किन्तु यदि धीरे-धीरे सुधारने की प्रतीक्षा न करनी हो तो फिर अधिक सुदृढ़, संकल्प, प्रखर साहस और सुनिश्चित कार्यक्रम बनाकर उसे अपनाने के लिए द्रतशील होना पड़ता है। धीमी आग पर वस्तुएँ धीरे-धीरे पकती हैं किन्तु उन्हें यदि जल्दी ही उबालना-खौलाना हो तो चूल्हे की आग तेज करनी पड़ती है। अन्तःक्षेत्र की सुधारात्मक प्रगति में यदि तीव्रता लानी हो तो उसके लिए दो ही उपाय रह जाते हैं —(१) बाहरी परिस्थितियों का ऐसा दबाव जिसमें नई रीति अपनाने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न रहेगा (२) अन्तःक्षेत्र में से वह दबाव स्वयं उत्पन्न किया जाय। साधना या तपश्चर्या इसी को कहते हैं कि किसी बाहरी शक्ति से कुछ याचना की जा रही है और अभीष्ट वस्तु देने के लिए किसी बाहरी सत्ता के लिए नाक रगड़ने, गिड़गिड़ाने, लुभाने जैसी कुछ उथली, बचकनी रीति-नीति अपनाई जा रही है। किन्तु वस्तुतः वैसा है नहीं। आत्म-सत्ता इतनी समर्थ है कि उसे थोड़ा-सा कुरेदने और थोड़ा सा ईंधन डालने भर से चिंगारी को ज्वाला बनने में कोई कठिनाई पड़ने वाली नहीं है।

मनःशास्त्री बताते हैं कि बुद्धि-वैभव से भी अधिक चमत्कारी अचेतन की रहस्यमय परतें हैं। उन्हें श्रेष्ठ प्रयोजन के लिए यदि थोड़ा कुरेदा, उकसाया जा सके तो व्यक्तित्व में चमत्कारी परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। शरीर से बलिष्ठ, बुद्धि से प्रखर मनुष्यों को विविध-विधि सफलताएँ प्राप्त करते देखा जाता है। यदि उससे एक कदम आगे और बढ़कर अचेतन के प्रसुप्त देवता को

जाग्रत किया जा सक तो वह अंगद, हनुमान, भीम, अर्जुन जैसा समर्थ और सहायक सिद्ध हो सकता है।

मनःसंस्थान का प्रायः सात प्रतिशत भाग ही सामान्यतः प्रयोग में आता है। अब तक इस सन्दर्भ में जो खोजें हुई हैं तथा उपलब्धियाँ हस्तगत हुई हैं, उन्हें समूची क्षमता का तेरह प्रतिशत माना जाता है। यदि इससे आगे की जानकारी, जागृति तथा क्षमता हस्तगत हो सके तो निश्चय ही मनुष्य सामान्य न रहकर असामान्य बन जाय। उसे महामानव, अति मानव की संज्ञा दी जा सकेगी। सामान्यजन इन्द्रियशक्ति के सहारे ही अपना ढर्रा चलाते हैं किन्तु यदि किसी को अचेतन के सम्हालने, सजाने में सफलता मिल सके तो वह अतीन्द्रिय क्षमता-सम्पन्न होगा। ऐसा बलिष्ठ जिसे देव या दैत्य कहा जा सके। ऋद्धि, सिद्धियों की चमत्कारी चर्चा पढ़ने, सुनने को मिलती रहती है। यह किसी देवी-देवता की अनुकम्पा का प्रसंग नहीं है वरन् अविज्ञात, अनगढ़ स्थिति में पड़ी रहने वाली अचेतन क्षमता की जाग्रति भर है।

मनुष्य क्या है? यह पूछने की अपेक्षा यह देखना चाहिए कि वह क्या नहीं है? ईश्वर ने अपने राजकुमार को, अपने स्तर का ही बनाया है और उसे अपनी सम्पदा का उत्तराधिकारी नहीं, साझेदार बनाया है। वयस्क, परिपक्व होने पर ही बहुमूल्य वस्तुओं का सदुपयोग करना आता है। इसी दृष्टि से भगवान ने अचेतन की तिजोरी में ऐसी रत्नराशि भर दी है जो तभी खाली होती है जब उसके सदुपयोग की पात्रता प्रामाणिकता अर्जित की जा सके। यह परिपक्वता साधना के आधार पर अर्जित की जाती है।

सामान्य चेतन लोक व्यवहार में काम आता है और बुद्धि-वैभव समझा जाता है। अचेतन से व्यक्तित्व के विकसित होने में सहायता मिलती है। प्रतिभावान नेतृत्व कर सकने में समर्थ, मनस्वी व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में सफलताएँ प्राप्त करता है। इसमें उसका विकसित व्यक्तित्व ही प्रधान भूमिका निभाता है। कहना न होगा कि व्यक्तित्व की विशेषता पूर्णतया अचेतन के स्तर पर निर्भर है। जिस प्रकार आहार-विहार से शरीरगत स्वास्थ्य बलिष्ठ बनाया जाता है, जिस प्रकार अध्ययन, अनुभव से बुद्धिमत्ता अर्जित की जाती है ठीक उसी प्रकार परिस्थितियाँ अथवा साधनाएँ अचेतन को किसी बड़ी छलाँग लगाने के लिए तत्पर करती हैं। यह व्यक्तित्व विकसित करने की प्रक्रिया है। जिसकी परिणिति प्रतिभाओं, विशिष्टताओं, सफलताओं, सम्पन्नताओं के रूप में हस्तगत होती है। इसे लौकिक जीवन को ऋद्धि-सिद्धियों से भर-पूर बनाने वाला क्षेत्र कह सकते हैं।

अब इससे आगे एक कदम और बढ़ाया जाय। एक और ऊँचे लोक में प्रवेश किया जाय तो चेतना के उच्चतम लोक में प्रवेश मिल सकता है। यह सुपर चेतन है। जिसे अन्तःकरण कहा जाता है। उसमें आदतें नहीं, आस्थाएँ निवास करती हैं। मान्यता, अभिरुचि, आकांक्षा एवं संवेदना का समन्वय अन्तःकरण कहा जाता है। यह श्रद्धा विनिर्मित है। श्रद्धा बुद्धि से कहीं ऊँची है। बुद्धि को न्यायाधीश कहा जाय तो श्रद्धा को राष्ट्रपति की उपमा देनी पड़ेगी। श्रद्धा हर व्यक्ति की मौलिक सम्पदा है। वह किन्हीं न किन्हीं मान्यताओं के साथ जुड़ी अवश्य रहती है। कुकर्मियों की भी अपनी श्रद्धा होती है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने दुष्टता के सिद्धान्तों और प्रयोगों को अपनाया उपयुक्त समझा हो। शिकारी, नशेबाज, प्रपंची, आतातायी स्तर के व्यक्ति भी अपना अन्तराल एक खास किस्म का संजोये रहता है। उसी आधार पर उन्हें साहस करने और जोखिम उठाने में तत्पर होते देखा जाता है।

आमतौर से इस दुष्टता को श्रद्धा नहीं कहते हैं। इसे पवित्र एवं उत्कृष्ट मान्यताओं के लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। श्रद्धा की गरिमा और क्षमता पर प्रकाश डालते हुए गीताकार ने उसे एक शब्द में समूचा व्यक्तित्व ही कह दिया है, कथन है कि “जिसकी जैसी श्रद्धा है वह ठीक वैसा ही है।” किसी का वास्तविक मूल्यांकन करना हो तो उसके अन्तराल में सन्निहित श्रद्धा के स्तर का पर्यवेक्षण करना चाहिए। अगणित प्रेरणाओं का उद्गम स्रोत वही है। हर व्यक्ति का अपना सत्य है और वह उसकी मान्यताओं के ढाँचे में ढला हुआ है। हर व्यक्ति का अपना प्रिय एवं अभीष्ट है। यह उसकी आकांक्षा द्वारा निर्धारित हुआ है। हर व्यक्ति की अपनी भाव संवेदनाएँ हैं। वे उसकी आस्थाओं के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। इस अन्तराल को मानवी सत्ता का उद्गम केन्द्र कह सकते हैं।

परमाणु का ऊर्जा केन्द्र “नाभिक” को माना जाता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की स्थिति एवं सम्भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु उसके अन्तःकरण, अन्तराल को समझा जा सकता है। यहीं से मनःसंस्थान को निर्देश मिलता है। और वह एक अच्छे सेवक की तरह वैसा ही सोचना आरम्भ कर देता है जिससे कि आकांक्षा की पूर्ति सम्भव हो सके। मन की सोचने की दिशाधारा पूर्णतया अन्तःकरण के संकेतों पर निर्भर है वह तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण इसी स्तर के दृढ़ता है, और क्रमबद्ध करता है। जिससे अपने अधिष्ठाता अन्तःकरण की इच्छापूर्ण हो सके। इसके लिए वह चिन्तनतन्त्र को ही नियोजित नहीं करता वरन् शरीर वाहन को भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित करता है। अन्तःकरण का आदेश मन मानता है और मन

के इशारे पर चलने वाला शरीर स्वामिभक्त सेवक की भूमिका निभाने लगता है। इसमें उसे भला-बुरा सोचने या किसी प्रकार का ननुच करने की भी इच्छा नहीं होती। संक्षेप में अन्तराल को ही मनःसंस्थान और कार्यकलापों का सूत्रधार कह सकते हैं। जो किया या सोचा जाता है उस समूचे क्रिया तन्त्र का अधिष्ठाता अन्तःकरण को ही कहा—माना जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी, यही है वह तथ्य जिसके आधार पर व्यक्तित्व का समूचा स्वरूप उसकी श्रद्धा पर अन्तःकरण की स्थिति से अविच्छिन्न-सम्बद्ध माना गया है। गीताकार की उपरोक्त उक्ति में इसी यथार्थता को उजागर किया गया है।

मनोविज्ञान की भाषा में अन्तःकरण को सुपर चेतन कहा गया है। अध्यात्मशास्त्र में इसे जीवात्मा का निवास कहा गया है। यह दुष्टता के साथ जुड़ जाने पर दर्पण की तरह कुरूपता से आच्छादित भी दिखाई पड़ सकता है। किन्तु यदि उसे उसकी वास्तविक एवं उच्चस्तरीय स्थिति में रहने का अवसर मिल सके तो इसे देवत्व का क्षेत्र कहा जा सकेगा। सुपर चेतन को ही भगवान् कहा गया है। उसी की अनुकूलता- अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए पूजा-प्रार्थना की जाती है। परब्रह्म परमात्मा ही सृष्टि की नियामक सत्ता है। वह प्रवाह चलाने, व्यवस्था बनाने और सन्तुलन रखे रहने तक ही अपने मूलभूत उत्तरदायित्वों का वहन करती है। उसे न किसी से राग है न द्वेष। उसके लिए आस्तिक, नास्तिक सभी एक जैसे हैं। कर्म-व्यवस्था ही परब्रह्म का अनुशासन तथा परिपूजन है। मनुष्य की व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने वाला, उस पर अनुग्रह करने वाला, वरदान देने वाला जो ईश्वर है, वह हर मनुष्य के साथ रहता और अन्तराल में बसता है। इसी को सुपर चेतन कहते हैं। तत्त्व दर्शन और योग विज्ञान पर आधारित ब्रह्म विद्या का एकमात्र उद्देश्य सुपर चेतन को अन्तःकरण के उच्चस्तरीय भाव संवेदनाओं, आस्थाओं, आकांक्षाओं से अनुप्राणित करना है। यह ही मनुष्य का भाग्य-विधाता है जो व्यक्ति द्वारा अपनाई गई रीति-नीति को बारीकी से देखता और उसी अनुरूप अनुकम्पा एवं प्रताड़ना से पुरस्कृत, तिरस्कृत करता है।

अन्तःकरण की उत्कृष्ट भाव संवेदना

ऋषि ने पुकारा है—“तमसो मा ज्योतिर्गमय।” हे प्रभु ! हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। असत् से सत् की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर। देखना है कि यह अमृत कहाँ है सत् कहाँ है? और ज्योति कहाँ है? उन तक कैसे पहुँचा जा सकता है। इन तीनों

देव विभूतियों को पाकर किस प्रकार कृत-कृत्य हुआ जा सकता है।

यह तीनों हृदय गुफा में अवस्थित हैं और अन्तर्मुखी होकर इस रत्नराशि को कोई भी विवेकशील व्यक्ति सरलतापूर्वक बटोर सकता है।

गुफा निवास एक बात है और गुफा की उपलब्धि दूसरी। भौतिक क्षेत्र की गुफाएँ पर्वतीय प्रदेशों में जगह-जगह पाई जाती हैं। वे प्रकृति की संरचनाएँ हैं। उनमें वन्य पशु अपने आश्रय बनाते हैं और अपना विश्राम काल उन्हीं में बिताते हैं। प्राचीनकाल में आत्म-चिन्तन, अन्तःक्षेत्र के अनुसन्धान के लिए ऐसा वातावरण अधिक उपयोगी माना जाता था। तब उसमें स्थान-स्थान पर अनेक योगी-यती रहते थे। उनका आत्म-बल ऐसा होता था कि शरीर निर्वाह के साधन भी अनायास ही मिल जाते थे और सुरक्षा-संकट उत्पन्न नहीं होता था।

अब वैसी स्थिति नहीं रही। तो भी लोग नकल बनाने में ही अपनी महत्ता समझते हैं। असली राजा या ऋषि बनाना यदि सम्भव न हो तो लोग रंगमंचों पर उन्हीं वेशों का वस्त्र-विन्यास के आधार पर मुखौटे लगाकर वैसा ही प्रदर्शन करते हैं। इमारतों की तरह तहखाने की डिजायन भी बना लेते हैं और उसी को गुफा कहते हैं। उसमें बैठे-बैठे समय गँवाते हुए सोचते हैं कि वे भी पुरातन काल के ऋषियों जैसी सिद्धियाँ प्राप्त कर रहे हैं। वे भूल जाते हैं कि चिन्तन और लक्ष्य में जमीन-आसमान जितना अन्तर रहते हुए भी असली और नकली की एक जैसी स्थिति कैसे हो सकती है? यदि गुफा में रहने से ही सिद्धियाँ मिली होतीं तो सभी चूहे सिद्ध पुरुष हो गये होते। शीत आतप का जहाँ अधिक दबाव होता है, या दृष्टि से बचने की आवश्यकता होती है, वहाँ वन्य पशु प्रायः गुफाओं में रहते हैं या उसे अपने पंजों से खोदकर बना लेते हैं। नेवला, गोह, साँप आदि का अधिकांश जीवन गुफाओं में ही समय कटते हुए बीतता है।

अध्यात्म क्षेत्र में वातावरण की महत्ता तो है ही पर उस दिशा में प्रगति करने के लिए इतने भर से काम नहीं चल जाता। इससे अधिक भी कुछ करना होता है। अन्यथा वातावरण का लाभ शारीरिक स्वस्थता तक ही सीमित होकर रह जाता है।

तत्त्वदर्शियों ने हृदय क्षेत्र को गुफा कहा है। यहाँ हृदय के भौतिक और आत्मिक पक्ष के अन्तर को समझना होगा। भौतिक हृदय सीने में बायीं ओर नाशपाती जैसे आकार की एक छोटी सी माँसल संरचना है, जो अपनी रचना प्रयोजन के अनुसार धमनियों और छोटी